आचार्य चतुरसेन

का

कथा-साहित्य

लखनऊ विश्वविद्यालय की
पी-एच० डी० के लिए
स्वीकृत
शोध-प्रबंध

लेखक
डॉ० शुभकार कपूर
एम ए पी-एच डी

प्रकाशक
विवेक प्रकाशन, किशोर बुकडिपो
अमीनाबाद लखनऊ-
मुद्रक
विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ
मूल्य २५ रुपये
प्रथम संस्करण १९६२

आशीर्वचन

स्व० श्री चतुरसेन शास्त्री की गणना हिंदी के प्रतिष्ठित उपन्यासकारों में की जाती है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का सर्वांगीण विवेचन करते हुए हिंदी में डा० शुभकारनाथ कपूर की यह पहली कृति प्रकाश में आ रही है जिस पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने १९६२ में उन्हें पी-एच डी की उपाधि प्रदान की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी प्रकाशन के अंतर्गत यों तो कई महत्व पूर्ण शोधप्रबंध प्रकाशित हुए हैं, परंतु हिंदी के एक विख्यात कथाकार के संबंध में यह पहला ही प्रबंध प्रकाशित हो रहा है। मुझे विश्वास है कि हिंदी संसार इसका समुचित आदर करेगा।

डा० कपूर ने प्रस्तुत प्रबंध के लिखने में पर्याप्त श्रम किया है। स्व० शास्त्री जी की कृतियों के अध्ययन में तो वे दो-तीन वर्ष संलग्न रहे ही स्वयं उनके संपर्क में भी लगभग तीन मास तक रहकर उन्होंने साहित्य के विविध अंगों के साथ-साथ उसके उद्देश्य रूप आदि के संबंध में स्व० शास्त्री जी के परिपक्व विचार संकलित किये जिनका उपयोग प्रस्तुत प्रबंध में किया गया है। निस्संदेह इससे डा० कपूर की इस कृति का मूल्य बहुत बढ़ गया है।

डा० कपूर अध्यवसायी युवक हैं। वे निरंतर साहित्य-सेवा में संलग्न रहकर राष्ट्रभाषा की श्री वृद्धि में योग देते रहें यही मेरी शुभ कामना है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

दीनदयालु गुप्त
१.१२.६४

प्रस्तावना

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रमुख कारण उनके साहित्य की विपुलता और विविधता तो है ही इसके साथ ही उसकी रोचकता और उपादेयता भी है। उनका साहित्य शास्त्रीय ज्ञान-भंडार से लेकर उर्वर कल्पना की हरी भरी फसलों तक फैला हुआ है। उसमें प्रादेशिक इतिहास और व्यक्तिचरित्र के इतिवृत्त से लेकर विश्व इतिहास के विकास का विस्तार है। उसमें मानव जीवन की मार्मिक कथाओं से लेकर राष्ट्रीय चेतना और देश प्रेम की ज्योति का मधुर प्रवाह है। इतना ही नहीं उनके कथा साहित्य में वैदिक काल की धुंधली सर्गक्रिया के साथ हमारी आँखों देखे गये संघर्षों और घटनाओं के वृतांत भी हैं। इसका कारण उनका स्वयं का व्यापक जीवनानुभव और विस्तीर्ण भ्रमण था। उनके समस्त ज्ञान और रचनात्मक विराट् कल्पना-विस्तार के कारण उनको सहज और आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य का व्यास कहा जा सकता है।

आचार्य चतुरसेन जी को जहाँ एक ओर जीवन के विविध अनुभव प्राप्त हुए, वहीं उन्हें अनेक प्रकार की बाधाओं और रुकावटों का भी सामना करना पड़ा। एक आयुर्वेदीय शास्त्री के रूप में धन और सम्मान दोनों ही के वैभव से समृद्ध होते हुए भी उनकी साहित्यिक आत्मा को चैन न था। फलतः उस जीवन को तिलांजलि देकर आचार्य जी ने एक साहित्यकार का जीवन अपनाया। सामान्यतः जैसी उक्ति है कि 'लक्ष्मी और सरस्वती' का मेल नहीं होता आचार्य जी को भी एक सिद्धांतवादी साहित्यकार होने के नाते अनेक प्रकार के व्यवधानों और आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा। फिर भी एक अनन्य साहित्यकार की मनस्थिता उनके अंतर्मन की उन संकटों की चिंता न करते हुए भी उन्होंने साहित्य रचना की अपनी ध्येयनिष्ठा कायम रखी और अन्ततोगत्वा इसी में अपने को विसर्जित भी कर दिया।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री अपने ध्येय में कहाँ तक सफल हुए? इस विषय में थोड़ा मतभेद हो सकता है। कहा जा सकता है कि 'सोना और खून' जिसको उन्होंने एक बड़े व्यापक और विस्तृत फलक पर चित्रित करने का उपक्रम किया था जब अधूरा रह गया तो उनके ध्येय की पूर्णता कैसी? पर मेरे विचार से उनका यह उपन्यास अधूरा होते हुए भी ध्येय की दृष्टि से अपूर्ण न होकर पूर्ण है। जिस दृष्टिकोण से उन्होंने समग्र विश्व की मानवता के इतिहास को देखना और अंकित करना चाहा है वह दृष्टिकोण अब पूर्णतया उसके प्रकाशित चार भागों में स्पष्ट है, तब अपूर्णता

केवल घटना या तथ्य-संयोजन की ही रह जाती है दृष्टिकोण की नहीं। आचार्य जी दस खण्डों में विश्व के इतिहास की जो झाँकी सम्पूर्ण 'सोना और खून' में प्रस्तुत करना चाहते थे वह भारतीय जीवन और राष्ट्रीय चेतना के ह्रास और विकास की पृष्ठभूमि बनकर आने वाली थी। वह झाँकी पूरी हमारे सामने न आ सकी इसका हमें दुःख है पर जो झलकें हमें प्रस्तुत दो भागों में प्राप्त होती हैं वे विश्व के इतिहास और ऐतिहासिक घटनाओं को देखने के हेतु हमें एक दृष्टि प्रदान करती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि आचार्य चतुरसेन का यह प्रयास सर्वथा मौलिक और अनूठा था। विश्व के कथा साहित्य के अंतर्गत अभी तक ऐसा प्रयास नहीं हुआ था। यह आचार्यजी के विशाल दृष्टिकोण तथा व्यापक विस्तीर्ण ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक ज्ञान का एक प्रमुख प्रमाण है। इसमें उनकी एक आश्चर्यकारी उपलब्धि इस बात में देखी जा सकती है कि ये प्रत्येक दसखण्ड अलग-अलग पूरी कथा कहते हुए भी सभी मिलकर एक विश्वव्यापी कहानी को पूरा करनेवाले थे। इस प्रकार के सूत्र संचालन की कल्पना शास्त्री जी की अपनी थी।१

चतुरसेन जी की इस कल्पना की पृष्ठभूमि में भारतीय कथा साहित्य के संस्कार थे इसे स्वीकार करना होगा। भारतीय कथा साहित्य की परंपरा में पंचतंत्र बृहत्कथा मंजरी बैताल पचीसी सिंहासन बत्तीसी शुक बहत्तरी आदि ऐसी रचनाएँ हैं जिनकी सूत्र बद्धता और रोचकता सुनिश्चित है और मेरा विचार है कि यह विशेषता अपने आधुनिक परिवेश में आचार्य जी के कथा-साहित्य में भी विद्यमान है।

इतिहास और कथा का क्या सम्बन्ध है? यह बात यदि स्पष्ट रीति से देखनी हो तो आचार्य जी के कथा-साहित्य का पारायण विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगा। उनके आधे से अधिक उपन्यास इतिहास से संबंध रखते हैं और उनमें चित्रित इतिहास का काल खण्ड वेदों से लेकर आधुनिक युग तक फैला

---

१ नोट—'सोना और खून' का पाँचवा भाग इस प्रबन्ध के लेखक ने पूर्ण करने का प्रयास किया है। यह भाग सन् १८५७ से १८८१ ई० तक पहुँच गया है। इसमें भारतेंदु दयानंद और अनेक साहित्यिक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक महानुभावों के जीवन की गाथा बड़े ही कलात्मक रूप से आ गई है। छठे भाग में प्रथम महायुद्ध तक की कथा आ रही है। यह दोनों भाग शीघ्र ही प्रकाशित हो रहे हैं। लेखक का प्रयास है कि आचार्य जी के 'सोना और खून' के दसों खंड (१७५७ से १९४७ तक) पूर्ण होकर सामने आ सकें। कैसे आयेंगे इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे।

हुआ है। वैदिक-पौराणिक युग मुस्लिम शासन का मध्य युग तथा अंग्रेजी शासन का आधुनिक युग सभी युगों के संघर्षात्मक ऐतिहासिक तथ्य घटनाएँ और व्यक्तित्व आचार्य चतुरसेन की लेखनी के प्रभाव से सजीव ही नहीं जीवन्त रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इसके साथ ही इनमें विशेषता यह है मानव-जीवन की अनेक भूमियों और सहज वृत्तियों और प्रवृत्तियों का इनमें जोरदार चित्रण हुआ है। जीवन की यथार्थ वासनाओं का तिरस्कार न करते हुए भी उनके चित्रण द्वारा प्रगति के मार्ग का संकेत करने की विशेषता चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्रायः देखने को मिलती है।

उपर्युक्त तथा अन्य अनेक दृष्टियों से आचार्य चतुरसेन शास्त्री के कथा-साहित्य के मूल्यांकन की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए डा० शुभकारनाथ कपूर ने अपना शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया जिस पर उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय की पी एच डी की उपाधि प्राप्त हुई। यह प्रबंध उनके अथक एवं सुदीर्घ परिश्रम का परिणाम है। इसके साथ ही इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि लेखक ने स्वयं आचार्य चतुरसेन के साथ तीन महीने रह कर उनके दृष्टिकोण तथा विविध उपन्यासों के कथास्रोतों एवं प्रेरणाओं को भली भाँति समझा था। आचार्य जी के जीवित-संपर्क और उनके श्रीमुख से प्राप्त अनेक विचारों व्याख्याओं और विवेचनाओं से प्रस्तुत ग्रंथ में एक विशिष्ट प्रकार की प्रामाणिकता आ गई है जो उन पर लिखे गये अब के ग्रंथों में नहीं आ सकती।

इन सभी कारणों से प्रस्तुत ग्रंथ को प्रकाशित होते देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। लेखक ने मेरे साथ कतिपय उन स्थानों का भ्रमण भी किया था जो चतुरसेन जी के उपन्यासों में आये हैं और उनके खंडहरों में यथातथ्यता देखकर एक विशिष्ट पुलक का अनुभव हम लोगों को होता है। आज मेरे समक्ष वे सभी स्मृतियाँ साकार हो रही हैं जब प्रबन्ध के लेखन काल में लेखक एक जिज्ञासु शोधार्थी के रूप में मेरे पास था। मैं कहता हूँ कि शोध के लिए ऐसी लगन विरल है। मेरा आशीर्वाद है कि लेखक अपने जीवन और साहित्य रचना में उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करे। मुझे विश्वास है कि उसकी लेखनी से अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना होगी और प्रस्तुत ग्रंथ का हिंदी-संसार में समुचित स्वागत होगा।

पूना विश्व विद्यालय
विजयादशमी १९६४ ई०

भगीरथ मिश्र

भूमिका

हिंदी के शोधार्थियों की रुचि इधर हिंदी उपन्यासकारों एवं कहानीलेखकों के अध्ययन की ओर विशेष रूप से बढ़ी है और फलस्वरूप उनकी उपन्यास एवं कहानी-कला का परिचय देने एवं मूल्यांकन करनेवाली कई महत्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं। प्रस्तुत प्रबंध भी इसी प्रकार की आलोचनात्मक कृति है जिस पर डा० कपूर को तीन वर्ष पूर्व लखनऊ विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की थी।

हिंदी के प्रेमचंद, जयशंकर 'प्रसाद' जैसे उपन्यास एवं कहानीकारों के संबंध में पिछले चालीस-पचास वर्षों में स्फुट निबंधों तथा विविध पत्रीय पुस्तकों के रूप में पर्याप्त लिखा जा चुका है। अतएव जब कोई शोधार्थी प्रेमचंद अथवा 'प्रसाद' जैसे कथाकार के कृतित्व को लेकर शोधप्रबंध लिखने को प्रस्तुत होता है तब पूर्व प्रकाशित रचनाओं का उपयोग कर लेने का सुयोग मिल जाने से उसका कार्य बहुत-कुछ सुगम हो जाता है—कम से कम आलोच्य विषय के संबंध में अनेक महत्वपूर्ण सूत्र तो उसे प्राप्त हो ही जाते हैं। परंतु स्व० चतुरसेन शास्त्री की उपन्यास अथवा कहानी-कला के विषय में हिंदी में इतना कम लिखा गया है और जो कुछ लिखा भी गया है उसमें इतना मत-वैषम्य है कि उनकी कृतियों का मूल्यांकन करने को प्रवृत्त होने वाले अध्येता को उससे विशेष सहायता तो मिलती नहीं उलटे कभी-कभी वह बहुत कठिन स्थिति में पड़ जाता है। अतएव डा० कपूर को प्रस्तुत प्रबंध के लेखन में स्वयं ही अपना मार्ग बनाना पड़ा। इस स्थिति से एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि डा कपूर ने स्व० आचार्य जी के संपर्क में लगभग तीन मास व्यतीत किए। व्यक्तिगत और सामान्य जीवन तथा साहित्य के विविध पक्षों के संबंध में जो सूचनाएँ, इस संपर्क के फलस्वरूप डा० कपूर ने प्रस्तुत प्रबंध में संकलित की हैं वे अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं और हिंदी-जगत उनसे पूर्वपरिचित भी नहीं है। ऐसी सूचनाओं ने प्रबंध में प्रतिपादित अनेक विषयों को रोचक बनाने के साथ-साथ प्रामाणिकता भी प्रदान की है। केवल इस एक विशेषता के कारण ही इस मौलिक

कृति का स्थायी महत्व है जिसके लिए हिंदी-पाठक सामान्य रूप से और शास्त्री जी के अध्येता विशेष रूप से डा० कपूर के आभारी रहेंगे।

लगभग छह सौ पृष्ठों में लिखे गये इस प्रबंध में आचार्य जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित नौ अध्याय हैं—जीवन-वृत्त, रचनाएँ एवं कथा-साहित्य का वर्गीकरण, उपन्यासों के कथानक, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल अथवा वातावरण-सृष्टि, कहानियाँ, भाषा एवं लेखन-शैली, विचार एवं जीवन-दर्शन। पहला अध्याय आदि से अंत तक रोचक है जिसमें अनेक नवीन तथ्यों का संग्रह किया गया है और उनसे शास्त्री जी के व्यक्तित्व को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। दूसरे अध्याय में शास्त्री जी के १२९ प्रकाशित एवं कुछ अप्रकाशित ग्रंथों की सूची है। यदि यह सूची प्रकाशन के कालक्रमानुसार न दी जाकर विषयानुसार वर्गीकृत रूप में दी जाती तो और अच्छा होता।

तीसरे से छठे अध्यायों तक शास्त्री जी के २९ उपन्यासों की विविध तत्वों की दृष्टि से आलोचना की गयी है। इनमें 'कथोपकथन' वाला अध्याय यदि 'भाषा एवं लेखन-शैली' के पूर्व दिया जाता तो उसमें कहानियों के संवादों की चर्चा भी विस्तार से की जा सकती थी। सातवें अध्याय में २१ संग्रहों में संगृहीत आचार्य जी की लगभग पौने तीन सौ कहानियों की कला पर प्रकाश डाला गया है। अंतिम दोनों अध्याय शास्त्री जी के पूरे कथा-साहित्य—उपन्यास एवं कहानियों—को लेकर लिखे गये हैं। अपने समग्र रूप में प्रस्तुत प्रबंध से स्व० शास्त्री जी के कथाकार रूप का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

स्वर्गीय शास्त्री जी की रचनाओं का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनके संबंध में विविध पक्षों को लेकर ऐसे कई आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रबंध में विषय की विशदता और व्यापकता के कारण शास्त्री जी के कथा-कार रूप का सर्वांगीण सूक्ष्म विवेचन तो संभव था ही नहीं, हाँ, डा० कपूर ने प्रत्येक पक्ष को लेकर दिशा निर्देश अवश्य कर दिया है। स्वयं वे अथवा शास्त्री जी के अन्य अध्येता इस कार्य को आगे बढ़ायेंगे ऐसी आशा है।

डा० कपूर की कुछ और कृतियाँ भी प्रकाश में आ चुकी हैं। हिंदी-सेवा में इसी प्रकार संलग्न रहकर वे अपनी प्रतिभा का सदुपयोग करते रहें यही मेरी हार्दिक कामना है।

हिंदी विभाग
विश्वविद्यालय लखनऊ

प्रेमनारायण टंडन

आमुख

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के कथा साहित्य के प्रति मेरे हृदय में शैशव से ही ममत्व रहा है। बचपन में उनकी 'वीर गाथा' नामक कहानी संग्रह की कुछ कहानियों को मैंने बड़े चाव से पढ़ा था। इसी समय के लगभग मैंने उनके कुछ उपन्यासों का भी मनोरंजन के लिए अध्ययन किया। सन् १९५५ में मुझे उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' को पढ़ने का अवसर मिला। मैं उसके कथा सौंदर्य पर मुग्ध हो गया। कथा-सौंदर्य के साथ-साथ उसका भाषा एवं भाव पक्ष भी पूर्ण पुष्ट था। किन्तु सम्पूर्ण उपन्यास का अध्ययन करने के पश्चात् मुझे उसमें कुछ काल दोष दीख पड़े। इसी समय कुछ पत्रों में मैंने इस पुस्तक की आलोचना भी पढ़ी। कुछ ने इस पुस्तक की अत्यंत प्रशंसा की थी तो कुछ ने 'ऐतिहासिक उपन्यास क्या नहीं होना चाहिए इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठों (तृतीय संस्करण में ७७० ही हैं) का बौद्धकालीन इतिहास रस का मौलिक उपन्यास है'[1] तक कह डाला था। उपन्यास और इन सर्वथा भिन्न आलोचनाओं को पढ़कर मन में कुछ शंकाएँ उठीं और मैंने उपन्यासकार को इस विषय से संबंधित एक पत्र लिखा। पत्र में मैंने यह जानने की इच्छा प्रकट की थी कि उपन्यासकार ने इतने परिश्रम के पश्चात् भी अपनी रचना में जानते हुए भी इतनी भयंकर काल संबंधी भूलें क्यों होने दीं ? किन्तु मुझे पत्र का कोई उत्तर प्राप्त न हो सका। कुछ दिनों प्रतीक्षा के पश्चात् उत्सुकता स्वयं शान्त हो गई। इसी समय मैंने महापुरुषों एवं साहित्यकारों की डायरियों पर हिन्दी के विख्यात विद्वान बाबू गुलाबराय के निर्देशन में एक स्वतन्त्र पुस्तक के लिए शोध कार्य प्रारम्भ किया। उस समय भी लेखक ने पुनः एक पत्र आचार्य चतुरसेन जी को उनकी डायरी के विषय में लिखा किंतु उसका भी कोई उत्तर प्राप्त न हुआ। मुझे लगा बड़ा विचित्र साहित्यकार है पत्र का उत्तर तक नहीं देता।

---

१ आलोचना—डा० प्रभाकर माचवे।

इसी बीच मैंने उनकी अन्य कई पुस्तकें और पढ़ डालीं। मैं उनकी पुस्तकों के प्रति आकर्षित ही होता गया। ज्यों ज्यों मैं उनके साहित्य का अध्ययन करता जा रहा था त्यों त्यों मेरे मस्तिष्क में कितनी ही शंकाएँ बढ़ती जा रही थीं। पत्रों द्वारा इन शंकाओं का समाधान कठिन था अतः मेरे मन में इस मस्त साहित्यकार के व्यक्तित्व को निकट से समझने की तीव्र इच्छा जगी। मैंने पूज्य गुरुवर डा० दीनदयालुगुप्त जी से 'आचार्य चतुरसेन के कथा साहित्य' पर शोध कार्य करने की आज्ञा मांगी। डा० साहब ने सहर्ष आज्ञा दे दी। साथ ही पूज्य गुरुवर डा० भगीरथ जी मिश्र ने प्रस्तुत प्रबन्ध के निर्देशन का आश्वासन भी प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को दे दिया। मैं इसी समय इन दोनों गुरुजनों से परिचय पत्र लेकर आचार्य चतुरसेन जी से मिलने के लिए दिल्ली जा पहुँचा। अपने आने की सूचना मैं पत्र द्वारा प्रथम ही आचार्य जी को दे चुका था। मिलने से पूर्व इस फक्कड़ साहित्यकार के विषय में मैं कितने ही लोगों की भ्रांत धारणाएँ सुन चुका था। किन्तु उनसे प्रथम परिचय के पश्चात् ही मेरी वे समस्त धारणाएँ निर्मूल हो गई थीं। मैं प्रथम बार उनके समीप १५ दिन रहा। इन १५ दिनों में मेरी समस्त शंकाओं का समाधान उन्होंने कर दिया था। इसके पश्चात् उनके जीवन काल म मैं चार बार और गया कुल मिला कर तीन माह मुझे इस महान् साहित्यकार के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस मध्य में हुए उनसे वार्तालाप एवं उनके मुख से सुने संस्मरणों का मैंने प्रस्तुत प्रबंध में यत्र तत्र उपयोग किया है इससे प्रबंध की मौलिकता तो बढ़ी ही है, साथ ही विश्लेषण कार्य को एक नवीन दशा भी प्राप्त हो सकी है। आचार्य चतुरसेन जी के जीवनकाल में ही उन पर मेरे दो 'इन्टरव्यू' 'धर्मयुग' एवं 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित हो चुके थे उनकी मृत्यु के पश्चात् मेरे ८ लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके जीवन और साहित्य से संबंधित और प्रकाशित हुए।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने जीवनकाल में लगभग १६० पुस्तकें विविध विषयों पर लिखीं अथवा उनके द्वारा लिखित दस हजार से अधिक पृष्ठ विविध सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। प्रस्तुत प्रबंध में केवल उनके 'कथा साहित्य' का अध्ययन ही किया गया है। उनके इस 'कथा साहित्य' के अंतर्गत लगभग नौ हजार पृष्ठों के २९ उपन्यास एवं लगभग तीन हजार पृष्ठों के २५ कहानी संग्रहों को रखा गया है। आचार्य चतुरसेन जी का यह कथा साहित्य अपने विशाल कलेवर के सब मिल का मूल्य भी रखता है। आचार्य जी अपने प्रारम्भिक उपन्यासों एवं कहानियों में एक समाज सुधारक के रूप में ही सामने आए हैं। वे हृदय से एक साहित्यकार और व्यवसाय से एक चिकित्सक थे। वास्तव में वे

केवल मानव शरीर के ही नहीं वरन् उसके समाज के भी चिकित्सक थे। वे साहित्यकार थे किन्तु मनोरंजन करने वाले नहीं वरन् कलई खोलने वाले। वे आधुनिक धन्वंतर थे जिनसे मनुष्य शरीर का ही नहीं उसकी आत्मा का उसके समाज का कोई भी दोष गुप्त नहीं रह पाता था। उन्होंने समाज के दोषों को देखा था दूर से नहीं पास से। समाज के ये दूषण देखकर वे मौन नहीं रहे, तड़प उठे थे और यही तड़पन उनकी प्रारम्भिक कलाकृतियों से व्यक्त हुई। इस तड़पन को व्यक्त करने में वे कहीं-कहीं अति यथार्थवाद अथवा प्राकृतवाद के समीप भी पहुँच गए हैं।

उन्होंने अतीत की ओर दृष्टिपात किया अवश्य किन्तु केवल इतिहास प्रेम के कारण नहीं वरन् इसी हार्दिक तड़पन के कारण। उन्होंने वर्तमान कुरीतियों को मूल इतिहास से खोज निकालना चाहा उनका परिहार करने के लिए, किन्तु वहाँ भी उस अतीत में भी यह कुरीतियाँ उन्हें ज्यों की त्यों दीखीं। उन्होंने देखा कि उस काल की साधारण जनता दोषों से मुक्त है किन्तु राजा एवं सामंत वर्ग उनसे भरे पूरे है। वे भोगी हैं विलासी हैं जिनकी दृष्टि में स्त्री केवल मात्र भोग की सामग्री है। धर्म भी केवल इन विलासियों का संरक्षक मात्र रह गया है। धर्म के नाम पर जो मायाचार हो रहे थे वह भी उन्हें स्पष्ट दीख पड़े। इन सबके प्रवाह में हिंदू धर्म के पतन के कारण भी उन्हें स्पष्ट दीखने लगे उन्होंने इन्हीं सबकी बखिया उधेड़कर अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में रख दी है। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इन उपन्यासों की रचना केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं वरन् मार्ग प्रदर्शन एवं सुधार के लिए की है। उनके इन उपन्यासों से हमें केवल मनोरंजन एवं कुतूहल ही प्राप्त नहीं होता वरन् स्फूर्ति एवं शक्ति भी प्राप्त होती है।

आचार्य जी के उपन्यासों का क्षेत्र विस्तृत है। रामायण काल से लेकर आधुनिक काल तक की कथाएँ उनके उपन्यासों में अनस्यूत हैं। उनके उपन्यासों का घटना क्षेत्र भी अत्यंत विशाल है। वे श्री वाल्टर स्काट अथवा श्री वृन्दावन लाल वर्मा की भाँति किसी प्रदेश विशेष तक ही सीमित नहीं हैं। उनके उपन्यासों का घटना क्षेत्र केवल भारत तक ही नहीं वरन् विश्व के प्रमुख देशों तक व्याप्त है। इतना ही नहीं चन्द्रलोक भी उनके उपन्यासों के घटना क्षेत्र से बाहर नहीं जा पाया है। अतः कहा जा सकता है कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों का घटना क्षेत्र पृथ्वी से आकाश तक परिव्याप्त है।

आचार्य चतुरसेन मानवतावादी कथाकार थे। उनकी लौह लेखनी ने ईश्वर की नहीं, मानव की पूजा की थी। उनका साहित्य क्रांति और विद्रोह

का साहित्य है। वस्तुतः वह जन्म से ही क्रांतिकारी और विद्रोही थे। उनके साहित्यकार व्यक्तित्व का निर्माण जिन तत्वों से हुआ था उनमें सेवा, श्रम, प्रभाव और साहस प्रमुख थे। उनके सम्पूर्ण कथा साहित्य के मूल में यही चारों तत्व थे। इन्हीं से प्रेरित होने के कारण उनके कथा साहित्य में एक ओर जहाँ त्याग उत्सर्ग उदारता एवं स्नेह आदि की भावनाएँ भरी हुई मिलती हैं वहीं क्रांति एवं विद्रोह की भावनाएँ भी उनके समानान्तर चलती हुई दीख पड़ती हैं। इस प्रकार आचार्य जी का साहित्य अति विस्तृत एवं विविध क्षेत्र व्यापी है और एक सीमाबद्ध ग्रंथ में उनका समग्र अध्ययन कठिन कार्य है। फिर भी प्रस्तुत प्रबंध में आचार्य चतुरसेन जी के सम्पूर्ण कथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आचार्य जी के कथा साहित्य पर इस दिशा में अभी तक कोई कार्य नहीं हुआ। कुछ आलोचना ग्रंथों में उनके उपन्यासों अथवा उनकी औपन्यासिक कला पर किंचित चर्चाएँ अवश्य प्राप्त होती हैं। कुछ पत्रिकाओं में उनके साहित्य पर कतिपय लेख भी प्रकाशित हुए हैं। साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ने उनकी मृत्यु के उपरांत 'श्रद्धांजलि अंक' निकाल कर अवश्य इस दिशा में एक सराहनीय कार्य किया है। इस श्रद्धांजलि अंक' में भी आचार्य जी के 'कथा साहित्य' पर विशेष प्रकाश नहीं प्राप्त होता। हाँ उनके जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने वाली कुछ सामग्री अवश्य प्राप्त हो जाती है। इस समस्त प्राप्त सामग्री का प्रस्तुत प्रबंध में यथोचित उपयोग किया गया है। किन्तु वास्तव में मेरा दृष्टिकोण इन सभी से विस्तृत रहा है। मैंने आचार्य चतुरसेन जी के कथा साहित्य का विश्लेषण करते समय कई अन्य आधार भी ग्रहण किए हैं। इस विश्लेषण के लिए मैंने श्री हडसन डा० श्यामसुन्दर दास बाबू गुलाब राय डा० लक्ष्मीनारायण मिश्र एवं डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित उपन्यास एवं कहानी सम्बन्धी सिद्धांतों के निजी मनन चिंतन की कसौटी पर आचार्य जी के कथा साहित्य को कसा है। इस प्रकार आचार्य जी के सम्पूर्ण कथा साहित्य का उपन्यास और कहानी के विभिन्न तत्वों के आधार पर विश्लेषण प्रस्तुत करना विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासकारों के उपन्यासों से उनके उपन्यासों की तुलना करते हुए उनके उपन्यासों में प्राप्त कलात्मक सौंदर्य की खोजना एवं उपन्यासकार ने किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर विभिन्न उपन्यासों एवं कहानियों की रचना की आदि की खोज निकालना लेखक की दृष्टि में उसका मौलिक प्रयास है।

प्रस्तुत प्रबंध में भी प्रमुख अध्याय हैं। प्रथम दो अध्यायों में आचार्य चतुरसेन जी के जीवन एवं रचनाओं का परिचय दिया गया है। इसके पश्चात् के अध्यायों में आचार्य जी के कथा साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के प्रायः सर्वमान्य छः तत्वों के आधार पर आचार्य जी के उपन्यासों के अध्ययन को प्रबंध में छः अध्यायों में विभाजित किया गया है। कहानी के भी प्रमुख छः तत्व ही माने गए हैं। कहानी और उपन्यासों के इन तत्वों में पर्याप्त साम्य प्राप्त होता है किंतु इन दोनों में कहीं-कहीं भिन्नता भी प्राप्त होती है। अतः उपन्यास से चार तत्वों यथा कथावस्तु, चरित्र चित्रण कथोपकथन एवं वातावरण के विवेचन के लिए प्रस्तुत प्रबंध के अगले चार अध्याय प्रथम से दिए गए हैं। उपन्यासों के इन चारों तत्वों के विवेचन के पश्चात् 'आचार्य जी की कहानियाँ' नामक अध्याय में आचार्य जी की कहानियों में प्राप्त इन चारों तत्वों का विवेचन पृथक प्रस्तुत किया गया है। अंतिम दो अध्यायों में आचार्य जी के उपन्यासों और कहानियों की भाषा एवं लेखन शैली तथा इनमें प्राप्त उनके विचारों एवं जीवन दर्शन का एक साथ ही अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों और कहानियों को विभिन्न तत्वों की कसौटी पर कसने के पूर्व उस तत्व विशेष की परिभाषा उसकी विशेषताओं एवं गुणों पर विभिन्न विद्वानों के मतों को स्पष्ट करते हुए प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् इन प्रमुख सिद्धांतों की कसौटी पर आचार्य जी के उपन्यासों और कहानियों के तत्व विशेष को उस संबंधी अध्याय में कसा गया है। कसौटी पर परखने के लिए मैंने उस तत्व विशेष से संबंधित प्रमुख उदाहरणों को सामने रखा है। वे उदाहरण उस कसौटी पर कहाँ तक खरे उतरते हैं उनको परखने के साथ-साथ मैंने आचार्य चतुरसेन जी की उस तत्व से संबंधित मौलिक विशेषताओं पर भी विचार किया है। प्रत्येक अध्याय में उस अध्याय का निष्कर्ष भी देने का प्रयत्न किया गया है। जिसमें उस अध्याय विशेष के विश्लेषण का निष्कर्ष देते हुए मैंने आचार्य जी के उपन्यासों में उस तत्व के प्रयोग पर अपना मत देने के साथ साथ अन्य प्रमुख कथाकारों की श्रेष्ठ रचनाओं में प्राप्त उस तत्व के प्रयोग से तुलना भी की है।

अब रहा आभार प्रदर्शन एवं धन्यवाद का प्रश्न। वास्तव में सत्य तो यह है कि मेरे अपने के अतिरिक्त सभी धन्यवाद के पात्र हैं। पूज्य गुरुजनों की कृपा तो मेरे इस प्रबन्ध का अवलम्ब ही रही। पूज्य गुरुवर दीनदयालु जी गुप्त एम ए., एल एल बी., डी लिट अध्यक्ष हिंदी विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय

ने जिस स्नेह और प्रोत्साहन के साथ प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय को प्रदान कर आचार्य चतुरसेन जी के पास परिचय पत्र देकर मुझको भेजा उसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस प्रबंध के निर्देशक डा० भगीरथ मिश्र एम ए., पी-एच डी लखनऊ विश्वविद्यालय (अब अध्यक्ष हिंदी विभाग पूना विश्व विद्यालय) के मार्ग प्रदर्शन निर्देशन स्नेह, प्रोत्साहन के विषय में क्या कहूँ। आदि से अंत तक प्रस्तुत प्रबंध का प्रेरणा स्रोत डा० मिश्र का विशाल उदार एवं सुलझा हुआ व्यक्तित्व ही रहा है। डा० साहब के लखनऊ से पूना चले जाने के पश्चात् मेरे मार्ग में कितनी ही कठिनाइयाँ आईं। डा० मिश्र ने पूना में रहते हुए ही प्रबंध को देखने का मुझे आश्वासन दिया। निराशा आशा में परिवर्तित हो गई। पूना में मैं उनकी छत्रछाया में लगभग तीन माह रहा। अपने व्यस्त जीवन का एक बड़ा भाग निकाल कर उन्होंने प्रस्तुत प्रबंध का निरीक्षण संशोधन करके इसे पूर्ण कराया। वास्तव में सत्य तो यह है कि प्रस्तुत प्रबंध में जो कुछ गुण आ सके हैं डा० मिश्र की कृपा के कारण ही। इसके अतिरिक्त मैं लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक स्व० ब्रजकिशोर जी मिश्र एवं डा० प्रेमनारायण टंडन पूना विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक श्री म० वि० जोगलेकर आर्मंड विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष प्रो० मोहन वल्लभ पंत सीतापुर निवासी डा० नवल बिहारी मिश्र दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक डा० सुरेन्द्र स्नातक एवं डा० दशरथ ओझा एवं अपने अभिन्न मित्र श्री दयाशंकर शुक्ल श्री आसनानी श्री रमापति तोमर, श्री दीनानाथ तिवारी श्री बोध नारायण महेन्द्र पूज्य पिता अमर निरंकार नाथ जयकार नाथ कपूर एवं अपनी धर्मपत्नी विमला कपूर एम ए आदि के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनके सुझाव सहयोग एवं प्रोत्साहन से यह प्रबंध पूर्ण एवं प्रकाशित हो सका। मैं उन विद्वानों का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरी प्रार्थना पर आचार्य चतुरसेन जी के कथा साहित्य पर अपनी सम्मतियाँ भेजी एवं मुझे मार्ग निर्देश किया। प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रकाशक श्री युगलकिशोर टंडन का भी मैं आभारी हूँ। उन्होंने प्रबन्ध के प्रकाशन में जो तत्परता एवं लगन दिखाई है वह निश्चित रूप से सराहनीय है।

अंत में स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी की कृपा एवं उनके स्वजनों के सहयोग के विषय में कुछ कहे बिना रहा नहीं जाता। जैसा कि मैं प्रथम ही कह चुका हूँ कि प्रबंध सम्बन्धी विचार विनिमय के हेतु मैं स्वर्गीय आचार्य जी के समीप उनके निवास स्थान शाहदरा में कितने ही दिन उनकी छत्र छाया में

रहा। मुझे उनसे जिस प्रकार की प्रेरणा प्रोत्साहन सहयोग, एवं स्नेह प्राप्त हुआ, वह निश्चित रूप से अनिर्वचनीय है। आचार्य जी के आकस्मिक निधन के पश्चात् भी आचार्य पत्नी, उनके अनुज श्री चंद्रसेन जी उनके श्वसुर वैद्यराज श्री कल्याणसिंह जी ने जिस उदारता एवं स्नेह से मुझको मेरे शोध कार्य में सहायता प्रदान की है उसके लिए मैं इन सभी का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अन्त में एक बात और। प्रबन्ध प्रकाशित होने के पूर्व मैंने यह विचार किया था कि प्रस्तुत ग्रन्थ को पूज्य पिता श्री गोविन्द प्रसाद जी कपूर के चरणों में अर्पित करूँगा। किन्तु ईश्वर को यह स्वीकार न था। ग्रंथ के प्रकाशित होने के पूर्व ही १९ अक्टूबर सन् १९६४ को प्रातः साढ़े सात बजे वे हम सभी को बिलखता छोड़ गए। इस दारुण विपत्ति ने मेरी सम्पूर्ण चेतना को झकझोर दिया। किन्तु समय ने इस घाव को भी भरा। आज उनकी अनुपस्थिति में यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है अतः उन्हीं की पावन स्मृति को यह ग्रन्थ सादर समर्पित कर रहा हूँ।

प्रस्तुत प्रबंध में मुद्रण संबंधी जो अशुद्धियाँ प्रयत्न करने पर भी रह गई हैं, उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

—शुभकार कपूर

विषय-सूची

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ९

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ६

अध्याय—१

आचार्य चतुरसेन का जीवनवृत्त

一

जीवन वृत्त

"स्वस्थ गठा हुआ स्थूल किन्तु बलिष्ठ एवं स्फूर्तिवान शरीर मुख मंडल पर गम्भीरता एवं प्रौढ़ता नेत्रों पर नीले रंग का सुनहरी कमानी का चश्मा क्लीन शेव बाएं कपोल पर एक छोटा-सा तिल चौड़ा ललाट ६८ वर्ष से अधिक आयु में भी एकदम काले सिर के केश बत्तीसी इस आयु में भी श्वेत सबल एवं दृढ़ गेहुआ रंग गठिया के कारण कुछ रुक-रुककर चलने के अभ्यस्त अध्ययन के कारण धंसे हुए नेत्र, स्वर में दृढ़ता बातचीत में आत्मीयता विद्रोह नवीनता एवं अध्ययन का पुट।" यह थे हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार, साहित्यकार एवं आयुर्वेद जगत के विख्यात राजवैद्य आचार्य चतुरसेन शास्त्री। इसी व्यक्तित्व ने अर्ध शताब्दी तक निरन्तर एक ही गति से साहित्य और आयुर्वेद जगत की सेवा की थी।

मैं जब प्रथम बार उस महान् साहित्यकार से मिला था उस समय उनके जिस व्यक्तित्व से मैं प्रभावित हुआ था और जो विचार मेरे मस्तिष्क में उस समय आए थे उन्हीं का ज्यों का त्यों चित्रण मैंने यहाँ कर दिया है। २ फरवरी सन् १९६० के पश्चात् उस महान् साहित्यकार का भौतिक व्यक्तित्व तो स्थूल शरीर के साथ समाप्त होगया किन्तु उनका अजेय व्यक्तित्व आज भी उनके महान् साहित्य पर ज्यों का त्यों छाया हुआ है। जिस प्रकार उनके व्यक्तित्व में एक तीखापन था वैसे ही उनके साहित्य में एवं जीवन की विभिन्न घटनाओं में भी एक तीक्ष्णता एवं गहराई है। जिस प्रकार उनका भौतिक व्यक्तित्व बहुमुखी था उसी प्रकार उनका साहित्यिक व्यक्तित्व एवं जीवन भी बहुमुखी एवं विभिन्न घटनाओं से ओत-प्रोत था। जिस प्रकार उनके साहित्य में एक क्रमबद्ध विकास है उतार और चढ़ाव है उसी प्रकर उनका जीवन क्रम भी विभिन्न घटना चक्रों संघर्षों एवं मोड़ों से परिपूर्ण है। प्रस्तुत अध्याय में हम उसी महान् व्यक्तित्व के जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर

रहे हैं। वास्तव में वह एक ऐसा व्यक्तित्व था जो जब तक जीवित रहा संघर्ष रत कार्यरत एवं कर्मठ रहा वह एक ऐसा व्यक्तित्व था जो अमृत होते हुए भी कड़वा था जो आशुतोष की भाँति गरलपायी था। वह एक ऐसा उपेक्षित साहित्यकार था जिसने जीवन पर्यन्त साहित्य साधना की किन्तु ठोकरें ही खाता रहा। वह एक ऐसा उद्बुद्ध महामानव था जो इन ठोकरों एवं उपेक्षाओं से क्षुब्ध होते हुए भी अपने साहित्य को निरन्तर श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर ही बनाता रहा। वह एक ऐसा राजवैद्य था जो मानव के शरीर की ही नहीं उसके मन की उसके समाज की भी चिकित्सा करता था। चिकित्सा के समय वह यह न देखता कि औषधि तीक्ष्ण है या मधुर। किसी को भली लगे या बुरी इसकी उसे कभी भी चिन्ता न रही। इसीलिए वह निरन्तर समाज की सेवा करते हुए भी कभी सामाजिक न हो सका। एक भी अपना हितैषी मित्र न बना सका।

ऐसे महान् साहित्यकार के जीवन के कुछ भूले बिसरे चित्रों एवं स्मृतियों को एकत्र करके उसके जीवन विकास पर किंचित मात्र प्रकाश डालना निश्चित ही अनुपयुक्त न होगा। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम उस महान् साहित्यकार के सम्पूर्ण जीवन को विकास के निम्न पाँच क्रमों में विभक्त करके देखने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम—जन्म से २१ वर्ष की अवस्था तक (सन् १८९१ से १९११)
विवाह पूर्व की स्थिति—
द्वितीय—प्रथम विवाह एवं वैवाहिक जीवन का प्रारम्भ (१९१२ से १९२५)
तृतीय—सन् (१९२५–१९३४) तक द्वितीय विवाह और क्रान्तिकारी जीवन।
चतुर्थ—सन् (१९३४–१९४४) तक चिंतन मनन काल।
पंचम—सन् (१९४५–१९६०) तक साहित्यिक उत्कर्ष काल।

(१) विवाह पूर्व की स्थिति
(सन् १८९१ से १९१)

आचार्य चतुरसेन जी का जन्म उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर नामक जनपद की अनूपशहर तहसील के निकट चान्दोख ग्राम में एक साधारण से कच्चे घर में सम्वत् १९४८ भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी रविवार (२६ अगस्त सन् १८९१) के दिन गोधूलिवेला में हुआ था। यह घर और यह ग्राम उनका

पुश्तैनी निवास न था, अस्थायी प्रवास का स्थान था। वास्तव में उनका स्थायी-पैतृक स्थान इसी चान्दोख ग्राम के निकट-दक्षिण-पश्चिम कोई १-४ कोस पर 'चिचियाना' ग्राम है। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने स्थान के विषय में लिखा है चान्दोख मैंने अपने होश हवास में देखा नहीं है। न उस घर को पहचान सकता हूँ जिसमें मेरा नार गड़ा है। चिचियाना मैंने बालकाल में देखा है वहाँ के टूटे-फूटे घर का भी मुझे ध्यान है। वहाँ हमारा पैतृक शिवालय बाग और तालाब भी है। वह भी मैंने देखा है। अब भी मेरे परिजन-कौटुम्बिक एक-दो वहाँ रहते हैं ऐसा सुनता हूँ पर न मुझे जानते नहीं हैं और मैं भी उन्हें नहीं पहचानता हूँ। सुना था कि चान्दोख में मेरे पिता जी बहुत कम रहे, परन्तु उनके जीवन में चान्दोख के निवास का सांस्कृतिक प्रभाव बहुत रहा था।[1]

जन्म-नाम

आचार्य चतुरसेन जी का जन्म का नाम चतुर्भुज था। यह नाम उनके पिता के अनन्य मित्र प्राणाचार्य वैद्य होमनिधि शर्मा ने रखा था। उन्होंने ही इनकी जन्म कुण्डली भी बनाई थी। उन्होंने उनका नाम रखा था चतुर्भुज पर कहते थे कुलदीपक। उनका कहना था लड़के के यह तुम्हारे घर के योग्य नहीं है। जियेगा तो कुलदीपक होगा। इसी से पिता का प्यार मुझ पर बहुत था।[2]

पिता

आचार्य चतुरसेन जी के पिता का नाम ठाकुर केवल राम वर्मा था। उनका जन्म गदर के साल सन् ५७ में हुआ था। वह विचारों से आर्य समाजी तथा कार्यों से घोर सुधारवादी थे। यद्यपि वह अल्प-शिक्षित थे तो भी विचारों में प्रगतिशील थे। आजीविका की तलाश में वह आचार्य चतुरसेन जी के जन्म के कुछ मास प्रथम ही चान्दोख आ गये थे। यहाँ उन्हें दो सांस्कृतिक पुरुषों की मित्रता का लाभ प्राप्त हुआ। एक थे प्राणाचार्य वैद्य होमनिधि शर्मा उदार विचारों के संस्कृतज्ञ पंडित और आसपास के प्रसिद्ध चिकित्सक। दूसरे थे ठाकुर महावीरसिंह गाँव के जमींदार। इन्हीं दोनों मित्रों के सत्संग के कारण आचार्य चतुरसेन जी के पिता भी सुधारवादी हो गये थे। आचार्य चतुरसेन जी

---

१ चतुरसेन-त्रैमासिक, सम्पादिका, कमल किशोरी प्रथम अंक, मेरा बचपन निबन्ध २०१२, पृ ८६-८७।

२ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक पृ ८७।

के विचारों पर आर्यसमाजी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव था। स्वामी दयानंद सरस्वती जब कर्णवास आए हुए थे तब इनके पिता जी और ठाकुर साहब ने कर्णवास जाकर स्वामी जी के दर्शन किए और उपदेशामृत सुना था। तभी से उनके विचार आर्य समाज की ओर झुक गए थे। फिर चान्दोख ग्राम में दोनों मित्रों का रहना हुआ तो परस्पर विचार विनिमय करने से शीघ्र ही वे कट्टर आर्यसमाजी हो गये। उस समय तक बम्बई और लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना तो हो चुकी थी परन्तु अभी उसका व्यापक परिपुष्ट स्वरूप प्रकट नहीं हुआ था। परन्तु मूर्तिपूजा आदि के खण्डन की जबरदस्त चर्चा स्वामी दयानन्द के नाम के साथ देहातों में चल गई थी। 'जगह-जगह लोग कहते थे एक संन्यासी इधर घूम रहे हैं संस्कृत बोलते हैं। मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं। वेद को ईश्वर वाणी बताते हैं।'[1]

आचार्य चतुरसेन जी के पिता न केवल उस समय के आर्यसमाजी सुधारवादी आन्दोलन से प्रभावित थे वरन् वे स्वयं कट्टर सुधारक थे और अन्ध विश्वास एवं रूढ़ियों के नाश में दृढ़ता और उत्साह के साथ लगे रहते थे।

आचार्य चतुरसेन जी ने उनके इस स्वभाव और व्यक्तित्व का वर्णन निम्न शब्दों में किया है। 'सैकड़ों मन्दिरों मठों और देव-स्थानों से महादेव चामुण्डा आदि की मूर्तियाँ रातों रात चुराकर गंगा में या निकट के तालाब में फेंक देना। जहाँ किसी देवता के स्थान पर बहुधा स्त्रियाँ आती जाती हों वहाँ पहुँच उन्हें भूत बनकर डरा देना कि फिर उधर आने का नाम न लें। कहीं विवाह आदि कृत्य पौराणिक रीति पर होता तो झट एक आर्य समाजी पण्डित को लेकर जा धमकते कभी-कभी फौजदारी करके भी उसी से कृत्य कराते। लाठी के धनी थे। लाठी हाथ में होने पर १ २ को भारी। डील-डौल में विशाल सुर्ख सिंदुरिया रंग घनी दाढ़ी (चोटी दाढ़ी नहीं रखते थे) मजबूत सोंटा हाथ में नोकदार चमरौधे का जूता। बस ठाकुर और आप गाँव गाँव घूमना और उपर्युक्त अद्भुत रीति से आर्य समाज का प्रचार करना। कभी-कभी केवल 'नमस्ते' कहलाने के लिए लाठी चल जाती थी।'[2] इसी से आचार्य चतुरसेन जी के पिता जी आस पास के गाँवों में 'नमस्ते' के नाम से प्रसिद्ध थे। दुकान के आगे नमस्ते का साइनबोर्ड टंगा रहता था। 'हिन्दू-मुसलमान हरिजन अछूत जो भी उनकी दुकान के आगे होकर गुजरता 'नमस्ते' कहता।

---

१ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक पृ ८७।
२ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ ८८।

आर्य समाज का प्रचार वे डण्डे से भी करते थे, और जबान से भी। सभा में भाषण नहीं देते थे पर गाँव-देहात में दस-बीस जनों के बीच कड़कती भाषा में जब वे कुरीतियों और रूढ़ियों के विपरीत बोलते थे दूर से उनकी आवाज़ को पहचानकर गाँव वाले आ जुटते थे।"[1]

आचार्य चतुरसेन जी के पिता का जीवन एकदम सीधा-सादा था। वे नित्य प्रातः चार बजे उठते कोई भजन गुनगुनाते हुए गाय भैंसों को सानी देते फिर एक चिलम भरकर हुक्का पीते हुए कपास ओटने बैठ जाते। जब तक खत्म हो निकाल लेते दस-पन्द्रह सेर बिनौले और डाल देते भैंसों के आगे। शौच से निवृत्त हुए तो चार निकालते। तब कहीं दिन निकलता। नहा धो सन्ध्या कर तिलक छाप लगा एक लोटा ताजा मठठा पाव भर ताजा मक्खन डाल चढ़ा कर जब निकलते खेती का चक्कर लगाने। कमेरों को काम की हिदायतें दीं और चल दिए ठाकुर दोस्त के पास। एक-दो गाँव में अपनी रीति पर प्रचार किया दोपहर को घर आए। सीधा-सादा भोजन। साग और मोटी-मोटी रोटियाँ साथ में पाव भर घी। तानकर सोए, तीसरे पहर उठे तो ठाकुर की चौपाल या होमनिधि शर्मा की बैठक। कुछ वृद्ध कुछ जवान और आ जुटे हुक्का गुड़गुड़ाने और गप्पें लड़ाने लगे। सब बातें आर्यसमाजी खूब कट्टर, न रियायत न संशोधन। आसपास के दस पाँच गाँवों की चर्चा हो गई पचासों आदमियों की आलोचना हुई। जोरशोर से स्कीमें बनीं जिनका अन्तिम ध्येय था माता-चामुण्डा-मूर्तिपूजा पुराण आदि कैसे उठाए जायें। तथा बाल-बच्चों को कैसे और कहाँ पढ़ाया जाय।[2] इसके अतिरिक्त शुद्धि के काम में भी उन्हें पर्याप्त रुचि थी। उन्होंने कई मुसलमान परिवारों की शुद्धि भी की थी।[3]

इस प्रकार इनके पिता का बड़ा प्रभावशाली और तेजवान व्यक्तित्व था। और उसी के अनुरूप क्रियाशील जीवन भी।

माता जी

आचार्य चतुरसेन जी के पिता में जिस प्रकार पुरुष का कर्मठ-पुरुषार्थ था माता में उसी प्रकार नारी सुलभ ममता और स्नेह विद्यमान था।

वे ममता की प्रतिमूर्ति थीं। उनके स्वभाव का वर्णन करते हुए स्वयं

---

१ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ ९०।

२ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक मेरा बचपन पृ ८८-८९।

३ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ. ९०-९१।

आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है— 'त्याग-स्नेह और सहिष्णुता को मिलाकर जो एक महा और आदर्श की देवी की कल्पना की जा सकती है वही वे थीं। वे पढ़ी-लिखी नहीं थीं। पर वे असल हीरे की कनी थीं। प्रकृति ने उन्हें जो लोकोत्तर आभा दी थी उस पर कृत्रिम चमक करने का किसी कारीगर को अवसर ही नहीं मिला। कभी उसकी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई।'[१] आचार्य चतुरसेन जी अपनी माता को 'अम्मा' कहते थे और 'तू' कहकर ही बोला करते थे। उन्हें आचार्य जी ने कभी भी 'तुम' या 'आप' कहकर सम्बोधित नहीं किया। वह भी इन्हें सदा 'भैया' करके ही बुलाया करती थीं। जिस समय आचार्य जी का जन्म हुआ उनके पिता जी की आयु २१ वर्ष और माता जी की १६ वर्ष होगी। उनके दैनिक जीवन के विषय में आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है माता जी अपनी गृहस्थी का सब काम स्वयं करती थीं। पिताजी की भांति वे भी प्रातःकाल में उषा के उदय होने के पूर्व उठकर एकदम घर के कामों में लग जाती थी। उन दिनों गाँव देहातों में नौकरों से काम कराने की परिपाटी न थी। वे उठकर सर्वप्रथम तमाम गाय भैंसों और उनके बच्चों को एक बार प्यार-पुचकार आतीं। उनपर हाथ फेरतीं और प्रत्येक का नाम लेकर एक-दो बातें कहतीं। इसके बाद वे शौच से निवृत्त होकर दूध बिलोने बैठतीं पाँच-सात गाय-भैंसों के दूध को वे अनायास ही अपने बलिष्ठ भुजदण्डों से बिलो डालती। इसके बाद घर-आँगन बुहार कर ताजे गोबर से लीपकर निवृत्त होतीं। तब कहीं दिन निकलता। फिर वह स्नान कर सूर्य को अर्घ्य दे भोजन बनातीं और कातन बैठतीं। सिर के बाल के समान बारीक सूत वे निकालती थीं। उनके सूत की धाक घर में धूम थी। निरालस्यता उनका अभ्यास था और कर्मठता उनका नित्य का जीवन था।"[२] केवल अन्तिम १६ वर्षों को छोड़कर आचार्य चतुरसेन जी की माता का स्वास्थ्य उत्तम रहा था। उनकी मृत्यु ६८ वर्ष की अवस्था में हुई थी।

एक बार प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के माता-पिता सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में आचार्य चतुरसेन जी ने कहा था कि अपने 'आत्मदाह' नामक उपन्यास में सुधीन्द्र के माता पिता के रूप में मैंने अपने ही माता-पिता का वास्तव म चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त मेरे जीवन से सम्बन्धित कई अन्य घटनाएँ भी प्रस्तुत उपन्यास में आ गई हैं।

---

१ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, मेरा बचपन पृ ९२।
२ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक मेरा बचपन पृ ९२।

उपर्युक्त माता-पिता की जो स्वस्थ और सम्पन्न दशा का वर्णन किया गया है वह उनकी वृद्धावस्था में नहीं रह गई थी।

आचार्य चतुरसेन जी की माता जी के अपनी अवस्था के अन्तिम १६ वर्ष रुग्णावस्था में ही कटे थे। उन दिनों आचार्य जी के पिता की आर्थिक स्थिति भी दयनीय हो गई थी। पग-पग पर उन्हें अभाव का ही सामना करना पड़ता था। आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है "मैंने बहुत बार देखा कि मेरे पिता जी रोगिणी माता के लिए समय पर ठीक-ठीक पथ्य और औषधि भी न जुटा सकते थे। अत्यन्त आवश्यक होने पर वे हम लोगों को पड़ोसियों से उधार मांग लाने को भेजते और हम लोग वहाँ से नकार लेकर प्रायः लौटते। उन दिनों वह अभाव मुझे कुछ विशेष नहीं खला पर बाद में तो उसने एक स्थायी दर्द की उत्पत्ति मेरे मन में कर दी। मैं बालक था पर एक दृश्य नहीं भूल सकता। जब सब ओर से नकार ग्रहण कर पिता जी अर्धमूर्छित माता का सिर गोद में लिए जरा-जरा पानी चम्मच से उनके मुंह में डाल रहे थे। तब जैसे वह नकार मूर्छित माता के भी अन्तस्थ को छू गया था। उन्होंने बहुत यत्न से बहुत देर तक इंगित किया, पर वह इतना अस्पष्ट था कि पिता जी बहुत ही कठिनाई से समझ पाये और तब उन्होंने संकेत स्थल से दीवार की एक दरार से मैले कपड़े में लिपटी एक पोटली निकाली जिसमें कुछ रुपये थे। शायद दो चार। उनमें से एक तुड़ा कर माता के लिए दूध मंगाया गया। दूध तब चार पैसे सेर मिलता था। पर आज भी मैं उस एक पाव दूध की कीमत का अनुमान नहीं लगा सकता। एक पैसे के उस दूध के लिए पिता जी को दो घंटे संघर्ष करना पड़ा था। दीन जगह हाथ फैलाकर नकार प्राप्त किया था। यह था मेरे जीवन पर अभाव का स्पर्श।"[1] इस घटना का आचार्य चतुरसेन जी के साहित्यिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उनका साहित्यकार प्रारम्भ में चार तत्वों—सेवा श्रम, अभाव और विद्रोह से विशेष प्रभावित हुआ था। उन्होंने इस विषय का वर्णन करते हुए लिखा था"......माँ की बीमारी द्वारा मेरे जीवन पर अभाव का स्पर्श हुआ तथा सेवा मैंने पिता जी की देखी। १४ वर्ष निरन्तर अनवरत वे माता जी को अनायास ही फूल की डाली की भाँति उठा लेते। सेवा शुश्रुषा सफाई और न जाने क्या-क्या उन्हें करना पड़ता था जिसे तब नहीं समझा था बाद में जीवन भर समझा। यह हुआ मेरे जीवन पर सेवा का स्पर्श। ...श्रम हम सभी को करना पड़ता था। हमारी १७ वर्ष की बहन

---

1 वातायन आचार्य चतुरसेन, मैं उपन्यास कैसे लिखता हूं पृ १६।

मौड़ा गृहिणी की भाँति उन दिनों हमारी सारी गृहस्थी चला रही थी। उन्हीं दिनों मुझे भी अपने हाथ से काम करने और रसोई बनाने का अभ्यास हो गया जो आज भी है। 'विद्रोह मुझे पिता से विरासत स्वरूप मिला था। इस प्रकार अभाव सेवा श्रम और विद्रोह इन चारों ने मिलकर मेरे बाल भाव का शृंगार किया।'[1]

इस प्रकार इनके माता-पिता का जीवन एक आदर्श पति-पत्नी का जीवन था।

प्रारम्भिक शिक्षा

चांदोख से सिकन्दराबाद में आ बसने से पूर्व आचार्य चतुरसेन के पिता जी सिकन्दराबाद कस्बे के निकट 'रसूलपुर' नामक एक छोटे-से गांव में रहते थे। उस समय आचार्य चतुरसेन जी की आयु कठिनाई से ४ या ५ वर्ष की होगी। वहीं पर उन्होंने गंगाराम नामक एक गौर वर्ण ब्राह्मण से अक्षराभ्यास प्रारम्भ किया था। आचार्य चतुरसेन जी ने इस विषय पर स्वयं लिखा है 'जिस दिन मेरा अक्षराभ्यास हुआ और मैं पहिली बार पाठशाला में गया। वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है। सुना था कि पण्डित जी मारते हैं कान खींचते हैं मुर्गा बनाते हैं। एकाध बार दूर खड़े होकर मुर्गा बनते तथा पिटाई होते मैंने लड़कों को देखा भी था। माता पिता ने मेरी पिटाई कभी की नहीं। मुझे याद ही नहीं कि कभी की हो। पिटाई से मैं घबराता भी बहुत था।— जब जब मुझे स्वयं पाठशाला जाना पड़ा तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मुझे मेरा सिर काटने को ले जाया जा रहा है। रोता हुआ मैं मां के आंचल से लिपट गया। मां ने बारम्बार पुचकारा पुचकारा लल्लू भैया कहा गोद में उठाया मिठाई खिलाई, पिता जी ने भी फुसलाया और मुझे पाठशाला जाना ही पड़ा। उस दिन मुझे नया कुर्ता मिला नई धोती मिली नई टोपी जिसमें गोटा लगा हुआ था। यह मुझे खूब अच्छी तरह याद है। उन दिनों मैं हाथों में चांदी के कड़े पहने रहता था। याद आता है कमर में चांदी की करधनी भी पहनता था। लेकिन पैर में जूता नहीं था। जूता तो बहुत दिन बाद सिकन्दराबाद में जाकर ही पहना। धोती बांधना मैं नहीं जानता था। उस दिन पिता जी ने मेरी धोती बांधी थी और वे कन्धे पर चढ़ाकर मुझे पाठशाला ले गए थे। पण्डित जी के सम्मुख बताशे रखे गए, एक रुपया भेंट किया गया।

१ वातायन आचार्य चतुरसेन मैं उपन्यास कैसे लिखता हूँ पृ १०।

बताशे सब लड़कों को बांटे गए। मैंने पण्डित जी के कहने से सबके तिलक लगाया। उन्होंने मेरे माथेपर टीका दिया। फिर मेरा हाथ पकड़कर पण्डित जी ने मेरी पाटी पर 'श्री' लिखवाया। तीन बार "श्री" उच्चारण करवाया। बस उस दिन यही हुआ और मैं पिता जी की गोद में चढ़कर घर चला आया। बताशे जो मुझे मिले थे—मैंने अम्मा को दिए। अब मैं हँस रहा था। हँस हँस कर पाठशाला की बात सुना रहा था। मैंने "श्री" पढ़ा है यह भी मैंने बता दिया। उस दिन की वह "श्री" जैसे मेरे रक्त की प्रत्येक बूंद में रम गई। कभी न भूली जा सकी।

आचार्य चतुरसेन जी प्रारम्भ में केवल पाठशाला में जाकर दिन भर तख्ती गोद में लिए, तथा सरकंडे की कलम हाथ में लिए चुपचाप बैठे रहते थे। लिखते कुछ न थे। उनके पिता जी ने पंडित जी को उन्हें मारने-पीटने से मना कर दिया था। इस कारण से प्रारम्भ में पंडित जी कुछ न बोलते थे किन्तु ऐसी स्थिति अधिक दिनों तक न चल सकी। इस विषय पर आचार्य जी ने लिखा है 'पण्डित जी तरह देते गए। पर मैं तो लिख ही नहीं सकता था। पण्डित जी प्यार से डांटकर कहते 'अबे लिखता क्यों नहीं। तो मैं सुबकियां लेकर कहता पिता जी लिखेंगे। पिता जी घर पर तख्ती लिखते मुझे समझाते तो मैं इत्मीनान से बैठा देखता। मेरी यही धारणा थी कि पिता जी तख्ती लिखते हैं तो अब मुझे लिखने की क्या आवश्यकता है। काफी दिन बीत जाने पर भी मैं केवल ६ अक्षर सीख पाया। अ, आ, इ ई, उ ऊ। परन्तु हर बार इ, ई भूल जाता। जब बोलता अ आ उ ऊ। पण्डित जी डांटकर कहते अबे इ, ई। तब मैं इ, ई कहते-कहते हिचकियां लेकर रोते-रोते गंगा यमुना के सागर बहा देता। पण्डित जी हैरान होकर किसी बालक के साथ मुझे घर भिजवा देते। पण्डित जी सुबह ही तख्ती पर सोलहों स्वरों के निशान कर देते थे। कई बार सामने घुटवा देते थे। फिर तख्ती पर लिखने का आदेश देकर दूसरे बच्चों की ओर ध्यान देते थे। बीच बीच में मेरी भी हांक लगाते रहते थे। परन्तु मेरी गाड़ी तो वहीं रुकी खड़ी रहती थी। हर बार जब वे कहते—लिख तब मेरा एक ही जवाब था पिता जी लिखेंगे। अन्त में पण्डित जी एक बार गम्भीर हो उठे। और अपने मस्तिष्क का संतुलन खो बैठे। उन्होंने क्रोध से लाल लाल करके लड़कों को ललकारा—कोई है जाओ तो खजूर की सण्टी आज मैं इस चतुर्भुज के तन की खाल उधेड़ूंगा और पांच सात बालक दौड़ चले खजूर की सण्टी लेने। खजूर की सण्टी की करामात दो चार बार मैं देख चुका था। बस मेरी गाड़ी सरप

प्रौढ़ा गृहिणी की भाँति उन दिनों हमारी सारी गृहस्थी चला रही थी। उन्हीं दिनों मुझे भी अपने हाथ से काम करने और रसोई बनाने का अभ्यास हो गया जो आज भी है।... विद्रोह मुझे पिता से विरासत स्वरूप मिला था। इस प्रकार अभाव सेवा श्रम और विद्रोह इन चारों ने मिलकर मेरे बाल मन का शृंगार किया।[1]

इस प्रकार इनके माता-पिता का जीवन एक आदर्श पति-पत्नी का जीवन था।

प्रारम्भिक शिक्षा

चांदोख से सिकन्दराबाद में आ बसने से पूर्व आचार्य चतुरसेन के पिता जी सिकन्दराबाद कस्बे के निकट 'रघुनपुर' नामक एक छोटे-से गांव में रहे थे। उस समय आचार्य चतुरसेन जी की आयु कठिनाई से ४ या ५ वर्ष की होगी। वहीं पर उन्होंने गंगाराम नामक एक गौर वर्ण ब्राह्मण से अक्षराभ्यास प्रारम्भ किया था। आचार्य चतुरसेन जी ने इस विषय पर स्वयं लिखा है "जिस दिन मेरा अक्षराभ्यास हुआ और मैं पहिली बार पाठशाला में गया। वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है। सुना था कि पण्डित जी मारते हैं कान खींचते हैं मुर्गा बनाते हैं। एकाध बार दूर खड़े होकर मुर्गा बनते तथा पिटाई होते मैंने लड़कों को देखा भी था। माता-पिता ने मेरी पिटाई कभी की नहीं। मुझे याद ही नहीं कि कभी की हो। पिटाई से मैं घबराता भी बहुत था। ...अब जब मुझे स्वयं पाठशाला जाना पड़ा तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मुझे मेरा सिर काटने को ले जाया जा रहा है। रोता हुआ मैं माँ के आंचल से लिपट गया। माँ ने बारम्बार चुमकारा पुचकारा लल्लू भैया कहा गोद में उठाया मिठाई खिलाई, पिता जी ने भी फुसलाया और मुझे पाठशाला जाना ही पड़ा। उस दिन मुझे नया कुर्ता मिला नई धोती मिली नई टोपी जिसमें गोटा लगा हुआ था। यह मुझे खूब अच्छी तरह याद है। उन दिनों मैं हाथों में चांदी के कड़े पहने रहता था। याद आता है कमर में चांदी की करधनी भी पहनता था। लेकिन पैर में जूता नहीं था। जूता तो बहुत दिन बाद सिकन्दराबाद में आकर ही पहना। धोती बांधना मैं नहीं जानता था। उस दिन पिता जी ने मेरी धोती बांधी थी और वे कन्धे पर चढ़ाकर मुझे पाठशाला ले गए थे। पण्डित जी के सम्मुख बताशे रक्खे गए, एक रुपया भेंट किया गया।

---

१ वातायन आचार्य चतुरसेन मैं उपन्यास कैसे लिखता हूँ, पृ १७।

बताशे सब लड़कों को बांटे गए। मैंने पण्डित जी के कहने से सबके तिलक लगाया। उन्होंने मेरे माथेपर टीका दिया। फिर मेरा हाथ पकड़कर पण्डित जी ने मेरी पाटी पर 'श्री' लिखवाया। तीन बार "श्री" उच्चारण करवाया। बस, उस दिन यही हुआ और मैं पिता जी की गोद में चढ़कर घर चला आया। बताशे जो मुझे मिले थे—मैंने अम्मा को दिए। अब मैं हँस रहा था। हँस हँस कर पाठशाला की बात सुना रहा था। मैंने "श्री" पढ़ा है यह भी मैंने बता दिया। उस दिन की यह "श्री" जैसे मेरे रक्त की प्रत्येक बूंद में रम गई। कभी न भूली जा सकी।"

आचार्य चतुरसेन जी प्रारम्भ में केवल पाठशाला में जाकर दिन भर तख्ती गोद में लिए, तथा सरकण्डे की कलम हाथ में लिए चुपचाप बैठे रहते थे। लिखते कुछ न थे। उनके पिता जी ने पंडित जी का उन्हें मारने-पीटने से मना कर दिया था। इस कारण से प्रारम्भ में पण्डित जी कुछ न बोलते थे किन्तु ऐसी स्थिति अधिक दिनों तक न चल सकी। इस विषय पर आचार्य जी ने लिखा है 'पण्डित जी तरह देते गए। पर मैं तो लिख ही नहीं सकता था। पण्डित जी प्यार से डांटकर कहते 'अबे लिखता क्यों नहीं।" तो मैं सुबकियां लेकर कहता पिता जी लिखेंगे। पिता जी घर पर तख्ती लिखते मुझे समझाते तो मैं इत्मीनान से बैठा देखता। मेरी यही धारणा थी कि पिता जी तख्ती लिखते हैं, तो अब मुझ लिखने की क्या आवश्यकता है। काफी दिन बीत जाने पर भी मैं केवल ६ अक्षर सीख पाया। अ आ इ ई, उ ऊ। परन्तु हर बार इ, ई भूल जाता। जब बोलता अ आ उ ऊ। पण्डित जी डांटकर कहते अब इ, ई। तब मैं इ, ई कहते-कहते हिचकियां लेकर रोते-रोते गंगा यमुना के सागर बहा देता। पण्डित जी हैरान होकर किसी बालक के साथ मुझे घर भिजवा देते।...... पण्डित जी सुबह ही तख्ती पर सोलहों स्वरों के निशान कर देते थे। कई बार सामने घुटवा देते थे। फिर तख्ती पर लिखने का आदेश देकर दूसरे बच्चों की ओर ध्यान देते थे। बीच बीच में मेरी भी हांक लगाते रहते थे। परन्तु मेरी गाड़ी तो वहीं रुकी खड़ी रहती थी। हर बार जब वे कहते—लिख तब मेरा एक ही जवाब था पिता जी लिखेंगे। अन्त में पण्डित जी एक बार अधीर हो उठे। और अप मस्तिष्क का संतुलन खो बैठे। उन्होंने क्रोध से लाल आंख करके लड़कों को ललकारा—कोई है लाओ तो खजूर की कम्मच आज मैं इस चतुर्भुज के बच्चे की खाल उधेड़ूंगा और पांच सात बालक दौड़ पड़े खजूर की कम्मच लेने। खजूर की कम्मच की करामात दो चार बार मैं देख चुका था। बस मेरी गाड़ी सरपट

दौड़ पड़ी और जब तक अम्मा आईं, मेरी तख्ती भर चुकी थी। टेढ़े मेढ़े अक्षर काँपते हाथ आँसू भरी दृष्टि और हिचकियों से भरपूर रुदन सहित अटक-अटक कर उन अक्षरों का अस्फुट उच्चारण। पण्डित जी ने शाबाशी दी पीठ ठोंकी पुचकारा गोद में उठाया मगर इस लाड़ प्यार से भी मेरा रोना तो रुका नहीं। पण्डित जी उस दिन स्वयं मुझे लाकर घर छोड़ गए, पिता जी को तख्ती दिखाई, बधाइयाँ दीं। इस प्रकार मेरा अक्षरारम्भ आरम्भ हुआ। खेद है कि उन पण्डित जी का हमारे सामने ही देहावसान हो गया। मुझे उनकी पीली हल्दी के रंग के समान देह और डोली में बैठकर वहाँ से जाना भली भाँति याद है।[1]

इसी 'रसूलपुर' ग्राम में ही एक बार आचार्य चतुरसेन जी का जीवन संकट में पड़ गया था। शैशवावस्था की चर्चा करते हुए उन्होंने इस प्रबन्ध के लेखक से कहा था "मुझ जीवन के प्रारम्भिक काल में ही मैं एक बार मृत्यु से संघर्ष कर चुका हूँ। इस संकट में मुझे मेरे एक बाल मित्र ने ही डाल दिया था। मेरी उत्सुकता देखकर उन्होंने मुझे बतलाया था जिस गाँव में मैं रहता था उसके किनारे एक छोटी-सी नहर थी। उस समय मेरी अवस्था पाँच वर्ष की रही होगी। एक दिन मैं अपने एक समवयस्क बालक के साथ खेलता-खेलता उस नहर के किनारे पहुँच गया। उस समय हम दो बालकों के अतिरिक्त उस स्थान पर अन्य कोई भी व्यक्ति न था। हम दोनों बालक वहीं किनारे खेल रहे थे। मुझे ठीक स्मरण नहीं किन्तु इतना स्मरण है कि वह बालक मुझसे किसी बात पर चिढ़ गया था। उसने मुझे धोखे से नहर में ढकेल दिया और स्वयं भाग गया था।" इतना कहते-कहते आचार्य चतुरसेन जी का विहंसता हुआ मुख मंडल गम्भीर हो गया था। उन्होंने पुनः कुछ भय मिश्रित स्वर में कहा था "उस क्षण के अपने डूबने की स्मृति अभी भी मेरे मन में ज्यों की त्यों है। जब कभी मुझे उस घटना का स्मरण हो आता है तो मुझे रोमांच हो आता है। मुझे कुछ ऐसा भास होने लगता है कि मैं अब डूबा ... अब डूबा ...।" आचार्य चतुरसेन जी की मुख-मुद्रा देखकर मुझे भी रोमांच हो आया था। किन्तु दूसरे ही क्षण आचार्य जी ने हंसते हुए कहा था "किन्तु भयभीत होने की कोई बात ही नहीं। मैं तो भला चंगा तुम्हारे सामने बैठा हूँ। उस मंझधार में मुझे घास का सहारा मिल गया था। उसी को पकड़कर मैं नहर से बाहर आया था।" आचार्य चतुरसेन जी ने कुछ रुक कर हंसते हुए पुनः कहा था "यदि उस समय मैंने जल समाधि ले

---

१ चतुरसेन—वैशालिका दूसरा खंड, मेरा बचपन पृ ११०–२११।

ही होती तो आज तुम थीसिस लिखने मेरे समीप कैसे आते। इतना कहकर आचार्य चतुरसेन खुलकर हँस पड़े थे।"

सिकन्दराबाद में

आचार्य जी के अक्षराभ्यास के पश्चात् उनके पिता जी उनकी शिक्षा-दीक्षा के विचार से चण्डपुर से सिकन्दराबाद आ बसे थे। सिकन्दराबाद जिला बुलन्द शहर के अन्तर्गत एक अच्छा कस्बा है। वहाँ तहसील और थाना भी है। जिन दिनों आचार्य जी के पिता सिकन्दराबाद में आए थे उन दिनों कायस्थ लोग वहाँ के प्रमुख नागरिक थे और आजकल बनियों का आधिक्य है। विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर शान्ति स्वरूप भटनागर यहीं के निवासी थे और वह आचार्य चतुरसेन जी के बाल सहपाठी थे। आचार्य जी का स्कूल कायस्थ बाड़े में ही था। वहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले अधिकांश विद्यार्थी धनी थे और आचार्य चतुरसेन जी स्वयं निर्धन पिता के पुत्र थे। वे लोग सदैव उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। केवल कायस्थ विद्यार्थियों में उनकी मित्रता शान्तिस्वरूप भटनागर से ही हो सकी थी कारण वह भी उन्हीं की भाँति दरिद्र थे।

उस कस्बे की एक छोटी सी गली में आचार्य चतुरसेन जी का मकान था। इस मकान के विषय में आचार्य जी ने स्वयं लिखा है "एक पतली-सी गली में एक छोटा-सा मकान शायद आठ आना माह भाड़े पर पिता जी ने लिया था। मुझे वह अंधेरी कोठरी अच्छी तरह याद है जहाँ मेरे दो तीन भाई-बहनों का जन्म हुआ। वहाँ दिन रात अंधकार रहता था। कोठरी में ऊपर की सूराख था सूराख में से सूर्य की कुछ किरणें दोपहर को आती थीं। ...सब एक साथ उसी कोठरी में सोते थे। बहुत दिन तक मैं पिता जी के साथ सोता रहा। बाद में किसी एक भाई के साथ। अकेले सोने को चारपाई-बिछौना तो मुझे बहुत दिन बाद मिला। उस मकान की कीमत २०० रु० किसी तरह पिता जी न जुटा सके। परन्तु वर्षों तक घर में चर्चा होती रही कि यह मकान खरीदा जायगा। अन्ततः पच्चीस वर्ष बाद उसी गली में मैंने एक मकान खरीदा।"[1]

जिस मुहल्ले में आचार्य चतुरसेन जी रहते थे वह बनियों का था। उस मुहल्ले का सबसे धनी व्यक्ति एक कोढ़ी एवं काना बनिया था। उसका नाम बंसीराम था। वह कस्बे भर में 'काना बंसी" के नाम से प्रसिद्ध था। धनी होने पर भी वह पल्ले सिरे का कंजूस एवं मक्खीचूस आदमी था। उसके न संतान थी

---

1 चतुरसेन—वैज्ञानिक दूसरा अंक पृ २३६।

रही। मरने पर भी उसकी लाश तीन दिनों तक पड़ी सड़ती रही थी। तीसरे दिन बड़ी धूमधाम से उसका विमान निकाला गया था। उस समय आचार्य चतुरसेन जी चौथी या पांचवीं कक्षा में थे। उसी कंजूस बनिए पर उन्होंने उस समय एक साधारण कविता लिखी थी।"[1] जो बाद में उस कस्बे में खूब प्रसिद्ध हुई थी। कस्बे के विभिन्न उत्सवों में भी उनकी यह कविता बड़ी धूम-धाम से गायी जाती थी।"[2]

आचार्य चतुरसेन जी उस कस्बे के दो चौंपे वालों से एवं एक कम्पाउण्डर से भी विशेष प्रभावित थे। चौंपे वालों से उन्होंने पकौड़ियां बनाना उसी अवस्था में सीख लिया था जिसमें उन्हें कमाल हासिल था। तथा कम्पाउण्डर बद्रीप्रसाद को देखकर ही उन्हें चिकित्सक बनने का शौक हुआ था।[3]

पारिवारिक परिचय

यहीं सिकन्दराबाद में आचार्य चतुरसेन जी के परिवार में उनके एक भाई और एक बहिन की वृद्धि हुई थी। सब मिलाकर आचार्य जी चार भाई थे। आचार्य जी वैमसेन महासेन चन्द्रसेन। महासेन जी का युवावस्था में ही देहान्त हो गया था। उनकी अकाल मृत्यु से आचार्य चतुरसेन जी को गहरा आघात लगा था। वास्तव में महासेन जी ही उनके समस्त कार्यों को देखते थे। वे भाई होने के साथ-साथ आचार्य चतुरसेन जी की दक्षिण भुजा भी थे। आचार्य जी के इसी समय प्रकाशित 'आरोग्यशास्त्र' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की भूमिका पढ़ने से उनके दुःखी हृदय की किंचित मात्र झलक मिल सकती है। महासेन की मृत्यु के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी के सबसे छोटे भाई श्री चन्द्रसेन जी ने उनके कार्यों में सहायता देना आरम्भ कर दिया था। उस समय से अन्त समय तक श्री चन्द्रसेन जी आचार्य चतुरसेन जी के साथ ही रहे। उनके दूसरे भ्राता श्री वैमसेन जी आज भी सिकन्दराबाद में रहकर व्यवसाय करते हैं।

---

१ उसकी कुछ पंक्तियां निम्न हैं—

रे काने बंसी कैसा विमान बनाया।
जब तक जीता रहा-नरक में रहा न भोगा खाया।
मरने पर यारों ने तेरा पैसा खूब लुटाया।
रे काने बंसी। चतुरसेन-त्रैमासिक दूसरा अंक पृ २१८।

२ चतुरसेन—त्रैमासिक दूसरा अंक पृ २१८-२१९।

३ चतुरसेन—त्रैमासिक, दूसरा अंक पृ २१९ से २४३।

गुरुकुल में प्रविष्टि

सिकन्दराबाद में आने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी के पिता श्री ठाकुर केवल राम जी का कार्यक्षेत्र और भी व्यापक हो गया था। यहीं आचार्य चतुरसेन जी के पिता को प्रसिद्ध आर्यसमाजी प्रचारक पण्डित मुरारीलाल शर्मा के सानिध्य का भी अवसर प्राप्त हुआ। 'यहीं उन्होंने सम्भवतः सन् १९०१ या ४ में स्वामी दर्शनानन्द (तब पं० कृपाराम) और पं० मुरारीलाल शर्मा के सहयोग से गुरुकुल सिकन्दराबाद की स्थापना की। शायद यही प्रथम गुरुकुल था। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना इसके बाद ही हुई थी।[1] आचार्य चतुरसेन जी बहुधा कहा करते थे जिस गुरुकुल के पहले उत्सव में कुछ तीन रुपए चन्दे के आए थे और मुझ सहित केवल तीन विद्यार्थी दीक्षित हुए थे। इन विद्यार्थियों का परिचय देते हुए उन्होंने कहा था 'एक थे देवेन्द्र शर्मा (पं० मुरारीलाल के पुत्र और पीछे आर्य समाज के प्रसिद्ध प्रचारक) सांख्य-काव्य-तीर्थ, शास्त्री और दूसरे एक और, जिनका कुत्सित जीवन आरम्भ-तारुण्य ही में समाप्त हो गया था। एकाक्षी पं० भूमित्र शर्मा कर्णवास-निवासी बने हमारे आचार्य और हम सम्भवतः छठी कक्षा से स्कूल छोड़कर ब्रह्मचारी बन गए।'[2] उन दिनों सिकन्दराबाद अच्छा खासा आर्य-समाज का प्रचार-गढ़ बन गया था। प्रसिद्ध भजनीक वासुदेव शर्मा और तेजस्वी गायक तेजसिंह की बड़ी धाक थी। रोज ही बाजार में धूम-धाम से प्रचार उपदेश और शास्त्रार्थ होते। "मुरारीलाल शर्मा विशेष पण्डित तो न थे, पर थे बड़े वाग्मी। इस विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने एक बार डा० कमलेश से कहा था "हम बालक रोज मुसलमानों के बालकों को पकड़ कर कहते—'साले कर शास्त्रार्थ' और झट से मार पीट करके चम्पत होते। यहीं हमें मेरठ के प्रसिद्ध वाग्मी पं० तुलसीराम का सानिध्य प्राप्त हुआ और पं० कृपा राम का परिवर्तित दर्शनानन्द रूप देखा। पीछे उन्हीं से हमने दर्शनों का अध्ययन किया। इटावा के पं० भीमसेन जी के भी सनातनी होने के बाद यहीं दर्शन हुए। उनके और श्री दर्शनानन्द जी के शास्त्रार्थों की हम लोग खूब नकल उतारा करते थे।"[3] "कभी-कभी गुरुकुल के नीरस वातावरण से इनका मन

---

१ मैं इनसे मिला डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" प्रथम भाग पृ० ८४।
२ मैं इनसे मिला डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" प्रथम भाग पृ० ८४।
३ मैं इनसे मिला डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" पृ० ८४-८६।

उचाट हो जाता था।[1] अन्त में एक दिन वे गुरुकुल से चुपचाप काशी भाग गए थे। इस विषय की चर्चा चलने पर उन्होंने कहा था "गुरुकुल में हमें भूगोल और सत्यार्थ प्रकाश आदि पढ़ाये जाते थे। इसका विरोध करके हम तीन-चार विद्यार्थी एक दिन रात को दो बजे दीवार फांदकर संस्कृत पढ़ने की धुन में काशी को भाग गये परन्तु पहुंचे केवल दो ही देवेन्द्र और मैं। राह में बहुत विपदाएँ झेलीं। काशी पहुंचने पर भी कष्टों का सामना किया। यहाँ हम लोगों में खाते पीते रहते और आवारागर्दी में पड़ते। विद्यार्थियों तथा पंडों की मुफ्तखोरी के भी खूब हथकण्डे देखे कुछ सीखे भी पीछे पिता जी ने आकर श्री केशवदेव शास्त्री के यहाँ व्यवस्था कर दी।"[2] जब डा० केशवदेव शास्त्री अमेरिका चले गए तब वह पं० सीताराम जी तथा श्यामकान्त जी शास्त्री से भी संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य पढ़ते रहे।

जयपुर में शिक्षा

इसके पश्चात् काशी से आचार्य चतुरसेन जी के पिता उन्हें ले आए और ले जाकर जयपुर-संस्कृत-कालेज में भरती करा दिया। वहाँ के आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष स्वामी लक्ष्मीराम जी प्रख्यात पीयूष-पाणि और विद्वान थे। आचार्य चतुरसेन जी ने उन्हीं से यहाँ चार वर्षों तक आयुर्वेद का विधिवत् अध्ययन किया और वहीं से उन्होंने साहित्य और चिकित्सा की विभिन्न परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। जयपुर में ही आचार्य चतुरसेन जी को आर्य समाज के दिग्गज वेदान्त निष्णात पं० गणपति शर्मा से वेदान्त पढ़ने का अवसर मिला था। यहीं श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी श्री मधुसूदन ओझा एवं महामहोपाध्याय गौरीशंकर

---

१ इस विषय में आचार्य चतुरसेन जी के अनुज श्री चन्द्रसेन जी ने लिखा है "गुरुकुल उन दिनों नया-नया खुला था। अतः चन्दा एकत्र करने के लिए मेधावी और वाक्पटु छात्रों को आस-पास के गाँवों में व्याख्यान देने और चंदा उगाहने भेजा जाता था। उनमें आचार्य चतुरसेन जी का नाम सबसे प्रथम था। दो-चार बार वह गये भी परन्तु चन्दा उगाहना उन्हें पसन्द न था। वह तो विद्या पढ़ने को व्याकुल थे। वहाँ के गुरुओं की ऐसी मनोवृत्ति देख वह चुपचाप काशी भाग गए।"
साप्ताहिक हिन्दुस्तान ६ मार्च १९६० पारिवारिक जीवन की झांकियाँ चन्द्रसेन पृ ९।

२ मैं इनसे मिला डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" प्रथम किरण पृ ८१।

हीराचन्द ओझा आदि के सान्निध्य में आचार्य चतुरसेन जी को आने का अवसर प्राप्त हुआ था। आचार्य चतुरसेन जी ने यहाँ की शिक्षा स्वयं ट्यूशन करके प्राप्त की थी। इस विषय में आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है "उन दिनों मैं जयपुर के संस्कृत कालेज में पढ़ता था। रहता था आर्य समाज मन्दिर में। मेरे साथ एक और दक्षिणात्य विद्यार्थी वहीं रहते थे। वह हैदराबाद के निवासी थे, और महाराजा कालेज में एफ० ए० श्रेणी में पढ़ते थे। बिना फीस की पढ़ाई उन्हें जयपुर खींच लाई थी। शीघ्र ही उनसे मेरा मैत्री सम्बन्ध हो गया। मैत्री सम्बन्ध के जड़ में स्वार्थ भी था। वह और मैं दोनों ही ट्यूशन करके अपनी शिक्षा और रहन-सहन तथा खाने-पीने का खर्च चलाते थे। मुझे ट्यूशन करके मिलते थे तीन रुपए मासिक। बागिड़ा ब्राह्मणों की विश्वकर्मा पाठशाला में रात को बालकों को पढ़ाना पड़ता था। पढ़ाना क्या था भेड़-बकरियों के बच्चों को दो-तीन घंटे घेरना था। बहुत बच्चे सो जाते थे बहुत पाखाना पेशाब कर देते थे लड़ते-झगड़ते शोर करते थे। उन सबकी सार-सम्हार करना और दो घंटे वहाँ बिता आने के मुझे मिलते थे तीन रुपए बेहरेवाही। मेरे मित्र अंग्रेजी के छात्र थे इसलिए उन्हें ट्यूशन के ग्यारह मिलते थे। कोई एक ठाकुर का बच्चा छठी-सातवीं कक्षा में पढ़ता था। उसे ही सिखाते थे वह। इस प्रकार हम दोनों की आमदनी थी ग्यारह जमा तीन कुल चौदह रुपए। इन्हीं चौदह रुपयों में हम दोनों की छात्र-गृहस्थी चलती थी। खर्च का स्वामी मैं था। — खाना बनाती थी समाज के चपरासी की स्त्री। वेतन पाती थी दो रुपए माहवार। " "हम लोग गेहूँ नहीं खाते थे—जौ खाते थे" "पर हम सुदा के बन्दे भी धुन के फेर में न थे। खाते थे घी के चुपड़े टिक्कड़ कभी मिरच-खटाई की चटनी से कभी साग-तरकारी तथा दाल के साथ।"[1] आचार्य जी के उन मित्र महोदय का नाम सूर्य प्रताप था। एवं जिस बालक को सूर्य प्रताप जी ट्यूशन पढ़ाते थे उस बालक का नाम छोटे था जो आगे चलकर डा० युद्धवीर सिंह के नाम से विख्यात हुए। जीवन के अन्तिम समय तक आचार्य चतुरसेन जी की इन दोनों बाल सखाओं से वैसी ही मित्रता रही जैसी उस बाल्यकाल में थी।

आचार्य चतुरसेन जी ने सन् १९०९ तक यहाँ अध्ययन किया था इसके पश्चात् उन्होंने सिकन्दराबाद आकर वैद्यक की प्रैक्टिस प्रारम्भ कर दी थी।

आचार्य चतुरसेन जी की शिक्षा अनेक स्थानों में अव्यवस्थित रूप से हुई

---

१ वातायन, आचार्य चतुरसेन "सुनन्दी वाली बात" पृ १००-१०१।

फिर भी उन्होंने अपने स्वाध्याय और प्रतिभा से जो ज्ञान और अनुभव का अर्जन किया वही उनके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक हुआ।

निर्माण-काल
(सन् १९१२ से १९२१ तक)

सिकन्दराबाद में अपनी स्वतन्त्र प्रैक्टिस करते आचार्य चतुरसेन जी को अभी कुछ ही दिन हुए थे कि उनकी नियुक्ति २५ रु मासिक पर दिल्ली के सेठ रघुमल द्वारा कटरा मेवयरान में संचालित एक औषधालय में चिकित्सक के पद पर हो गई थी। इन्हीं दिनों सन् १९१२ के आस पास आचार्य चतुरसेन जी का विवाह ग्राम मुहम्मदपुर देवमल (बिजनौर) में सम्पन्न हुआ। आचार्य जी की प्रथम पत्नी का नाम ताराेदेवी था। वह वैद्य कल्याणसिंह जी आयुर्वेद महोपाध्याय की की पुत्री थीं। अपने श्वसुर श्री कल्याणसिंह जी के जीवन का आचार्य चतुरसेन जी के व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। वैद्य कल्याण सिंह जी स्व पद्मसिंह शर्मा तथा आचार्य नरदेव शास्त्री के अन्यतम मित्रों में हैं। आचार्य चतुरसेन जी के विवाह में उक्त दोनों महानुभाव भी सम्मिलित हुए थे।

आचार्य चतुरसेन जी के श्वसुर श्री वैद्य थे और वह उन दिनों अजमेर के "हिन्दू धर्मार्थ औषधालय" में प्रधान चिकित्सक थे। थोड़े दिन पश्चात् सन् १९१६ में उन्होंने अपना ही औषधालय खोल लिया जिसका नाम 'श्री कल्याण औषधालय" रखा। उन्हें औषधालय को स्थापित किये हुए अभी कठिनाई से एक वर्ष भी न होने पाया था कि उन्हें लाहौर से महात्मा हंसराज और प्रिंसिपल साईंदास का इस आशय का पत्र मिला कि वह डी० ए वी० कालिज कमेटी के तत्वावधान में एक "आयुर्वेदिक कालिज' खोल रहे हैं उसके प्रधानाचार्य पद के लिए उनकी सेवाओं की आवश्यकता है। इस विषय में वैद्य कल्याण सिंह जी ने लिखा है (उनका) अनुरोध अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। इधर मेरठ औषधालय भी काफी चल निकला था। मैंने चतुरसेन जी को बुलाया। अपना औषधालय उनके सुपुर्द कर मैं लाहौर चला गया। मैं दो वर्ष लाहौर रहा। इस अवधि में मैंने प्रिंसिपल लाला साईं दास जी तथा डी० ए० वी० कालेज मैनेजिंग

१ आचार्य जी के प्रथम श्वसुर श्री कल्याणसिंह जी आज भी अस्सी वर्ष की अवस्था में पूर्ण स्वस्थ हैं। यह प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक का सौभाग्य ही है कि लगभग एक माह उसे इस महापुरुष के सान्निध्य का भी अवसर प्राप्त हो चुका है।

कमेटी के प्रधान महात्मा हंसराज जी को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे मेरे स्थान पर श्री चतुरसेन जी को स्वीकार कर लें। उन्होंने यह बात मान ली और चतुरसेन जी लाहौर के डी० ए० वी० कालेज में आयुर्वेद के सीनियर प्रोफेसर नियुक्त हो गए। चतुरसेन जी वहाँ साल भर रहे वहाँ उनकी अधिकारियों से नहीं पटी। साल भर बाद वह अजमेर आ गए और हम दोनों ही औषधालय में काम करने लगे।"[१]

इस औषधालय से त्याग-पत्र देने वाली घटना से आचार्य चतुरसेन जी के आत्म-सम्मानी एवं अक्खड़ स्वभाव का स्पष्ट भास होता है। आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है "मैंने कभी किसी के प्रभाव में रहना सीखा नहीं। आधीनता का तो कहना ही क्या? कुल समग्र जीवन में साढ़े तीन वर्ष पंजाब यूनिवर्सिटी की नौकरी की—जो केवल इसी बात पर छोड़ दी कि प्रिंसिपल के कमरे में जाकर हाजिरी के रजिस्टर पर दस्तखत करने पड़ते थे और दो चार मिनट की देर होने पर ऐसा मालूम होता था कि प्रिंसिपल सारे बर्गों से मुझे ही देख रहा है।"[२]

इस बार अजमेर लौटने पर इनका साहित्यकार कुछ उद्बुद्ध हो चुका था। यह प्रथम जर्मन युद्ध का बा" का समय था। इसका वर्णन करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है "प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर, मुझे भयानक महामारी इन्फ्लुएन्जा और उसके बाद प्लेग के दिनों में प्रतिदिन दो सौ तीन सौ नर-नारियों को भीषण यन्त्रणाओं में छटपटाते हुए मृत्यु का ग्रास होते और उनके प्रियजनों के क्रन्दन आर्तनाद को अति निकट से देखने का अवसर मिला मेरे मन हरण के लिए, जिसके हृदय में साहित्य की भावना सोई पड़ी थी तो तीन सौ नर नारियों का नित्य मेरी आँखों के सामने छटपटा कर प्राण त्यागना प्राण बचाने के भगीरथ प्रयत्नों के बावजू" भी निराश होना कोई साधारण बात न थी। इसने मेरी सम्पूर्ण चेतना को आहत कर लिया। मैं उन दिनों को भूल नहीं सकता। जब स्वयं १०५ डिग्री के ज्वर में रात दिन एक के बाद दूसरे सांघातिक रोगियों को देखना एवं उपचार करना पड़ता था। कोई कोई मृत्यु तो अतिशय भयानक हृदय विदारक मर्मान्तिक पीड़ा देने वाली होती थी।"[३]

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान आचार्य चतुरसेन श्रद्धांजलि अंक ६ मार्च १९६० पृ १४।

२ वातायन आचार्य चतुरसेन, पृ ११६ ११७।

३ वातायन आचार्य चतुरसेन, पृ १७ से १८।

इस घटना का आचार्य चतुरसेन जी पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनका सोया हुआ साहित्यकार जाग उठा। और उन्होंने इसी घटना पर अपना प्रथम उपन्यास "प्लेग विभ्राट" लिख डाला।

अपने इस प्रथम उपन्यास के विषय में आचार्य चतुरसेन जी ने लिखा है " उसी के बाद इन्फ्लुएन्ज़ा और प्लेग ने मेरी चेतना को आहत किया और मैंने उन्हीं दिनों अपना सबसे पहला उपन्यास लिखा—उसमें मैंने अत्यन्त मर्मान्तिक प्लेग और इन्फ्लुएन्ज़ा के बीस-बीस केसों के विवरण दिए, जो मेरे आँखों देखे थे। वे सब दिल हिला देने वाले थे। उन्हें पहले मैंने पृथक विवरणों में लिखा फिर प्रत्येक के तीन या चार टुकड़े कर डाले उन टुकड़ों के बीच में दूसरे प्रसंगों के टुकड़े डालकर मैंने उस पूरे विवरण संग्रह को उपन्यास का सा रूप दे डाला। यह सब देने में मेरा ध्यान बाल्यकाल में पठित 'चन्द्रकान्ता संतति' की पद्धति पर केन्द्रित रहा। उसी के अनुकरण पर मैंने इन विवरण खण्डों को परस्पर बीच में डाल कर गूंथ दिया। आरम्भ में एक विवरण का एक दृश्य फिर उसे छोड़कर दूसरे, तीसरे, चौथे विवरण के अधूरे अंश। फिर वही पूर्व का आगे का कथन। इसी प्रकार पूरा उपन्यास तैयार हो गया। उसी का नाम मैंने रखा था शायद "प्लेग-विभ्राट"। उन दिनों प्रताप के माध्यम से मेरा परिचय आगरे के श्रीकृष्णदत्त पालीवाल से हो गया था। उन्हीं को यह तथाकथित उपन्यास मैंने छपने के लिए भेज दिया। उसे उन्होंने शायद लापरवाही से कहीं डाल दिया पीछे सूचना दी कि वह पाण्डुलिपि कहीं खो गई। इस प्रकार मेरे उस तथाकथित प्रथम उपन्यास रूपी शिशु का गर्भपात ही हो गया। इसके खो जाने का दुःख बहुत हुआ। पालीवाल से झिकझिक भी बहुत हुई। पर जो खो गया वह खो गया।"[1] आचार्य चतुरसेन जी के मानस पटल पर इस उपन्यास के पात्रों ने अपना गहरा प्रभाव छोड़ा था। उन्होंने लिखा है वे कोई काल्पनिक पात्र न थे। मैंने अति निकट से उन्हें देखा था इसलिए बहुत दिनों तक उनके रेखाचित्र मेरे नेत्रों में घूमते रहे और मेरी मनोवृत्ति और चेतना में उपन्यास तत्त्व की भूमिका बनाने लगे। बहुधा मैं सोचने लगता यदि यह न होता यह होता ऐसा न करके ऐसा किया जाता तो कदाचित ऐसा होता। यद्यपि ये सब विकल्प चिकित्सा से सम्बन्धित थे पर उनमें से कल्पनाएं मूर्त हो उठीं। इस प्रकार आँखों देखे सच्चे रेखाचित्रों के साथ ही साथ काल्पनिक रेखाचित्र भी उभरने लगे। वे अधिक सशक्त थे प्रिय थे। इससे सच्चे घटित रेखाचित्रों के

---

१ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ १८-१९ ।

ऊपर काल्पनिक चित्रों की प्रतिष्ठा मेरे मानस में होती चली गई। इस प्रकार अभाव सेवा श्रम और विद्रोह में इन्हें हम प्रथम दे चुके हैं दो वस्तु तत्व और था मिले-वेदना और कल्पना। वेदना सत्य पर आधारित और कल्पना वेदना की प्रतिक्रिया स्वरूप। परन्तु इसमें कहीं उपन्यास तत्व पनप रहा है, यह तब भी मैं समझ नहीं पा रहा था।"[1] आचार्य चतुरसेन जी की यह प्रथम रचना आज अप्राप्य है किन्तु आचार्य चतुरसेन जी के इस वर्णन से स्पष्ट है कि इसमें पर्याप्त सजीवता रही होगी। आचार्य जी की मृत्यु के पश्चात् उनके अनुज श्री चंद्रसेन ने सम्पादित करके उनकी आत्म कहानी निकाली है उसमें प्रस्तुत उपन्यास के कुछ अंश भी दिए हुए हैं।[2]

आचार्य चतुरसेन जी का यह प्रथम उपन्यास था यद्यपि इसके पूर्व चिकित्सा सम्बन्धी या सामाजिक कुरीति सम्बन्धी लेख और एक दो पुस्तक निकल चुकी थीं। उनकी सबसे पहली रचना डा० लाजपतराय के मांडले-निर्वासन पर "श्री वेंकटेश्वर समाचार' में प्रकाशित हुई थी। तथा सबसे पहली पुस्तक बाल विवाह के विरुद्ध एक ट्रैक्ट के रूप में निकली थी। उसका नाम था "हिन्दुओं की छाती पर जहरीली छुरी"। सबसे प्रथम कथा का रूप उनके एक लेख ने धारण किया जो उन्होंने एक मारवाड़ी वृद्ध सेठ के एक बालिका से विवाह के विरोध में लिखा था। वह काल्पनिक कहानी न थी सच्ची घटना थी—इन प्रारम्भिक रचनाओं से आचार्य चतुरसेन जी की इस मनोदशा का आभास प्राप्त हो जाता है जिसने उनसे भविष्य में "मारवाड़ी अंक' तथा अभिलाषा (बहते आँसू) आदि कृतियों की सृष्टि करायी थी।

आचार्य चतुरसेन जी का प्रथम प्रकाशित उपन्यास "हृदय की परख है। उस समय इस उपन्यास की भूमिका में आचार्य चतुरसेन जी ने जो लिखा था उसी को स्पष्ट करते हुए उन्होंने प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को बतलाया "वास्तव में उस पुस्तक की मेरी सारी जमा पूंजी उधार की थी। मेरे मित्र डा० सूर्यप्रताप ने जिन भावों की झाँकी दिखा कर मुझे मुग्ध कर दिया था, उन्हीं को एकत्र करके कथा सूत्र में बाँध देने मात्र का ही मुझे श्रेय था। उस पुस्तक के आरम्भ के चार परिच्छेद तो मैंने उसी अर्थ-राशि को लिपिबद्ध कर डाले

१ वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ० १८-१९।

२ आचार्य चतुरसेन जी की रचना के कुछ अंश आगे उनके द्वारा सम्पादित संजीवन नामक मासिक पत्र में "मेघदूत" के नाम से प्रकाशित भी हुए थे।

जिस रात्रि को उनके श्री मुख से यह कथा सुनी थी।"[1] इस कारण से इसमें भी कथा-तत्त्व का अभाव ही था। वास्तव में यह रचना एक सोते हुए कथाकार की अंगड़ाई मात्र थी। इसके अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी ने यह भी बतलाया था कि मुझे प्रसन्नता सबसे अधिक इसी पुस्तक को प्रकाशित देखकर हुई थी। इस समय आचार्य जी की अवस्था २६ २७ वर्ष की थी (सन् १९१७-१८ के लगभग) अभी तक उनका साहित्यकार रूप उनके चिकित्सक रूप के नीचे दबा हुआ था। कभी-कभी जब उनका साहित्यकार रूप उन्मुक्त होता तो कोई न कोई रचना निकल ही जाती थी। किन्तु शनै शनै उनका चिकित्सक रूप उनके साहित्यकार रूप पर हावी होता जा रहा था। अब चिकित्सक के नाते धीरे-धीरे राजस्थान के उच्चवर्गीय जनों से उनका सम्पर्क बढ़ा और शीघ्र ही नामांकित राजा-ठाकुर जागीरदार महाराजाओं के रनवासों में उनकी पैठ हो गई। इस जीवन में उन्हें कितने ही अनहोने चित्र और मानव चरित्र देखने पड़े थे। उन्होंने लिखा है "चिकित्सक का कार्य कितना भावुक और रहस्यमय होता है यह कदाचित् सब लोग नहीं जानते। बड़े-बड़े अनहोने चित्र और मानव चरित्र मेरे सामने आए। बड़े-बड़े पेचीदे मामले मुझे सुलझाने पड़े। बहुत से राजा महाराजाओं के रानियों के तथा अति सम्भ्रान्त प्रभावशाली जनों के भीतरी आर्तनाद दुर्बलताएं, मूर्खताएं, धूर्तताएं मुझ पर प्रकट होने लगीं। उन दिनों दर्जनों बड़े-बड़े सम्भ्रान्त पुरुषों स्त्रियों की इज्जत आबरू मेरी जेबों में पड़ी रहती थी वे एक दीन हीन भिखारी के समान मेरी कृपा के याचक बन मेरे सम्मुख आते थे। मुझे इन सबको नितान्त गोपनीय रखना पड़ता था भारी भारी व्यवस्थाएं करनी पड़ती थीं असाधारण उद्योग करने पड़ते थे जिन सबका मेरे मन पर कभी-कभी इतना दबाव पड़ता था कि बहुधा मैं असंयत हो उठता था। इन सब बातों ने और दो नए तत्त्वों को मेरे मानस पर उदित किया—विवेक और संयम। अब मेरी कलम का नेतृत्व आठ तत्त्व कर रहे थे—अभाव सेवा श्रम विद्रोह वेदना कल्पना विवेक और संयम। यद्यपि इस समय तक भी मैं कोई उत्तम उपन्यास न लिख सका था पर ये तत्त्व मेरे नित्य के जीवन में ओत प्रोत रहते थे निरन्तर मुझे उनकी आवश्यकता पड़ती रहती थी अपने गम्भीर और जटिल व्यवसाय में। इससे प्रत्येक वस्तु को देखने का मेरा अपना एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण हो गया था।"[2]

---

१ साथ ही देखिए "हृदय की परख" आचार्य चतुरसेन—भूमिका।

२ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ २०।

अभी भी उनका साहित्यकार रूप उनके चिकित्सक रूप के नीचे सुप्तावस्था में पड़ा था। इसी समय उनके जीवन में एक नया मोड़ आया। राजस्थान से हटकर वे कुबेर पुरी बम्बई में जा बैठे। यहाँ पर इनके जीवन पर दो व्यक्तियों हाजी मुहम्मद अस्मा रजिया शिवजी एवं सलेमाबाद किशनगढ़ निवासी बम्बई की "हरि प्रसाद भगीरथ जाज" नामक पुस्तक-प्रकाशन-संस्था के व्यवस्थापक पं० राधावल्लभ जी का विशेष प्रभाव पड़ा था। पं० राधावल्लभ जी के अनुरोध पर ही वह बम्बई गए थे। इस विषय पर आचार्य चतुरसेन जी के श्वसुर श्री कल्याणसिंह जी ने लिखा है "करीब दो वर्ष अजमेर में रहते हो गए। इन दिनों बम्बई के प्रसिद्ध पुस्तक व्यापारी 'हरिप्रसाद भगीरथ' फर्म के स्वामी सलेमाबाद किशनगढ़ निवासी श्री पं० राधावल्लभ की धर्मपत्नी का इलाज करने का मौका मिला। शास्त्री जी की चिकित्सा से इस देवी को कठिन बीमारी में आश्चर्यजनक लाभ हुआ। पण्डित राधावल्लभ बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—"आप जैसे गुणी यहाँ क्यों पड़े हो चलो मेरे साथ बम्बई। वह महालक्ष्मी की नगरी है जहाँ चाँदी-सोने का समुद्र बहता है।" मतलब यह कि शास्त्री जी तैयार हो गए और उनके साथ बम्बई चले गए। उनके ही मकान में रहे। उनकी कृपा से थोड़े दिनों में कालबा देवी रोड में एक सुन्दर मकान मिल गया जहाँ "अजमेर आश्रम वैद्यराज" नाम का बोर्ड लगा कर बैठ गए और कार्य चल निकला।"[1] किन्तु आचार्य चतुरसेन जी ने अपने बम्बई प्रवास काल के विषय में लिखा है "उन दिनों मैं बम्बई में रहता था। मेरा घर और हरिप्रसाद भगीरथजी की फर्म बिल्कुल पास-पास ही थी। कालबादेवी रोड पर। बम्बई में गया तो था चिकित्सा-व्यवसाय करने पर संग दोष से शेयर और रुई का सट्टा भी करने लगा था। दो और साथी थे। उन दिनों हम लोग प्रतिदिन लाख-पचास हजार कमाते खोते थे। अद्भुत दिन थे वे, जबकि रात रात भर तीनों आदमियों की मीटिंग होती थी। सारे संसार की रुई की उपज हमारी उंगलियों की पोर पर रहती थी। खाना पीना हराम था। रुपया-ही-रुपया तन मन में भरा था। रक्त-वाहिनियों में रक्त न था रुपया था।"[2] तभी करोड़पति सेठों के जीवन से भी परिचय हुआ, जो राजा-महाराजाओं से सर्वथा भिन्न था—एक नये की भाँति जो सदा चढ़ा रहता

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, आचार्य चतुरसेन श्रद्धांजलि अंक ६ मार्च १९६०, पृ १४।

२ वातायन, आचार्य चतुरसेन पृ १०९ से ११० तक।

रहता है उसके ऊपर मिट्टी लदी है—या नोटों के गट्ठर, इसकी उसे तमीज नहीं। विलास का यहाँ पता भी न था। कुत्सा ही कुत्सा थी।"[1]

इसी समय बम्बई में ही आचार्य चतुरसेन जी का परिचय हाजी मुहम्मद अल्ला रखिया शिवजी से हुआ था। आचार्य जी ने इस व्यक्ति के विषय में लिखा है "गुजराती साहित्य का वह मस्ताना पुजारी था। "बीसवीं सदी" गुजराती साहित्य का सम्पादक और स्वामी। जाति का खोजा मुसलमान। स्वस्थ गौर वर्ण लम्बा-तगड़ा-हंसमुख तरुण। साहित्य साधना में मस्त। शीघ्र ही मेरा परिचय उससे घनिष्ट हो गया और १० १० घंटों की मेरी मुलाकातें उसके घर पर होने लगीं। उन दिनों राष्ट्रवाद-देशभक्ति और हिन्दुत्व मेरी विचारधारा का केन्द्र बने हुए थे। गद्य-काव्य उन दिनों मैंने लिखने आरम्भ किए थे। उनका स्वागत खूब हो रहा था। ये गद्य काव्य-राजनैतिक भी थे राष्ट्रीय भी थे। ऐसा ही एक काव्य 'स्वदेश' मैंने लिखा। नाथूराम प्रेमी को दिखाया तो फड़क गए। पर जब हाजी मुहम्मद को सुनाया तो वह गुमसुम चुप बैठा रहा। मेरे मन पर आघात लगा। पूछने पर धीरे से कहा—'अच्छा है।' पर यह ठन्डी तारीफ अच्छी न लगी। घर पर आकर विचार किया लेख में मुस्लिम आक्रमणों अत्याचारों और हिन्दू सहनशीलता की भावना थी। राष्ट्रीय तत्व थे। भारत में मुसलमान आक्रान्ता हैं हिन्दू भारत की सन्तान-ऐसी अभिव्यंजना थी। कैसे भला ये सब बातें मेरे इस मुसलमान साहित्यकार को रुच सकती थीं? तभी मैंने हिन्दु-मुस्लिम भेद भाव पर, राष्ट्रीयता पर गम्भीर विचार किया। राष्ट्र भक्ति मैंने त्याग दी। देश भक्ति से मैं परे हट गया। कम से कम अपने साहित्य को उससे अछूता रखने का मैंने संकल्प कर लिया और मानव प्रेम पर मेरी चेतना जा टकराई। मैंने निश्चय किया अब मैं जो कुछ लिखूँगा मानव पूजा के लिए। मानव वेदना के हास्य के जीवन के संघर्ष के चित्र खींचूँगा।[2] आचार्य चतुरसेन जी इस कारण से इसी व्यक्ति की मित्रता को अपने साहित्य का नया मोड़ मानते थे। किन्तु इस साहित्यिक मित्र का सहवास आचार्य चतुरसेन जी को बहुत कम मिल पाया था। आचार्य जी लिखते हैं 'साहित्य इसे खा गया और मेरी आँखों के सामने वह मर गया। बड़ी-बड़ी तीन हवेलियाँ पास का ५० ६० हजार रुपया हवा में उड़ाकर, और ४० हजार का कर्जा

---

१ वातायन, आचार्य चतुरसेन पृ २१।

२ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ २४-२५।

अपने जनाजे पर लादकर यह मस्ताना साहित्यकार संसार से चल खड़ा हुआ। भरी जवानी में। केवल एक मासिक पत्रिका पर लाखों फूंक दिए। जब तक जिया कला-सौन्दर्य-साहित्य के संसार में आँसू बखेरता रहा।'[1] हाजी मुहम्मद के मरने के पश्चात् 'अन्तस्तल' प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका में आचार्य चतुरसेन जी का विछोह फूट उठा था।'[2]

हाजी की मृत्यु के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी बम्बई में और अधिक दिन न रह सके। सट्टे की चाट पड़ गई थी अन्ततः उसका परिणाम बुरा हुआ। आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है "परन्तु शीघ्र ही मुझे एक चोट लगी। एक दिन सर्वस्व दे छूछे हाथ घर लौट आया। लौटकर देखा, पत्नी मरण से असाध्य अवस्था में पड़ी है। उसे धर्मपुर चिकित्सार्थ ले जाने के लिए मैंने सौ रुपया बहुतों से उधार माँगा पर न मिला। पत्नी का देहान्त हो गया। बहुत भारी आघात था केवल जीवन पर नहीं मानस पर, विचारधारा पर। अब पीड़ा मेरी सम्पूर्ण चेतना को आक्रान्त कर गई। उसने मेरी कलम को गहराई में उतार दिया।"[3] इस घटना के पश्चात् ही आचार्य चतुरसेन जी ने बम्बई त्याग दिया था। बम्बई प्रवास काल में केवल आचार्य चतुरसेन जी के दो-ही प्रमुख ग्रन्थ निकल सके 'अन्तस्तल' तथा 'सत्याग्रह और असहयोग'। अन्तस्तल की गुरुदेव रवि बाबू ने भी प्रशंसा की थी। इस विषय

---

१ वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ ८७-८८।

२ अन्तस्तल की भूमिका में उन्होंने निम्न पंक्तियाँ लिखी थीं—

मेरी यह रचना विधवा है। हाजी मुहम्मद के साथ एक तौर से मैंने इसका ब्याह कर दिया था यह आदमी गुजराती साहित्य-मन्दिर का मस्ताना पुजारी था। वह "बीसवीं सदी" नामक प्रख्यात गुजराती पत्रिका का संपादक था। सबसे प्रथम उसी की दृष्टि में यह रचना चढ़ी। उसने पागल की तरह उसे लाड़ किया मैंने भी अपने-पराये की परवाह न कर उसी से इसका ब्याह किया। ब्याह होते-होते ही तो वह मर गया।

कितने हौंस से उसने इसे चाहा था 'रूप' को चुनकर उसकी आँखें घूमने लगीं थी 'दुःख' को सुनकर वह रोया और 'अनुताप' को वह सुनकर उद्वेग के मारे खड़ा हो गया था। वातायन आचार्य चतुरसेन पृ ९२-९३।

३ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ २४।

का उल्लेख करते हुए डा० मुखवीर सिंह ने लिखा है 'आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्तस्तल' प्रकाशित हुई तो उस समय शास्त्री जी की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी और शायद जिन कठिनाइयों में से वह उन दिनों गुजर रहे थे उनके कारण 'अन्तस्तल' के उद्गार निकले थे। 'अन्तस्तल' का अच्छा स्वागत हुआ तो मैं एक रोज पूछ बैठा कि क्या इससे कुछ आर्थिक लाभ नहीं हुआ।

उन्होंने जवाब दिया 'इससे एक बड़ा लाभ हुआ है। मुझे कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर का एक पत्र मिला है जिसमें गुरुदेव ने मुझे 'अन्तस्तल' पर हार्दिक बधाई दी है। शास्त्री जी बड़े प्रसन्न थे और कहने लगे 'गुरुदेव के इन चार शब्दों का बहुत बड़ा मूल्य है मेरे लिए। इससे बड़ा और क्या लाभ हो सकता है।[1]

द्वितीय विवाह और क्रान्तिकारी जीवन

(सन् १९२५ १९३४)

बम्बई से लौटने और प्रथम पत्नी की मृत्यु के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी के जीवन में पुनः एक मोड़ आया। बम्बई प्रवास काल में वह साहित्य से दूर जा पड़े थे यद्यपि हाजी के सान्निध्य से उन्हें वहाँ प्रेरणा भी प्राप्त हुई थी।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में आचार्य चतुरसेन जी ने बतलाया था कि 'मेरी प्रथम पत्नी की मृत्यु का मुझे काफी सदमा पहुँचा था। वास्तव में मैं ही उसकी मृत्यु का दोषी था। न मैं सट्टे-फट्टे में पड़ता और न ही वह जाती'। इतना कहकर आचार्य जी मौन हो गए थे। मैंने उनसे पुनः प्रश्न किया था 'इसमें आपका क्या दोष ?

फिर किसका दोष ? आचार्य चतुरसेन जी ने कुछ तीखे शब्दों में कहा था।

'मुझे आज भी वह दिन ज्यों-का-त्यों स्मरण है जब वह क्षय के असाध्य रोग में पड़ी तड़प रही थी। मैं सट्टे में सब कुछ दे बैठा था अपनी स्वयं की जमा पूँजी भी। और इधर पत्नी भी हाथ से जा रही थी किन्तु मैं उसे जाने देने को तैयार न था। किन्तु पास एक कौड़ी न थी ? मैंने उसे चिकित्सार्थ

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, आ० च० शा०—अंक ६ मार्च १९६० पृ २९।

धर्मपुर के जाने के लिए बहुतों से रुपए उधार मांगे, किन्तु हाय रे भाग्य। कोई अपना न था, यह प्रथम बार मुझे उस दिन ही अनुभव हुआ था। आचार्य चतुरसेन जी ने कुछ रुक कर पुनः कहा था "अब तुम स्वयं अनुमान कर सकते हो कि उस समय मेरे हृदय पर, मेरे मानस पर कितना भारी आघात लगा होगा।"

आपने अपनी उस मानसिक स्थिति का कहीं चित्रण नहीं किया। मैंने प्रश्न किया।

क्यों नहीं ? किन्तु वास्तव में मैं उस समय केवल यही विचार रहा था कि ऐसे स्वार्थी संसार में यदि आग लग जावे तो अच्छा है। किन्तु कुछ उपाय समझ में न आ रहा था। मैं कितने ही दिनों गुमसुम रहा। परिवार वालों को मेरी यह दशा भली न लगी और उन्होंने प्रथम पत्नी की मृत्यु के कुछ ही दिनों के अनन्तर मेरा दूसरा विवाह रचा दिया। विवाह हो जाने के पश्चात् भी मैं कितने ही दिनों तक अपने मस्तिष्क को संतुलित न रख सका था। इतना कहकर आचार्य चतुरसेन जी मौन हो गए थे। पुनः कुछ स्मरण कर उन्होंने कहा था अपने 'आत्मदाह" उपन्यास में द्वितीय विवाह होने पर सुधीर की जिस मानसिक स्थिति का मैंने चित्रण किया है वह वास्तव में मेरी अपनी ही है। किन्तु अब मैं ऐसी मानसिक स्थिति का अभ्यस्त हो गया हूं।" मुझे स्मरण है कि इस वाक्य के समाप्त होते ही आचार्य चतुरसेन जी खुलकर हंस पड़े थे।

इस प्रकार प्रथम पत्नी तारादेवी के निधन के पश्चात् उनका दूसरा विवाह मन्दसौर मध्यप्रदेश निवासी श्री नानूराम जी जौहरी की सुपुत्री प्रियम्वदा देवी से सन् १९२६ में हुआ। यह विवाह आचार्य चतुरसेन जी के परम मित्र श्री नारायण प्रसाद के प्रयत्न से हुआ था जो उन दिनों जोधपुर के गवर्नमेन्ट कालेज में प्रोफेसर थे। इस विवाह के पश्चात् भी उनके विचार नित्यप्रति क्रान्ति की ओर ही उन्मुख होते जा रहे थे। आचार्य जी ने स्वयं लिखा है "परन्तु अब इस प्रकार मानसिक प्रतिक्रियाएँ विचार क्रान्ति कर रही थीं तभी भारतीय क्रान्ति के भी मैं निकट पहुँचा। इसका कारण भगतसिंह था। उसे मैं तब किसी और ही नाम से जानता था। मेरी लेखन शैली से आकर्षित होकर वह मेरे पास आया था। मुझे अपने गिरोह का सरदार बनाने का उसका आग्रह था। उन लोगों में मैं सम्मिलित न हुआ पर सम्पर्क तो रहा ही।"[१]

---

१ वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ २४।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने एक प्रश्न के उत्तर में आचार्य चतुरसेन जी ने कहा था "वह उठो और जागो" का काल था। मैं स्वयं भी उस समय कुछ कर डालने का इच्छुक था। इसी समय रामरखसिंह सहगल से मेरी भेंट हुई। वह इलाहाबाद से 'चाँद' मासिक निकालता था। परन्तु 'चाँद' की आर्थिक दशा उन दिनों अच्छी न थी। प्रतियाँ भी शायद ढाई तीन हजार ही छपती थीं। एक दिन बैठे-बैठे विचार हुआ कि कैसे "चाँद" को उन्नत किया जाय। मैंने ६ विशेषांकों की स्कीम बनाई। जिनमें पहिला 'फाँसी अंक' था।" आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं इस विषय में लिखा भी है 'बहुत भारी संख्या समाधान के बाद भी सहगल" फांसी अंक की उपयोगिता पर सहमत हुए। यह भार उन्होंने मुझी पर दिया और मैंने उसके लिए कलम पकड़ी। मेरी अभिलाषा थी कि उसमें फांसी के दण्ड के प्रति तिरस्कार तो प्रकट ही किया जाय साथ ही मनोरंजन की दृष्टि से संसार के प्राण दण्डों को व्यक्त किया जाय। दूसरे इसी बहाने बीसवीं शताब्दी में फांसी पाए जाने का रिकार्ड सचित्र एकत्र कर लिया जाय। ~

इसके विज्ञापन की भी सारी योजना मैंने ही बनाई, विज्ञापन के ड्राफ्ट भी मैंने किए। भारत के अनेक पत्रों में "फांसी अंक" का विज्ञापन छपते ही तहलका मच गया। ~ ~~

उधर सरकार भी चिन्तित हो गई। भला सरकार साहित्य में ऐसी नग्न राजनीति और क्रान्ति कहाँ देख सकती थी। परन्तु हमारा काम चलता गया। इसी समय अकस्मात् मेरे पास सरदार भगतसिंह ने आकर कुछ आर्थिक सहायता चाही और मैंने वह कठिन काम उन्हें सौंपा। उन दिनों वे सॉण्डर्स को मार चुके थे और पुलिस उनके पीछे थी। वे छद्मवेश में रहते थे तथा नाम बदलकर परिचय देते थे। मैं भी जब तक कि असेम्बली में बम धड़ाका न हुआ उनका असल परिचय न जान पाया। उन दिनों सहारनपुर और दिल्ली क्रान्तिकारियों का अड्डा हो रहा था। उन्होंने घर घर घूम-घूम कर क्रान्तिकारियों के ७० से ऊपर प्रमाणित चरित्र और चित्र मुझे दिए। जिसके बदले में सिर्फ शायद ७०० रु० इन्हें "चाँद" की ओर से मिले।"१

"फांसी अंक" निकलते ही एक तहलका मच गया था। आचार्य चतुरसेन जी की "उठो जागो की भावना कुछ कर डालने की इच्छा इसमें पूर्ण उभर कर

१ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ १२९

व्यक्त हुई थी। इस अंक के निकलते ही आचार्य जी की लेखनी के चमत्कार पर सब चकित रह गये थे। इस विषय पर सत्यदेव विद्यालंकार ने लिखा है" "प्रकट रूप में शास्त्री जी को कभी किसी ने क्रान्तिकारी के रूप में नहीं देखा और उनकी किसी क्रान्तिकारी प्रकृति का किसी को पता नहीं चला। इसी कारण जब "फांसी-अंक" के सम्पादक के रूप में उनके नाम की घोषणा की गई तब सब विस्मित-से रह गए। फांसी पर हँसते खेलते झूलने वाले और क्रान्तिकारियों की अमर गाथा लिखने का उनको अधिकारी मानने को उनके आलोचक तैयार नहीं थे। परन्तु यह कितनों को मालूम है कि दिल्ली के चाँदनी चौक में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने की ऐतिहासिक घटना के अपनी युवावस्था में वह प्रत्यक्ष दर्शी थे। उसका विशद विवरण उन्होंने डा० युद्धवीर सिंह को दस पृष्ठों के एक विस्तृत पत्र में लिखा था। [१] वह ऐतिहासिक घटना उनके दिल पर सदा के लिए गड़ गई थी और उससे उनके दिल और दिमाग में देशभक्ति की भावना का जो बीजारोपण हुआ था उसके अंकुर सदा ही हरे भरे बने रहे। उनकी साहित्यिक रचनाओं की पृष्ठभूमि में जो उग्र स्वाभिमान उत्कट स्वदेशाभिमान और प्रगाढ़ देशभक्ति सर्वत्र झलकती है निस्सदेह वह इसी घटना का परिणाम है।"[२] किन्तु मेरा विचार है कि यह भावनाएँ इस घटना के पूर्व ही आचार्य चतुरसेन जी के हृदय में थी और इन्हीं भावनाओं ने उनसे "फांसी-अंक" का सम्पादन करा डाला था। मेरी समझ में उनके हृदय में इस प्रकार की भावनाओं का विकास उनकी प्रथम पत्नी की मृत्यु वाली घटना से हुआ था। इस अंक की प्रशंसा भी उस समय खूब हुई थी।"[३]

---

१ "मेरी आत्म कहानी" में भी आचार्य चतुरसेन जी ने इस घटना का पूर्ण विवरण दिया है वातायन पृ १७-१८।

२ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६० पृ १९।

३ सत्यदेव जी ने लिखा है "आचार्य जी ने इस प्रकार इस विशेषांक के सम्पादक और उसके लिए सामग्री संचय करने में जिस साहस धैर्य और निर्भीकता से काम लिया और जो भारी जोखम उठाया उसकी कल्पना कर सकना कठिन नहीं होना चाहिए। वह साहसपूर्ण काम आग से खेलने के समान था। उसमें आचार्य जी ने जो सफलता प्राप्त की वह विस्मयजनक थी। उसको केवल एक एक विशेषांक के रूप में नहीं देखना चाहिए, अपितु उस वीर-पूजा के रूप में देखना चाहिए, जिसको उन दिनों में एक भयानक अपराध माना जाता था और जिसके लिए कुछ भी सजा दी जा सकती थी। अंग्रेज नौकरशाही

'फांसी-अंक" के कुछ ही माह पश्चात् 'चाँद' का 'मारवाड़ी अंक' निकला था। इसमें भी आचार्य चतुरसेन जी की वही क्रान्तिकारी भावनाएँ उभरी हुई थीं किन्तु इसमें शासन के विरुद्ध नहीं वरन् धन की कुत्सा और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव था। इस अंक द्वारा वे मारवाड़ को उद्बोधन देना चाहते थे मारवाड़ की कुरीतियों पर आक्षेप करना चाहते थे किन्तु "आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है" इस अंक का सम्पादक यद्यपि मैं था परन्तु सहगल ने कुछ ऐसे लेख छाप दिए जो मैंने नहीं चुने थे। उन्होंने मेरे चुने लेख भी निकाल दिए। पहले मैंने इस बात को कुछ महत्व पूर्ण नहीं समझा। पर पत्र ज्यों ही प्रकाशित हुआ एक तूफान खड़ा हो गया। बेहाल बन्धुओं ने कलकत्ते से मारवाड़ी बाजार को उकसाकर एक मुकदमा खड़ा कर दिया। उसी दौरान में श्री सहगल पर जता भी फेंका गया और तभी मुझे ज्ञान हुआ कि मारवाड़ी अंक जैसे साधनों से दबाव डाल कर कुछ लाभान्वित होने की भावना भी श्री सहगल में थी। [1]

सहगल की कुछ भी भावना रही हो किन्तु यह स्पष्ट है कि आचार्य चतुर सेन जी इस अंक द्वारा समाज-सुधार करना चाहते थे। आचार्य जी ने स्वयं लिखा था कि "उस समय का भारत राजनीतिक दासता की बेड़ियों को काटने के साथ समाज रूढ़ि एवं परम्परा की सामाजिक दासता के बन्धनों को भी काटने के लिए प्राणपण से प्रयत्नशील था। मुझे अति निकट से मारवाड़ की आत्मा का उसके बन्धन का उसकी रूढ़िवादिता का अनुभव प्राप्त था। वज्र दृष्टि और वज्र मुष्टि यही मेरे दो हथियार थे और वज्र वाणी मेरा शृंगार।"[2]

आचार्य चतुरसेन जी ने 'मारवाड़ी अंक' के सम्बन्ध में जो सदेश प्रकाशित किया था वह धधकती हुई आग उगलने वाले ज्वाला मुखी की तरह संतप्त

और उसकी पुलिस ने उस अंक को तुरन्त जब्त कर लिया। आज क्रान्ति कारियों के गौरवपूर्ण कारनामों के जिस इतिहास के लिखने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है हिन्दी में उसका सूत्रपात आचार्य चतुरसेन जी ने इस अंक द्वारा उन दिनों कर दिया था जब उसकी चर्चा करना भी अपराध था।'

साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६० पृ १९।

१ वातायन आचार्य चतुरसेन रामरत्न सिंह सहगल पृ १६१।

२ "मारवाड़ी अंक"।

था।" उसमें उन्होंने छः वाक्य समूहों में वनपतियों नारियों माताओं बन्नियों युवकों और पाखंडियों को सम्बोधन करते हुए जो भाव प्रकट किए थे उनमें आज भी उद्‌बोधन की वैसी ही शक्ति विद्यमान है। राजस्थान अथवा मारवाड़ की वीरभूमि का निष्क्रापन और निरंकुश शासन उनके लिए असह्य था।"[१]

माताओं नारियों और बहिनों के नाम उन्होंने लिखा था "तुम हमारे रास्ते में हट जाओ। हमें कदम-कदम पर नामर्द हास्यास्पद और मूर्ख मत बनाओ। हम अपने भाग्य से युद्ध करने चले हैं। हम रूढ़ियों को कुचलकर "युगधर्म" का अनुसरण करेंगे। 'मेरे पीछे जी ऐसा न होने पायगा"—ऐसा निकम्मा रोड़ा हमारे मार्ग में मत अड़ाओ। हमें जीवन दो। वह देखो—वह भयानक प्रवाह प्राचीन महासत्ताओं को कुचलता हुआ उठा और जियो और जीने दो की तूफानी गर्जना करता हुआ बढ़ा चला आ रहा है। तुम झूठे मोहवश हमें रूढ़ियों की दलदल में रखोगी तो तुम्हारे यशस्वी वंश का बीज नाश हो जाएगा। तुम अपने उन्नत मना जागृत पतियों की सहधर्मिणी बनो। पैर की जूती बनने के दिन गए। हाय कैसे तुम खुशी से कैदी की तरह दिन काटती हो। क्या तुम्हें याद है कि तुम्हारी माताओं और नारियों ने स्वाधीनता के नाम पर धधकती चिता पर अपने स्वर्ण शरीर को राख कर दिया था? तुम उस प्राचीन गौरव के नाम पर महाशक्ति का अवतार बनो। घूँघट को फाड़ डालो —अपने पतियों को धर्मात्मा और त्यागी बनाओ।"[२]

इसी उदात्त भावना को लेकर उन्होंने "मारवाड़ी अंक" का सम्पादन किया था। किन्तु मारवाड़ी समाज में इसकी उल्टी ही प्रतिक्रिया हुई थी। इस अंक ने सारे मारवाड़ी समाज को झकझोर डाला था उसमें एक "भूचाल-सरीखा कम्पन और बवण्डर जैसा आन्दोलन" उठ खड़ा हुआ था। किन्तु उस समय आचार्य चतुरसेन जी को इसकी किंचित् मात्र भी चिन्ता न थी। उस समय की अपनी क्रान्तिकारी एवं विरोधी भावनाओं के विषय में आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है "मैं दुनिया को करवट लेते देख रहा था। इसलिए मैं अपनी साहित्य सेवा के उन दिनों में न कल्पना का सहारा लेता था न रसोत्कर्ष की परवाह करता था। मैं तो आग खाता था और आग ही उगलता था। उस आग में कहाँ कौन जलता है, इसे देखने की मुझे फुरसत नहीं थी। मैं स्वयं जल रहा था तो मैं

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान २७ अप्रैल १९६० पृ १९।
२ मारवाड़ी अंक—भूमिका।

दूसरे के अपने पर कैसे तरस खा सकता था। मैं भारत के एक भी व्यक्ति की दासता को किसी भी रूप में सहन करने को तैयार न था। न राजनीतिक और न सामाजिक। मेरी कलम आग उगलने और विष-वमन करने में ढीली नहीं पड़ती थी।[1]

वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी के इस काल के सम्पूर्ण साहित्य में यही क्रान्ति की एवं सुधार की भावना व्याप्त रही। उनके केवल इन दो अंकों ने ही तहलका नहीं मचाया वरन् इस काल के प्रकाशित उपन्यास 'हृदय की प्यास' एवं 'अमर अभिलाषा" ने भी सम्पूर्ण समाज एवं साहित्य जगत को एक बार झकझोर दिया था। दोनों ही "अंक' जब्त कर लिए गए थे और साहित्य के ठेकेदारों ने इनकी अन्य कृतियों को "चाकलेटी-साहित्य" के अन्तर्गत घोषित कर दिया था। इस समय आचार्य चतुरसेन जी का चिकित्सक एवं साहित्यिक रूप दोनों एक साथ चल रहे थे। वास्तव में साहित्य में भी वह समाज के चिकित्सक बनकर सम्मुख आ रहे थे।

चिन्तन—मनन काल

(सन् १६३४-१६४४)

आचार्य चतुरसेन जी का यह क्रान्तिकारी एवं समाज सुधारक रूप अपने पूर्ण निखार पर था कि इसी समय उनके जीवन ने पुनः एक करवट बदली। दुर्भाग्य से उनकी दूसरी धर्मपत्नी प्रियम्वदा देवी जी का देहावसान भी सन् १६३४ में थोड़ी-सी बीमारी के बाद हो गया। द्वितीय पत्नी की मृत्यु से भी आचार्य चतुरसेन जी के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा किन्तु इस बार वे और अधिक उग्र न हुए। उनकी उग्रता शनै शनै शान्त होती गई। इस विषय पर प्रस्तुत प्रबन्ध लेखक के प्रश्न करने पर उन्होंने बतलाया था। "द्वितीय पत्नी की मृत्यु के पश्चात् मेरी उग्रता मेरे हृदय में जा बैठी थी। उस समय भी मैं चीखना चाहता था कभी-कभी अपने भाग्य पर भी खोलकर रोना चाहता था किन्तु मैं ऐसा कर न पाता था। उस समय मेरे हृदय से यही प्रतिध्वनि मुझे सुन पड़ती थी कि इन दुःखों से तपकर इन आघातों को सहकर ही तुम अपने लक्ष्य पर पहुँच पाओगे। मैं यह सब विचारता था किन्तु कुछ लिखने की इच्छा न होती थी।

द्वितीय पत्नी की मृत्यु तक आचार्य चतुरसेन जी के कोई सन्तान न थी। अतः परिवार वालों ने उनका तीसरा विवाह भी कर दिया। यह विवाह द्वितीय

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १६६०, पृ २०।

पत्नी के देहान्त के लगभग १ वर्ष बाद बनारस के एक रईस ठा० रामकिशोर सिंह की पुत्री ज्ञानदेवी से सन् १९१५ में हुआ। इन्हीं ज्ञानदेवी के नाम पर आचार्य चतुरसेन जी के वर्तमान निवास स्थान का नाम "ज्ञान धाम" पड़ा है।

आचार्य चतुरसेन जी ने इस विवाह के पश्चात् से ही अपने चिकित्सा कार्य को त्याग दिया था। अब वे अपना पूर्ण समय लेखन कार्य में देने लगे थे किन्तु तो भी कोई उत्कृष्ट रचना सामने न आ पाई थी। यही प्रश्न मैंने आचार्य चतुरसेन जी से भी पूछा था। उन्होंने मेरे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मुझसे कहा था। "उस समय मैं चिन्तन अधिक करता था लिखता कम था। मैं दिन रात सोचता रहता कि अब क्या लिखूं ? क्या मैं सामयिक साहित्य ही सङ्कलित करता रहूं ? किन्तु मेरी आत्मा यह करने की गवाही न दे रही थी। मैं कुछ ऐसी चीज देना चाहता था जो कुछ दिन टिक सके।" वास्तव में इन दिनों उनके मस्तिष्क में एक नवीन प्रकार की विचारधारा पनप रही थी। इस विचारधारा की कुछ झलक सन् १९४० के उनके उस पत्र में देखी जा सकती है जो कि उन्होंने "उपन्यास अंक" के लिए "साहित्य सन्देश" के सम्पादक को लिखा था। "एक उपन्यासकार की हैसियत से मैं अपने को नगण्य समझता हूं। मेरे चार-पांच उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि उनमें कइयों के ५ ६ संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु मेरी अब एक ही अभिलाषा है कि मैं संसार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार होकर मरूं यद्यपि मुझे ही मेरी यह अभिलाषा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है पर मैं उसे त्याग नहीं सकता।"

"दुर्भाग्य से मैं एक बहुधन्धी व्यक्ति हूं और मेरी शक्तियां बहुत मात्राओं में बिखरी हुई हैं। यह भी दुर्भाग्य ही है कि मेरा व्यवसाय आजीविका और व्यसन भी कुछ सांस्कृतिक और साहित्यिक है। इससे मेरी बारम्बार यह प्रतिज्ञा भंग होती रही कि भविष्य में मैं सिर्फ उपन्यास ही लिखूं और कुछ नहीं। भंग भी ऐसी कि और सब कुछ लिख पाता हूं सिर्फ उपन्यास ही नहीं लिख पाता हूं।"[1] अपने इसी पत्र में उन्होंने श्रेष्ठ साहित्यकार की परिभाषा भी दी है। "साहित्यिक वह है जो महामानव है।"[2] अन्त में उन्होंने अपने इसी पत्र में इस महामानव पद को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करते हुए लिखा है "मैं अपनी इस विचारधारा

---

१ साहित्य सन्देश उपन्यास अंक, भाग ४ अंक २ ३ अक्टूबर १९४० पृ १४०।

२ साहित्य सन्देश उपन्यास अंक भाग ४ अंक २ ३ अक्टूबर-नवम्बर १९४० पृ १७५। शेष इस विषय के विचार, चतुरसेन के विचार और जीवन दर्शन-वाले अध्याय में आगे दिये गये हैं।

को क्रिया रूप में अपने जीवन में एकीभूत करने में प्रयत्नशील हूं—मैं चाहता हूं कि यह अपदार्थ शरीर नष्ट होने से पूर्व मैं वह महापद प्राप्त करूं। और अपनी दुर्धर्ष अभिलाषा मैं बिना संकोच आप पर प्रकट करता हूं आप खुशी से मेरे इस दुस्साहस का मजाक उड़ा सकते हैं जैसा कि मेरी धर्मपत्नी अक्सर उड़ाया करती है।"[1]

स्पष्ट है इन दिनों आचार्य चतुरसेन जी किसी उच्च कोटि के कथानक पर चिन्तन कर रहे थे। वास्तव में इन दिनों आचार्य जी 'वैशाली की नगर वधू' के कथानक पर पूर्ण तन्मयता से विचार कर रहे थे। यह कथानक सन् १९१८ से उनके मस्तिष्क में चक्कर लगा रहा था। इस विषय पर उन्होंने लिखा है "अम्बपाली पर उनकी एक कहानी प्रथम ही प्रकाशित हो चुकी थी। इसके बाद अम्बपाली पर कई कहानी उपन्यास और लेख मेरे देखने में आए और मेरे मस्तिष्क में अम्बपाली को लेकर एक उपन्यास लिखने की भावना जड़ कर बैठी। परन्तु यह काम सहज न था। फिर भी मैं इसकी वास्तविक कठिनाइयों से ठीक-ठीक अभिज्ञ न था। मैं उत्सुक और व्यस्तचित्त होकर बहुत दिन तक सोचता ही रहा। समझ ही में न आ रहा था—कहां से प्रारम्भ करूं कैसे करूं। सन् १९१८ के आरम्भ में मुझे एक श्रीमन्त की चिकित्सा में बिहार जाना पड़ा। वे मुझे हठ करके राजगृह ले गए। यहीं राजगृह से उन्हें 'नगरवधू' के कथानक की प्रेरणा प्राप्त हुई। यहीं उन्होंने एक रात्रि को देवी अम्बपाली का अपार्थिव नृत्य देखा था।"[2] बस इसी घटना के बाद से उन्होंने "नगरवधू" का लिखना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु बड़ी ही धीमी गति से। आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है "थोड़े ही दिन में मेरा वह उन्माद समाप्त हो गया और फिर एक दो वर्ष तो मैंने इन कागजों को देखा ही नहीं। इसी बीच एक बार अहमदाबाद जाना हुआ। वहां गुर्जर भाषा के आमिष कथा-लेखक श्री धूमकेतु से मिलने गया। उन्होंने अपनी कहानियों का एक छोटा सा संग्रह दिया। उसमें एक कहानी अम्बपाली से सम्बन्धित भी थी। उसे पढ़ते ही पुराना उन्माद रोग फिर उभर आया और इस बार घर लौट कर मैं इस उपन्यास में जुट गया।......... १९४२ के जून में उपन्यास तैयार हो गया।"[3] किन्तु इस काल में आचार्य जी की यह रचना

१ साहित्य सन्देश उपन्यास अंक भाग ४ अंक २ ३ अक्तूबर १९४० पृ १७५।
२ वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन—भूमि पृ ७७९ ७८०।
३ वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन—भूमि पृ ७८०।

निकल न सकी। यदि निकल गई होती तो बहुत सम्भव था कि इसी समय से उनके साहित्यिक जीवन का उत्कर्ष काल प्रारम्भ हो जाता। आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं लिखा है '४२ के जून में उपन्यास तैयार हो गया। अगस्त में जन अशान्ति हुई। उसी समय दो धूर्त मित्रों ने मेरा सान्निध्य प्राप्त करके मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाई। उस अशान्ति में वे मुझे अपने संरक्षण में ले गए और आत्मदोष से मुझे उनका उपकृत होना पड़ा। इसी समय मेरे इन हितैषी मित्रों ने इस उपन्यास की पूर्णाहुति के उपलक्ष में एक भव्य समारोह का आयोजन कर डाला। इसी समय पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में कुछ भय के कारण उत्पन्न हो गए और मैंने उसे लोगों को दिखाना तथा उसके सम्बन्ध में बातें करना बिल्कुल बन्द कर दिया। परन्तु एक दिन अवसर पा ताला तोड़ कर यारों ने पाण्डुलिपि चुरा ली।"[1]

इसके पश्चात् तो आचार्य चतुरसेन जी की सम्पूर्ण चेतना शक्ति एवं क्रिया शक्ति समाप्त ही हो गई थी। उन्होंने स्वयं लिखा है 'बहुत पर फड़फड़ाए पर सब व्यर्थ। जिस प्रकार जैसे श्मशान से प्रियजन का विसर्जन करके कोई लौट आता है उसी भाँति इन भद्र मित्रों को नमस्कार कर उनके संरक्षण का आभार मान कर लौट आया। और दो वर्ष मैंने हस्ताक्षर करने के लिए भी लेखनी नहीं छुई। सब काम बन्द कर दिए। लोगों से मुलाकात भी बन्द कर दी। इन दो वर्षों मे मैंने यह अनुभव किया कि मेरे रक्त की प्रत्येक बूंद आँसू बन गई है परन्तु वह रक्त न निकलकर शरीर के भीतर ही चक्कर काट रही है। बाहर नहीं निकल पाती मानों ने समझा मेरी साहित्यिक मृत्यु हो गई।[2]

अभी इस विपत्ति का घाव भर भी न पाया था कि आचार्य चतुरसेन जी पर एक और विपत्ति टूट पड़ी। दैव दुर्विपाक से आचार्य चतुरसेन जी की तीसरी पत्नी श्रीमती ज्ञान देवी भी उन्हें इस विपन्न अवस्था में और भी विपन्न करके दिसम्बर सन् १९४४ में अकस्मात् चल बसीं। इस दुहरे आघात को वह सहन न कर पाए और उनकी दशा अर्धविक्षिप्त जैसी हो गई थी। उनकी वर्तमान पत्नी कमलकिशोरी जी ने लिखा है 'मेरी पूज्या बहन के स्वर्गवास के बाद उनकी अवस्था अर्धविक्षिप्त जैसी हो गई थी। यह देखकर मेरी माता जी ने उनसे मेरे विवाह का प्रस्ताव किया। सुनकर उनको विचित्र लगा। मुझ भी ऐसा प्रतीत

---

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन भूमि पृ ७८१।
२ वैशाली की नगर वधू आचार्य चतुरसेन भूमि पृ १८१।

हुआ जैसे गर्म शीशा मेरे कान में डाल दिया गया हो। रिश्तेदारों से जब इस विषय में सलाह की गई तब सभी ने इसका विरोध किया। ऐसे ही काफी समय बीत गया। इस बीच इनके कई शुभ चिन्तक मित्र अच्छे रिश्ते लेकर आए लेकिन इन्होंने सबको यही उत्तर दिया कि मेरा जीवन तो समाप्त हो गया अब मैं विवाह करने की स्थिति में नहीं हूं। इसी संघर्ष में साल गुजर गया। इनकी अवस्था सुधरती ही नहीं थी। एक दिन पड़े-पड़े मेरी आत्मा से आवाज आई कि तेरी-जैसी लड़कियाँ रोज रोज कीड़ों मकोड़ों जैसी पैदा होती हैं और मर जाती हैं तेरे जीवन का क्या मूल्य। पर, ऐसे पुरुष रोज-रोज नहीं पैदा होते उनके जीवन की रक्षा कर। मैंने माताजी से कहा। उन्होंने उन्हें राजी करके मेरा उनसे विवाह कर दिया। काफी दिनों बाद उनमें नये जीवन का संचार हुआ।"[1]

इस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी का चौथा विवाह जून १९४१ में हुआ। आचार्य चतुरसेन जीकी यह पत्नी उनकी तीसरी पत्नी की छोटी बहन है।

साहित्यिक-उत्कर्ष-काल

(सन् १९४१-१९६०)

इस वर्ष घोर विपत्तियों एवं कठिनाइयों का सामना करने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी के जीवन में उनके चौथे विवाह के पश्चात् पुन स्थिरता आई। धीरे धीरे उनके शरीर में पुनः नवीन जीवनी शक्ति का संचार हुआ। "काल पाकर विदग्ध-हृदय की जलन कम हुई, साध पुरे भावना अंकुरित हुईं। और उन्होंने (दुस्साहस करके) दुबारा नए सिरे से 'वैशाली की नगर वधू' लिखना प्रारम्भ किया। 'आचार्य चतुरसेन जी ने इस विषय में लिखा है' प्रारम्भ में मुझे यह असाध्य प्रतीत हुआ। परन्तु वही शुक्र नक्षत्र के समान उज्ज्वल आँखें मेरे साथ थीं। उस दिन जैसे मैंने कहा था— 'नाचो' उसी भाँति वह आँखें कह रही थी "लिखो"? मैंने एक बार कहा था पर वे आँखें हर बार कहती थी। फिर लिखता कैसे नहीं। अन्तत मेरी जड़ता दूर हुई। मैंने नए उल्लास से पुरानी त्रुटियों को यथाशक्ति दूर करते हुए उपन्यास का पुनर्लेखन प्रारम्भ किया।[2] इस बार लिखने से पूर्व उन्होंने अपने विषय पर अधिक से अधिक अध्ययन भी

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान चतुरसेन श्रद्धांजलि अंक, १७ अप्रैल सन् १९६० पृ ४

२ वैशाली की नगर वधू आचार्य चतुरसेन भूमि पृ ७८१।

कर डाला था। इस प्रकार इस काल की उनकी प्रथम रचना "वैशाली की नगर-वधू" सन् १९४८ में प्रकाशित हो सकी। इसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उन्होंने अपनी चालीस वर्षों की सम्पूर्ण साहित्य सम्पदा को इस रचना पर न्योछावर कर दिया था।"[1]

इस उपन्यास पर उन्होंने केवल अपनी पूर्वार्जित सम्पूर्ण साहित्य सम्पदा का ही न्योछावर नहीं किया था वरन् तभी से उन्होंने अपनी वैद्यक की प्रैक्टिस को भी पूर्णरूप से त्याग दिया था। किन्तु केवल लेखनी के बल पर निर्भर रहने के कारण उन्हें कितने ही आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ा था। इसीलिये "वैशाली की नगरवधू" के दूसरे संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा था 'प्रथम संस्करण छपने पर, जब मैंने अपनी पूर्वार्जित सम्पूर्ण साहित्य-सम्पदा का न्योछावर कर दिया था तभी मैंने प्रैक्टिस भी छोड़ दी थी। सोचा था—इस उपन्यास के लेखक को अब पेट की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है परन्तु मेरी आशा फलवती नहीं हुई। फिर भी मैंने अपनी ओर नहीं देखा कायक्लेश को तप की पूताग्नि में होम दिया। तब देवता के दो वरदान पाए—'सोमनाथ' और 'वयं रक्षामः'। मेरे नेत्र गए, स्वास्थ्य गया जीवन की सन्ध्या को अंधकार ने घर लिया। पर मैं घाटे में नहीं रहा दो-दो वरों से सम्पन्न होकर।'[2]

---

१ इस विषय में आचार्य चतुरसेन जी ने "वधू" की भूमिका में लिखा है 'अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में सन् १९०९ में जब आम्र वर्षों से मेरी मेंहदियाँ मेरे हाथों पकड़ाना चाहता था। मैंने कलम पकड़ी। इस बात को आज ४० वर्ष बीत रहे हैं। इस बीच मैंने छोटी-बड़ी लगभग ८४ पुस्तकें विविध विषयों पर लिखीं, प्रायः दस हजार से अधिक पृष्ठ विविध सामयिक पत्रिकाओं में लिखे। इस साहित्य साधना से मैंने पाया कुछ नहीं, खोया बहुत कुछ। कहना चाहिए सब कुछ। धन वैभव, आराम और शान्ति। इतना ही नहीं यौवन और सम्मान भी। इसलिए मुक्त कुकाकर, निरन्तर चालीस वर्षों की अर्जित इस सम्पूर्ण साहित्य-सम्पदा को मैं अपनी प्रसन्नता से रद्द करता हूं और यह घोषणा करता हूं कि मैं अपनी यह पहली कृति विषयोक्ति सहित आपको भेंट कर रहा हूं।"

वैशाली की नगर वधू आचार्य चतुरसेन प्रवचन पृ १।

२ वैशाली की नगर वधू-भूमिका-दूसरे संस्करण का पृ ६।

किन्तु पैसों की तंगी के कारण उन्हें कभी-कभी अत्यन्त साधारण चीजें भी लिखनी पड़ी थी। प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उनकी ऐसी ही एक दो साधारण पुस्तकें देखकर कुछ भय मिश्रित स्वर में उनसे कहा भी था 'इन छोटी-छोटी पुस्तकों में आप क्यों अपना अमूल्य समय व्यर्थ फेंक रहे हैं। इससे न प्रतिष्ठा ही बढ़ती है और न ही आपके मन को संतोष होता होगा ? मैंने पूछने को यह प्रश्न पूछ तो डाला था किन्तु उस समय मैं आवश्यकता से अधिक भयभीत था किन्तु मेरी आशा के विपरीत उन्होंने हँसते हुए इसका उत्तर दिया था 'मुझे यह छोटी-छोटी व्यर्थ की रचनाएँ लिखकर सुख नहीं होता वरन् दुख ही होता है। मेरे आत्म सम्मान को गहरा आघात लगता है किन्तु करूं क्या ? पेट की चिन्ता भी तो करनी पड़ती है। मुझे अपनी तो चिन्ता नहीं किन्तु गृहस्थी जो साथ रखी है उसे मैं भूखा मरते नहीं देख सकता और इसी कारण से मैं यह सब कुछ निस्संकोच लिख डालता हूँ। उस समय मुझे लगा कि वास्तव में हिन्दी के साहित्यकार की आज कैसी विषम स्थिति है। यदि वह केवल ऊँची चीज लिखता है तो उसे धन नहीं मिलता उनके पाठक ही कितने हैं ? किन्तु जब भूखों मरने लगता है और पेट पालने के लिए एक-दो साधारण रचनाएँ शीघ्रता में घसीट देता है तो आलोचक वर्ग केवल उन्हें ही ले उड़ता है। सभी उत्कृष्ट रचनाओं को वह उस समय भूल जाता है।

आचार्य चतुरसेन जी की पत्नी की निम्नपंक्तियों से मेरी यह बात और स्पष्ट हो जायेगी 'कभी-कभी ऐसे अवसर आए कि घर में पैसे नहीं रहे और सब जगह प्रयत्न करने पर भी रुपए नहीं मिले। तब हमारी आशा के विपरीत वह अपनी कृति को जिसे वह लिख रहे होते मेज पर एक ओर को सरका देते और कोई नई छोटी चीज लिखना शुरू कर देते। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' 'धर्मयुग' 'आजकल' अथवा और किसी मासिक पत्र के लिए लेख लिख डालते या छोटा-मोटा उपन्यास ४ ५ दिन में तैयार कर डालते और राजपाल एण्ड सन्स अथवा चौधरी एण्ड सन्स से उसका तुरन्त रुपया मंगवा लेते। इन दोनों ही प्रकाशकों की उनके प्रति अटूट श्रद्धा थी।'[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी आर्थिक-स्थिति प्रेक्टिस त्यागने के बाद से खराब ही होती गई थी। उनकी स्वयं की अर्जित समूची सम्पत्ति को सन् १९४७ के जमुना-प्रवाह ने नष्ट कर दिया था। इस जमुना-प्रवाह में उनका

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६० पृ ४ एवं ४०।

भर १५ दिन तक ९ फुट पानी में डूबा रहा था। किन्तु इतने से ही छुटकारा नहीं हुआ। आर्थिक-दशा अभी संभल भी न पाई थी कि उन्हें सन् १९२० की मई के अन्तिम सप्ताह में एक भयंकर बीमारी ने आ घेरा। आचार्य चतुरसेन जी की वर्तमान पत्नी ने इस बीमारी का विस्तृत वर्णन किया है।[1]

अन्त में उन्होंने लिखा है विपत्तियाँ और भी टूटीं। परन्तु अन्ततः इनके जीवन की रक्षा हो गई। जीवन रक्षा का श्रेय न चिकित्सा को न औषधि को न हमारी सेवक सेवा को। प्राणरक्षा हुई इनके अपने अटूट आत्मबल से। अभी इनके हाथों 'सोमनाथ और 'वयं रक्षाम' जैसे साहित्य रत्न का सर्जन होना था। और भी कुछ होने वाला था।[2]

इस बीमारी से उठने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी ने पूर्ण तन्मयता से लिखना प्रारम्भ कर दिया। 'सोमनाथ' पूर्ण किया 'वयं रक्षाम' भी पूर्ण हुआ। उनका कहना था कि 'मेरे स्वास्थ्य को मेरे उपन्यास' 'वयं रक्षाम' ने ले लिया है।[3] स्वास्थ्य खराब हो जाने के पश्चात् भी उनकी लेखनी रुकी न थी। इसके पश्चात् भी उन्होंने लगभग तीस ग्रंथों की रचना की थी—जिनमें गोली' 'भारतीय संस्कृति का इतिहास', 'सोना और खून' के दो खण्ड एवं 'खग्रास' ऐसी प्रमुख कृतियाँ भी हैं।

जब प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक उनके समीप प्रथम बार गया था तो भी उनका स्वास्थ्य विशेष उत्तम न था। इस विषय में प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उनसे प्रथम बार मिलने पर जो लिखा था उसका यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा। मैं जिस कमरे में रुका था उसी के समीप आचार्य चतुरसेन जी का अध्ययन कक्ष था। रात्रि में मेरी जिस समय भी नींद खुलती मैं उन्हें लिखते ही देखता था। यही देखकर मैंने उनसे प्रश्न किया था 'आप इस अवस्था में भी तो इतना कार्य करते हैं कि मैं तो देखकर दंग रह गया हूँ'।

मेरे इस प्रश्न का उत्तर आचार्य चतुरसेन जी ने हँसते हुए दिया था 'भाई, मुझसे खाली पड़े रहा ही नहीं जाता। बुढ़ापे में नींद तो कम आती ही है खाली पड़े रह नहीं सकता। तब फिर क्या करूँ'? लिखने ही बैठ जाता

१ चतुरसेन—त्रैमासिक प्रथम अंक, ९८-९९।

२ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, ९८-९९।

३ आचार्य चतुरसेन—व्यक्तित्व और विचार, शुभकारनाथ कपूर धर्मयुग ९ अगस्त, १९६१ पृ० ८।

किन्तु पैसों की तंगी के कारण उन्हें कभी-कभी अत्यन्त साधारण चीजें भी लिखनी पड़ी थी। प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उनकी ऐसी ही एक दो साधारण पुस्तकें देखकर कुछ भय मिश्रित स्वर में उनसे कहा भी था 'इन छोटी-छोटी पुस्तकों में आप क्यों अपना अमूल्य समय व्यर्थ फेंक रहे हैं। इससे न प्रतिष्ठा ही बढ़ती है और न ही आपके मन को सन्तोष होता होगा ? मैंने पूछने को यह प्रश्न पूछ तो डाला था किन्तु उस समय मैं आवश्यकता से अधिक भयभीत था किन्तु मेरी आशा के विपरीत उन्होंने हँसते हुए इसका उत्तर दिया था 'मुझे यह छोटी-छोटी व्यर्थ की रचनाएँ लिखकर सुख नहीं होता वरन् दुःख ही होता है। मेरे आत्म सम्मान को गहरा आघात लगता है किन्तु करूँ क्या ? पेट की चिन्ता भी तो करनी पड़ती है। मुझे अपनी तो चिन्ता नहीं किन्तु गृहस्थी जो पास रखी है उसे मैं भूखों मरते नहीं देख सकता और इसी कारण से मैं यह सब कुछ निस्संकोच लिख डालता हूँ। उस समय मुझे लगा कि वास्तव में हिन्दी के साहित्यकार की आज कैसी विषम स्थिति है। यदि वह केवल ऊँची चीज लिखता है तो उसे धन नहीं मिलता उसके पाठक ही कितने हैं ? किन्तु जब भूखों मरने लगता है और पेट पालने के लिए एक-दो साधारण रचनाएँ शीघ्रता में घसीट देता है तो आलोचक वर्ग केवल उन्हें ही ले उड़ता है। सभी उत्कृष्ट रचनाओं को वह उस समय भूल जाता है।

आचार्य चतुरसेन जी की पत्नी की निम्नपंक्तियों से मेरी यह बात और स्पष्ट हो जायेगी 'कभी-कभी ऐसे अवसर आए कि घर में पैसे नहीं रहे और सब जगह प्रयत्न करने पर भी रुपए नहीं मिले। तब हमारी आशा के विपरीत वह अपनी कृति को जिसे वह लिख रहे होते मेज पर एक ओर को सरका देते और कोई नई छोटी चीज लिखना शुरू कर देते। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' 'धर्मयुग' 'आजकल' अथवा और किसी मासिक पत्र के लिए लेख लिख डालते या छोटा-मोटा उपन्यास ४ ५ दिन में तैयार कर डालते और राजपाल एण्ड सन्स अथवा चौधरी एण्ड सन्स से उसका तुरन्त रुपया मंगवा लेते। इन दोनों ही प्रकाशकों की उनके प्रति अटूट श्रद्धा थी।'[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी आर्थिक-स्थिति प्रेक्टिस त्यागने के बाद से खराब ही होती गई थी। उनकी स्वयं की अर्जित समूची सम्पति को सन् १९४७ के यमुना-प्रवाह ने नष्ट कर दिया था। इस यमुना प्रवाह में उनका

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६० पृ ४ एवं ४०।

पर १५ दिन तक ९ फुट पानी में डूबा रहा था। किन्तु इतने से ही छुटकारा नहीं हुआ। आर्थिक-दशा अभी संभल भी न पाई थी कि उन्हें सन् १९५० की मई के अन्तिम सप्ताह में एक भयंकर बीमारी ने आ घेरा। आचार्य चतुरसेन जी की वर्तमान पत्नी ने इस बीमारी का विस्तृत वर्णन किया है।[१]

अन्त में उन्होंने लिखा है विपत्तियाँ और भी टूटीं। परन्तु अन्ततः इनके जीवन की रक्षा हो गई। जीवन रक्षा का श्रेय न चिकित्सा को न औषधि को न हमारी अथक सेवा को। प्राणरक्षा हुई इनके अपने अटूट आत्मबल से। अभी इनके हाथों 'सोमनाथ' और 'वयं रक्षाम' जैसे साहित्य रत्न का सर्जन होना था। और भी कुछ होने वाला था।[२]

इस बीमारी से उठने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी ने पूर्ण तन्मयता से लिखना प्रारम्भ कर दिया। 'सोमनाथ' पूर्ण किया 'वयं रक्षाम' भी पूर्ण हुआ। उनका कहना था कि 'मेरे स्वास्थ्य को मेरे उपन्यास' 'वयं रक्षाम' ने ले लिया है।[३] स्वास्थ्य खराब हो जाने के पश्चात् भी उनकी लेखनी रुकी न थी। इसके पश्चात् भी उन्होंने लगभग बीस ग्रन्थों की रचना की थी—जिनमें 'गोली' 'भारतीय संस्कृति का इतिहास', 'सोना और खून' के दो खण्ड एवं 'खग्रास' ऐसी प्रमुख कृतियाँ भी हैं।

जब प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक उनके समीप प्रथम बार गया था तो भी उनका स्वास्थ्य विशेष उत्तम न था। इस विषय में प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उनसे प्रथम बार मिलने पर जो लिखा था उसका यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा। मैं जिस कमरे में रुका था उसी के समीप आचार्य चतुरसेन जी का अध्ययन कक्ष था। रात्रि में मेरी जिस समय भी नींद खुलती मैं उन्हें लिखते ही देखता था। यही देखकर मैंने उनसे प्रश्न किया था 'आप इस अवस्था में भी तो इतना कार्य करते हैं कि मैं तो देखकर दंग रह गया हूँ।

मेरे इस प्रश्न का उत्तर आचार्य चतुरसेन जी ने हँसते हुए दिया था "भाई, मुझसे खाली पड़े रहा ही नहीं जाता। बुढ़ापे में नींद तो कम आती ही है खाली पड़े रह नहीं सकता। तब फिर क्या करूँ? लिखने ही बैठ जाता

१ चतुरसेन—त्रैमासिक प्रथम अंक, ९८-९९।
२ चतुरसेन—त्रैमासिक, प्रथम अंक, ९८ ९९।
३ आचार्य चतुरसेन—व्यक्तित्व और विचार, शुभकारनाथ कपूर धर्मयुग ९ अगस्त १९५९ पृ ८।

हूँ। उन्होंने कुछ रुककर फिर कहा था 'सत्य तो यह है कि मैं बिना काम किये रह ही नहीं सकता। लिखते समय अपने रोग शोक सभी को भूल जाता हूँ।[1]

मुझे स्मरण है कि आचार्य चतुरसेन जी अपने अन्तिम वर्षों में पंद्रह पंद्रह घंटे तक बराबर लिखते या पढ़ते रहते थे। एक बार प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से उन्होंने कहा था 'मेरे पास लिखने को बहुत कुछ है। सब कुछ लिख भी डालना चाहता हूं किन्तु समय बड़ी तेजी से भाग रहा है। मैं आजकल लिखने में चल नहीं रहा हूँ वरन् दौड़ रहा हूं किन्तु समय मुझसे भी तेज भाग रहा है। मुझे अब कुछ ऐसा लगने लगा है कि मैं इधर एक दो वर्षों में जो कुछ दे सका वही दे पाऊँगा। शेष को अपने साथ लिए चला जाऊँगा।

आचार्य चतुरसेन जी ने बड़ी गंभीरता से यह बातें कह डाली थीं। आचार्य जी के स्वास्थ्य को देखकर प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने उनसे अपने हृदय की बात कही थी 'आपके स्वास्थ्य को देखकर मैं तो समझता हूँ कि कम से कम पंद्रह वर्ष आप साहित्य सेवा और कर सकेंगे।

आचार्य चतुरसेन जी हँसे थे। उन्होंने कहा था 'किन्तु मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। रहा स्वास्थ्य का प्रश्न ? उसे तो मैंने बड़े चाव सँवार कर रखा है। केवल इस कारण से कि अन्त समय तक मैं कर्मरत रहूँ बिसदूँ नहीं। मेरी केवल मात्र यही इच्छा है कि जिस लेखनी ने जीवन पर्यन्त मेरा साथ नहीं छोड़ा है वह अन्त तक मेरा साथ देती रहे' इतना कहकर आचार्य चतुरसेन जी खुलकर हँसे थे।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने विषय परिवर्तित करने के लिए दूसरा प्रश्न किया था आपका 'सोना और खून' उपन्यास कब तक समाप्त हो रहा है।

'मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि मैं उसे समाप्त कर पाऊँगा कारण उसे पचास खंडों और दस भागों में समाप्त करने की योजना है। यद्यपि मेरी इच्छा यही है कि मैं उसे समाप्त करता जाऊँ, किन्तु -- आचार्य चतुरसेन जी कुछ रुके पुनः उन्होंने कहा था 'काश ! मैं इसके अन्तिम शब्दों को लिख सकता। कारण इस खंड का मेरा जीवन स्वयं प्रत्यक्ष दृष्टा रहा है। मैंने

---

१ आचार्य चतुरसेन—व्यक्तित्व और विचार, द्वारकानाथ कपूर धर्मयुग ९ अगस्त १९५९ पृ ८।

बहोश रहकर आधी शताब्दी तक समूचे विश्व पर नजर रखी है। और अब तक मैंने जो कुछ देखा और जाना है उसे मैं अपनी इस कलम से इस उपन्यास के अन्तिम सर्गों में क्रमबद्ध करना चाहता हूँ जो आधी शताब्दी से बराबर चलती आ रही है। किन्तु काल ने उनकी यह इच्छा पूर्ण न होने दी।

एक दिन प्रातःकाल जब प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक आचार्य चतुरसेन जी के साथ बैठा चाय पी रहा था तब उसने उनसे एक और प्रश्न किया था 'आपकी श्रेष्ठतम कृति कौन सी है?' आचार्य जी ने चाय की चुस्की समाप्त करते हुए उत्तर दिया था 'किन्तु यह प्रश्न तो मेरे जीवन की समाप्ति के बाद उठेगा' फिर कुछ रुक कर उन्होंने कुछ प्रसन्न मुद्रा में कहा था 'वैसे यदि मैं लिख सका तो 'आर्य चाणक्य' मेरी सर्वश्रेष्ठ कृति होगी' इतना कहकर उन्होंने प्रकाश अपने भतीजे को आवाज दी थी। आने पर उन्होंने उससे 'एटलस' लाने को कहा था। 'ऐटलस' लेकर उन्होंने 'यूनान' और भारत के मानचित्रों को दिखलाते हुए 'आर्य चाणक्य' के कथानक को बतलाना प्रारम्भ किया था। संक्षिप्त कथानक को बतलाने के पश्चात् उन्होंने चाणक्य के समय की परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहा था 'चाणक्य पहला भारतीय महापुरुष था जिसने कानून को आर्थिक और राजनीतिक रूप दिया और जीवन को धर्म से पृथक करने का प्रथम प्रयास किया। जबकि उसके पूर्व की हिंदू स्मृतियों ने धर्म और कानून शास्त्र को एक संयुक्त रूप दे रखा था। इतना ही नहीं यह उसकी शक्ति थी कि उसने बिना ही अश्वमेध यज्ञ के चन्द्रगुप्त को भारत का सम्राट घोषित कर दिया जब कि इसके पूर्व भारत की यह परम्परा थी कि केवल वही चक्रवर्ती सम्राट समझा जाता था जो अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करे।" इसके साथ कुछ अन्य परिस्थितियों का विवरण करते हुए उन्होंने कहा था "मैं इन्हीं सब महत्वपूर्ण परिस्थितियों को अपने उपन्यास "आर्य चाणक्य" में चित्रित करना चाहता हूँ" कुछ रुकने के पश्चात् आचार्य चतुरसेन जी ने पुनः कुछ गम्भीरता के साथ कहा था "किन्तु मुझे कुछ ऐसा भास होता है कि मैं अपने इस उपन्यास को पूर्ण न कर सकूँगा। इसके लिए कम से कम तीन-चार वर्षों का समय चाहिए जो सम्भवतः मेरे समीप अब नहीं है।"

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने बीच में ही बात काटते हुए उनसे कहा था 'आप अभी से यह सब क्यों विचारते हैं। निश्चित रूप से आप शतायु हैं। 'आचार्य जी सुनकर हँस पड़े थे। उन्होंने हँसते हुए ही कहा था 'तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर। किन्तु मैं अब अपने जीवन के लगभग सभी प्रधान कार्य पूर्ण

मर चुका हूँ। समय भी मुझे अब तेजी से भागता हुआ लगता है इसके पूर्व मुझे ऐसा कभी ज्ञात नहीं होता था। और इस बात को उन्होंने बीच में ही छोड़कर विषय परिवर्तित करते हुए हँसते हुए कहा था अरे भई! हम बुड्ढों की चिन्ता क्यों करता है। अब तो तुम नवयुवकों को हम सबका भार उठाने को तैयार हो जाना चाहिए। हम लोगों की घिसी पिटी लेखनी से तुम लोगों की लेखनी में अधिक शक्ति होनी चाहिए।

"लौह लेखनी की-सी शक्ति और सामर्थ्य हम लोगों में कहाँ से आ पायेगी?"

"क्यों? अब ही तो कार्य करने का वास्तविक समय है। साहित्य भवन का शिलान्यास हम लोगों ने कर दिया है उसकी नींव भी पुख्ता बना दी है अब उस पर भव्य भवन का निर्माण तुम तरुणों को करना है। किन्तु स्मरण रखना इस भवन का निर्माण साधकों के हाथों से होगा विलासियों एवं लोभियों के हाथों से नहीं।" किंचित गम्भीर स्वर में कुछ रुककर उन्होंने पुनः कहा था 'और तुम लोगों से तो हमने कितनी ही आशाएँ लगा रखी हैं। इसके पश्चात् चाय का प्याला नीचे रखते हुए एवं उठकर प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के कंधे पर हाथ रखते हुए उन्होंने कहा था—"किन्तु यह आशा तभी पूर्ण होगी जब तुम लोग पूर्ण तन्मयता से जुटोगे। मैं समझता हूँ कि निकट भविष्य में तुम लोगों को उतनी आर्थिक कठिनाइयाँ नहीं सहन करनी पड़ेंगी जितनी हम लोगों को सहन करनी पड़ीं। स्वभावतः यदि ऐसी स्थिति हो गई तो तुम लोग निश्चिन्त होकर साहित्य सेवा कर सकोगे।"

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को ठीक प्रकार से स्मरण है यही उनका अंतिम वाक्य था। उससे आचार्य चतुरसेन जी की यही अन्तिम साहित्य चर्चा थी।[1] सम्भवतः जीवन में भी अन्तिम। इसके पश्चात् वह उसी दिन लखनऊ वापस लौट आया था। अगली बार जब उनके निवास स्थान पर वह गया था तो उनकी मृत्यु की सूचना पाकर। अब वह वहाँ पर नहीं थे—जा चुके थे सभी को बिलखते हुए छोड़कर।

अन्तिम समय और मृत्यु

यह प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक का दुर्भाग्य ही था कि वह उनके अन्तिम

---

१ जब तीसरी बार प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक आचार्य चतुरसेन जी की भतीजी के विवाह में गया था तभी उनसे यह वार्तालाप हुआ था।

समय में पहुँच न सका था वास्तव में उनकी मृत्यु इतनी आकस्मिक हुई थी कि मृत्यु के दिन तक भी कोई इसका अनुमान न कर सका था। मृत्यु की सूचना पाते ही मैं शहादरा पहुँच गया था। मृत्यु का सबसे प्रथम विवरण मैंने आचार्य चतुरसेन जी के अनुज श्री चन्द्रसेन जी के मुख से सुना था। अनन्तर इस विषय से सम्बन्धित कई लेख प्रकाशित भी हुए थे। आचार्य चतुरसेन जी की वर्तमान पत्नी ने इस विषय का वर्णन करते हुए लिखा है 'अभी दक्षिण यात्रा से लौटने पर (दस जनवरी को हम लोग आए थे) १२ जनवरी को वह पलंग पर बैठे हुए प्रकाशन समाचार के पेज पलट रहे थे। मैं आई तो मुझे देखते ही पत्रिका उन्होंने नीचे डाल दी। मैंने उसे उठा लिया। उसमें बहुत से प्रकाशकों के पत्र छपे थे और जिनमें जितना ही दोष था उसने उतना ही अपने को निर्दोष बताने की कोशिश की थी। पढ़कर मेरे मन पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा और मैं बिस्तर पर लेट गई। शाम को भी मुझसे उठा नहीं गया। वह स्वयं रसोई घर में गए और चन्द्रसेन जी और उनके बच्चों की सहायता से उन्होंने खूब चीजें बनाईं और मेरे पास प्लेटों में सजा कर भेजीं पर मैंने नींद ही में मना कर दिया। फिर स्वयं आए और मुझे जगा कर खिलाया। मुझे क्या पता था कि ईश्वर मुझे यह अंतिम सौभाग्य प्रदान कर रहा है। १३ जनवरी की रात को ही तो उनको पेशाब बंद हुआ और १९ को वह इर्विन अस्पताल चले गए। फिर मैं उन्हें वापस लाई कहाँ ! २० दिन बाद निगम बोध घाट पर एक चिता में स्वर्ग की सीढ़ी चढ़ा आई। मुझ पर ऐसा वज्रपात हुआ, जिसकी अभी कल्पना भी नहीं थी।'[1]

इर्विन अस्पताल में आचार्य चतुरसेन जी से अन्तिम समय में श्री मन्मथनाथ गुप्त मिले थे। उन्होंने इस अंतिम भेंट का वर्णन देते हुए अपने लेख "वार्ड नम्बर तीन बिस्तरा नम्बर बाईस' में लिखा है 'मैं उनसे कितनी ही बार मिला पर आज जब कि उनका नश्वर शरीर नष्ट हो चुका है (यहाँ पाठकों को याद दिलाई जाए कि वह अनीश्वरवादी थे) मेरी मन की आँखों के सम्मुख केवल वह घूम आ रहा है जब मैं उनसे अंतिम बार इर्विन अस्पताल के सर्जिकल वार्ड नम्बर तीन और बिस्तरा नम्बर बाईस पर मिला।" ....मैं तो यह समझता हूँ कि आचार्य चतुरसेन जी ऐसे महान् लेखक को एक अनाथ रोगी की भाँति जनरल वार्ड में भर्ती होना पड़े हिंदी के पाठकों के लिए इससे बढ़कर ग्लानि की बात और कुछ नहीं हो सकती।....इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि आचार्य

---

१ साप्ताहिक हिंदुस्तान, १७ अप्रैल १९६० पृ ४१।

चतुरसेन केवल आलोचकों के अनुसार एक महान् लेखक ही नहीं थे बल्कि जनता ने उन्हें अपनाया था और प्रेमचन्द के पश्चात् यदि किसी के उपन्यास अधिक से अधिक बिकते थे तो उन्हीं के बिकते थे। फिर भी उनकी यह हालत थी कि वह नर्सिंग होम में रहकर बहुमूल्य चिकित्सा नहीं करा सकते थे।"

'जब मैं अपने साथी श्री जगदीश गोयल के साथ उनके पास पहुंचा तब स्वाभाविक रूप से पहली बात वार्ड के सम्बन्ध में छिड़ी तो आचार्य चतुरसेन जी ने मुझे बतलाया कि यों दो हजार का खर्च था इसलिए उन्होंने जनरल वार्ड में रहना स्वीकार किया। जब वह वहाँ थे ही तो स्वाभाविक रूप से उसका समर्थन करना ही था और उन्होंने स्वयं भी यही कहा 'हाँ ठीक है। यहाँ कुछ न कुछ प्लाट मिलने की सम्भावना है। सच तो यह है कि अभी एक बात सूझी है।'[1] इसके बाद गुप्त जी ने उस भयंकर वार्ड का—जिसमें आचार्य चतुरसेन जी थे—वर्णन करते हुए लिखा है 'पता नहीं उस बैरक में कितनी खाटें थीं और सब पर एक न एक भयंकर रोगी था। कुछ लोग कराह रहे थे और तरह-तरह के मरहमों और दवाओं की बू चारों तरफ फैल रही थी। सबके चेहरों पर चिन्ता की काली छाया थी कहें तो शायद जीवन और मृत्यु की सीमा-रेखा पर के वातावरण बहुत ही विषादपूर्ण था। प्लाट प्राप्त करने का प्रलोभन निस्सन्देह बहुत बड़ा प्रलोभन है फिर भी कठिन रोग से पीड़ित होकर ऐसे वातावरण में रहना केवल मजबूरी में ही स्वीकार किया जा सकता है।[2] इतना ही नहीं आचार्य चतुरसेन जी ने इस दशा में भी लिखना नहीं त्यागा था। गुप्त जी ने इस विषय में लिखा है "मैं तो इस प्रसंग में इस ओर दृष्टि आकर्षित करना भूल ही गया कि उस हालत में भी जबकि उनको कैथेटर से पेशाब कराया गया था उन्होंने पेन्सिल से लिखकर 'आजकल' के लिये लेख भेजा था सम्भव है इसी हालत में उन्होंने मद्रास भ्रमण पर वह लेख भी लिखा हो जो बाद में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में प्रकाशित हुआ। यानी एक दिन भी उस कलाकार को रोग शय्या नहीं बल्कि मृत्यु शय्या पर भी विश्राम नहीं मिला।"[3]

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान ६ मार्च १९६० पृ ३१।
२ साप्ताहिक हिन्दुस्तान आचार्य चतुरसेन श्रद्धांजलि अंक, ६ मार्च १९६०, पृ ३१।
३ साप्ताहिक हिन्दुस्तान आचार्य चतुरसेन, श्रद्धांजलि अंक, ६ मार्च १९६० पृ ३१।

जिस अवस्था में आचार्य चतुरसेन जी की मृत्यु हुई वह निश्चित ही हिन्दी वालों के लिए ग्लानि की बात है। यहीं इर्विन अस्पताल में आचार्य चतुरसेन जी ने २ फरवरी, १९६० को दिन के दो बजे के लगभग अपने इस भौतिक शरीर का त्याग दिया।

स्वभाव और प्रकृति

किसी भी व्यक्ति के स्वभाव को समझने के लिए उसके पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को समझना आवश्यक है। अतः आचार्य चतुरसेन जी के स्वभाव एवं प्रकृति को समझने के लिये हम उनके घर और बाहर दोनों के रूपों को देखना और समझना पड़ेगा।

घर में

आचार्य चतुरसेन जी के स्वभाव की कोमलतम भावनाओं के वास्तविक दर्शन इस प्रबन्ध के लेखक ने स्वयं उनके साथ उनके परिवार में रहकर किए। जहाँ एक ओर साहित्य में वे लौह लेखनी के धनी थे वहीं घर में उनका अपूर्व वात्सल्य देखते ही बनता था।

आचार्य चतुरसेन जी का लेखन-कार्य रात्रि दो बजे से प्रारम्भ हो जाता था। उनके लिए उसी समय से प्रभात हो जाता और वह साहित्य साधना में निमग्न हो जाते। इस विषय में आचार्य जी की पत्नी कमलकिशोरी जी ने लिखा है "इधर उनके जब से पाँव में दर्द रहने लगा था तब से वह मेज के दूसरे सिरे पर साधारण पल्थी मार बैठते थ। बैठते ही एक बार मुँह पर हाथ फेरते और हाथ में अपना मोटा फाउन्टेनपेन लेकर अपनी साधना में लीन हो जाते।" " वह एक रस होकर फुलस्केप साइज के पन्ने भरते चले जाते। मैं बहुत बार रोशनी के कारण नींद खुल जाने पर उन्हें देखा करती थी। समाधिस्थ देव पुरुष की भाँति उनकी मुद्रा उस समय होती थी। अपनी लेखनी के पात्र और पात्रियों के साथ उनका मुसकाना आँसू बहाना रोना खीझना क्रोध करना उनके मुख के भावों से प्रकट होता रहता था। आरम्भ में मुझे यह प्रति आश्चर्य जनक लगी पर बाद में तो मैं इसकी अभ्यस्त हो गई।"[1]

"सुबह काफी देर तक प्रतीक्षा के बाद जब मैं अन्दर जाकर बत्ती बन्द कर देती तब बिना मेरी ओर देखे ही वह बत्ती को फिर से जला देने का मजूरों

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, पृ ६ एवं ४१।

करते थे कहते थे 'दो मिनट ठहर जाओ अभी उठता हूँ'। बस पन्द्रह मिनट बाद भी जब वह नहीं उठते थे तब मैं कलम छीन कर, हाथ पकड़कर उन्हें जबरदस्ती खींच लाती थी। हंसते हुए कहते थे 'बाबा बड़ी जबरदस्त स्त्री से पाला पड़ा है।"[1]

एक ओर घर में साहित्य साधना करते समय वह साधक के समान गम्भीर और शान्त रहते थे तो दूसरी ओर साधना से निवृत्त होने के पश्चात् शाम के समय वह मुन्नी के साथ बच्चों के समान चहकने लगते थे। प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने स्वयं देखा था उनकी उस एकान्त साधना को भी एवं उस बचकाने स्वभाव को जिसके द्वारा वह विभिन्न प्रकार के अभिनय करके कभी नेत्र बंद करके कभी खोल कर मुन्नी को हँसाते रहते थे। चाय हम सभी की एक साथ होती थी। हम सभी चाय पीते थे तथा 'मुन्नी' के लिए वह दूध अवश्य मंगवाते थे। स्वयं चाय की चुस्कियां लेते जाते और साथ ही मुन्नी को दूध पिलाते जाते। एक दिन मुन्नी ने चाय पीने की हठ की। मुझे उस दिन का उनका मुन्नी को बहलाना स्मरण है। उन्होंने दो ही मिनट में कितने ही प्रकार के अभिनय कर डाले कितने ही छोटे छोटे चुटकुले सुना डाले किन्तु मुन्नी दूध पीने को राजी न हुई। अन्त में उन्होंने उससे बड़े स्नेह के साथ कहा 'मुन्नी। जो चाय पीते हैं उनका रंग कैसा होता है ?

भोली बालिका क्रोध भूल कर तुरन्त ही बोल उठी थी "काला"

'तो मेरा मुन्ना तो गोरा है वह चाय नहीं पीता दूध पीता है।" इतना कहकर उन्होंने दूध की प्लेट झट बच्ची के होठों पर रख दी थी। बच्ची कुछ देर तक हम लोगों की ओर देखती रही फिर आँख बन्द कर उसने चुपके से दूध पी लिया था। इस समय भी दूध पिलाते समय आचार्य चतुरसेन जी का अभिनय चल रहा था। ज्योंही मुन्नी दूध पीना अस्वीकार करती झट दूध की प्लेट उसके होंठ पर रखकर स्वयं आँख बन्द कर कहते 'हमने आँख बन्द कर ली अब मुन्नी का दूध चाकर मोटा बन्दर पी जाएगा" उनका यह वाक्य सुनते ही मुन्नी चुपचाप दूध पी जाती थी। बड़े प्रसन्न होते थे वह उस समय।

केवल मुन्नी को ही नहीं घर पर हम सभी को वह हंसाते रहते थे। प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त श्री जैनेन्द्र एवं श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से मिलकर संध्या समय लौटा तो देखा आचार्य चतुरसेन जी हंसते-हंसते

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६० पृ २ एवं ४१।

लोट-पोट हो रहे हैं। माता जी (आचार्य पत्नी) की भी वही दशा थी। मैं कुछ समझ न सका। उसे देखते ही उन्होंने हंसते हंसते ही प्रश्न किया "कहो! सब प्रांतों के साहित्यकारों से मिल आए?" उसने अभी सिर ही हिला पाया था कि उन्होंने पुनः कहा तुम उधर महान् साहित्यकारों से मिलता बढ़ा रहे थे और इधर मैं किसी दूसरे लोक की यात्रा कर रहा था। वह अब भी हंस रहे थे।

"मैं समझा नहीं" मैंने (प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने) उनका मुंह ताकते हुए कहा था। उन्होंने "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" का एक अंक फेंकते हुए कहा 'इस कहानी को तुम पढ़कर देखो तुम्हें भी वही आनन्द आएगा।'

मैंने देखा वह बंगला हास्य लेखक श्री परशुराम की प्रसिद्ध कहानी थी "बागत्य हार"। मैंने उसकी एक ही दो पंक्तियां पढ़ी थीं कि इन्होंने स्वयं ही वह कहानी सुनाना आरम्भ कर दिया। एक तो कहानी वैसे ही हास्य की उस पर उनके सुनाने का ढंग इतना रोचक था कि मैं (प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक) कहानी सुनते ही लोट-पोट हो गया। उस दिन हम सभी को वे रात्रि ग्यारह बजे तक चुटकुले सुना-सुना कर हंसाते रहे थे। "मैं समझ नहीं पा रहा था कि क्या यह वही व्यक्ति जैसे हृदय से बच्चों जैसी किलकारियां मार-मार कर बात कर रहा है जो चौदह-चौदह घंटे तक एकान्त साधक की भांति बैठा साहित्य साधना किया करता है।"

आचार्य चतुरसेन जी के पारिवारिक जीवन की कुछ झांकियां उनके अनुज श्री चन्द्रसेन जी ने भी दिखलाई हैं। जिन्हें पढ़कर उनके अपूर्व वात्सल्य एवं विशाल हृदय का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है। उनकी उदारता एवं सरल हृदयता के विषय में श्री चन्द्रसेन जी ने लिखा है।

'समय बीतता गया मेरी बड़ी सन्तान (पुत्री) बढ़कर युवा हुई। उससे छोटे दो पुत्र प्रकाश और सुधीर स्कूल से निकल कर कालिज में पढ़ने योग्य हुए। वह इन तीनों को देख-रेख कर फूले न समाते थे। प्रैक्टिस त्यागने के बाद लेखनी की आय ने कभी-कभी तंगदस्ती के दिन भी दिखाए। परन्तु उन्होंने जिस तरह प्यार दुलार और निगरानी से मुझे पाला-पोसा बड़ा किया और पढ़ाया उसी भावना से उसी प्रकार मेरी इन तीनों सन्तानों को भी पाल-पोस कर बड़ा किया और शिक्षित किया। कभी-कभी कई दिनों के बाद किसी लेख के पारिश्रमिक के २५-३० रुपये मनीआर्डर से आए, स्कूल से आकर सुधीर या प्रकाश ने प्रणाम से कह दिया 'ताऊजी, कल मास्टर जी ने फीस मंगाई है।" बस लीजिए—वह

मनीआर्डर बच्चों के हाथों में गया और उन्होंने जो कई दिनों से सोच रक्खा था कि कहीं से रुपए आएं तो दो चार दिन मक्खन और फल खाऊँ, घुटनों के दर्द के इन्जेक्शन खरीदूं पाजामा फट गया है तो दो नए सिलवाऊँ सो सब प्रोग्राम रह गए और सुधीर प्रकाश की फीस दे दी गई।

मैं देखकर तड़प जाता था और दबे स्वर में भाभी जी से कहता था आपने क्यों रुपए देने दिये। फीस अभी २४ दिन और रुक जाती।

पर वह हंसतीं। कहतीं 'तुम्हें साहस हो तो उन्हीं से कहो'।

वास्तव में मैंने जीवन भर कभी उनसे विरोध प्रकट नहीं किया। जैसा मैं पहले दिन उन्हें देखकर माता के पीछे छिप गया था—वैसे ही भाव और विनय मेरे स्वभाव में उनकी मृत्यु-घड़ी आने तक अक्षुण्ण बनी रही। मेरे बच्चे कभी कभी जोर से दाऊ जी से कोई बात कहते थे तो मैं पीछे उन्हें डाँटता था कि इतनी जोर से बोलते हो पर बच्चे निर्द्वन्द्व थे। उन्हें मेरा पूज्य पूजक भाव न था।[1]

उनकी कोमलतम भावनाओं का परिचय देते हुए चन्द्रसेन जी ने आगे लिखा है 'बच्चों के प्रति उनके मन में असीम प्रेम था। वह बहुत चाहते थे कि भगवान उन्हें पुत्र-पुत्रियों से आप्यायित करे। परन्तु उनकी यह इच्छा अन्तिम दशाब्दी में पूरी हुई। हम चारों भाइयों में सबसे प्रथम सन्तान हुई भद्रसेन जी के (पुत्री हुई) शुभ्रज्योति की भाँति उज्ज्वल और सुन्दर उसे देख कर आचार्य चतुरसेन जी ने उसका नाम रखा "शरद कुमारी"। वह उसे गोद में लेकर खिलाने की अत्यधिक आन्तरिक अभिलाषा रखते थे परन्तु बालिका की माता इतनी उदार न थी वह अपनी बच्ची को "नजर लग जाने' के भय से किसी को नहीं खिलाने देती थी। ढाई वर्ष की आयु पूरी करके केवल चार घंटे बीमार रहकर एक दिन अचानक 'शरदकुमारी" चल बसी। उसे निष्पन्द देखकर आचार्य जी ने भर्राई आवाज में भद्रसेन से कहा "अब इसे मेरी गोद में दो।"

वह उसे ९१ घंटे अपनी गोद में लिटाये बैठे रहे। चुप-चाप गुम-सुम। सब रो रहे थे परन्तु आचार्य जी उसके भोले सुन्दर मुख पर अपलक दृष्टि लटाए हुए थे। यमुना तट पर उसे विदाई देकर सब परिजन लौट आए। अपने-अपने कामों में लग। परन्तु आचार्य जी अपनी मेज पर बैठे चुपचाप "शरदकुमारी' से

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान ६ मार्च १९६० पृ १०।

ार्जे कर रहे थे। होंठ फड़कते थे और आँसू गालों पर ढरक रहे थे। वह सारी रात बैठे रहे और उस बालिका के ऊपर "ओ प्यारे" एक लम्बी कविता लिखी। उसे बहुत समय तक वह छिपा कर रखते रहे और रात को एकान्त होने पर पढ़ते। एक डेढ़ वर्ष के बाद वह कविता हम लोग पढ़ पाये।

उनका मन भ्रातृप्रेम से पूर्ण था। वह पितृतुल्य सब अपराधों-भूलों को क्षमा कर अटूट स्नेह रखते थे। सन् ३१ में उन्होंने आरोग्य शास्त्र लिखा और उसे स्वयं प्रकाशित करने का प्रबन्ध जुटाया कि भद्रसेन पाँच दिन भयंकर ज्वर ग्रस्त रहकर चल बसे। भद्रसेन की मृत्यु के आघात का आभास आरोग्य शास्त्र में लिखी उनकी भूमिका से लगता है। उसमें लिखा है 'मेरी अनगिनत विपत्तियों में सर्वोपरि विपत्ति मेरे पवित्र जीवी और परम आज्ञाकारी पुत्राधिक भाई भद्रसेन का अविकसित यौवनकाल में ही अनायास निधन है, जिसने मेरे साहस और जीवन की मधुरता की नस-नस तोड़ दी। मुझे भय है कि मेरी मानसिक विकलता और अस्थिरता से ग्रंथ में बहुत-सी त्रुटियाँ रह गई होंगी। जिसके लिये मैं अपनी उपयुक्त करुण व्यथा की तरफ विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करके दया और क्षमा की आशा करता हूँ।[1]

इस प्रकार अनेक कठिनाइयों और न्यूनताओं के रहते हुए भी आचार्य चतुरसेन जी का पारिवारिक जीवन प्रसन्नता और उल्लास से भरा हुआ था। भाई और बच्चों के प्रति उनकी अजस्र स्नेह धारा उन सबको आचार्य के प्रति अगाध श्रद्धा में मग्न किए रहती थी। उनकी गहरी भावुकता और विनोदप्रियता का सहज रूप उनके पारिवारिक जीवन में ही प्रस्फुटित होता था।

आचार्य जी मित्रों एवं समाज के बीच

आचार्य चतुरसेन जी अपने मित्रों से भी खुलकर मिलते थे। यद्यपि उनके मित्रों की संख्या बहुत कम थी। वह सत्य कहने वाले मुँहफट व्यक्ति थे इस कारण से कम ही लोगों को अपना मित्र बना सके थे। अपनी 'आत्मकथा' का प्रारम्भ करते हुए उन्होंने स्वयं यह बात स्वीकार की है 'मैं एक आहत किन्तु अपराजित योद्धा हूँ। अपने चिरजीवन में मैंने सब कुछ खोया है पाया कुछ नहीं। मैंने एक मित्र जीवन में उत्पन्न नहीं किया। आज जीवन की संध्या में मैं अपने को सर्वथा एकाकी असहाय और निस्प्रेम अनुभव करता हूँ। मेरी दशा उस मुसाफिर के समान है जो दिन भर निरन्तर मंजिल काटता रहा

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ मार्च, १९६०, पृ १०।

हो और अब निर्जन राह ही में सूर्य अस्त हो गया हो वह बेसरोसामान थक कर राह के एक वृक्ष के सहारे रात काटने पड़ गया हो—और मंजिलों दूर अपने घर में बिछी सुखद सुभ्र फेन रूपी शय्या की सन्ध्या की भाँति स्निग्धा पत्नी की और फूल के समान सुन्दर अपने पुत्र की केवल कल्पना मात्र कर रहा हो।[1]

उन्होंने एक बार प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से स्वयं कहा था पता नहीं क्यों मेरी किसी से नहीं निपट पाती। श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' से भी इस विषय की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था 'जाने क्या बात है जिससे मेल होता है उससे लड़ाई हो जाती है पर जाने क्या बात है कि तुमसे कभी लड़ाई नहीं होती।[2]

वास्तव में उनके स्वभाव की एक प्रमुख वृत्ति अहंकार थी। अपने आत्म सम्मान को आहत होते वह कभी भी देख न पाते थे। श्री 'प्रभाकर' जी ने उनके स्वभाव की चर्चा करते हुए लिखा है 'अपने लड़ाकू पने से वह खुश नहीं थे पर मजबूर थे। उनके स्वभाव की एक प्रमुख वृत्ति अहंकार थी। वह महत्वाकांक्षी थे समाज में महत्व पाने के दावेदार थे हकदार थे पर समाज ने उनके दावे को स्वीकार नहीं किया उनका हक उन्हें नहीं दिया। यही नहीं उनके मित्रों ने उनके अपनों ने उनके अहंकार पर ढेले फेंके उनके हक की उपेक्षा की और इस तरह एक उद्बुद्ध मानव को क्रुद्ध मानव बना दिया।[3]

समाज ने उनकी सदैव उपेक्षा की इसी कारण से उन्होंने भी कभी समाज की चिन्ता न की। उन्होंने समाज से आदर की आशा की किन्तु मिला अनादर, उन्होंने मित्रों से निश्छल प्रेम चाहा किन्तु स्वार्थी मित्रों ने उन्हें सदैव प्रवंचित ही किया। उनके उपन्यास 'धर्मपुत्र' की भूमिका को पढ़ने से उनके मस्तिष्क की यह निर्भीकता स्पष्ट हो जाती है। उर्दू के कहानीकार श्री कृष्ण चन्द्र को एक प्रकाशक ने पार्टी दी थी। उसमें आचार्य चतुरसेन जी भी निमंत्रित थे। आचार्य जी उस पार्टी में सम्मिलित हुए। वहाँ पर उस पार्टी को देखकर उनके मस्तिष्क में जो भाव उठे उन सभी को आचार्य चतुरसेन जी ने

---

१ चतुरसेन—त्रैमासिक अंक १ पृ ८५।
२ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६०।
३ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, पृ ५।

इस भूमिका में लिख डाला है। वे लिखते हैं 'इनाम बन्दर—को देखा—निपट बालक सा लगता है। मैं सोच रहा था इसे भला क्या पार्टी दी गई? ऐसी शानदार पार्टी तो मुझे मिलनी चाहिए थी। उसके बाद अकस्मात मेरे मन में एक विचार पैदा हुआ—कि क्या कारण है अब तक मुझे किसी ने ऐसी शानदार पार्टी नहीं दी। चालीस साल कलम घिसी पैंसठ की दहलीज पर पहुँचा ग्रन्थों की संख्या एक सौ पच्चीस को पार कर गई, फिर क्या लोग अन्धे हैं बहरे हैं मूर्ख हैं या साहित्य का समझते नहीं हैं। क्या बात है वास्तव में पार्टी यदि किसी को मिलनी चाहिए थी तो मुझी को। मैंने एक बार चौंक और सिर उठा कर चारों ओर देखा—तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उस जमघट में मुझसे बड़ा साहित्यकार तो कोई नजर नहीं आ रहा है। फिर भी पार्टी मुझे नहीं इनाम बन्दर को ही दी गई थी। इसमें तनिक भी शुबहा न था। —— — — — बहुत गुस्सा आ रहा था सब लोगों पर। क्यों नहीं लोग मुझे ऐसी पार्टियाँ देते। परन्तु कहूँ किससे? मन ही मन सोच रहा था कि मन ने एक धक्का दिया कहा—अपनी इतनी पूजा करता है तो दुनियाँ से क्या? तू खुद अपनी ओर देख अपना साहित्य रचे जा अपनी कलम सम्पदा से आप ही सम्पन्न रह। मगन रह। पार्टी वार्टी को गोली मार, और उठा अपनी कलम। अभी उठा। इस वक्त दिल चुटीला है—ऐसी ही चोट खाकर साहित्यिक वेदनाएँ मूर्त होती हैं। खींच तो एक दर्द की तस्वीर।'[1]

स्पष्ट ही इन पंक्तियों में एक साहित्यकार का आहत आत्म-सम्मान तड़पता हुआ दीख पड़ता है। उनको इस बात का दुःख था कि 'आज तक किसी साहित्यकार, साहित्य संस्था या साहित्य सभा ने कभी मेरे पास आकर नहीं कहा था कि तुम्हें हम सम्मानित करें। तेरा जन्म महोत्सव मनाएँ, तेरी कुछ धूमधाम करें, पब्लिसिटी करें। न कभी किसी सम्मेलन का सभापति ही मुझे बनाया गया। इन्तजारी बहुत की। सभापति बनाना तो दूर—साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में कभी मुझे निमन्त्रण नहीं मिला। पिछली बार मेरठ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था—वहाँ मैं बिन बुलाये ही चला गया—इसलिए कि—पास तो है ही—बहुत से साहित्य बन्धुओं के दर्श-स्पर्श हो जायेंगे। देखा जाने पर किसी ने भीतर मंच पर चल क-

---

१ धर्मपुत्र भूमिका 'दर्द की तस्वीर'।

बैठने तक को नहीं कहा । दो दिन बाहर ही बाहर घूम कर चला आया ...... [१]

वह सम्मान पाने के अधिकारी थे किन्तु कहीं भी सम्मान न मिला । यही कारण था कि उनका आहत आत्म-सम्मान किंचित् मात्र झटका खाते ही क्रुद्ध हो उठता था यही कारण था कि वह समाज में अन्त समय तक अपना एक भी मित्र न बना सके थे । श्री 'प्रभाकर' जी ने उनके स्वभाव की आलोचना करते हुए लिखा है 'उनकी यह असफलता थी कि वह उद्बुद्ध होकर भी क्रुद्ध हुए, पर इस असफलता की जड़ में समाज की गन्दगी थी । इस गन्दगी का सबसे गन्दा प्रदर्शन यह कि उन्हें क्रुद्ध बनाने वाला समाज सदा यह नारा लगाता रहा कि वह क्रुद्ध न होते तो मैं उनकी पूजा करता । 'मैंने उनकी इस असफलता को कभी महत्व नहीं दिया और सदा पूरी ईमानदारी के साथ उसे एक बहुत छोटी क्षुद्र और नगण्य असफलता मानता रहा । क्यों ? क्या उनकी मित्रता के कारण? नहीं उनकी एक महान् सफलता के कारण कि समाज द्वारा क्रुद्ध किये जाने पर भी वह उद्बुद्ध रहे और अपने जीवन के अंतिम दिन तक उसी समाज को गुप्त स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक भोजन परोसते रहे । उनको छोड़िए, उनके इस मानसिक भोजन को भी समाज ने कभी उचित महत्व नहीं दिया पर महत्वहीनता के इस दमघोटू वातावरण में भी उन्होंने अपने भोजन का स्तर नहीं गिराया अपना खून पसीना एककर, उसे ऊँचे से ऊँचा उठाया इसी में अपने आप को खपा दिया । यह क्या उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की कोई साधारण सफलता है ?[२]

उनके कतिपय मित्रों के संपर्कों के संस्मरण बड़े रोचक हैं और वे मित्रों के व्यवहार और उनके द्वारा आचार्य चतुरसेन जी के मन पर प्रगट हुई प्रतिक्रिया के द्योतक हैं । अतः उनमें से कुछ को देना यहाँ प्रासंगिक है ।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी उत्तर प्रदेश के गवर्नर थे और नैनीताल के राजभवन में गर्मी बिता रहे थे । समय की बात श्री चतुरसेन भी अपने परिवार सहित नैनीताल जा पहुँचे । मुंशी जी एक युग पहले सोमनाथ पर उपन्यास लिख चुके थे और शास्त्री का 'सोमनाथ' इन्हीं दिनों छपा था । इस तरह दोनों समानधर्मा और समानकर्मा व्यक्ति थे । शास्त्री जी ने मुंशी जी को

---

१ धर्मपुत्र भूमिका 'पर्दे की तस्वीर' ।

२ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६० पृ ५ ।

पत्र लिखा कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ पर शर्त यह कि गवर्नर मुंशी हमारी बातचीत के बीच में न आयें।

मुंशी जी बहुत ऊँचे वर्ग के सामाजिक मुखम्न व्यक्ति हैं उन्होंने शास्त्री जी को मिलने की तारीख और समय लिख दिया। पधारने की प्रार्थना भी की। नैनीताल पहाड़ी स्थान है। वहाँ ताँगा मोटर, दिल्ली की तरह सुलभ नहीं। शास्त्री जी ने चार आदमियों वाली दो गाड़ियाँ किराये पर लीं और अपनी पत्नी सहित वह समय पर राजभवन पहुँचे।

राजभवनों के नियम पुराने समय से बँधे सधे चले आ रहे हैं। द्वारपाल ने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह डांडी प्रवेश द्वार पर छोड़ दें, क्योंकि राजभवन में डांडी जाने का नियम नहीं है।

शास्त्री जी ने द्वारपाल की ओर नहीं देखा और डांडी वालों से डांटकर कहा "क्यों रे, हमने तुमसे कन्हैयालाल मुंशी के घर चलने को कहा था पर तुम राजभवन आ धमके ? बड़े मूर्ख हो।"

द्वारपाल ने कहा 'श्रीमन् महामहिम मुंशी यहीं रहते हैं। डांडी वाले ठीक स्थान पर आपको लाये हैं।

फिर भी गांठ न खुली तो द्वारपाल ने प्रधान द्वारपाल को फोन किया। वह आये पर शास्त्री जी की दलील थी नियम गवर्नर के होंगे, पर हमें तो गवर्नर मुंशी से मिलना ही नहीं। और तब उन्होंने अपने डांडीवाले से कहा 'डोलियां नीचे रख दो जितने समय के लिए हमें मुंशी जी ने बुलाया है हम उतने समय यहीं द्वार पर बैठे रहेंगे और फिर लौट जायेंगे। 'प्रधान द्वारपाल घबराया। उसने निजी सचिव को फोन किया और उसने महामहिम मुंशी को सब हाल सुनाया। मुंशी जी ने कहा 'द्वार खोल दो और उन्हें डांडी पर ही आने दो। द्वार खुला और शास्त्री जी डांडी पर बैठे हुए राजभवन के बरामदे तक पहुँचे जहाँ स्वागत के लिए खड़े मुंशी जी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।'[1]

अपना श्रेष्ठ उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' शास्त्री जी ने प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल को समर्पित किया। यह समर्पण क्या था ठीक-ठीक गाल करने की हिम्मत थी। इस समर्पण का आरम्भ होता है 'मैं ब्राह्मण। इ

---

१ एक कटु या मधुर कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १. अप्रैल १९६० पृ २।

बैठने तक को नहीं कहा। दो दिन बाहर ही बाहर घूम कर चला आया ....'[1]

वह सम्मान पाने के अधिकारी थे किन्तु कहीं भी सम्मान न मिला। यही कारण था कि उनका आहत आत्म-सम्मान किंचित् मात्र झटका खाते ही क्षुब्ध हो उठता था यही कारण था कि वह समाज में अन्त समय तक अपना एक भी मित्र न बना सके थे। श्री 'प्रभाकर' जी ने उनके स्वभाव की आलोचना करते हुए लिखा है 'उनकी यह असफलता थी कि वह उद्बुद्ध होकर भी क्षुब्ध हुए, पर इस असफलता की जड़ में समाज की गन्दगी थी। इस गन्दगी का सबसे अच्छा प्रदर्शन यह कि उन्हें क्षुब्ध बनाने वाला समाज सदा यह नारा लगाता रहा कि वह क्षुब्ध न होते तो मैं उनकी पूजा करता। 'मैंने उनकी इस असफलता को कभी महत्व नहीं दिया और सदा पूरी ईमानदारी के साथ उसे एक बहुत छोटी क्षुद्र और नगण्य असफलता मानता रहा। क्यों? क्या उनकी मित्रता के कारण? नहीं उनकी एक महान् सफलता के कारण कि समाज द्वारा क्षुब्ध किये जाने पर भी वह उद्बुद्ध रहे और अपने जीवन के अंतिम दिन तक उसी समाज को पुष्ट स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक भोजन परोसते रहे। उनको छोड़िए उनके इस मानसिक भोजन को भी समाज ने कभी उचित महत्व नहीं दिया पर महत्वहीनता के इस दमघोटू वातावरण में भी उन्होंने अपने भोजन का स्तर नहीं गिराया अपना खून पसीना एककर, उसे ऊँचे से ऊँचा उठाया इसी में अपने आप को खपा दिया। यह क्या उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की कोई साधारण सफलता है?'[2]

इनके कतिपय मित्रों के संपर्कों के संस्मरण बड़े रोचक हैं और वे मित्रों के व्यवहार और उनके द्वारा आचार्य चतुरसेन जी के मन पर प्रगट हुई प्रतिक्रिया के द्योतक हैं। अतः उनमें से कुछ को देना-यहाँ प्रासंगिक है।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी उत्तर प्रदेश के गवर्नर थे और नैनीताल के राजभवन में गर्मी बिता रहे थे। समय की बात थी चतुरसेन भी अपने परिवार सहित नैनीताल जा पहुँचे। मुंशी जी एक युग पहले सोमनाथ पर उपन्यास लिख चुके थे और शास्त्री का 'सोमनाथ' इन्हीं दिनों छपा था। इस तरह दोनों समानधर्मा और समानकर्मा व्यक्ति थे। शास्त्री जी ने मुंशी जी को

---

१ धर्मपुत्र भूमिका 'घर की तस्वीर'।
२ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६०, पृ ५।

पत्र लिखा कि मैं आपसे मिलना चाहता हूं पर शर्त यह कि गवर्नर मुंशी हमारी बातचीत के बीच में न आयें।

मुंशी जी बहुत ऊँचे वर्ग के सामाजिक सुसभ्य व्यक्ति हैं उन्होंने शास्त्री जी को मिलने की तारीख और समय लिख दिया। पधारने की प्रार्थना भी की। नैनीताल पहाड़ी स्थान है। वहाँ तांगा मोटर, बिल्ली की तरह सुलभ नहीं। शास्त्री जी ने चार आदमियों वाली दो गाड़ियाँ किराये पर कीं और अपनी पत्नी सहित यह समय पर राजभवन पहुँचे।

राजभवनों के नियम पुराने समय से बँधे चले आ रहे हैं। द्वारपाल ने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह डांडी प्रवेश द्वार पर छोड़ दें क्योंकि राजभवन में डांडी जाने का नियम नहीं है।

शास्त्री जी ने द्वारपाल की ओर नहीं देखा और डांडी वालों से डांटकर कहा "क्यों रे हमने तुमसे कन्हैयालाल मुंशी के घर चलने को कहा था पर तुम राजभवन आ धमके ? बड़े मूर्ख हो।

द्वारपाल ने कहा 'श्रीमन् महामहिम मुंशी यहीं रहते हैं। डांडी वाले ठीक स्थान पर आपको लाये हैं।'

फिर भी गांठ न खुली तो द्वारपाल ने प्रधान द्वारपाल को फोन किया। वह आये, पर शास्त्री जी की दलील थी 'नियम गवर्नर के होंगे, पर हमें तो गवर्नर मुंशी से मिलना ही नहीं। और तब उन्होंने अपने डांडीवाले से कहा 'डांडियां नीचे रख दो जितने समय के लिए हमें मुंशी जी ने बुलाया है, हम उतने समय यहीं द्वार पर बैठे रहेंगे और फिर लौट जायेंगे। 'प्रधान द्वारपाल घबराया। उसने निजी सचिव को फोन किया और उसने महामहिम मुंशी को सब हाल सुनाया। मुंशी जी ने कहा 'द्वार खोल दो और उन्हें डांडी पर ही आने दो। द्वार खुला और शास्त्री जी डांडी पर बैठे हुए राजभवन के बरामदे तक पहुँचे जहाँ स्वागत के लिए खड़े मुंशी जी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।'[1]

अपना श्रेष्ठ उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' शास्त्री जी ने प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल को समर्पित किया। यह समर्पण क्या था ठीक-ठीक शासन करने की हिदायत थी। इस समर्पण का आरम्भ होता है 'हे ब्राह्मण। हर

---

१ एक कटु या अमृत, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १ अप्रैल, १९६० पृ २।

व्यंग्यात्मक संबोधन थे। स्वाभाविक था कि नेहरू जी इसे पसन्द न करते थे। फिर इस तरह के समर्पण पूछकर करने की प्रथा है और शास्त्री जी ने न पूछा था न स्वीकृति ली थी।

प्रधान मंत्री के निजी सचिव ने शास्त्री जी को पत्र लिखा 'आपने बिना पूछे प्रधान मंत्री को यह समर्पण क्यों किया ?

शास्त्री जी ने उत्तर दिया 'समर्पण का अर्थ है देना तो मैंने प्रधान मंत्री को अपने कई वर्षों के परिश्रम का फल दिया है उनसे कुछ मांगा नहीं इस तरह मैं दानी हूँ भिखारी नहीं कि पूछता फिरूँ कि कुछ लेना है क्या ? फिर भी नेहरू जी को मेरा समर्पण पसन्द न हो तो उनसे कहना कि पुस्तक का वह पन्ना फाड़ दें।[1]

पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष डा. सत्यपाल ने शास्त्री जी को बहुत आग्रह से बुलाया। वह जिस गाड़ी से गये उसी से सम्मेलन के उद्घाटनकर्ता श्री गणेश वासुदेव मावलंकर (अध्यक्ष लोकसभा) भी गए। स्टेशन पर बहुत धूमधाम से स्वागत हुआ पर इस स्वागत में मावलंकर जी पर ही पुष्प वर्षा होती रही। शास्त्री जी प्लेट फार्म पर अपने सामान के पास खड़े रहे उनके पास कोई नहीं आया। बाद में एक स्वयं सेवक रिक्शा में बैठाकर उन्हें निवास स्थान पर छोड़ आया। शाम को वह उत्सव में गए तो वहां भी वही बात कि मावलंकर जी का स्वागत राजकीय ढंग से और शास्त्री जी मंच के एक कोने पर। उद्घाटन भाषण और स्वागत भाषण के बाद उल्लासभरे वातावरण में शास्त्री जी से मंगल वचन कहने का अनुरोध किया गया तो शास्त्री जी माइक पर आये और प्रसन्नता भरे स्वर में बोले 'मावलंकर जी की इस बारात में आकर बहुत प्रसन्नता हुई। दूल्हा तो सुन्दर है ही बारात भी खूब सजी है और प्रबन्ध भी शानदार है पर साहित्य रूपी दुल्हिन इस धूमधाम में ऐसी दब गई है कि छुई-मुई सी घूंघट में लिपटी कहीं बैठी है कहीं दिखाई नहीं देती। 'सुनकर दर्शकों श्रोताओं ने तालियों से पंडाल गुंजा दिया पर मंच पर तो पानी ही पड़ गया।[2]

---

१ एक कड़ुआ अमृत कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' साप्ताहिक हिन्दुस्तान' १७ अप्रैल १९६० पृ ५।
२ एक कड़ुआ अमृत कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६०, पृ ६।

हिन्दू विश्वविद्यालय की एक परिषद् में भाषण देने के लिए उन्हें (आचार्य चतुरसेन जी को) बुलाया गया। बुलाने वालों में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी भी थे। शास्त्री जी ने अपने भाषण में कहा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं और एक पुस्तक का उन्होंने नाम लिया शायद 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के लेखक भी श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। क्या ये दोनों एक ही हैं? यदि एक ही हैं तो मैं कहता हूँ कि इनमें से एक ही पुस्तक उनकी लिखी हुई है या तो पहली या दूसरी दोनों पुस्तकें एक लेखक की नहीं हैं। मैं चाहता हूँ आप इस पर खोज करें।

बड़ी हड़बड़ी मची सारा वातावरण अस्तव्यस्त हो गया और उत्सव के बाद की टी-पार्टी उखड़ी-उखड़ी रही।[1]

इसके अतिरिक्त उनकी पुस्तक 'वातायन' में ऐसे कितने ही संस्मरण प्राप्त हैं जहाँ इनका उद्बुद्ध मानव क्रुद्ध हुआ दीखता है। 'मुबलिग पाँच रुपए'[2] श्री जैनेन्द्र का विवाह'[3] 'ठंडी हवाएँ'[4] आदि उनके ऐसे ही संस्मरण हैं।

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने आचार्य चतुरसेन जी के इस प्रकार के संस्मरणों के आधार पर उनके स्वभाव का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

१९५९ की गर्मियों के अन्त में वह (आचार्य चतुरसेन जी) हरद्वार से लौटते हुए कुछ घंटे मेरे पास टिके तो अन्तिम (हजारीप्रसाद द्विवेदी) वाला संस्मरण उन्होंने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा अजीब सा लगा और मन में गहरी अरुचि का भाव जगा। वह साफ बात कहते थे तो साफ बात सुन भी सकते थे मैंने कहा 'उन्होंने आपको अपने उत्सव की शोभा बढ़ाने के लिए बुलाया था पर आपने उनकी शोभा पर तारकोल छिड़क दिया। यह क्या कोई अच्छी बात है?

शास्त्री जी ने पूरे सन्तुलन से उत्तर दिया 'ऐसी बातें अच्छी थोड़े ही हुआ करती हैं।

---

१ एक कड़ुवा अमृत, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, पृ ९।

२ वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ ११९ १२४।

३ वातायन, आचार्य चतुरसेन पृ १६१ १६६।

४ वातायन, आचार्य चतुरसेन पृ १७१ १७५।

उनके सन्तुष्ट और उत्तर से मुझे बढ़ावा मिला और वर्षों की जिज्ञासा एक प्रश्न में भरकर मैंने उनके सामने रख दी 'नैनीताल गए तो आप मुंशी जी से भिड़ गए, अमृतसर गए तो मायलंकर जी से जा टकराए और काशी गए तो द्विवेदी जी को उधेड़ बैठे। जब आप मानते हैं कि ये बातें अच्छी नहीं हैं तब आप यह सब करते क्यों हैं ?

जरा गम्भीर रहे तब मुस्कुराये कुछ सोचते रहे फिर बोले 'यह रहस्य जहाँ तक मुझे याद है आज तक मैंने किसी को भी नहीं बताया। शास्त्रों की भाषा में यह 'गुह्यात गुह्यतरे परम्' है पर तुम्हें बताता हूं। गद्य लेखक के जीवन का यह रहस्य पद्यमय है और बाले मुझसे पहले ही इसे कौन लिखकर रख गया है। और तब उन्होंने यह शेर पढ़ा—

और आए, घर में घुस गए और लूट ले गए,
बंदा कर सकता था क्या आंख सेंकने के सिवा।
सुनकर मेरा मन गम्भीर हो गया पूछ
बैठा "तो यह सब क्या मजबूरी का आंसना है ?" उन
का उत्तर एकदम साफ था "और क्या ?
मैं एक दम किनारे पहुंच गया "तो फिर
यह तो गाली देना है।।
उनका उत्तर एक दम साफ था 'और क्या ?

सुनकर सोचने लगा "शास्त्री जी अपने साहित्य में ही नहीं अपने जीवन में भी स्पष्ट हैं। वह स्वप्न दृष्टा ही नहीं स्पष्ट भी हैं। यहां तक कि अपनी खामियों को खूबियों का जामा पहनाना उन्हें पसन्द नहीं। समाज ने उनके साथ अन्याय किया है तो वह उसे गाली देते हैं उनके अहंकार को नम्रता का वर्ण न देकर, कोई अपने अहंकार से बढ़ियाए, तो वह बर्बर हो उठते हैं।

इसी बातचीत में उनकी नई पुस्तकों की चर्चा चल पड़ी तो मैंने पूछा 'आपको रायल्टी के रुपये मिल जाते हैं ?"

प्रश्न साधारण था पर उनके उत्तर ने उसे असाधारण बना दिया 'बहुत दिन लुटने के बाद मैंने प्रकाशकों पर अपने कुछ आदमी होने की धौंस जमा दी है इसलिए कुछ न कुछ मिल ही जाता है। 'यही बात कि उनका मानस जब युद्ध था हमने उसे क्रुद्ध बना दिया था और अपने काम की कुरूपता को छिपाने

के लिए हम जोर जोर से चिल्लाते रहे—यह मानव क्रुद्ध है। सच यह कि वह कड़ुवा अमृत थे।"[1]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी में आत्म-सम्मान की मात्रा आवश्यकता से अधिक थी। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि उनका आहत आत्म सम्मान किंचित् मात्र झटका लगते ही क्रुद्ध हो उठता था। उपर्युक्त समस्त संस्मरण उनके क्रुद्ध आत्म-सम्मान को ही प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी की एक विशेषता और थी। यदि उनके आहत आत्म-सम्मान पर आघात न किया जाय तो उनका हृदय सर्वैव नवनीत के समान मृदु एवं कोमल रहता था। अपने मित्रों के साथ वे एक सच्चे मित्र थे। वे स्वभाव से अहम्मन्य नहीं थे। जिन स्थानों पर उनके अहं की तुष्टि हुई, जिन मित्रों ने उनके आत्म-सम्मान का ध्यान रखा उन स्थानों पर उन्होंने कैसा व्यवहार किया, इसको यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा। इस प्रकार उनके मित्रों के कुछ संस्मरण यहाँ हम प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्री हरवंशराय 'बच्चन' का आचार्य चतुरसेन जी से घनिष्ठ परिचय था। 'बच्चन' जी उन्हें अपना अग्रज और आचार्य चतुरसेन जी उन्हें अपने लघु भ्राता के समान मानते थे। यहाँ आचार्य जी से सम्बन्धित उनके जीवन का एक संस्मरण उद्धृत है—

"इसके बाद मैं शास्त्री जी को सन् १९३९ में किसी कवि सम्मेलन में मिला। १९३६ में मेरी पत्नी का देहावसान हो चुका था "मधुशाला" की मस्ती मुझे छोड़ चुकी थी 'निशा निमंत्रण' के बाद मैं 'एकांत संगीत' गीत लिख रहा था उन्हीं को प्रायः सुनाता भी था। एक अवसाद विषाद की छाया मुझे रहती थी। शास्त्री जी मुझे देखकर बोले "मधुशाला" और मधुशाला के लेखक की यह दशा। तुम्हें हो क्या गया है? मैंने उन्हें अपनी कथा व्यथा बताई। वह बोले "तुम अस्वस्थ हो इसी से तुमने जीवन का एक अस्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया है इसे छोड़ो मेरे पास आओ मैं तुम्हारा इलाज करूँगा। शरीर और मन कोई अलग सत्ताएँ नहीं हैं' शास्त्री जी ने मेरे प्रति जो आत्मीयता दिखलाई उससे मैं कृतार्थ हो गया।

शास्त्री जी को सचमुच मेरी चिन्ता थी। उन्होंने कई पत्र मुझे लिखे अंततोगत्वा सन् १९४० में मैं दिल्ली आया और दो-तीन दिन उन्हीं के साथ

---

१ एक कड़वा अमृत साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, पृ ९।

ज्ञानधाम शाहदरा में ठहरा। शास्त्री जी को अधिक निकट से देखने का अवसर मिला। उनको मैंने अथक परिश्रमी अदम्य उत्साही और अथाह कर्मठ के रूप में देखा। वह नियमित रूप से दो बजे रात को उठते और बारह बजे दिन तक काम करते फिर स्नानादि कर भोजन करते और थोड़ी देर आराम करते। शाम को उनके रोगी मित्र मिलने वाले आते और वह उन्हें दवा देते और उनसे बातें करते। वैद्यक से जो आमदनी उन्हें होती थी उससे वे असंतुष्ट थे वह चाहते थे कि वैद्यक छोड़कर अपना सारा ध्यान साहित्य सृजन की ओर लगाएँ, पर परिस्थितियाँ उन्हें मजबूर करती थीं कि वह पेशे से कुछ धन कमाते रहें। वह निराश नहीं थे और उसे सत्य करने की दिशा में लगे रहना चाहते थे उपलब्धि हो कम हो कुछ भी न हो।

मुझे उन्होंने अपनी हार्दिक संवेदना दी स्नेह दिया। मेरी विधिवत स्वास्थ्य परीक्षा की घंटों बैठकर बचपन से मेरी बीमारियों-बीमारियों का इतिहास पूछा। अंत में उन्होंने मुझे अपनी सलाह दी। "तुम्हें अभी बहुत दिन जीना है तुम घर परिवार बसा कर ही शांत और सुखी रह सकोगे तुम फिर से विवाह करलो। मैं बिल्कुल तुम्हारी जैसी मनःस्थिति से गुजर चुका हूँ। इसलिए तुम मेरे अनुभवों से लाभ उठाओ। फिर कुछ रुककर हँसकर बोले अगर तुम जाति-पाति का बंधन नहीं मानते तो तुम्हारे लिये एक सुघड़ कन्या भी मेरी दृष्टि में है ---- "

"मैं केवल इतने पर राजी हो सका कि यदि कोई लड़की अनिवार्य रूप से मेरे जीवन में आएगी तो मैं विवाह कर लूँगा। शास्त्री जी को बड़ा संतोष हुआ। मैं चलने लगा तो उन्होंने मुझे एक औषधि दी खानपान संयम नियम भी बताया। एक राजा के लिए उन्होंने एक रसायन तैयार किया था बोले तुम्हें इससे बड़ा लाभ होगा। मैंने पूछा दाम ? बोले दाम इसका कुछ नहीं पर कुछ मरीजों को दवा तब फायदा करती है जब वह जान लें कि दवा महँगी है, इसलिए कहता हूँ कि पूरी खुराक के लिए अगर हजार रुपये भी मांगे जावें तो इसका दाम कम है। तीन महीने की दवा खत्म हो गई तो उन्होंने तीन महीने की दवा पार्सल से अपने खर्च पर भिजवाई थी। मेरे स्वास्थ्य में अद्भुत परिवर्तन हुआ और शायद उसके कारण मेरे मन स्वास्थ्य में भी।

कभी सोचता हूँ शास्त्री जी से इतनी संवेदना "ममता" कृपा पाने का अधिकारी मैं किस नाते था ? केवल हिंदी लेखन क्षेत्र में उनका एक छोटा सा

सहधर्मी होने के नाते। वह अपना सच्चा नाता साहित्यकारों से ही मानते थे।[1]

"बच्चन" जी के उपर्युक्त संस्मरण से स्पष्ट होता है कि उनके जीवन के निर्माण में आचार्य चतुरसेन जी का बहुत बड़ा हाथ था। इसी प्रकार आचार्य जी से कितने ही साहित्यकारों और रोगियों को प्रेरणा प्रोत्साहन और सहायता प्राप्त हुई थी। उनके हृदय में कोमल भाव थे इस बात को स्पष्ट करने के लिए उनके जीवन से सम्बंधित एक और संस्मरण देना मैं उचित समझता हूँ। जैसा कि पिछले पृष्ठों में दिखलाया जा चुका है कि हाजी मुहम्मद से उनकी अत्यंत घनिष्ठता थी। दोनों मित्र व आत्मीयता थी किंतु मुसलमान होने के कारण आचार्य चतुरसेन जी अपने उस मित्र के यहाँ का जल भी न पीते थे। इसी प्रसंग से संबंधित आचार्य जी द्वारा लिखित प्रस्तुत संस्मरण यहाँ उल्लेखनीय है—

'एक दिन आकर देखा—किसी मित्र से मिलने जा रहे थे। कपड़े पहिनकर तैयार। देखा तो जोर से अट्टहास करके कहा—खूब आये चलो, एक जगह जाना है। एक खोजा महिला है, उनसे मिलने जाना है। साहित्य में रस लेती है। मौज रहेगी। तब तक भी मैं महिला मित्रों से मिलना बहुत संकोच की बात समझता था। पर इस मित्र का न साथ छोड़ सकता था न अनुरोध। वह एक सम्पन्न धनी विधवा खोजा युवती थी। बैठकस्सुफी की मुलाकात। परिचय देकर मेरा मित्र गुजराती में घुल मिल कर बातें करने लगा। बीच में दोनों मेरी खातिर हिंदी भी बोल लेते। कुछ देर बाद एक बालिका कोई दस ग्यारह बरस की, किंतु स्वप्न की परी के समान सुन्दर, एक ट्रे में तीन लैमोनेड लेकर धीर गति से आई। प्रथम सम्मान मुझ नये अतिथि को देने के लिए पहले वह मेरी ओर बढ़ी। मैं मन ही मन घबरा उठा। कैसे इस मुसलमान लड़की का छुआ पानी पियूँ? मैं 'ना' करने को ही था कि उसकी माता ने कहा गुजराती में "ना ना" वे नहीं पियेंगे तेरे हाथ का छुआ। और साथ ही मुझसे कहा—पास ही में हिंदू होटल है, वहाँ से आपके लिए मँगाती हूँ उसने नौकर को आवाज दी "रामा"।

और लड़की का हँसता हुआ मुँह मुरझा गया। उसने एक विचित्र दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसका स्पष्ट अभिप्राय था कि वह मुझसे पूछ रही है कि ? उसके हाथ का छुआ न पीकर उस गंदे नौकर के हाथ का क्योंकर पी सकूँगा।

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ मार्च १९६०, पृ २८।

और मेरी अंतरात्मा ने मुझसे बिना पूछे ही कह दिया नहीं-नहीं मैं पिऊँगा बिटिया कैसा लेना। और तब वह अप्सरा आनंद बखेरती हुई मेरे निकट आई, अपनी चम्पे की कली जैसी उँगलियों से गिलास उठा मेरे हाथ में दिया हाथी चुपचाप मेरा पीना देखता रहा। फिर उसने खड़े होकर अनुताप के स्वर में कहा—"बड़ी गलती हुई। मैं नाहक समझा आप शास्त्री हैं छूआ-छूत का ख्याल रखते होंगे। इसी से कभी मैंने आपसे खाने-पीने की बात पूछी ही नहीं। आप ऐसे दरियादिल हैं। और तब मैंने कहा— 'मित्र यह आज ही जीवन में पहलीबार कुछ तोड़ा है। भला ऐसी सुन्दर बिटिया की भी अवहेलना की जा सकती है? और फिर सब विषय बातचीत के स्थगित होकर खान-पान छूआ-छूत पर वार्तालाप हुई हम तीनों मित्रों की।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी मित्रों के गहरे मित्र और शत्रुओं के भयंकर शत्रु थे। वे आत्म सम्मानी थे महत्वाकांक्षी थे। जहाँ उनके आत्म-सम्मान को किंचित मात्र भी आघात लगता था वे अपने को रोक न पाते थे। वास्तव में सत्य यह है कि उनको एक अभाव सदैव खटकता रहा और वह था प्रत्याशित सम्मान का अभाव प्रत्याशित मूल्यांकन का अभाव साधना की प्रत्याशित प्रतिष्ठा का अभाव। इस अभाव ने ही व्यक्तिगत विक्षोभ का रूप धारण कर लिया था।

आचार्य चतुरसेन जी चिकित्सक के रूप में—

जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में लिख चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने जीवन का प्रारम्भ एक चिकित्सक के रूप में किया था। जयपुर संस्कृत महाविद्यालय से ससम्मान 'आयुर्वेदाचार्य' की उपाधि लेने के पश्चात् आपने चिकित्सा कार्य प्रारम्भ कर दिया था। आचार्य जी एक उच्च कोटि के साहित्यकार होने के साथ-साथ एक कारगर चिकित्सक भी थे। यहाँ हम उनके चिकित्सा सम्बन्धी कुछ संस्मरण देकर प्रस्तुत अध्याय को समाप्त करेंगे।

डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा आचार्य चतुरसेन जी के परिवार के चिकित्सक थे और आचार्य जी स्वयं उनके। डा० साहब ने आचार्य चतुरसेन शास्त्री से अपनी चिकित्सा करवाई थी। उसका विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है "मैं पुराने नजले से परेशान था। क्रानिक 'साइनसाइटीज' लगभग आठ वर्ष से चल रही

---

1 वातायन आचार्य चतुरसेन पृ ८८-८९।

थी, नाक से बदबूदार बलगम आता था। डाक्टरी दवाइयों से कोई लाभ नहीं हो पाया था। इरविन अस्पताल में नासारोगों के विशेषज्ञ डा० सोहनसिंह को भी कन्सल्ट कर चुका था। उन्होंने दो बार नाक में पंक्चर भी किया। किन्तु फिर भी कोई लाभ न हुआ केवल आपरेशन अंतिम उपाय रह गया था। शास्त्री जी को मैंने अपने रोग का हाल बताया तो बोले "मैं आपकी चिकित्सा करूँगा और आपका यह रोग निश्चित रूप से जाता रहेगा। लेकिन वायदा कीजिए कि ईमानदारी से आप मेरी औषधि ४० दिन खाएँगे। देखिये। इसमें लापरवाही नहीं होनी चाहिये। साथ ही आप मुझसे यह न पूछें कि क्या औषधि दे रहा हूँ।"

मुझे उनकी बातें मान लेने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी। उन्होंने मुझे ४० दिन सेवन करने के लिए बेर के बराबर किसी औषधि की गोलियाँ दीं। १५ दिन औषधि सेवन करने के बाद मुझे बहुत लाभ दिखाई दिया और एक मास में तो रोग बिल्कुल जाता रहा। शेष दस दिन की गोलियाँ फिर मैंने खाईं ही नहीं। मैं शास्त्री जी को धन्यवाद देने पहुँचा मैंने कहा 'शास्त्री जी आपकी औषधि ने वास्तव में चमत्कार कर दिया।

मेरे आरोग्य लाभ से उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई। बोले 'भाई! आप लोग बड़े डाक्टर हैं बड़ी-बड़ी ही बातें सोचते हैं। छोटी बातें आपकी नजर में नहीं आतीं।' इसके पश्चात् उन्होंने न्यूटन का दृष्टान्त देते हुए कहा 'जैसे न्यूटन जैसा महान् वैज्ञानिक छोटी बात न सोच सका इसी तरह आपने भी पंक्चर और आपरेशन की तरफ ध्यान दिया। लेकिन आपको तो साधारण सा रोग था। आप का कफ (बलगम) दूषित हो गया था। और मैंने जो गोलियाँ आपको दी थीं वह साधारण 'व्योषादि वटी' थी।[१]

आचार्य चतुरसेन जी में एक सफल चिकित्सक के सभी गुण विद्यमान थे। अपनी चिकित्सा में दृढ़ आत्म-विश्वास चिकित्सक का सर्वश्रेष्ठ गुण माना जाता है। आचार्य जी में आत्म विश्वास का अभाव न था। डाक्टर लक्ष्मी नारायण शर्मा ने उनके वैद्य जीवन का एक संस्मरण उद्धृत करते हुए लिखा है कि हर बक्त शास्त्री जी को अपने निदान पर बड़ा दृढ़ आत्म-विश्वास रहता था। और यही उनकी चिकित्सा सम्बन्धी सफलता का कारण था। एक बार तो एक

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा, पृ० २७।

मारवाड़ी सेठ के केस में सिविल सर्जन से शास्त्री जी की बहस ठन गई। रोगी को निरन्तर ज्वर रहता था और वह बुखार में बहुत बक-झक भी करता था। सिविल सर्जन का निदान था कि रोगी को 'टायफाइड' हो गया किन्तु शास्त्री जी का कथन था कब्ज के कारण रोगी के पेट में मल सड़ रहा है। इसीलिए ऐसे ज्वर और प्रलाप हैं। शास्त्री जी रोगी को एनीमा लगाने के पक्ष में थे और सिविल सर्जन उनकी तजवीज के विरुद्ध। वह कहता था कि एनीमा देने से रोगी की हालत बिगड़ जाएगी। सेठ जी का शास्त्री जी में अटल विश्वास था फलतः उनकी बात मानकर रोगी को दो बार एनीमा लगाया गया जिससे उसके पेट से लगभग दो सेर मल की सूखी गांठें बाहर आई। अगले दिन ही रोगी ज्वर मुक्त होकर भूख-भूख चिल्लाने लगा। सिविल सर्जन महोदय ने अगले दिन देखा तो दंग रह गए बोले 'टायफाइड न होकर शायद पैरा टाइफाइड था।'[1]

आचार्य चतुरसेन जी की चिकित्सा सम्बन्धी 'अमीरों के रोग' में इस प्रकार के कितने ही संस्मरण प्राप्त हो जाते हैं।

चिकित्सक में प्रत्युत्पन्नमति का होना भी आवश्यक गुण माना गया है। आचार्य चतुरसेन जी में यह गुण भी पर्याप्त मात्रा में था। उनकी बुद्धि कठिन से कठिन अवसरों पर भी स्थिर रहती थी। प्रत्युत्पन्नमतित्व उनके स्वभाव की प्रमुख विशेषता थी। उनकी इस विशेषता को स्पष्ट करने के लिए उनके जीवन के कुछ संस्मरण ही पर्याप्त होंगे—

बात सन् १९४७ की है। विभाजन के दंगे चल रहे थे। शाम को आठ बजे से कर्फ्यू लग जाता था। साढ़े सात बजे एक मित्र शास्त्री जी के पास पहुँचे मित्र की पत्नी को बहुत कष्ट था और कर्फ्यू लगने में सिर्फ आधा घंटा शेष था। आनन-फानन में शास्त्री जी कपड़े पहन कर उनके साथ हो लिए, कर्फ्यू की सीटी बजते-बजते किसी में किसी प्रकार वह उनके घर दाखिल हुए। मित्र की पत्नी के शिशु प्रसव हुआ था। और किसी कारण से उनका एक स्तन पक गया था। बेचैनी और पीड़ा से रोगिणी कराह रही थी। लेकिन शास्त्री जी तो खाली हाथ थे न कोई औषधि न लेप न इन्जेक्शन न प्लास्टर क्या करें। शहर में कर्फ्यू लगा हुआ था। वस्तुतः इस समय कोई हिकमत लड़ाने की जरूरत थी। उन्होंने रोगिणी की परीक्षा की और फिर कुछ देर सोच

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६० चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा पृ २७।

विचार कर मित्र से बोले— भई, तुम्हारे घर में हल्दी तो होगी ही। मित्र ले आए।

'थोड़ा नमक और लाओ।

नमक भी घर में ही मिल गया।

'अब जरा सा तेल गरम कर लो।

और शास्त्री जी ने हल्दी और नमक की पोटली बनाकर गरम तेल में डुबो कर उसका सेंक शुरू कर दिया। पाँच मिनट के सेंक से ही रोगिणी की कराहट बन्द हो गई। आधा घंटे की सिकाई के बाद स्तन-चूचुक से दूध और मवाद रिसने लगा। दबादबा कर वह मवाद निकाला [illegible] ज्यों सिकाई [illegible] जी को उत्तरोत्तर लाभ होता गया और २॥ घंटे पश्चात् तो वह सो गई। किन्तु शास्त्री जी रात भर उसके उपचार में लगे रहे। सुबह रोगिणी को कोई पीड़ा शेष न रही। दोस्त और वैद्य दोनों ही के कर्तव्यों को शास्त्री जी ने बखूबी निभाया।[1]

इन संस्मरणों के अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी के वैद्य जीवन के अन्य कितने ही संस्मरण प्राप्त हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोली' की भूमिका में स्वयं लिखा है। 'भारत का कोई ही नामांकित राजा रहा होगा जिसकी सेवा करने की प्रतिष्ठा मुझे न मिली हो।[2]

आचार्य चतुरसेन जी ने एक बार प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को स्वयं वैद्यक जीवन के संस्मरण सुनाते हुए कहा था 'डा० अम्बेदकर उदर रोग से बहुत दिनों से पीड़ित थे। उनके उस रोग को मैंने केवल गुटके बनाकर ठीक कर दिया था। नेपाल के प्रधान मंत्री को केवल 'नवरत्न' पहिनाकर ही उनको मैंने पुराने रोग से मुक्त किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं ही प्रस्तुत प्रबंध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में अपने वैद्य जीवन के कितने ही अनुभव बतला डाले थे।

आचार्य चतुरसेन जी वैद्य होते हुए भी रूढ़िवादी न होकर नवीनता के पक्षपाती थे। "संस्कृतज्ञ वैद्य होते हुए भी वह चिकित्सा सम्बंधी आधुनिक विज्ञान की खोजों गवेषणाओं और सिद्धांतों को पूर्ण मान्यता देते थे। वैज्ञानिक

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा, पृ ४०।

२ गोली, आचार्य चतुरसेन, सूखे हुए सिंहासन चीत्कार कर उठे।

प्रगति में वह विश्वास रखते थे। स्टेथस्कोप, ब्लडप्रेशर, इन्स्ट्रूमेन्ट मूत्र परीक्षा मल परीक्षा एक्सरे आदि आधुनिक निदान विधियों से वह अपने चिकित्सा कार्य में सहायता लेते थे। वह अक्सर कहा करते थे कि आयुर्वेद में वैज्ञानिक खोजों की बड़ी भारी आवश्यकता है और यदि इसमें शोध कार्य न किया गया तो यह विज्ञान एक दिन मर जायगा। आधुनिक विज्ञान और आयुर्वेद के समन्वय से उन्होंने 'आरोग्य शास्त्र' नामक एक काफी बड़ा चिकित्सा सम्बंधी ग्रंथ भी अपने चिकित्सा काल में लिखा था जो केवल वैद्यों के लिए ही नहीं अपितु जनसाधारण के लिए भी बड़ा उपयोगी है। किन्तु बहुत दिनों से वह बाजार में उपलब्ध नहीं है। जैसा कि "रचना-परिचय" वाले अध्याय में हमने दिखलाया है कि आचार्य चतुरसेन जी ने चिकित्सा सम्बंधी लगभग ४ ग्रंथ लिखे हैं।

आयुर्वेद और विज्ञान के समन्वय की चर्चा करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से कहा था "मेरा पूर्ण विश्वास है, कि यदि विज्ञान का उपयोग सृजन के कार्यों में हुआ तो मनुष्य की औसत आयु बढ़ जायगी। कैंसर हृदयरोग रक्तचाप और सिफलिस इन चार रोगों का अभी तक कोई निश्चित निदान नहीं हुआ है, किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि अगले दस वर्षों में विज्ञान इन रोगों पर विजय पा लेगा तब निश्चित ही मनुष्य अकाल मृत्यु से बच सकेगा।" कुछ रुककर उन्होंने आगे कहा "परन्तु शर्त यह है कि युद्ध के बादल वैज्ञानिक आविष्कारों पर छा न जायें।"[१]

आचार्य चतुरसेन जी स्वयं आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की नवीन खोजों पर मनन करने के अभ्यस्त हो गए थे। वे रोगियों की चिकित्सा दोनों पद्धतियों के समन्वय द्वारा ही करते थे। उनके चिकित्सा सम्बंधी गहन मनन की छाप उनके कथा-साहित्य में भी यत्र-तत्र प्राप्त होती है। आधुनिक विज्ञान की नवीन खोज हारमोन्स के विषय में चर्चा करते समय एक बार आचार्य चतुरसेन जी ने डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा से कहा था संसार के लिए "हारमोन्स और नलिका विहीन ग्रंथियों" की बात चाहे नई हो किन्तु आयुर्वेद में "ओज" धातु के नाम से इसका उल्लेख बहुत पुराना है। "ओज" शुक्र से भी

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल १९६०।

२ धर्मयुग, ९ अगस्त १९५९, आचार्य चतुरसेन व्यक्तित्व एवं विचार, गुलकार नाथ कपूर, पृ ८।

ऐसी मातृ है। इसी की पुष्टि इस नई खोज में भी की है।[1] आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' में जीवक कौमार भृत्य नामक पात्र की रचना इन्हीं मल्लिकाविहीन ग्रंथियों पर प्रकाश डालने के लिए ही की है। बूढ़े और कामुक राजा प्रसेनजित की चिकित्सा को जीवक बुलाया गया था किन्तु उसकी चिकित्सा से महाराज प्रसेनजित को लाभ न पहुँच सका था। राजकुमार विदूडभ से महाराज की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते समय वह कहता है 'तनिक भी नहीं राजपुत्र मैंने उनसे प्रथम ही कह दिया कि उनकी यौवन ग्रंथियाँ और पुरुषक ग्रंथियाँ निष्क्रिय हो गई हैं। हृदय पर बहुत मेद चढ़ गया है। ~ अतः रसायन से कोई लाभ नहीं पहुँचेगा।"[2]

आचार्य चतुरसेन जी के समस्त चिकित्सा सम्बंधी ग्रंथों एवं संस्मरणों को पढ़ने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आचार्य जी एक सफल चिकित्सक थे। यहाँ एक प्रश्न और उठ सकता है कि इतने सफल चिकित्सक होते हुए भी अंततः उन्होंने चिकित्सा कार्य त्याग क्यों दिया ? उनकी जीवनी से स्पष्ट है कि चिकित्सा कार्य से संन्यास लेने के पश्चात् से उनके जीवन में आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ गई थीं। एक बार डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा ने उनसे इसी विषय पर प्रश्न किया था "आपने चिकित्सा कार्य से क्यों संन्यास लिया।"

उत्तर देते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने कहा था "वैद्य का जीवन त्याग और सेवा का जीवन होना चाहिए, यदि मैं भी नन्हें जी जैसा वैद्य बन सकूँ तभी मेरी वैद्यक सार्थक है।"

'नन्हें जी वैद्य अपने समय में देहली में अत्यंत लोकप्रिय वैद्य थे और शास्त्री जी के गाढ़े दोस्त थे।"

"राय जी के चौक" में नन्हें जी का 'मतब' था। सुबह से शाम तक उनके यहाँ मरीजों की भीड़ लगी रहती थी। एक दिन शास्त्री जी सुबह से शाम तक नन्हें जी के साथ उनके मतब में बैठे रहे नन्हें जी दिन भर रोगियों में व्यस्त रहे। शाम को शास्त्री जी ने नन्हें जी से उनकी संदूकची की चाभी माँगी और खोलकर देखा तो वैद्य जी की दिन भर की आय सिर्फ पौने दो रुपए थी। किन्तु नन्हें जी का जैसे आय से कोई सरोकार ही न था देवदूत की भाँति उन्हें तो

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ अप्रैल, १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा पृ ९८।

२ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ १६१ १६२।

रोगियों की सेवा में ही परम सन्तोष मिलता था। शास्त्री जी उनसे बहुत प्रभावित हुए थे। मन्नूँ जी के लिए उनके मन में बड़ा आदर था। इन्हीं मन्नूँ जी वैद्य को अपने उपन्यास "गोली" में शास्त्री जी ने चित्रित भी किया है।

इसके पश्चात् शास्त्री जी ने कहा "अपनी कार और अपनी कोठी के *लिए रोगियों से लम्बी-लम्बी फीसें वसूल करना चिकित्सा कर्म का उद्देश्य नहीं* होना चाहिए।

शास्त्री जी का इरादा एक निःशुल्क (फ्री) औषधालय खोलने का भी था और उन्होंने इसके लिए अपने मकान में एक कक्ष विशेष रूप से बनवाया था किन्तु उनकी इस इच्छा की पूर्ति न हो सकी।[1]

आचार्य चतुरसेन जी के सम्पूर्ण जीवन पर एक दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि उनका सम्पूर्ण जीवन त्याग और तपस्या का जीवन था। उन्होंने अपने जीवन का प्रारंभ एक राजवैद्य के रूप में किया था और अंत एक साहित्यकार के रूप में। चिकित्सक रह कर वे एक सीमित क्षेत्र की एक निश्चित काल तक ही सेवा कर सकते थे किन्तु साहित्यकार होकर उन्होंने कुछ ऐसी रचनायें प्रस्तुत कर दी हैं कि उनके द्वारा सम्पूर्ण संसार का अनन्त काल तक वे कल्याण कर सकते हैं। अभी उन्होंने केवल भारत के ही पाठकों के हृदय में स्थान पाया है वहीं के असंख्य हृदयों को साहित्यामृत से प्लावित किया है किन्तु अब वह दिन दूर नहीं है जब उनकी रचनाएं विश्व के पाठकों के हृदय का हार बन जायेंगी और उनकी कीर्ति उसी प्रकार विश्वव्यापी हो जायेगी जैसी टाल्सटाय ड्यूमा ह्यूगो वाल्टरस्काट गोर्की आदि विदेशी लेखकों की है। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी भाषा भाषी दूसरे देशों की मणियों के गुण गाने के साथ-साथ अपनी गुदड़ी के छिपे हुए लालों को भी पहचान लें।

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ अप्रैल, १९६०, चिकित्सक चतुरसेन शास्त्री, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा।

अध्याय—२

आचार्य चतुरसेन की रचनाएँ एवं उनके कथा-साहित्य का वर्गीकरण

आचार्य चतुरसेन जी की रचनाएँ एवं उनके कथा-साहित्य का वर्गीकरण

आचार्य जी एक बहुप्रतिभाशाली साहित्यकार थे। उन्होंने अपने जीवन काल में अकेले ही पाँच व्यक्तियों के बराबर रचनाएँ की हैं। आपने विविध विषयों पर लगभग १९० ग्रंथों की रचना की है। आप द्वारा प्रस्तुत रचनाओं में अधिक संख्या उपन्यास, कहानी, नाटक एवं स्वास्थ्य सम्बंधी पुस्तकों की है। यहाँ हम उनकी रचनाओं को कालक्रमानुसार प्रस्तुत कर रहे हैं —

आचार्य जी द्वारा रचित पूर्ण एवं अपूर्ण, प्रकाशित पुस्तकों की सूची

(कालक्रमानुसार)

संख्या	नाम पुस्तक	विषय	प्रथम बार कब प्रकाशित हुई	प्रथम बार किसने प्रकाशित किया	विशेष
१	हिन्दुओं की छाती पर जहरीली छुरी	विधवा विवाह की कुरीतियों पर एक निबंध पुस्तिका	१९११	स्वयं	अप्राप्य
२	शरीर तालिका	शरीर विज्ञान संबंधी परिचय पुस्तिका	१९१५	स्वयं	अप्राप्य
३	अगत्यावतरण	रोगी की शास्त्र-संमाल सेवा और साधारण चिकित्सा संबंधी पुस्तिका	१९१५	स्वयं	अप्राप्य

१	२	३	४	५	६
४	प्रेम विभाट	आचार्य जी का सर्व प्रथम उपन्यास	१९१५	स्वयं (मेरी आत्म कहानी में इसको संशोधित करके प्रकाशित किया गया है)	अप्रकाशित ही रहा बाद में उसका कुछ अंश आचार्य जी की 'संजीवन पत्रिका' में 'देवदूत' नाम से प्रकाशित हुआ
५	हृदय की परख	उपन्यास	१९१८	हिंदी रत्नाकर कार्यालय बम्बई	अप्राप्य
		इसी का गुजराती अनुवाद	१९२४	सौराष्ट्री कार्यालय बंबई	
६	व्यभिचार	चिकित्सा संबंधी	१९१८	स्वयं	
७	अंतस्तल	हिंदी का सर्व प्रथम गद्यकाव्य	१९२१	हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई	अप्राप्य
	इसी का मराठीअनुवाद		१९२६	"	
८	सत्याग्रह और असहयोग	सत्याग्रह और असहयोग तथा राजनीतिक और स्वदेश नीति सदाचार संयम आदि की व्याख्या नियम और परिचालन पालन ज्ञान से भरपूर राजनीति की महत्वपूर्ण पुस्तक इसी का गुजराती संस्करण १९२२ में	१९२१	गांधी ग्रंथ भंडार, बंबई	ब्रिटिश सरकार ने जब्त कर ली थी।
९	अमाम स्वदेश	स्वदेश प्रेम की भावनाओं से युक्त गद्य काव्य	१९२६	स्वयं	अप्राप्य
१०	उत्सर्ग	ऐतिहासिक और वीर रस पूर्ण नाटक	१९२८	"	
११	पथ्यापथ्य	रोगी के लिए पथ्य देने और सार संभाल करने की जानकारीपूर्ण पुस्तिका	१९२४	स्वयं	अप्राप्य

१२	तब अब, क्यों और फिर	भारतीय संस्कृति, शासन राजनीतिक और सामाजिक अवस्था से परिपूर्ण विवेचनात्मक २५०० पृष्ठों का बृहद् ग्रंथ तब खंड में भूतकालीन भारत अब खंड में ब्रिटिश कालीन भारत क्यों खंड में ब्रिटिशों द्वारा दुर्दशा के कारण फिर खंड में भविष्य में भारत का निर्माण कैसा होना चाहिए	१९२९ में समूची पांडुलिपि पंजाब सरकार द्वारा जब्त	अप्रकाशित ही रही	
१३	हिंदू राष्ट्र का नव निर्माण	हिंदू समाज में चरित्र और राष्ट्र निर्माण के विकास संबंधी पथ-प्रदर्शन	१९३०		
१४	२१ बनाम ३० भारत में ब्रिटिश राज्य	भारत में १९२१ से १९३० तक भारत में राष्ट्रीय आंदोलन की विवेचनापूर्ण राजनीतिक पुस्तक	१९३०		जब्त
१५	हृदय की प्यास	उपन्यास	१९३१	गंगा पुस्तकमाला लखनऊ	
१६	अक्षत	कहानी संग्रह	१९३१		
१७	गोल सभा	लंदन में हुई राउंड टेबिल कान्फ्रेंस के कारण और उसका परिणाम	१९३१		अप्राप्य
१८	नहर के पत्र	राजनीतिक पत्रों का हिंदी भाषांतर	१९३१		
१९	आरोग्य शास्त्र	स्वास्थ्य एवं शारीरिक ज्ञान साधारण चिकित्सा विज्ञान, औषधज्ञान, संबंधी ग्रंथ	१९३२	स्वयं	
२०	वैशाली का ब्याह (पूर्णाहुति)	पृथ्वीराज रासो के आधार पर लिखा गया उपन्यास	१९३२	गंगा पुस्तकमाला लखनऊ	
२१	ब्रह्मचर्य साधन	ब्रह्मचर्य एवं संयम ज्ञान संबंधी युवकों के लिए पथ प्रदर्शक पुस्तक	१९३२	"	

१	२	३	४	५	६
२२	सुखी जीवन	लड़कियों को आरम्भ से ही अपना जीवन किस प्रकार निर्माण करना चाहिए और विवाह के बाद अपना जीवन किस प्रकार सुखी बना सकती हैं विषय पर उपदेशात्मक पुस्तक	१९३३	"	
२३	अमीरों के रोग	अमीरों के स्वास्थ्य एवं चिकित्सा संबंधी पुस्तक	१९११	स्वयं	
२४	पुत्र	माता-पिता को अपनी संतान और विशेष कर पुत्र को किस प्रकार शिक्षित एवं पालन करना चाहिए	१९११		
२५	कन्यादर्पण (हमारी पुत्रियां कैसी हों)	कन्याओं को शिक्षा उपदेश जीवनोदय का प्रारम्भिक ज्ञान वैवाहिक जीवनयापन संबंधी पुस्तक	१९३३	"	
२६	रजकण (कार्बन)	कहानी संग्रह	१९११	कर्मयोगी प्रेस इलाहाबाद	
२७	अमर अभिलाषा (बहते आंसू)	उपन्यास	१९३३	साहित्य मंडल दिल्ली	
२८	आदर्श बालक	बच्चों के संबंध की आदर्श उपदेशात्मक कहानियां	१९११	नेशनल लिटरेचर पब्लिशर्स कलकत्ता	
२९	वीर गाथा	बच्चों से संबंधित वीरतापूर्ण कहानियां	१९११	साहित्य मंडल दिल्ली	

३०	इस्लाम का पिरपूरा (भारत में इस्लाम)	इस्लाम धर्म का इतिहास और उसका भारत में आगमन	१९३३	
३१	बुद्ध और बौद्ध धर्म	बुद्ध की जीवनी और धर्म का विस्तार विवेचन	१९३३	
३२	धर्म के नाम पर	धर्म की व्याख्या उसकी ओट में अनाचार पाप, ठगी, भयंकर परिणाम समाज में अंध विश्वास की व्याख्या सहित क्रांतिकारी सामाजिक पुस्तक	१९३३	
३३	पराजित गांधी	महात्मा गांधी के राष्ट्रीय आंदोलन के विफलता के कारणों पर तत्कालीन प्रकाश	१९३४	स्वयं
३४	अमर राठौर (अमरसिंह)	ऐतिहासिक नाटक	१९३४	साहित्य मंडल दिल्ली
३५	आत्मदाह	उपन्यास		
३६	वेद और उनका साहित्य	वेद संबंधी ज्ञान	„ १९३५	मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति इंदौर
३७	प्रामरण्ड	प्रामरण्ड के विपरीत प्राचीन और वर्तमान मनीषियों के प्रमाण	१९३६	
३८	स्त्रियों का ओज	राजपूती बालाओं की वीरत्वपूर्ण कहानियों का सर्वप्रथम भावात्मक एकांकी	„	शारदा मंदिर दिल्ली
३९	राजपूत बच्चे	राजपूती पुरुषों के करतबों की कहानियों का संग्रह		
४०	मेघनाद	पौराणिक नाटक		
४१	अजीतसिंह	ऐतिहासिक नाटक		
४२	जवाहर	राजनीति गद्यकाव्य	१९३७	मोतीलाल बनारसीदास लाहौर दिल्ली से

१	२	३	४	५	६
४३	मुगल बादशाहों की दमोली बातें (मुगल बादशाहों की सनक)	बच्चों के लिए कहानियां	"		
४४	सीताराम	पौराणिक नाटक	१९३८	मेहरचंद लक्ष्मणदास लाहौर	
४५	सिंहगढ़विजय	साहसपूर्ण वीरता की ऐतिहासिक कहानियां	१९३९	गंगा पुस्तकमाला लखनऊ	
४६	राजसिंह	ऐतिहासिक नाटक	"	एस० एस० भटनागर, उदयपुर	
४७	सुगम चिकित्सा	साधारण देसी चिकित्सा विधान	१९४०	सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली	
४८	आरोग्य प्रवेशिका	विद्यार्थियों के लिए स्वास्थ्य एवं शरीर विज्ञान	१९४०	दिल्ली के कोई प्रकाशक	अप्राप्य
४९	देहाती इलाज	गांव के लिए कुछ-छूट-पुट दवाइयां	"		
५०	नीलमणि	उपन्यास	१९५१	पटना के कोई प्रकाशक	
५१	श्रीराम	पौराणिक नाटक	१९५०	मेहरचंद लक्ष्मणदास लाहौर	
५२	सीताराम	पौराणिक नाटक	"		
५३	काम कला के भेद	काम विज्ञान संबंधी अध्ययन पुस्तक	१९५३	एस० आर० सेन एण्ड कम्पनी दिल्ली	
५४	राधाकृष्ण	राधाकृष्ण के अतीन्द्रिय प्रेम भाव एकांकी नाटक	१९५६	संशोधित परिवर्धित संस्करण दिल्ली के प्रकाशन में छपा	आल इंडिया रेडियो के लिए लिखा गया सर्वप्रथम रेडियोरूपक

५५	हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास	साहित्य इतिहास का बृहद् ग्रंथ मिश्रबंधुओं ने इसकी भूमिका लिखी था	"	मेहरचंद लक्ष्मणदास लाहौर	
५६	नवाब ननकू	कहानी संग्रह	१९४८	स्वयं	
५७	वैशाली की नगर वधू (दो भाग में)	उपन्यास		गौतमबुक डिपो देहली	
५८	हिंदू विवाह का इतिहास	समाज और धर्म पर आधारित पुस्तक			
५९	मरीखाल की हाय	राजनीति एवं देशप्रेम से युक्त गद्यकाव्य		स्वयं	
६०	जीवन के दस भेद	युवकोपयोगी सदुपदेश	१९४९	गौतम बुक डिपो देहली	
६१	वरलाभिन	उत्कृष्ट राजनीतिक गद्यकाव्य	"	"	
६२	हमारे कारा दिन	विप्लववादी एवं क्रांतिकारियों के स्वतंत्रता संग्राम के काम उनकी जीवनी और सचित्र परिचय		"	
६३	पांच एकांकी	एकांकी नाटकों का संग्रह			
६४	नरमेध	उपन्यास	,		
६५	मंदिर की नर्तकी (देवांगना)	,		चौधरी एंड संस वाराणसी	पाठ्य पुस्तक
६६	रक्त की प्यास		१९५१	,	
६७	दो किनारे	,	"	,	
६८	बापू के घर में (बा और बापू)	महात्मा गांधी और कस्तूरबा गांधी के दाम्पत्य एवं देश सेवा से संबंधित पारिवारिक जीवन की झांकियां			
६९	गांधारी	— पौराणिक नाटक	१९५१	स्वयं	
७०	लम्बपीव	राजनैतिक कहानी संग्रह	१९५१	ग्रंथ पब्लिशिंग कम्पनी आगरा	
			१९५२	स्वयं	

१	२	३	४	५	६
७१	पीर नाबालिग	समस्या चरित्र कहानियाँ	१९५२	स्वयं	
७२	मकाबस्त	पुष्पकालीन संग्रह	"	"	
७३	अनबन	काम विज्ञान से संबंधित वैवाहिक जीवन की कठिनाइयों का विवेचन और उन्हें दूर करने के उपाय	१९५२	"	
७४	मौत के पंजे में जिंदगी की कराह	राजनीति विषयक		"	
७५	कैदी	कहानी संग्रह	"		अप्राप्य
७६	दुनिया में कावे कहूँ		"	"	"
७७	सोने की पत्नी	"	"		"
७८	मायारामदे	" "		"	"
७९	कमल किशोर		"		"
८०	दियासलाई की डिबिया	" "		"	"
८१	आरोग्य पाठमाला १ २ भाग	स्वास्थ्य एवं शरीर विज्ञान संबंधी विद्यार्थियों के लिए पुस्तक	१९५२	एस चंद एंड कम्पनी दिल्ली	
८२	पगध्वनि	गांधी वादी नाटक		आत्माराम एंड संस दिल्ली	
८३	अपराजिता	उपन्यास	"	"	
८४	हिंदी साहित्य परिचय	विद्यार्थियों के लिए हिंदी साहित्य का संक्षिप्त परिचय		राजपाल एंड संस दिल्ली	

८५	बुलबुल हजार दास्तां	मुगल कालीन मनोरंजक कहानियां	१९५२	दिल्ली से प्रकाशित	अप्राप्य
८६	बर्मा रोड	कहानी संग्रह		स्वयं	"
८७	अरल-बदल	उपन्यास	१९५३	चौधरी एंड संस	
८८	भारत के मुक्ति-दाता	भारतीय स्वाधीनता संग्राम के नायकों की जीवनियां विद्यार्थियों के लिए	"	एम० गुलाबसिंह एंड संस देहली	
८९	मोतीचराह	अर्जुन, अग्नि और मोतीच कुल पर आधारित पौराणिक काव्य		स्वयं	,
९०	स्त्रियों के रोग और उनकी चिकित्सा	स्वास्थ्य लघु संस्करण	"	चौधरी एंड संस वाराणसी	
९१	कुमारियों के गुप्त पत्र	स्वास्थ्य एवं काम विज्ञान	"	स्वयं	"
९२	अविवाहितों के पेचीदा गुप्त पत्र	स्वास्थ्य एवं काम विज्ञान		,	अप्राप्य
९३	छत्रसाल	ऐतिहासिक नाटक	"	अमरचंद कपूर एंड संस देहली	
९४	सफेद कौवा	कहानी संग्रह	१९५४	स्वयं	अप्राप्य
९५	राजा साहब की पतलून	"			"
९६	कालीदी के कूल पर	राजनीतिक गद्य काव्य	"	,	
९७	अपेक्षावस्था का दाम्पत्य	स्वास्थ्य एवं कामविज्ञान	,	"	अप्राप्य
९८	वृद्धावस्था के रोग	स्वास्थ्य	,	,	,

१	२	३	४	५	६
९९	आहार और जीवन	स्वास्थ्य	१९५५	स्वयं	
१००	आप कैसे भरपूर नींद सो सकते हैं	स्वास्थ्य	१९५४	"	अप्राप्य
१०१	बच्चे कैसे पाले जायें	स्वास्थ्य	"		अप्राप्य
१०२	जीजी का रसोईघर	पाक विज्ञान एवं गृहस्थ विज्ञान			
१०३	विवाहित जीवन का आनंद	स्वास्थ्य एवं काम विज्ञान			
१०४	पत्नी मार्गदर्शिका	पत्नी के लिए पतिगृह, पति-परिजन एवं पति के प्रति कर्तव्य		"	
१०५	आलमगीर	उपन्यास	"	भारती प्रकाशन भागलपुर	
१०६	सोमनाथ	उपन्यास	१९५४	स्वयं	
१०७	धर्मपुत्र	उपन्यास			
१०८	आप अधिक कैसे सुंदर बन सकती हैं	स्वास्थ्य एवं सौंदर्य	"	"	
१०९	मेहनत आराम और तंदुरुस्ती	स्वास्थ्य एवं यौन शिक्षा संबंधी	१९५५		अप्राप्य
११	मंदिरपा	" "	"	भारती प्रकाशन भागलपुर	
१११	तंदुरुस्त रहो बहुत दिन जियो	" "		"	

११२	बच्छा-खाओ बच्छा पियो	स्वास्थ्य	〃	१९५५	धारवा प्रकाशन भागलपुर
११३	शरीर कपड़े घर की सफाई	〃			
११४	मौसमी बुखार—मलेरिया	〃			
११५	साफ हवा				
११६	प्रकाश हवा का आवागमन		〃		,
११७	छूत की बीमारियाँ उनकी रोकथाम		〃		
११८	तमाखू का गुलाम				〃
११९	स्वाभाविक चिकित्साएँ	〃	〃	〃	,
१२०	बरबाद करनेवाली दो मुसीबतें—कर्ज और शराब	〃	〃 ,		
१२१	बीमारी फैलाने वाले कीड़े-मकोड़े	,	〃	,	,
१२२	क्षमा	पौराणिक नाटक			,
१२३	पुजा				
१२४	सत्यव्रत हरिश्चन्द्र	〃	,	१९५५	स्वयं
१२५	साहित्य सम्पदा	साहित्य मीमांसा	〃	〃	〃
१२६	वर्ष रसाम (दो भागों में)	उपन्यास		〃	〃
				,	,

१	२	३	४	५	६
१२७	ब्रजभाषा पर सुलभ प्रभाव	साहित्य	१९५५	शारदा प्रकाशन मानसपुर	
१२८	सभ्यता के विकास की कहानी	संस्कृति एवं इतिहास	”	”	
१२९	मातृकला	स्त्रियों के जानने योग्य स्वास्थ्य के नियम तथा बच्चों की पालन विधि	१९५६		
१३०	स्त्री सुबोध	गार्हस्थ्य धर्मशिक्षा	१९५६	पी० सी० द्वादश श्रेणी अलीगढ़	
१३१	आदर्श भोजन	स्वास्थ्य	१९५७	राजपाल एंड संस	
१३२	स्वास्थ्य रक्षा	”	”	”	
१३३	निरोग जीवन		”	”	
१३४	जो रुपया कमाया वह कहाँ गया	प्रौढ़ एवं मानसिक विकास			
१३५	हमारा शरीर	स्वास्थ्य शरीर विज्ञान	”		
१३६	बड़े आदमियों का बचपन	प्रौढ़ शिक्षा	”		
१३७	अच्छी आदतें		”	”	
१३८	धर्मराज	सम्राट अशोक के जीवन पर नाटक	१९५७	राजपाल एंड संस देहली	

१३९	भारतीय संस्कृति का इतिहास	संस्कृति का बृहद् ग्रंथ		रस्तोगी एंड कम्पनी मेरठ	
१४०	गोली	उपन्यास		राजहंस प्रकाशन देहली	
१४१	अष्ट मंगल	संस्कृत के आठ प्रसिद्ध नाटकों का हिंदी एकांकी	१९५८	भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली	
१४२	सोना और खून १ भाग २ भाग	उपन्यास	”	राजहंस प्रकाशन, दिल्ली	इसकी पचास खंडों एवं दस भागों में लिखने की आचार्य जी की योजना थी किन्तु केवल दो ही भाग लिख सके दूसरे भाग का उत्तरार्द्ध उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ था।
१४३	आभा				
१४४	उदयास्त	”	,	हिंदी पाकेट बुक	
१४५	मेरी प्रिय कहानियाँ	कहानी संग्रह	”	राजपाल एंड संस देहली	
१४६	अपना इलाज आप गुरु कीजिए	चिकित्सा ग्रंथ	१९५९	”	
१४७	लाल पानी	उपन्यास	,	राजहंस प्रकाशन, दिल्ली	
१४८	बगुला के पंख	,		ज्ञय प्रकाशन, वाराणसी	
१४९	रक्तास	”	”	राजपाल एंड संस दिल्ली	
			१९६१	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली	

१	२	३	४	५	६
११०	महुपाद्रि की चट्टानें	,,	१९६१	प्रभात प्रकाशन	
१११	बिना चिराग का शहर	,,	,,	अजन्ता पाकेट बुक दिल्ली	
११२	पत्थर युग के दो बुत	,,	,,	राजपाल एंड संस दिल्ली	
११३	हृदय विमंथन	उपन्यास यह उपन्यास आचार्य जी के 'रक्त की प्यास' नामक उपन्यास के कथानक पर ही आधारित है।		भारती प्रकाशन सापनपुर	
११४	खोया हुआ शहर	कहानी संग्रह	१९६१	राजपाल एंड संस	
११५	दुलवा कामे कहूँ	,,	,,	,,	
११६	धरती और आसमान		,,		
११७	बाहर भीतर	,, ,,			
११८	कहानी खत्म हो गई	,, ,,			
११९	मौनी	उपन्यास			

कुछ अन्य अप्रकाशित एवं अपूर्ण रचनाएँ

अपराधी—

यह एक अधूरा उपन्यास है। केवल हस्तलिखित तीस पृष्ठ प्राप्त हैं। इनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस उपन्यास की रचना उपन्यासकार किसी क्रांतिकारी घटना से प्रभावित होकर कर रहा था। उपन्यास का रचनाकाल सन् १९१८ ज्ञात होता है। पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर २४-८-१८ तिथि पड़ी हुई है। (इसे 'मेरी आत्मकहानी' में संग्रहीत किया गया है।)

ईदो—

यह भी एक अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके लगभग दो सौ हस्तलिखित पृष्ठ प्राप्त होते हैं। इसमें द्वितीय महायुद्ध के पूर्व के जापान की आंतरिक दशा का वर्णन प्राप्त होता है। प्रस्तुत उन्यास की मुख्य कथाएँ जापान की राजकुमारी ईदो के चरित्र के चारों ओर चक्कर काटती हुई ज्ञात होती हैं। प्रासंगिक रूप से इसमें हिटलर की कथा भी आ गई है। कथा अंत में किस दिशा की ओर जाती इसका ज्ञान इस अधूरे उपन्यास से पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। इस उपन्यास का प्रारंभ आचार्य चतुरसेन जी ने सन् १९४९ के लगभग किया था। किन्तु किन्हीं कारणोंवश यह अधूरा ही रह गया। बाद में उनका विचार इस उपन्यास की सामग्री को अपने 'सोना और खून' उपन्यास के आठवें भाग में लेने का था किन्तु वे 'सोना और खून' के दो ही भाग पूर्ण कर सके। इसी से यह उपन्यास भी अधूरा रह गया। (इसको उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुज चंद्रसेन जी ने पूर्ण किया है। प्रकाशित होने जा रहा है।)

चैतन्य—

महाप्रभु चैतन्य के जीवन से संबंधित इस उपन्यास का लेखन उन्होंने प्रारम्भ ही किया था। हस्तलिखित केवल चालीस पृष्ठ प्राप्त हैं। इनमें केवल चैतन्य के जन्म की घटना एवं उस काल की स्थिति पर प्रकाश प्राप्त होता है। घटनाओं का क्रम अव्यवस्थित है ऐसा ज्ञात होता है कि इन पृष्ठों में वे उपन्यास का ढाँचा खड़ा करने की योजना बना रहे थे।

आर्य चाणक्य—

प्रस्तुत उपन्यास के विषय में आचार्य चतुरसेन जी का कथन था कि यदि यह पूर्ण हो गया तो यह मेरा सर्वश्रेष्ठ उपन्यास होगा। इसके हस्तलिखित केवल

बीस पृष्ठ प्राप्त हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास को लिखना प्रारम्भ किया किन्तु किन्हीं कारणों से उन्होंने इसे उठाकर बीच ही में रख दिया। बहुत सम्भव है (जैसा कि उन्होंने प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से कहा भी था) कि प्रस्तुत उपन्यास के विषय में समस्त प्राप्त सामग्री का अध्ययन करने के पश्चात् ही उन्होंने इस उपन्यास को लिखना उचित समझा हो। इसीलिए इसका लेखन उन्होंने स्थगित कर दिया हो। इन प्राप्त बीस पृष्ठों में उन्होंने प्रथम वेद से पूर्व का इतिहास प्रथम जाति के विषय में संक्षेप में बतलाया है। उसके पश्चात् कथा आरम्भ होती है शूद्र राजा महापद्मनंद के पुत्र जन्म से। इसके पश्चात् महाराज के अनुज उग्रसेन द्वारा एक स्त्री बलात् उठा ले जाने की चेष्टा का वर्णन है। यहीं चाणक्य एवं राक्षस का मिलन होता है। चाणक्य स्त्री की रक्षा के लिए उग्रसेन के सामने तलवार लेकर आ जाता है। वहीं राक्षस भी चाणक्य के मत का समर्थन करता है। केवल इतनी ही कथा प्रस्तुत बीस पृष्ठों में प्राप्त है। इस उपन्यास का प्रारम्भ आचार्य जी ने सन् १९५९ के जून जुलाई माह में किया था। उन दिनों प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक उनके समीप ही था। इस विषय में उनसे उसका वार्तालाप भी हुआ था। जिसका वर्णन जीवन वृत्त वाले अध्याय में किया गया है।

इसके अतिरिक्त आचार्य जी की कुछ और रचनाएं भी अभी अप्रकाशित हैं। इनमें प्रमुख हैं—

१ रसार्णव-भाष्य—यह एक चिकित्सा सम्बंधी ग्रंथ है।

२ मिथुन शास्त्र—यह एक काम-कला सम्बंधी ग्रंथ है। इसमें आचार्य जी ने स्त्री पुरुषों के पारस्परिक दैहिक एवं आध्यात्मिक सम्बंधों की सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विवेचनाएं एवं व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं।

३ आलमगीर उपन्यास का उत्तरार्द्ध—इसमें उपन्यासकार ने अपने 'आलमगीर" नामक उपन्यास में वर्णित घटनाओं के आगे की कथा दी है। वास्तव में यह उसी उपन्यास का उत्तरार्द्ध है जो किन्हीं कारणोंवश प्रकाशित न हो सका था। संभव है कि आलमगीर उपन्यास का दूसरा संस्करण होने पर यह सामग्री भी उसके साथ प्रकाशित हो जाय। इसमें आलमगीर के शासनकाल की प्रमुख घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें औपन्यासिकता पर इतिहास हावी है।

४ भारतीय संस्कृति का इतिहास (उत्तरार्द्ध)—इसका पूर्वार्द्ध एक हजार पृष्ठों में प्रकाशित हो चुका है। उसमें आपने भारतीय संस्कृति के मध्य युग तक का इतिहास दिया है। उसके आगे का इतिहास प्रस्तुत अप्रकाशित ग्रंथ में है। इस ग्रंथ का भी कुछ अंश अपूर्ण रह गया है।

ऊपर हमने आचार्य चतुरसेन जी द्वारा रचित पूर्ण एवं अपूर्ण प्रकाशित एवं अप्रकाशित पुस्तकों की कालक्रमानुसार सूची प्रस्तुत की है। किस विषय की कौन सी पुस्तक है इसकी सूचना भी प्रस्तुत सूची से प्राप्त हो जाती है। इसी कारण अब यहाँ विषयानुसार पुस्तकों की सूची पुनः प्रस्तुत करना व्यर्थ ही है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हमें केवल आचार्य चतुरसेन के कथा-साहित्य का अध्ययन करना है। कथा-साहित्य में केवल कहानी और उपन्यास को स्थान दिया जाता है। आचार्य चतुरसेन जी के सब मिलाकर २९ उपन्यास एवं २२ कहानीसंग्रह प्रकाशित हुए हैं। यहाँ हम उनके इन समस्त उपन्यासों एवं कहानियों के वर्गीकरण पर ही विचार करेंगे। वर्गीकरण के पूर्व यहाँ हम "उपन्यास" एवं कहानी के विभिन्न तत्वों एवं प्रकारों पर विचार करना आवश्यक समझते हैं।

उपन्यास के तत्व—

उपन्यास के छै प्रमुख तत्व माने गए हैं। हडसन ने इन तत्वों का नाम १ कथानक २ पात्र ३ कथोपकथन ४ देशकाल (वातावरण) ५ शैली तथा ६ उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत आलोचना व्याख्या अथवा जीवन-दर्शन दिया है।[1]

उपन्यास के यही छै तत्व लगभग सभी विद्वान मानते हैं। कुछ विद्वानों ने "जीवन दर्शन के स्थान पर" "उद्देश्य" को छठा तत्व माना है।[2]

उपन्यासों के प्रकार—

उपन्यासों के विभाजन दो आधारों पर किये जा सकते हैं। प्रथम तत्वों के आधार पर और दूसरे वर्ण्य वस्तु के आधार पर। तत्वों के आधार पर उपन्यासों को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१ कथानक प्रधान २ चरित्र प्रधान

---

१ दि स्टडी आफ लिट्रेचर, पृ १७०।

२ काव्यशास्त्र डा० भगीरथ मिश्र पृ ८१।

साथ ही देखिये साहित्यालोचन डा० श्यामसुन्दरदास पृ १९२।

३ नाटकीय
५ वातावरण प्रधान
४ शैली प्रधान
६ उद्देश्य प्रधान

जिस उपन्यास में जिस तत्व का प्राधान्य होता है उस उपन्यास को उसी वर्ग के उपन्यासों में रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए कथानक प्रधान उपन्यासों में कथानक ही मध्य में रहता है। उसमें अन्य तत्वों की प्रधानता न होकर केवल कथा विकास घटनाओं द्वारा ही किया जाता है। अन्य तत्वों का समावेश केवल घटनाओं के स्पष्टीकरण के लिए ही किया जाता है।

इस प्रकार चरित्र प्रधान उपन्यासों में उपन्यास का ढाँचा चरित्रों पर आधारित होता है। इसमें पात्रों के चरित्र का प्रस्फुटन एवं विकास घटनाओं के द्वारा न होकर घटनाओं का सूत्रपात पात्रों के द्वारा होता है।

इसी प्रकार शैली वातावरण और उद्देश्य प्रधान उपन्यासों में क्रमशः वातावरण और उद्देश्य का प्राधान्य होता है। यदि शैली प्रधान उपन्यासों में शैली प्रमुख होती है तो वातावरण प्रधान उपन्यास में वातावरण। शैली प्रधान उपन्यासों में उपन्यासकार की शैली अपना विशिष्ट आकर्षण और रोचकता रखती है। यह शैली अलंकृत काव्यात्मक अथवा टकसाली हो सकती है। उदाहरण के लिए बाणभट्ट की कादम्बरी अपनी लम्बी वाक्यावली एवं समास पदावली के लिए प्रख्यात है। इसी प्रकार वातावरण प्रधान उपन्यासों में यह विशेषता होती है कि पाठक अपने को उपन्यास में चित्रित युग के अन्तर्गत विचरण करता हुआ पाता है। वह थोड़े समय के लिए भूल जाता है कि वह वर्तमान युग का व्यक्ति है। यह वातावरण की सृष्टि लेखक विभिन्न दृश्यों के चुनाव और वर्णन द्वारा करता है। उद्देश्य प्रधान उपन्यासों में कथानक किसी उद्देश्य या समस्या को लेकर चलता है।

वर्ण्य-वस्तु के आधार पर—

उपन्यासों का दूसरा वर्गीकरण वर्ण्य वस्तु के आधार पर किया जाता है। विचार से उपन्यासों के प्रागैतिहासिक मनोवैज्ञानिक सामाजिक राजनीतिक वैज्ञानिक आंचलिक आदि अनेक भेद किए जा सकते हैं।

वर्ण्य-वस्तु के आधार पर आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों का वर्गीकरण—

आचार्य जी के समस्त उपन्यासों को वर्ण्य-वस्तु की दृष्टि से हम निम्न चार वर्गों में रख सकते हैं :—

१ प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास
२ सामाजिक एवं राजनीतिक उपन्यास
३ मनोवैज्ञानिक उपन्यास
४ वैज्ञानिक उपन्यास

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक सामाजिक राजनीतिक एवं वैज्ञानिक उपन्यास कौन होते हैं तथा आचार्य जी के कौन कौन से उपन्यास भिन्न-भिन्न वर्गों में रखे जा सकते हैं। प्रथम हम उनके ऐतिहासिक उपन्यासों पर विचार करेंगे कारण आचार्य जी एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक विख्यात हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास —

जी० एम ट्रेवेलियन ने एक स्थान पर लिखा है "नीरस इतिहास सच्चा इतिहास नहीं, कारण बीती घटनाएँ कभी रसहीन होकर नहीं घटी थीं।"[1] इसी कारण एक विद्वान ने यहाँ तक कह डाला था कि "इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त सब कुछ वास्तविक नहीं और उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त सब कुछ वास्तविक है।" अंग्रेजी समालोचक वाल्टर बैगहॉट ने ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास की तुलना करते हुए जल प्रवाह में पड़ी हुई प्राचीन दुर्ग मीनार की छाया से की है। जल नवीन है। नित्य परिवर्तनशील है परंतु मीनार पुरानी है और अपने स्थान पर डटी हुई है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक की भी यही समस्या है कि उसके पैर तो इस पृथ्वी पर ही हैं वह साँस इस युग और निमिष में ले रहा है। परंतु उसका स्वप्न पुरातन है। और फिर भी नवीन है। एक ही ऐतिहासिक विषय पर विभिन्न युग के लेखक इसी कारण से विभिन्न प्रकार से लिखेंगे।"[2] इतिहास और कथा का पार्थक्य निश्चित रूप से विज्ञान युग का स्वाभाविक परिणाम है। और यह लगभग दो शताब्दियों पूर्व की घटना है। इससे कुछ पूर्व दोनों अधिक समीप थे और यदि कुछ शताब्दियों के व्यवधान को चीर कर देखें तो वे प्रायः अभिन्न दिखाई देते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथा की इस पुरातन अभिन्नता की सूक्ष्म समन्वयात्मक अभिव्यक्ति है जिसके पीछे युग-युग के अतीतोन्मुखी संस्कार निहित हैं। उसकी उत्पत्ति विश्व में आत्म-विस्तार की आंतरिक मानवीय वृत्ति से हुई है। कथा की कोई भी कल्पना किसी अथवा ऐतिह्य से उसी प्रकार अपने को सर्वथा मुक्त नहीं

१ 'म्यूजेज आफ हिस्ट्री' से।
२ आलोचना—१ अक्टूबर, ५१ 'ऐतिहासिक उपन्यास' पृ १०-११।

३ नाटकीय

४ शैली प्रधान

५ वातावरण प्रधान

६ उद्देश्य प्रधान

जिस उपन्यास में जिस तत्व का प्राधान्य होता है उस उपन्यास को उसी वर्ग के उपन्यासों में रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए कथानक प्रधान उपन्यासों में कथानक ही केंद्र में रहता है। उसमें अन्य तत्वों की प्रधानता न होकर केवल कथा विकास घटनाओं द्वारा ही किया जाता है। अन्य तत्वों का समावेश केवल घटनाओं के स्पष्टीकरण के लिए ही किया जाता है।

इस प्रकार चरित्र प्रधान उपन्यासों में उपन्यास का ढाँचा चरित्रों पर आधारित होता है। इसमें पात्रों के चरित्र का प्रस्फुटन एवं विकास घटनाओं के द्वारा न होकर घटनाओं का सूत्रपात पात्रों के द्वारा होता है।

इसी प्रकार शैली वातावरण और उद्देश्य प्रधान उपन्यासों में क्रमशः शैली वातावरण और उद्देश्य का प्राधान्य होता है। यदि शैली प्रधान उपन्यासों मे शैली प्रधान होती है तो वातावरण प्रधान उपन्यास में वातावरण। शैली प्रधान उपन्यासों में उपन्यासकार की शैली अपना विशिष्ट आकर्षण और रोचकता रखती है। यह शैली अलंकृत काव्यात्मक अथवा टकसाली हो सकती है। उदाहरण के लिए बाणभट्ट की कादम्बरी अपनी लम्बी वाक्यावली एवं समास पदावली के लिए प्रख्यात है। इसी प्रकार वातावरण प्रधान उपन्यासों में यह विशेषता होती है कि पाठक अपने को उपन्यास में चित्रित युग के अन्तर्गत विचरण करता हुआ पाता है। वह थोड़े समय के लिए भूल जाता है कि वह वर्तमान युग का व्यक्ति है। यह वातावरण की सृष्टि लेखक विभिन्न दृश्यों के चुनाव और वर्णन द्वारा करता है। उद्देश्य प्रधान उपन्यासों में कथानक किसी उद्देश्य या समस्या को लेकर चलता है।

वर्ण्य-वस्तु के आधार पर—

उपन्यासों का दूसरा वर्गीकरण वर्ण्य वस्तु के आधार पर किया जाता है। विचार से उपन्यासों के प्रागैतिहासिक मनोवैज्ञानिक सामाजिक राजनीतिक वैज्ञानिक आंचलिक आदि अनेक भेद किए जा सकते हैं।

वर्ण्य-वस्तु के आधार पर आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों का वर्गीकरण—

आचार्य जी के समस्त उपन्यासों को वर्ण्य-वस्तु की दृष्टि से हम निम्न चार वर्गों में रख सकते हैं :—

१ प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास
२ सामाजिक एवं राजनीतिक उपन्यास
३ मनोवैज्ञानिक उपन्यास
४ वैज्ञानिक उपन्यास

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक सामाजिक राजनीतिक एवं वैज्ञानिक उपन्यास कौन होते हैं तथा आचार्य जी के कौन कौन से उपन्यास भिन्न-भिन्न वर्गों में रखे जा सकते हैं। प्रथम हम उनके ऐतिहासिक उपन्यासों पर विचार करेंगे कारण आचार्य जी एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक विख्यात हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास—

जी० एम० ट्रेवेलियन ने एक स्थान पर लिखा है "नीरस इतिहास सच्चा इतिहास नहीं कारण बीती घटनाएँ कभी रसहीन होकर नहीं घटी थीं।"[1] इसी कारण एक विद्वान ने यहाँ तक कह डाला था कि "इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त सब कुछ वास्तविक नहीं और उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त सब कुछ वास्तविक है।" अंग्रेजी समालोचक वाल्टर बैजहॉट ने ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास की तुलना करते हुए जल प्रवाह में पड़ी हुई प्राचीन दुर्ग मीनार की छाया से की है। जल नवीन है। नित्य परिवर्तनशील है परंतु मीनार पुरानी है और अपने स्थान पर डटी हुई है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक की भी यही समस्या है कि उसके पैर तो इस पृथ्वी पर ही हैं वह साँस इस युग और निमिष में ले रहा है। परंतु उसका स्वप्न पुरातन है। और फिर भी नवीन है। एक ही ऐतिहासिक विषय पर विभिन्न युग के लेखक इसी कारण से विभिन्न प्रकार से लिखेंगे।"[2] इतिहास और कथा का पार्थक्य निश्चित रूप से विज्ञान युग का स्वाभाविक परिणाम है। और यह लगभग दो शताब्दियों पूर्व की घटना है। इसके कुछ पूर्व दोनों अधिक समीप थे और यदि कुछ शताब्दियों के व्यवधान की ओर मुड़ कर देखें तो वे प्रायः अभिन्न दिखाई देते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास और कथा की इस पुरातन समीपता की नूतन समन्वयात्मक *अभिव्यक्ति है जिसके पीछे युग-युग के अतीतानुरागी* संस्कार निहित हैं। उसकी उत्पत्ति विश्व में आत्म-विस्तार की आंतरिक शाश्वत वृत्ति से हुई है। कथा की कोई भी कल्पना विश्व अथवा ऐतिह्य से उसी प्रकार अपने को सर्वथा मुक्त नहीं

---

१ 'यूसेज आफ हिस्ट्री' से।

२ आलोचना—२ अक्टूबर, ५१ 'ऐतिहासिक उपन्यास' पृ० १०-१३।

कर सकती जिस प्रकार इतिहास अपने को कल्पना से पृथक नहीं कर सकता।[1] अंत में हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि इतिहास और कथा के सानुपातिक समन्वय से ऐतिहासिक कथा की सृष्टि होती है।

ऐतिहासिक उपन्यास की कसौटी —

ऐतिहासिक उपन्यास के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें उसकी ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा की गई हो। उसमें प्रचलित ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़ा मरोड़ा न गया हो-कथानक एवं वातावरण की कल्पना करते समय उपन्यासकार को उसकी ऐतिहासिकता पर पूर्ण ध्यान देना पड़ता है। किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा पुष्प काल में गुलाबी और फिरोजी रंग की साड़ियाँ इस मेज पर सजे गुलदस्ते झाड़ फानूस लाये जायेंगे सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिए जायेंगे और उन पर करतल ध्वनि होगी बात-बात में धन्यवाद सहानुभूति ऐसे शब्द तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना ऐसे फिकरे पायेंगे तो काफी हँसने वाले और नाक भौं सिकोड़ने वाले मिलेंगे।[2] अतः ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए एक सीमित क्षेत्र रहता है उसमें वह स्वच्छंद विचरण कर सकता है किन्तु तत्कालीन इतिहास देश और काल की उपेक्षा करके सीमा का अतिक्रमण करके मनमानी कुलांचे मारने से रचना की कलात्मकता एवं ऐतिहासिकता समाप्त हो जाती है। इस विषय से सम्बन्धित राहुल सांकृत्यायन का कथन उल्लेखनीय है 'ऐतिहासिक उपन्यास में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है। किन्तु, उसने पद-चिह्न कुछ जरूर छोड़े हैं जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते। इन पद चिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि अपने लिए दुष्कर समझते हैं तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें? ऐतिहासिक उपन्यासकार का विवेक वैसा ही होना चाहिये जैसा कि इतिहासकार का होता है। उसे समझना चाहिए कि कौन सी सामग्री का मूल्य अधिक है और किसका कम है। लिखित सामग्री वही प्रथम श्रेणी की मानी जायेगी जिसे उसी समय लिपिबद्ध किया गया हो।' ऐतिहासिक अनौचित्य से बचने के लिये जिस तरह

---

१ आलोचना (उपन्यास अंक) इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार, जगदीश गुप्त पृ १७४।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है वैसे ही भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। "जिस तरह ऐतिहासिक मानदंड स्थापित करने के लिये तत्कालीन राजाओं के राज्य और शासनकाल की पहले से ही तालिका बनाकर उसमें वर्णनीय घटनाओं के अध्याय क्रम को ठीक लेना जरूरी है उसी तरह भौगोलिक स्थानों उनकी दिशाओं और दूरियों का ठीक-ठीक अन्दाज रहने के लिये तत्सम्बंधी नक्शे का खाका हर वक्त सामने रखना चाहिये। एसा न करने से बहुतसी गलती हो जाती है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखना सरल नहीं है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को वैयक्तिक आग्रहों से ऊपर उठकर निष्पक्ष तटस्थ एवं निर्मल ऐतिहासिक दृष्टि से तत्कालीन जन जीवन का देखना पड़ता है। उस अधारीरी कल्पना के माध्यम से उस युग में विचरण करना पड़ता है। तत्कालीन इतिहास भूगोल सामाजिक रीति-रिवाज रहन-सहन सभी की पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है अन्यथा उसका ऐतिहासिक उपन्यास लिखना एक बचकाना खिलवाड़ मात्र बन कर रह जाता है।

आचार्य जी का दृष्टिकोण —

आचार्य जी का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न है। उनका मत है कि साहित्यकार ऐतिहासिक तथ्यों से बिल्कुल बंधकर नहीं चल सकता यदि वह एसा करेगा तो अपनी कृति में उस 'रस' का संचार नहीं कर सकता जो साहित्य को अमरत्व के साथ ही साथ माधुर्य और ग्राह्यग्राहिता प्रदान करता है। इतिहास और साहित्य में अंतर ही यह है कि जहाँ इतिहास देश और काल से बंधकर एक जड़ सत्य बनकर रह जाता है, वहाँ साहित्य उस सत्य को गतिवान संवेगशील बनाता है और उसकी धारा को देश तथा काल की सीमा को तोड़ निखिल विश्व का आप्लावित करने की क्षमता प्रदान करता है। पाठक उसे पढ़कर केवल ज्ञान का अर्जन नहीं करता अपितु वर्णित देश और काल में सदेह पहुँचकर सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन करता है।[2] वे ऐतिहासिक रस की सृष्टि के लिए जान बूझकर ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा करना भी उचित समझते

१ आलोचना उपन्यास अंक 'ऐतिहासिक उपन्यास' राहुल सांकृत्यायन पृ १७० से १७२ तक।

२ साप्ताहिक हिन्दुस्तान सम्पादकीय 'उपन्यास और ऐतिहासिक सत्य', ५ जून १९५५ साथ ही देखिए, 'वैशाली की नगरवधू' भूमि पृ ७५४।

है ।[1] वे ऐतिहासिक सत्यों को स्थिर नहीं समझते । उनका कथन है 'यह कहा जा सकता है कि उसे ऐतिहासिक उपन्यास और कथानक लिखने से पहिले ऐतिहासिक स्थिर सत्यों को जानना चाहिए । परंतु यदि वह ऐसा करे तो वह कदापि कोई रचना जीवन में नहीं कर सकता क्योंकि ऐतिहासिक स्थिर सत्यों का ज्ञान कभी भी पूरा नहीं हो सकता उनमें गवेषणा करनेवाले विद्वानों के द्वारा नई-नई जानकारी होते रहने से निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं । फिर क्यों न साहित्यकार अपनी कहानी और उपन्यास को चिर-सत्य के आधार पर—जिसमें गवेषणा की कोई गुंजायश ही नहीं—रचना करे और ऐसी रचनाएँ जो साहित्य संश्लिष्ट हैं और जिनका आरम्भ एक अनिर्दिष्ट रस है—अपने स्थान पर पूजित हों । साहित्य के आचार्यों ने भी मूल रसों को साहित्य-सृजन में महत्व दिया है, परंतु उनके सिवा कुछ और 'अनिर्दिष्ट रस' हैं जिनमें एक 'इतिहास-रस' भी है ।'[2] स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी भी रवीन्द्र बाबू[3] की भाँति 'ऐतिहासिक-रस' में विश्वास करते हैं उसके सत्य में उतना नहीं । उन्होंने एक स्थान पर एक घटना की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा है 'इतिहासकार तो इतिहास में संशोधन कर देंगे पर उपन्यासकार कैसे संशोधन करेंगे । मैंने देखा इतिहास के स्थिर-सत्य के बराबर तो दूसरा असत्य कोई पृथ्वी पर है ही नहीं । इतिहास में तो सदैव ही एक सत्य को धकेल कर दूसरा सत्य उसका स्थान लेता जाएगा । पर साहित्य में ऐसा नहीं हो सकता । मैंने स्थिर-सत्य और चिर-सत्य के आधार पर ऐतिहासिक साहित्य को इतिहास से पृथक कर दिया ।'[4] इसी कारण से उन्होंने 'ऐतिहासिक उपन्यास' शब्द का प्रयोग न करके 'इतिहास रस का उपन्यास' का प्रयोग किया है । वास्तव में उनका यह कथन एक सीमा तक उचित ही है, कारण ऐतिहासिक उपन्यासों के न तो पात्र ही आँखों-देखे होते हैं और न ही उनकी परिस्थितियाँ एवं घटनाएँ ही ऐसी होती हैं । ऐसी दशा में हम किसी भी उपन्यास को पूर्ण ऐतिहासिक कैसे कह सकते हैं । इतिहासकार को स्वयं भी तो कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है फिर तो उपन्यास शुद्ध कल्पना की देन है उसके अभाव में उसका निर्माण ही असम्भव है । सत्य यह है कि 'इतिहास विवरण देता है, उपन्यास चित्रण

---

१ वैशाली की नगर-वधू भूमि०, पृ ७७२ ।
२ नगरवधू-भूमि, पृ ७७५-७६ ।
३ शुभमस्तु दीपावलि विशेषांक, १९५८ पृ १२९ ।
४ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ ९७-९८ ।

करता है। चित्रण में घटना के आंतरिक संबन्धों का नैरंतर्य होता है, इसी कारण यह अधिक सूक्ष्म एवं अधिक व्यंजक होता है जब कि विवरण अधिक स्थूल नैरंतर्य का सूचक होता है। उपन्यास का पाठक पढ़ते समय इतिहास की घटनाओं को नहीं जानना चाहता नाम भी नहीं याद करना चाहता वह तो चित्रित युग के आंतरिक संबन्ध उसके 'घटना प्रवाह' को जानना चाहता है और इस प्रकार इतिहास की बढ़ती हुई शक्तियों की अवगति नहीं 'बिम्ब ग्रहण' की प्रक्रिया स्वीकार करता है। उपन्यास का चरित्र इस 'बिम्ब ग्रहण' की इकाई बनता है जब कि इतिहास में घटना का निवारण उसके बोध की इकाई होता है।[1] उपन्यास में इतिहास के उस 'बिम्ब ग्रहण' के कारण पाठक को जो आनंद (या और कुछ) मिलता है, उसी का आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में समावेश किया है। इसी को उन्होंने 'इतिहास रस' का नाम दिया है।

आचार्य चतुरसेन जी का उद्देश्य किसी युग विशेष के पुनर्निर्माण (Reconstruction) का रहा है। इसके लिए उन्होंने प्रमुख और अप्रमुख दोनों ही प्रकार के पात्रों को माध्यम बनाया है। उन्होंने तत्कालीन वातावरण का निर्माण करके उसमें उन पात्रों की स्थापना कर दी है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने केवल इतिहास ग्रंथों का ही आश्रय नहीं लिया है वरन् अवशिष्ट वातावरण परम्पराएँ अवशेषों स्मारक चिह्नों किंवदंतियों लोक कथाओं का भी आश्रय लिया है। इन सबके ऊपर उनकी प्रखर कल्पना शक्ति रही है। इसी कारण उनका दृष्टिकोण अन्य विद्वानों से भिन्न रहा है। उन्होंने युग विशेष के बाह्य और आंतरिक सत्यों विचारधाराओं इतिहास की विकासमान शक्तियों एवं 'सोनाक-मोरम' को चित्रित करते समय इतिहास के तथ्यों की कभी चिन्ता नहीं की है।[2] अतः उनके

---

१ सुप्रभात दीपावलि विशेषांक १९५८ ऐतिहासिक उपन्यास देवीशंकर अवस्थी पृ १२९।

२ एक स्थान पर आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए स्वयं लिखा है 'ऐतिहासिक उपन्यासों में तथ्यों को पीछे फेंक देता हूँ। स्थिर सत्य के आधार पर कल्पना मूर्तियों को आगे ले आता हूँ। मेरी यह कल्पना मूर्तियाँ बनाती हैं दृश्य और ऐतिहासिक तथ्य बन जाते हैं कहानी। कहानी में मानव चरित्र का नहीं चरित्र के प्रेरक भावों को अधिक चित्रित करता हूँ। परन्तु विवाद व्याख्यान विषयों पर मैं कुछ अध्ययन और प्रमाणों की पुष्टता से आगे बढ़ता हूँ।

है।[1] वे ऐतिहासिक सत्यों को स्थिर नहीं समझते। उनका कथन है 'यह कहा जा सकता है कि उसे ऐतिहासिक उपन्यास और कथानक लिखने से पहिले ऐतिहासिक विशेष सत्यों को जानना चाहिए। परंतु यदि वह ऐसा करे तो वह कदापि कोई रचना जीवन में नहीं कर सकता क्योंकि ऐतिहासिक विशेष सत्यों का ज्ञान कभी भी पूरा नहीं हो सकता उसमें गवेषणा करनेवाले विद्वानों के द्वारा नई-नई जानकारी होते रहने से निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। फिर क्यों न साहित्यकार अपनी कहानी और उपन्यास को चिर-सत्य के आधार पर—जिसमें गवेषणा की कोई गुंजाइश ही नहीं—रचना करे और ऐसी रचनाएँ जो साहित्य संश्लिष्ट हैं और जिनका आरम्भ एक अनिर्दिष्ट रस है—अपने स्थान पर पूजित हों। साहित्य के आचार्यों ने भी मूल रसों को साहित्य-सृजन में महत्व दिया है परंतु उनके सिवा कुछ और 'अनिर्दिष्ट-रस' हैं जिनमें एक इतिहास-रस' भी है।[2] स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी भी रवीन्द्र बाबू[3] की भाँति 'ऐतिहासिक-रस' में विश्वास करते हैं उसके सत्य में उतना नहीं। उन्होंने एक स्थान पर एक घटना की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा है 'इतिहासकार तो इतिहास में संशोधन कर लेंगे पर उपन्यासकार कैसे संशोधन करेंगे। मैंने देखा इतिहास के स्थिर-सत्य के बराबर तो दूसरा असत्य कोई पृथ्वी पर है ही नहीं। इतिहास में तो सदैव ही एक सत्य को ढकेल कर दूसरा सत्य उसका स्थान लेता जाएगा। पर साहित्य में ऐसा नहीं हो सकता। मैंने स्थिर-सत्य और चिर-सत्य के आधार पर ऐतिहासिक साहित्य को इतिहास से पृथक कर दिया।[4] इसी कारण से उन्होंने 'ऐतिहासिक उपन्यास' शब्द का प्रयोग न करके 'इतिहास-रस का उपन्यास' का प्रयोग किया है। वास्तव में उनका यह कथन एक सीमा तक उचित ही है कारण ऐतिहासिक उपन्यासों के न तो पात्र ही आँखों-देखे होते हैं और न ही उनकी परिस्थितियाँ एवं घटनाएँ ही ऐसी होती हैं। ऐसी दशा में हम किसी भी उपन्यास को पूर्ण ऐतिहासिक कैसे कह सकते हैं। इतिहासकार को स्वयं भी तो कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है फिर तो उपन्यास शुद्ध कल्पना की देन है, उसके अभाव में उसका निर्माण ही असम्भव है। सत्य यह है कि 'इतिहास विवरण देता है उपन्यास चित्रण

---

१ वैशाली की नगर-वधू भूमि० पृ ७०१।

२ नगरवधू-भूमि पृ ७०१-७१।

३ सुप्रभात, दीपावली विशेषांक, १९५८ पृ १२९।

४ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ २७-२८।

करता है। बिम्ब में चयन के आंतरिक सम्बन्धों का ऐश्वर्य होता है, इसी कारण यह अधिक सूक्ष्म एवं अधिक व्यंजक होता है जब कि विवरण अधिक स्थूल ऐश्वर्य का सूचक होता है। उपन्यास का पाठक पढ़ते समय इतिहास की घटनाओं को नहीं जानना चाहता नाम भी नहीं याद करना चाहता वह तो विशिष्ट युग के आंतरिक सम्बन्धों उसके 'चलता प्रवाह' को जानना चाहता है और इस प्रकार इतिहास की बन्धी हुई शक्तियों की अवगति नहीं 'बिम्ब ग्रहण' की प्रक्रिया स्वीकार करता है। उपन्यास का चरित्र इस 'बिम्ब ग्रहण' की इकाई बनता है, जब कि इतिहास में घटना या निवारण उसके बोध की इकाई होता है।[1] उपन्यास में इतिहास के इस 'बिम्ब ग्रहण' के कारण पाठक को जो आनंद (या और कुछ) मिलता है, उसी का आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में समावेश किया है। इसी को उन्होंने 'इतिहास रस' का नाम दिया है।

आचार्य चतुरसेन जी का उद्देश्य किसी युग विशेष का पुनर्निर्माण (Reconstruction) का रहा है। इसके लिए उन्होंने प्रमुख और अप्रमुख दोनों ही प्रकार के पात्रों को माध्यम बनाया है। उन्होंने तत्कालीन वातावरण का निर्माण करके उसमें उन पात्रों की स्थापना कर दी है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने केवल इतिहास ग्रंथों का ही आश्रय नहीं लिया है वरन् अवशिष्ट वातावरण परम्परायें अवशेषों स्मारक चिह्नों किंवदंतियों लोक कथाओं का भी आश्रय लिया है। इन सबके ऊपर उनकी प्रखर कल्पना शक्ति रही है। इसी कारण उनका दृष्टिकोण अन्य विद्वानों से भिन्न रहा है। उन्होंने युग विशेष के बाह्य और आंतरिक संबंधों विचारधाराओं इतिहास की विद्यमान शक्तियों एवं 'सोसल-मोरस' का चित्रण करते समय इतिहास के तथ्यों की कमी चिन्ता नहीं की है।[2] अतः उनके

१ युगप्रभात दीपावलि विशेषांक १९५८ ऐतिहासिक उपन्यास देवीशंकर अवस्थी पृ १२९।

२ एक स्थान पर आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए स्वयं लिखा है "ऐतिहासिक उपन्यासों में तथ्यों को पीछे फेंक देता हूं। स्थिर सत्य के आधार पर कल्पना मूर्तियों को आगे ले आता हूं। मेरी वह कल्पना मूर्तियां बनती हैं दूसरा और ऐतिहासिक तथ्य कम बात है कहानी। कहानी में बाह्य चरित्र का नहीं चरित्र के प्रेरक भावों को अधिक विकसित करता हूँ। परन्तु विवाद व्याख्यान विषयों पर मैं खूब अध्ययन और प्रमाणों की धूमधाम से आगे बढ़ता हूं।

उपन्यासों की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय उनके इस दृष्टिकोण को सामने रखना अनिवार्य है फिर भी किसी ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना करना ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक उपन्यासकार को सहृदय होना चाहिए, जिस युग का ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का वह उपक्रम कर रहा है उस युग की ऐतिहासिक घटनाओं परम्पराओं जीवन की गतिविधियों आदि के विपरीत यदि वह कुछ चित्रण करता है तो इसे उसकी भूल ही माना जायगा। आचार्य चतुरसेन जी का यह मत कि इतिहास सदैव संशोधित होता रहता है इसलिए उपन्यासकार को ऐतिहासिक तथ्यों से बँधकर नहीं चलना चाहिए वरन् चिर सत्य को ग्रहण करना चाहिए भी मान्य नहीं हो सकता। चिर सत्य ऐतिहासिक सत्य के विरोध में पड़े यह बात नहीं हो सकती और जिस समय उपन्यास लिखा जा रहा है उस समय तक प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों का विरोध ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए क्षम्य नहीं है। वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यासकार प्राप्त ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों को सजाता और सजीव तो बनाता ही है, इसके साथ ही वह उनसे मिलती-जुलती और सामंजस्य रखनेवाली अनेक परिस्थितियों और घटनाओं की कल्पना करता है जिससे ऐतिहासिक तथ्यों से प्रभावित व्यक्तित्व और वातावरण पूर्णतः खिल उठे। इस प्रकार की कल्पना करने में उसकी स्वच्छंदता मर्यादित होनी चाहिए

उपर्युक्त कसौटी पर कसने पर आचार्य चतुरसेन जी के निम्न बारह उपन्यास ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं—

१ पूर्णाहुति (अभास का ब्याह) २ वैशाली की नगरवधू ३ रक्त की प्यास ४ देवांगना (मंदिर की नर्तकी) ५ सोमनाथ ६ आलमगीर, ७ वयंरक्षाम ८ लालपानी ९ सह्याद्रि की चट्टानें १० बिना चिराग का शहर, ११ सोना और खून (अपूर्ण) १२ हृदय निर्मंथन।

इन बारहों ऐतिहासिक उपन्यासों को हम निम्न पाँच वर्गों में रख सकते हैं—

प्रथम शुद्ध ऐतिहासिक—जिसमें हम 'आलमगीर' को रख सकते हैं, इसमें इतिहास के अत्यधिक आग्रह के कारण औपन्यासिकता नहीं रही गई है।

दूसरे 'अतीत रस' के अध्ययन प्रधान उपन्यास इसमें अध्ययन की सामग्री बलात् भरने अतीत की कितनी ही स्मृतियों को एक साथ चित्रित करने तथा तत्कालीन सांस्कृतिक प्रयासों को मूर्तिमान करने के कारण तत्कालीन संस्कृति एवं इतिहास प्रधान और औपन्यासिकता गौण हो गई है जैसे 'वयंरक्षाम' ।

तीसरे वे 'इतिहास रस' के उपन्यास जिनमें घटनाएँ तो कुछ ही ऐतिहासिक हैं। किन्तु जिनमें तत्कालीन ऐतिहासिक सामाजिक धार्मिक वातावरण बिल्कुल सजीव है। पात्रों के नाम भी ऐतिहासिक हैं। वस्तुत: इसमें ऐतिहासिक वातावरण में एक काल्पनिक रोमांटिक कथा कही गई है। कल्पना का आधार एक दो जन श्रुतियां ही हैं। इस कोटि में हम 'वैशाली की नगर वधू' 'बिना चिराग का शहर' आदि उपन्यासों को रख सकते हैं।

चौथी कोटि में वे उपन्यास जिनमें मूल कथा तो ऐतिहासिक है किन्तु जन-श्रुतियों परम्पराओं एवं अपने निजी निष्कर्षों को प्रस्तुत करने तथा कथा में इतिहास रस का संचार करने के लिए उसमें उस ऐतिहासिक चौखटे के के अन्दर ही मनमानी उड़ानें भरी हैं। जैसे 'सोमनाथ' 'आलमगीर' 'सह्याद्रि की चट्टानें', 'रक्त की प्यास' 'हरण निमंत्रण' 'सोना और खून' आदि उपन्यास।

पांचवीं कोटि में आचार्य जी के उन ऐतिहासिक उपन्यासों को रख सकते हैं जिनमें अप्रमुख पात्र को ही माध्यम बनाकर एक ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करके कथा कही गई है। इस कोटि में हम देवांगना (मंदिर की नर्तकी) को रख सकते हैं।

इन उपन्यासों के कथानक विभिन्न युगों एवं कालों से सम्बंधित हैं। अत: कालक्रमानुसार इनका एक अन्य वर्गीकरण भी किया जा सकता है—

१ प्रागैतिहासिक युग एवं रामायण कालीन—वयं रक्षाम

२ जैन-बौद्ध प्रभाव के गुप्त-मौर्यादि युग से सम्बंधित—वैशाली की नगर वधू।

३ मध्ययुग से सम्बंधित—सोमनाथ, रक्त की प्यास हरण निमंत्रण मंदिर की नर्तकी (देवांगना) पूर्णाहुति (बगावत का ब्याह) बिना चिराग का शहर, आलमगीर

४ मुगल कालीन—आलमगीर, सह्याद्रि की चट्टानें

५ अंग्रेजी राज्यकाल के आरंभ से वर्तमान तक सोना और खून (दो भाग)

उपन्यासों की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय उनके इस दृष्टिकोण को सामने रखना अनिवार्य है फिर भी किसी ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना करना ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक उपन्यासकार को बहुश्रुत होना चाहिए, जिस युग का ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का वह उपक्रम कर रहा है उस युग की ऐतिहासिक घटनाओं परम्पराओं जीवन की गतिविधियों आदि के विपरीत यदि वह कुछ चित्रण करता है तो इसे उसकी भूल ही माना जायगा। आचार्य चतुरसेन जी का यह मत कि इतिहास सदैव संशोधित होता रहता है इसलिए उपन्यासकार को ऐतिहासिक तथ्यों से बंधकर नहीं चलना चाहिए वरन् चिर सत्य को ग्रहण करना चाहिए भी मान्य नहीं हो सकता। चिर सत्य ऐतिहासिक सत्य के विरोध में पड़े यह बात नहीं हो सकती और जिस समय उपन्यास लिखा जा रहा है उस समय तक प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों का विरोध ऐतिहासि उपन्यासकार के लिए क्षम्य नहीं है। वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यासकार प्राप्त ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों को समाता और सजीव तो बनाता ही है इसके साथ ही वह उनसे मिलती-जुलती और सामंजस्य रखनेवाली अनेक परिस्थितियों और घटनाओं की कल्पना करता है जिससे ऐतिहासिक तथ्यों से प्रभावित व्यक्तित्व और वातावरण पूर्णत खिल उठें। इस प्रकार की कल्पना करने में उसकी स्वच्छंदता मर्यादित होनी चाहिए

उपर्युक्त कसौटी पर कसने पर आचार्य चतुरसेन जी के निम्न बारह उपन्यास ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं—

१ पूर्णाहुति (बगास का ब्याह) २ वैशाली की नगरवधू
३ रक्त की प्यास ४ देवांगना (मंदिर की नर्तकी) ५ सोमनाथ
६ आलमगीर, ७ धर्मराज्य ८ आलमगीरी ९ सह्याद्रि की चट्टानें
१० बिना चिराग का शहर, ११ सोना और खून (अपूर्ण) १२ हरन

निर्मम।

इन बारहों ऐतिहासिक उपन्यासों को हम निम्न पाँच वर्गों में रख सकते हैं—

प्रथम शुद्ध ऐतिहासिक—जिसमें हम 'आलमगीर' को रख सकते हैं इसमें इतिहास के अत्यधिक आग्रह के कारण औपन्यासिकता गौण हो गई है।

उपन्यासों की ऐतिहासिकता पर विचार करते समय उनके इस दृष्टिकोण को सामने रखना अनिवार्य है फिर भी किसी ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना करना ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक उपन्यासकार को सावधान होना चाहिए, जिस युग का ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का वह उपक्रम कर रहा है उस युग की ऐतिहासिक घटनाओं परम्पराओं जीवन की गतिविधियों आदि के विपरीत यदि वह कुछ चित्रण करता है तो इस उसकी भूल ही माना जायगा। आचार्य चतुरसेन जी का यह मत कि इतिहास सदैव संशोधित होता रहता है इसलिए उपन्यासकार को ऐतिहासिक तथ्यों से बंधकर नहीं चलना चाहिए वरन् चिर सत्य को ग्रहण करना चाहिए भी मान्य नहीं हो सकता। चिर सत्य ऐतिहासिक सत्य के विरोध में पड़े यह बात नहीं हो सकती और जिस समय उपन्यास लिखा जा रहा है उस समय तक प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों का विरोध ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए क्षम्य नहीं है। वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यासकार प्राप्त ऐतिहासिक घटनाओं और तथ्यों को सप्राण और सजीव तो बनाता ही है, इसके साथ ही वह उनसे मिलती-जुलती और सामंजस्य रखनेवाली अनेक परिस्थितियों और घटनाओं की कल्पना करता है जिससे ऐतिहासिक तथ्यों से प्रभावित व्यक्तित्व और वातावरण पूर्णत खिल उठे। इस प्रकार की कल्पना करने में उसकी स्वच्छंदता मर्यादित होनी चाहिए

उपर्युक्त कसौटी पर कसने पर आचार्य चतुरसेन जी के निम्न बारह उपन्यास ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं—

१ पूर्णाहुति (बगास का ब्याह), २ वैशाली की नगरवधू ३ रक्त की प्यास ४ देवांगना (मंदिर की नर्तकी) ५. सोमनाथ ६ आलमगीर, ७ वयंरक्षामः, ८ लाल पानी ९. सह्याद्रि की चट्टानें १० बिना चिराग का शहर, ११ सोना और खून (अपूर्ण) १२ हरण निमंत्रण।

इन बारहों ऐतिहासिक उपन्यासों को हम निम्न पाँच वर्गों में रख सकते हैं—

प्रथम शुद्ध ऐतिहासिक—जिसमें हम 'आलमगीर' को रख सकते हैं इसमें इतिहास के आत्यधिक आग्रह के कारण औपन्यासिकता गौण हो गई है।

दूसरे 'अतीत रस' के अध्ययन प्रधान उपन्यास इसमें अध्ययन की सामग्री बलात् भरने अतीत की कितनी ही स्मृतियों को एक साथ चित्रित करने तथा तत्कालीन सांस्कृतिक प्रयासों को मूर्तिमान करने के कारण तत्कालीन संस्कृति एवं इतिहास प्रधान और औपन्यासिकता गौण हो गई है जैसे 'वयंरक्षाम' ।

तीसरे वे 'इतिहास रस' के उपन्यास जिनमें घटनाएँ तो कुछ ही ऐतिहासिक हैं। किन्तु जिनमें तत्कालीन ऐतिहासिक सामाजिक धार्मिक वातावरण बिल्कुल सजीव है। पात्रों के नाम भी ऐतिहासिक हैं। वस्तुत: इसमें ऐतिहासिक वातावरण में एक काल्पनिक रोमांटिक कथा कही गई है। कल्पना का आधार एक दो जन श्रुतियां ही हैं। इस कोटि में हम 'वैशाली की नगर वधू' 'बिना चिराग का शहर' आदि उपन्यासों को रख सकते हैं।

चौथी कोटि में वे उपन्यास जिनमें मूल कथा तो ऐतिहासिक है किन्तु जन-श्रुतियों परम्पराओं एवं अपने निजी निष्कर्षों को प्रस्तुत करने तथा कथा में इतिहास रस का संचार करने के लिए उसमें उस ऐतिहासिक चौखटे के के अन्दर ही मनमानी उड़ानें भरी हैं। जैसे 'सोमनाथ' 'आलमगीर' 'सह्याद्रि की चट्टानें' 'रक्त की प्यास' 'हृदय निमंत्रण' 'सोना और खून' आदि उपन्यास ।

पांचवीं कोटि में आचार्य जी के उन ऐतिहासिक उपन्यासों को रख सकते हैं जिनमें अप्रमुख पात्र को ही माध्यम बनाकर एक ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करके कथा कही गई है। इस कोटि में हम देवांगना (मंदिर की नर्तकी) को रख सकते हैं।

इन उपन्यासों के कथानक विभिन्न युगों एवं कालों से सम्बंधित हैं। अत: कालक्रमानुसार इनका एक अन्य वर्गीकरण भी किया जा सकता है—

१ प्रागैतिहासिक युग एवं रामायण कालीन—वयं रक्षाम
२ जैन-बौद्ध प्रभाव के गुप्त-मौर्यादि युग से सम्बंधित—वैशाली की नगर वधू।
३ मध्ययुग से सम्बंधित—सोमनाथ रक्त की प्यास, हृदय निमंत्रण मंदिर की नर्तकी (देवांगना) पूर्णाहुति (अबास का ब्याह) बिना चिराग का शहर, आलमगीर
४ मुगल कालीन—आलमगीर सह्याद्रि की चट्टानें
५ अंग्रेजी राज्यकाल के प्रारंभ से वर्तमान तक सोना और खून (दो भाग)

सामाजिक उपन्यास —

सामाजिक उपन्यासों का सीधा सम्बंध समाज से होता है। स्थायी तथा सर्वसाधारण महत्व के कुछ सामान्य हितों की पूर्ति के लिए शान्तिपूर्वक प्रयत्नशील सहयोगी मनुष्यों का समूह समाज है। मनुष्यों या व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बंध (शान्तिपूर्वक सहअस्तित्व मतभेद द्वन्द्व आदि) तथा उनकी सामान्य हित पूर्ति की दिशा में आई अड़चनें प्रयत्न एवं निष्कर्ष ही सामाजिक उपन्यास की रीढ़ की हड्डी का कार्य करते हैं।[1]

सामाजिक उपन्यास कई प्रकार के हो सकते हैं। जैसे समस्यामूलक राजनीतिक नैतिक मनोवैज्ञानिक (इसका आगे प्रथक वर्णन करेंगे) आदि। इस वर्ग में आचार्यजी के निम्न तेरह उपन्यासों को रखा जा सकता है—

१ हृदय की परख २ हृदय की प्यास ३ आत्मदाह ४ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) ५. दो किनारे, ६ अदल-बदल ७ नरमेध ८ अपराजिता ९. धर्म पुत्र १ मोती ११ उदयास्त १२ बगुला के पंख एवं १३ मोती।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास[2]

मनोवैज्ञानिक उपन्यास कौन ?—मनोवैज्ञानिक एवं अन्य उपन्यासों के मध्य हम कोई ऐसी सीमा रेखा नही खींच सकते जिसके द्वारा हम उन्हें सहज ही पहचान

१ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा, डा० सिहुल पृ ९५।

२ 'मनोविज्ञान का अर्थ, जहाँ तक उपन्यास कला का प्रश्न है, है अनुभूति का विषयगत तथा आत्मनिष्ठ रूप (सब्जेक्टिव आस्पेक्ट आफ एक्सपीरियेन्स)। यदि किसी उपन्यास में घटना या अनुभूति के आत्म-निष्ठ रूप की अभिव्यक्ति पर आग्रह पायेंगे तो हम उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे। उपन्यास का वह अंश जहाँ घटना के मूल में पैठकर उसके मानसिक कारणों की व्याख्या की गई हो अथवा उसके द्वारा उत्पन्न मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया गया हो मनोवैज्ञानिक ही कहा जायेगा। इस तरह इस बात की सम्भावना हो सकती है कि पूरे उपन्यास में मनोविज्ञान का कोई विशेष आग्रह न हो पर उसके विशेष अंश में या कुछ अंशों में मनोविज्ञान की स्पष्ट झलक हो। (आ० हि० क० सा० में मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय पृ १४)।

सकें। पर साधारणतः यह बात कही जा सकती है कि जिसमें लेखक मानसिक प्रतिक्रिया को एक सुनिश्चित और सीधी-सादी प्रणाली से प्रवाहित होती हुई न दिखला कर टेढ़ी-मेढ़ी राह से बाँध को तोड़ उफन उठती हुई दिखलाये वह मनोवैज्ञानिक उपन्यास ही होगा। यह हो सकता है कि कहीं प्रक्रिया चेतन स्तर पर चलती हो कहीं अचेतन स्तर पर। कहीं लेखक पात्रों की मानसिक क्रियाओं की तोड़-मरोड़ को (Twists) को जटिलता को स्वयं दिखलाता जाय। यह भी संभव है कि लेखक पात्रों के जीवन में होने वाले उलट-फेर को दिखलाता तो जाय पर उनको प्रेरित करने वाली आन्तरिक प्रवृत्तियों की चर्चा न करे कारण कि लेखक और लेखक-निबद्ध-पात्र दोनों के अचेतन स्तर पर उन प्रवृत्तियों की व्यापार लीला प्रारम्भ होती है। ऐसे ही अवसरों पर व्याख्याता को स्वतंत्रता रहती है कि वह मनोवैज्ञानिक प्रचलित सिद्धांतों की सहायता लेकर पात्रों को तथा घटनाओं को समझने-समझाने का प्रयत्न करे।[१] मनोवैज्ञानिक उपन्यास के लिए विषय का भी महत्व है। कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनके समावेश से उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश सहज साध्य हो जाता है। यथा—एक प्रेमी की दो प्रमिकायें दो प्रेमिकाओं का एक प्रेमी समाज से निवृत्त व्यक्ति का चित्रण बालकों के विशेषतः ज्येष्ठ कनिष्ठ या एकलौते बालकों के क्रिया-कलाप का वर्णन प्रचलित सामाजिक प्रथाओं और रूढ़ियों के विरुद्ध क्रांति करने वाले पात्र अकर्मण्य आत्मलीन तथा हाथ पर हाथ धरे कल्पना जगत के प्राणी, परस्पर विरोधी आचरण निरत पात्र किसी विशिष्ट मनोवृत्ति (Master spirit) से संचालित न होकर एक क्षण वीर और दूसरे ही क्षण कायर की तरह आचरण करने वाले व्यक्ति इन सब विषयों की अवतारणा से औपन्यासिक को अधिक मनोवैज्ञानिक जटिलताओं और बारीकियों का दिखलाने का अवसर मिलता है।[२]

केवल विषय ही नहीं मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की टेकनीक भी अन्य उपन्यासों से भिन्न होती है। डा० देवराज उपाध्याय ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के टेकनीक पर विचार करते हुए लिखा है 'उपन्यास के क्षेत्र में मनोविज्ञान के प्रवेश के साथ ही साथ ही उसके बाह्य कलेवर, अभिव्यक्ति के रंग-ढंग म

---

१ आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय पृ २८।

२ आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय पृ २८-२९।

परिवर्तन का आना अनिवार्य ही है। ठीक उसी तरह जैसे भावों के परिवर्तन होने से तत्सूचक अनुभावों में सहज परिवर्तन हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यास का ध्येय मात्र अनुभूति का ही नहीं परंतु अनुभूति के आत्मनिष्ठ तथा विषम गत रूप का प्रदर्शन होता है। अतः इसमें (१) सुसंगठित कथावस्तु के प्रति उदासीनता होती है इसमें इस बात की इतनी परवाह नहीं होती कि कथा की कड़ियाँ इतनी बारीकी से मिलाई जायें कि कहीं भी जोड़ मालूम न पड़े। इसमें घटनायें गौण होंगी उपलक्षण मात्र होंगी। उनके सहारे पात्रों के आन्तरिक-भावपक्ष को खोलकर रखना ही उद्देश्य होगा। (२) कथा भी कोई लम्बी चौड़ी दीर्घकालीन और महाकाव्य की तरह जीवन के वृहदंश को घेरने वाली न होगी। विस्तार से अधिक गहराई की ओर लेखक का ध्यान अधिक रहेगा। (३) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कम से कम पात्रों से ही काम चलाने की चेष्टा होती है। (४) वार्तालाप की छटा मनोविज्ञान के प्रदर्शन में अधिक सहायक होगी। उपन्यास का अधिकांश वार्तालाप से भिन्न रहता है (५) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता (Narration) से अधिक नाटकीयता (Dramatisation) की प्रवृत्ति होगी। अर्थात् घटनाओं का संयोजन कुछ इस ढंग से होगा कि वे स्वयं-स्फूर्ति हों स्वयं शक्तिमान हों उनमें अपने स्वरूप को स्पष्ट करने की क्षमता हो पग-पग पर लेखक के साथ चलने की आवश्यकता न हो। लेखक के अस्तित्व का जहाँ तक कम ज्ञान हो वही अच्छा। अतः इस तरह के उपन्यासों में कुछ विशिष्ट उद्दीप्त और उदात्त क्षणों और घटनाओं को ही स्थान प्राप्त हो सकेगा। घटनायें छोटी सी भले ही हों पर मानव मन के उन्माद से समन्वित हैं (हों)। (६) मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अध्ययन से पाठक में जो प्रतिक्रिया होती है अन्योपन्यासोत्पन्न प्रतिक्रिया से भिन्न होगी। वर्णनात्मक उपन्यास का पाठक श्रोता होगा वह आश्चर्य चकित हो औपन्यासिक के मुख की ओर देखेगा अर्थात् उसका ध्यान उपन्यास की ओर न होकर उपन्यास के बाहर की ओर होगा। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पाठक की दृष्टि उपन्यास के पात्रों की ओर होगी। वह बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होगा वह पात्रों के क्रिया-कलाप से अधिक उनकी मूल प्रेरणा को देखेगा। उसका सम्बंध वक्ता और श्रोता का न होकर अभिनेता और दर्शक का होगा। दर्शक नाटककार की ओर न देखकर अभिनेता के अभिनय-कौशल और उसके सहारे मूल वृत्तियों को ही देखता है। वर्णनात्मक उपन्यास के पात्रों के साथ पाठक का सम्बंध बहुत कुछ वैसा ही रहता है जैसे इतिहास के पात्रों के साथ, नीरस, निर्जीव। हम उन्हें वैसे ही जानते हैं जैसे अकबर और अशोक

को जानते हैं। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्रों की जानकारी में आत्मीयता की मार्दवता रहती है हम उन्हें इस तरह जानते हैं जैसे अपने साथी को, अपने स्वयं को। (७) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रणेता और उसके निर्मित पात्रों के पारस्परिक संबंध में भी विभिन्नता है। घटना प्रधान उपन्यास के लेखक और उसके पात्रों के सम्बंध से यह भिन्न है। घटना प्रधान उपन्यास के पात्रों का सृष्टा तटस्थ दर्शक है वह पात्रों से अलग हटकर अपनी सर्व-व्यापिनी दृष्टि से पात्रों की गतिविधि का अवलोकन करता रहता है, और उनकी रिपोर्ट देता चलता है। दोनों में बंधुत्व का भाव नहीं वे दोनों 'पथ के साथी' हैं और 'बटाऊ की नाईं' कभी भी एक दूसरे को छोड़कर चल दे सकते हैं। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास का निर्माता अपने पात्रों का घनिष्ठ मित्र होता है। वह अपने मित्र के बारे में लिखता है उसके कथन में जीवनानुभूति होती है। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक कथाकार को बार-बार अपनी ओर से कहने सुनने की उपदेश देने की नीति पथभ्रष्टता के बारे सुझाव करने की आवश्यकता नहीं होती। वह जो कुछ कहता है स्वतः पूर्ण है उसे किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं होती। (८) मनोवैज्ञानिक उपन्यास में सब्जेक्टिव आफ एस्पेक्ट एक्सपीरियेन्स (Subjective aspect of experience) अर्थात् अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप की अभिव्यक्ति ही लक्ष्य रहता है। लेखक चाहता है कि जो भी कथा हो जो भी घटनायें हों वे अपनी प्रधानता को त्यागकर पात्रों की मानसिकता उसके मानस की प्रवहमानता को प्रस्फुटित कर नजरों से ओझल हो जाय। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसी कथा की योजना हो जिसमें मनोनीत ध्येय की सेवा भी कर जाने की अधिक से अधिक क्षमता हो। (९) मनोविज्ञान के अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिये उपन्यास को अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। कभी आत्म-कथात्मक तो कभी पत्रात्मक, कभी डायरी नुमा कभी चेतना प्रवाहात्मक (Stream of consciousness) और कभी सबों का सम्मिश्रण अर्थात् उपन्यास नाना भावभेष धारण कर मनुष्य के सच्चे स्वरूप को प्रकाशित करने की क्षमता अपने में लाने की चेष्टा करती रही है और सफलता भी प्राप्त करती रही है। मनुष्य के सच्चे स्वरूप का अर्थ यहाँ पर उसके बाह्य क्रियाकलापों के साथ आन्तरिक प्रेरणाओं का भी अध्ययन करना है।[1]

---

१ आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय पृ ११ से १२।

अब हम इस कसौटी पर आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों को कसते हैं। इस कसौटी पर उनके केवल दो उपन्यास ही—'आभा' और 'पत्थर युग के दो बुत'—एक सीमा तक खरे उतरते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके अन्य उपन्यास मनोविज्ञान से बिल्कुल अछूते हैं। 'हृदय की परख' 'हृदय की प्यास' 'गोली' आदि उपन्यासों में यद्यपि यत्र-तत्र मनोविज्ञान का पर्याप्त पुट उपन्यासकार ने दिया है किन्तु इन्हें मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इन उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अपेक्षा भावुकतापरक व्यक्तिवादिता अधिक प्राप्त होती है। इसी कारण यहाँ हम उपर्युक्त उपन्यासों (आभा एवं पत्थर युग के दो बुत) पर ही विचार करेंगे और देखने का प्रयत्न करेंगे कि वे किस सीमा तक कसौटी पर खरे उतरते हैं। जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है दोनों ही उपन्यासों के विषय मनोवैज्ञानिक हैं। दोनों में ही एक प्रेमिका के दो प्रेमियों का चित्रण हुआ है। इन उपन्यासों की प्रधान पात्रियाँ भी जैनेन्द्र के उपन्यास की नायिकाओं की ही भाँति हैं। वे उनमें एक ओर तो देवस्वरूप पति के प्रति स्वयं प्रेरित संस्कार जन्य भक्ति एवं कर्तव्यनिष्ठा की प्रबल भावना और दूसरी ओर प्रेम का आकर्षण। इस द्वैत का संघर्ष ही इनके उपन्यासों को नाटकीय आकर्षण प्रदान करता है। नायिका का जीवन प्रेम और पत्नीत्व के बीच बड़ा ही दयनीय एवं व्यथामय हो उठता है। एक ओर तो वह देखती है कि उसके कारण एक व्यक्ति (प्रेमी) का जीवन व्यर्थ हुआ जा रहा है और दूसरी ओर नितांत आज्ञानुवर्ती निरीह पति के प्रति दुराव एवं अंतर के भार से वह दबी-सी रहती है। इस विषम परिस्थिति में उसका जीवन बड़ा ही वेदनापूर्ण हो उठता है। सचमुच उसके मन की यह व्यथा ही कथा को एक विचित्र मोहकता प्रदान करती है।[1] आभा की समस्या कुछ इसी प्रकार की है। उसे अपने प्रेमी के साथ पलायन करने के पश्चात् अपने सतीत्व का मोह होता है उसका निजत्व जाग उठता है। कुछ समय के अंतर्द्वन्द्व के पश्चात् वह अपना सतीत्व को सुरक्षित किये हुए पुनः अपने पति के समीप लौट आती है। उसका पति अनिल भी देवता ही है। अतः उसे पुनः रख लेता है किन्तु 'पत्थर युग के दो बुत' का सुनील निष्क्रिय द्रष्टा मात्र नहीं है वरन् एक निष्क्रिय या नपुंसक पति नहीं है, न ही वह जैनेन्द्र के उन पुरुष पात्रों की भाँति है न 'आभा' के अनिल की भाँति जो पत्नी के मनोनुकूल आचरण करते चले जाते हैं जैसे वे स्वयं व्यक्तित्व विहीन हों। किन्तु सुनील देवता होते

१ हिन्दी उपन्यास श्री शिवनारायण श्रीवास्तव पृ ११४।

हुए भी पत्नी को प्यार करते हुए भी ऐसे अवसर पर हिंसक बन जाता है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से हम इन दोनों उपन्यासों को मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं किंतु केवल विषय के निर्वाचन मात्र से कोई उपन्यास मनोवैज्ञानिक नहीं हो जाता जब तक कि उसका प्रतिपादन भी मनोवैज्ञानिक ढंग से न किया गया हो।

जहाँ तक टेक्नीक का प्रश्न है यह दोनों उपन्यास भी उस कसौटी पर पूर्ण रूप से खरे नहीं उतरते। कथावस्तु यद्यपि दोनों में ही संश्लिष्ट है किंतु सम्पूर्ण घटनाएँ उसी के चारों ओर चक्कर काटती स्पष्ट ज्ञात होती है। यह सत्य है कि इसमें उपन्यासकार ने पात्रों के आंतरिक भावपक्ष को खोलने का प्रयत्न किया है किंतु उसने जिन सूत्रों को खोला है उनके परिप्रेक्ष्य में हम किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धांत या सूत्र को अनुस्यूत नहीं पाते। अतः प्रथम दृष्टि में इन उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक होने का जो भ्रम होता है वह स्वतः दूर हो जाता है। यद्यपि इन दोनों उपन्यासों में नं० २ से लेकर नं० ६ तक के सिद्धांत किसी न किसी प्रकार से खोज करके निकाले जा सकते हैं। इतना ही नहीं अंतिम गुण (नं० ९) भी इन दोनों ही उपन्यासों में स्पष्ट देखा जा सकता है, किन्तु तो भी इन्हें शुद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं माना जा सकता। क्यों ? कारण इन दोनों ही उपन्यासों में सब्जेक्टिव आस्पेक्ट आफ एक्सपीरियेन्स (Subjective aspect of experience) अर्थात् अनुभूति के आत्मनिष्ठ अभिव्यक्ति (नं० ८) पर अधिक बल नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के लिए यह आवश्यक रहता है कि उसमें मनोविज्ञान की बातें कहीं तो स्वाभाविक क्रम से अनायास ही आ जायें तो कहीं लेखक मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को दृष्टि में रख कर अपने उपन्यास का ढाँचा खड़ा करता जाय। किंतु हमारे आलोच्य इन दोनों ही उपन्यासों में हम ऐसा कुछ नहीं पाते। मनोविज्ञान के सिद्धांत कथा के प्रवाह में स्वतः यदि आ गए हों, तो दूसरी बात है अन्यथा उपन्यासकार ने उपन्यास में बलपूर्वक किसी सिद्धांत विशेष को लाने की चेष्टा नहीं की है। उसे सिद्धांत से कथा अधिक प्रिय है अतः सिद्धांत को बलपूर्वक कहीं भी उसने कथा में नहीं ठूँसा है। उसका उद्देश्य सदैव कथा कहने का रहा है, उसके व्याज से फ्रायड युंग एडलर आदि के सिद्धांतों के प्रतिपादन का नहीं। इस प्रकार से उपर्युक्त दोनों उपन्यासों का विषय तो मनोवैज्ञानिक रहा है किंतु उनके प्रतिपादन की पद्धति बहुत कुछ अमनोवैज्ञानिक है। अतः हम इन दोनों ही उपन्यासों को शुद्ध

मनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। इनको हम मनोविश्लेषणपरक चरित्र प्रधान उपन्यासों की संज्ञा दे सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का एकदम अभाव है। उनके कई उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की छटा देखने योग्य है किंतु वह समग्ररूप में नहीं अंशरूप में ही आई है। ये अंशरूप में आए हुए सिद्धांत अमलाकृत एवं स्वतः प्रवाहित ही कथा में आ गए हैं इन्हें उपन्यासकार ने स्वयं कथा में लाने की चेष्टा नहीं की है। यदि हम किंचित् तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में जीवन और उसको प्रभावित करनेवाली कथा प्रथम है। मनोविज्ञान इतिहास आदि सभी कुछ उसके पश्चात्। जैनेंद्र अज्ञेय जोशी की कथा से उनकी कथा भिन्न है। तथाकथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भी जैनेंद्र अधूरे चित्र देते हैं, वे रुक रुककर आगे बढ़ते हैं स्थान छोड़ते हुए, कूदते हुए, दर्शन के सिद्धांतों को साथ में लिए हुए अज्ञेय कथा को परिपार्श्व में मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का जाल बिछाये कथा पर एकदम टूट पड़ते हैं जोशी जी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के जाल को सामने करके अमनोवैज्ञानिक शैली से कथा को घसीटते हुए बढ़ते जाते हैं। उन्हें अपने सिद्धांतों की अपने विश्लेषणों की अधिक चिंता है कथा की उतनी नहीं। किंतु इन तीनों से भिन्न आचार्य चतुरसेन जी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं। वे किसी सिद्धांत के पीछे नहीं पड़े हैं न कोई ग्रंथि ही सुलझाई है। मनोवैज्ञानिक शैली को आगे करके किंतु उसके सिद्धांतों को दूर फेंक कर वे निरंतर कथा को आगे बढ़ते गए हैं। उन्होंने अपनी कथा कहने के लिए नये और पुराने सभी प्रकार के कौशलों का प्रयोग किया है किंतु उसके चक्कर में पड़कर उन्होंने कहीं भी कथा का बलिदान नहीं किया है। इस प्रकार इनके इन उपन्यासों में भी मनोविज्ञान का कोई सैद्धांतिक आग्रह नहीं है, वरन् ये चरित्र स्वयं एक मानसिक कोटि के चरित्र होने के कारण सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखते हैं। अतः मनोविश्लेषणात्मक चरित्र प्रधान उपन्यासों में ही इनकी परिगणना होनी चाहिए।

वैज्ञानिक उपन्यास

हिंदी में अभी तक वैज्ञानिक उपन्यास की कोई कसौटी नहीं बन सकी है। साधारणतः 'वैज्ञानिक कहानी' वह कही जा सकती है जिसमें कहीं न कहीं

किसी न किसी प्रकार विज्ञान का समावेश हो अन्यथा नाम सार्थक न होगा परंतु इतना व्यापक अर्थ लेने से तो प्रायेण सभी उपन्यास और अस्य वैज्ञानिक कहानी की कोटि में आ जायेंगे। ऐसा मानना तो किसी को अभीष्ट नहीं है। जहाँ एक ओर विज्ञान पर शास्त्रीय प्रवचन करना वैज्ञानिक कहानी का उद्देश्य नहीं है वहीं यह भी मान लेना चाहिए कि दैनिक जीवन की वैज्ञानिक घटनाओं के समावेश-मात्र से कोई कहानी वैज्ञानिक कहानी नहीं बन जाती। किसी कहानी में ऐसी आश्चर्यजनक बातों का उल्लेख होना जिनके लिए उस समय के विज्ञान भंडार से आधार न मिलता हो उस कहानी को कोरी कल्पना बना देता है। वस्तुतः क्या असम्भव है यह कहना बहुत कठिन है, परंतु किसी काल विशेष में उन्हीं बातों को सम्भव कहना चाहिए जो उस काल के वैज्ञानिकों के अनुभवों से बहुत दूर न हों इतनी दूर न हों कि वैज्ञानिकों ने उनके सम्बन्ध में सोचना भी आरम्भ न किया हो।[1] इस दृष्टिकोण को समक्ष रखकर देखने पर आचार्य चतुरसेन जी का केवल 'खग्रास' उपन्यास वैज्ञानिक कहा जा सकता है। कारण वैज्ञानिकों ने चंद्रलोक की यात्रा के लिए प्रयास प्रारम्भ कर दिए हैं। उनके 'नीलमणि' उपन्यास में भी कुछ वैज्ञानिकता का पुट है किंतु आचार्य चतुरसेन जी ने उसमें वैज्ञानिक ढंग की बातों का उसी प्रकार तथा उसी दृष्टि से उपयोग किया है जो रसोत्पादन के इच्छुक कवि के सामने उद्दीपन विभाव में काम देते समय रहती है। ० साथ में उनके 'खग्रास' उपन्यास को भी शुद्ध वैज्ञानिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उसमें ऐसी बातों की प्रमुखता है। जिनको विज्ञान की नहीं विज्ञानाभास की ही कहा जा सकता है। उसमें जोरोवस्की कुछ ही दिनों में चंद्रलोक की यात्रा कर आता है, जब कि वैज्ञानिकों का मत है कि प्रतिध्वनि गति से यात्रा करने पर भी निकटतम तारे के पास जाकर लौटने के लिए ६० वर्ष चाहिए[2] किंतु पीढ़ियों तक चलाने से कहानी की रोचकता समाप्त हो जायेगी इसी कारण से वैज्ञानिक उपन्यासों में विज्ञानाभास से कार्य लिया जाता है। इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी का 'खग्रास' उपन्यास विज्ञान का नहीं विज्ञानाभास का उपन्यास कहा जा सकता है।

---

१ आलोचना उपन्यास विशेषांक वैज्ञानिक कथा-साहित्य डा० सम्पूर्णानन्द पृ. १८४।

२ आलोचना उपन्यास विशेषांक वैज्ञानिक कथा-साहित्य डा० सम्पूर्णानन्द पृ. १८६।

आचार्य चतुरसेन जी की कहानियों का वर्गीकरण

आचार्य जी के २५ कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं[१] इनमें उनकी कहानियों की संख्या लगभग तीन सौ के है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम उनकी समस्त कहानियों को उपन्यासों की भांति ही कुछ प्रमुख वर्गों में रख सकते हैं। उनके उपन्यासों की भांति तत्व विशेष की प्रमुखता एवं वर्ण्य विषय के आधार पर उनकी कहानियों का वर्गीकरण भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कहानियों के वर्गीकरण की एक और पद्धति प्रचलित है। जिसमें हम किसी भी कहानीकार की कहानियों को उसके जीवन के कुछ प्रमुख मोड़ों के आधार पर अथवा उसकी कहानियों के क्रमिक विकास की कुछ प्रमुख विशेषताओं के आधार पर विभक्त कर लेते हैं। इसे हम 'काल विभाजन' की पद्धति भी कह सकते हैं। डा० लक्ष्मीनारायणलाल ने अपने प्रबंध 'हिंदी कहानियों की शिल्प विधि का विकास' में प्रेमचन्द और प्रसाद की समस्त कहानियों का अध्ययन इसी पद्धति के द्वारा किया है। किन्तु आचार्य चतुरसेन जी की कहानियों का अध्ययन इस प्रकार के वर्गीकरण के द्वारा सम्भव नहीं है। कारण आचार्य जी के कहानी संग्रहों में कोई ऐसी व्यवस्था नहीं प्राप्त होती कि एक कहानी किसी एक ही संग्रह में प्राप्त हो। कोई-कोई कहानी तो पाँच-छै संग्रहों में एक साथ प्राप्त होती है। साथ ही एक समय के प्रकाशित संग्रहों में उसी समय के आस-पास की कहानियाँ भी नहीं हैं। उनमें नवीन और प्राचीन सभी कहानियाँ एक साथ प्राप्त हो जाती हैं। उन्होंने कहानी के नीचे सन् आदि भी नहीं दिया है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि अमुक कहानी अमुक सन् की लिखी हुई है। संग्रहों के प्रकाशन के अनुसार यदि हम उनकी कहानी

---

१ १ अक्षत २ रजकण (भाग्यविन) ३ वीरगाथा, ४ राजपूत बच्चे, ५ मुगल बादशाहों की सनक, ६ नवाब ननकू ७ लम्बग्रीव ८ वीर नार्वासिप ९ लाला रुख १० सोमी ११ दुखवा मैं कासे कहूँ १२ सोने की पत्ती १३ अबारानाई १४ कमलकिशोर, १५ दियासलाई की डिबिया, १६, बुलबुल हजार दास्तान, १७ धर्मा सेठ १८ सफेद कौआ १९. राजा साहब को पतलून २० मेरी प्रिय कहानियाँ २१, सोया हुआ शहर, २२ दुखवा मैं कासे कहूँ २३ धरती और आसमान २४ बाहर भीतर, २५. कहानी खत्म हो गई। अन्त 'के' ६ संग्रहों में उनकी प्रथम संग्रहों में प्राप्त श्रेष्ठ कहानियाँ सम्पादित करके व्यवस्थित रूप से रखी गई है।

क्रम में विकास विश्लेषण का प्रयत्न करें, तो निश्चित ही वह भ्रमपूर्ण एवं त्रुटिपूर्ण होगा कारण ऐसी कोई शृंखला उनके प्रकाशित 'कहानी संग्रहों' में नहीं प्राप्त होती। उदाहरण के लिए हम उनके 'सम्बद्धीव' नामक कहानी संग्रह को ले सकते हैं। इसमें सात राजनीतिक भाव कहानियाँ दी हुई हैं जो सन् १९३० से लेकर सन् १९५० तक के समय में विभिन्न अवसरों पर लिखी गई हैं। इस कारण इस पद्धति के द्वारा हम वर्गीकरण करके आचार्य जी की कहानियों का अध्ययन व्यर्थ समझते हैं।

विभिन्न तत्वों की प्रमुखता के आधार पर उपन्यासों की भाँति उनकी कहानियों को भी छै वर्गों में रखा जा सकता है। वर्ण्य वस्तु के आधार पर उनकी समस्त कहानियों को हम निम्न चार वर्गों में रख सकते हैं।

१ ऐतिहासिक
२ सामाजिक एवं राजनीतिक
३ मनोवैज्ञानिक एवं
४ विविध।

आगे (कहानी खंड में) आचार्य चतुरसेन जी की समस्त कहानियों के कथानकों को हम उपर्युक्त चार वर्गों में रखकर ही उनका अध्ययन करेंगे।

अध्याय—३

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों के कथानक

अध्याय—३

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों के कथानक

१

कथानक की परिभाषा

कथानक काल क्रमानुसार शृंखलाबद्ध वह घटनाक्रम है जो कि उपन्यास के नायक अथवा अन्य पात्रों के जीवन में योजनाबद्ध क्रम में घटित होता है।

कथानक का महत्व—

यह तत्व उपन्यास के अन्य तत्वों से अधिक महत्व का है। वास्तव में यही वह तत्व है जिस पर उपन्यास के भव्य भवन का निर्माण होता है। विद्वानों ने इसके अभाव में किसी सप्राण उपन्यास की रचना संदिग्ध मानी है। डा० भगीरथ मिश्र ने उपन्यास के इस तत्व के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है 'यद्यपि आधुनिक काल में कथानक का महत्व कम समझा जाता है पर यह उपन्यास का मूल है। उपन्यास में व्याप्त कुतूहल का तत्व कथानक के सहारे ही विकास पाता है। उपन्यास का समग्र रूप कथानक के ढाँचे पर ही विकसित होता है। कथानक का चुनाव और निर्माण उपन्यासकार की प्रमुख विजय है और लेखन के कौशल का संकेत इसमें मिल जाता है। कथानक के समस्त अंगों का सुंदर संगठन घटनाओं का समुचित विन्यास उपन्यास को सुंदर बनाने के लिए आवश्यक होता है। यह धारणा भ्रांत है कि उपन्यास में कथानक का कोई महत्व नहीं या सामान्य कथानक को भी वर्णन-कौशल द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है। क्योंकि यदि वर्णन-कौशल के साथ कथानक की उत्कृष्टता भी मिल जाय तो मणिकांचन योग होगा।'[1]

कुछ विद्वानों का कथन है कि 'उपन्यास में कथा-वस्तु अनावश्यक है। हमारे जीवन का संचालन किसी पूर्व निश्चित योजना से तो होता नहीं फिर उपन्यास में—जो जीवन का प्रतिरूप मात्र है—इस विशिष्ट योजना अथवा वस्तु की आवश्यकता ही क्या? मिट्रो ने एक बार कहा था कि पूर्वनिश्चित सभी

---

१ काव्यशास्त्र डा० भगीरथ मिश्र पृ० ८१।

बातें अयथार्थ होती हैं (आफ दैट एन ओवररेटेड एन् फास्ट)। इसमें संदेह नहीं कि जीवन के अधिकतर अनुभव किसी योजना से सम्बद्ध नहीं होते तथा जीवन के स्वच्छंद प्रवाह में कोई निश्चित क्रम नहीं होता तो भी लेखक का यह कर्तव्य है कि जीवन की इस विश्रृंखलता में भी वह कोई शृंखला कोई क्रम कोई योजना ढूंढ निकाले। रूपात्मक वैचित्र्यपूर्ण जगत का सौंदर्य स्पष्ट करने के लिए उसे किसी विशेष क्रम से ही हमारे सामने रखना होगा।[1]

श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी ने भी उपन्यास में इस तत्व का महत्व बतलाते हुए लिखा है कि कथा में मानव चित्त का विकास प्रदर्शित किया जाता है, और चूंकि उसका सफल प्रदर्शन ही मुख्य बात है अतः इस तत्व का महत्व सर्वोपरि है।[2] श्री श्याम जोशी ने भी अपनी पुस्तक 'उपन्यास सिद्धांत' में इस तत्व को सर्वप्रधान मानते हुए लिखा है 'उपन्यास का जो अस्थि-पंजर है वह कथानक ही है। यह कथानक ही वह मूलाधार है जिस पर उपन्यास का भव्य भवन खड़ा किया जाता है। अतः जब तक यह आधार पुष्ट न होगा इस पर खड़ा किया गया भवन भी दृढ़ नहीं बन सकता। यदि यह आधार ही समतल न हुआ और उसके बीच में संधियाँ रह गईं तो भवन के खण्ड-खण्ड हो जाने की सम्भावना है।[3] डा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी कथा साहित्य में इस तत्व को सर्वप्रधान बतलाया है।[4] डा प्रताप नारायण टंडन ने प्रस्तुत तत्व की प्रधानता का कारण बतलाते हुए लिखा है। 'वास्तव में उपन्यास के तत्वों में कथानक की प्रधानता का कारण यही है कि इसके अभाव में न केवल उपन्यास की रचना नहीं हो सकती बल्कि उपन्यास एक कथा-कृति ही नहीं बन सकता। उपन्यास के जो दायित्व हैं उनका निर्वाह भी आधार रूप से इसी तत्व पर निर्भर होता है। विशेष रूप से आजकल उपन्यास के जिस दायित्व पर बल दिया जाता है वह है मानवजीवन की व्याख्या तथा मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित दर्शन। स्पष्ट है कि इसका निर्वाह तब तक सम्भव नहीं है जब तक एक विस्तृत कथानक की पृष्ठभूमि न हो। यही कारण है कि कथानक को उपन्यास के अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है।'[5] अंत में हम इसी

---

१ हिन्दी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ ४४४।
२ साहित्य परिचय—पृ ९२।
३ उपन्यास सिद्धांत—श्री श्याम जोशी, पृ ११।
४ साहित्य का साथी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ ८२।
५ हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास—डा० प्रताप नारायण टंडन पृ ११०।

निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कथानक के अभाव में उपन्यास उपन्यास नहीं बन सकता वह और भले कुछ बन जाय। इस प्रकार निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास के अन्य तत्वों की अपेक्षा इस तत्व का महत्व कहीं अधिक है।

कथानक की प्रमुख विशेषताएँ

क्रमबद्धता एवं सुगठन—

कथानक का क्रमबद्ध एवं सुगठित होना उपन्यास की कलात्मक महत्ता को द्विगुणित कर देता है। घटनाओं को एक शृंखला में गूँथ कर देने में ही कथाकार का कौशल प्रकट होता है। घटनाएँ इस कौशल से चुनी गई हों कि वे एक दूसरे की आश्रित प्रतीत हों। कथा के मध्य से यदि एक भी कथा सूत्र खिसका दिया जाय तो कथानक में तुरंत खटक उत्पन्न हो जाये तभी उपन्यास पूर्ण सुगठित कहा जा सकता है। कथानक के सुगठन के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें अनावश्यक का त्याग और आवश्यक को ग्रहण किया गया है। कोई आवश्यक बात छूटी नहीं हो। (A brevity that exclude every thing that is redundant & leaves nothing that is sufficient.)[1]

रोचकता—

कथानक यदि रोचक न हुआ तो उसकी अन्य समस्त विशेषताएँ ही महत्व हीन हो जाती हैं। पाठक मनोरंजन के लिए ही प्रायः उपन्यास को हाथ में लेता है किन्तु यदि उसे उससे इसी वस्तु की उपलब्धि न हो सकी तो वह उस कृति को महत्वहीन ही समझेगा। अतः प्रत्येक उपन्यासकार अपनी रचना को अधिक से अधिक रोचक बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। केवल इस गुण की सृष्टि के लिए ही वह कथा के प्रत्येक गुण को दाँव पर लगा देता है। इसी के लिए उपन्यासकार आकस्मिक और अप्रत्याशित का आश्रय लेता है जिसकी सहायता से वह पाठक की कुतूहल प्रवृत्ति को अंत तक जगाए रखने में पूर्ण सफल रहता है। 'यह आकस्मिक सम्भावना और कार्य-कारण शृंखला से अलग न होते हुए भी पाठक के अनुमान और कल्पना से बाहर होता है। इसके साथ ही साथ वह नये ढंग से कहानी कहता है नये प्रकार के पात्रों की सृष्टि करता है नयी

---

१ काव्यप्रकाश—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ८५।

घटनाओं का संचयन करता है तथा अन्य नवीनतर तत्वों को कृति में समावेशित करने को प्रस्तुत रहता है।[1] रोचकता-सम्पादन के लिए पद-पद पर आकस्मिकता का संयोजन उचित नहीं हाँ अप्रत्याशित का संयोजन जो आकस्मिक न हो अधिक संगत माना जाता है।

प्रबन्ध कौशल —

उपन्यास कार की प्रतिभा का वास्तविक परिचय उसके प्रबंध कौशल से ही चल सकता है। कथानक की आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथाओं को किस प्रकार संगठित एवं सुयोजित किया गया है इस पर उपन्यास का कलात्मक महत्व बहुत कुछ निर्भर करता है। उपन्यासकार का कौशल घटनाओं के चयन में है। जीवन के विस्तृत-क्षेत्र से वह किन-किन प्रसंगों का निर्वाचन करता है और उन्हें किस गहराई तक जाकर सजा और संवार कर प्रस्तुत करता है इसी पर उसकी सफलता निर्भर करती है। अतः हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त घटनाओं का कलात्मक ढंग से संयोजन ही उपन्यासकार का प्रबंध कौशल है और इससे कथानक का सौंदर्य बढ़ जाता है।

मौलिकता —

इस संसार में जो कुछ है वह पुरातन है किंतु उसे खोज निकालने उसका निर्वाचन करने और उसे एक नवीन ढंग से प्रस्तुत करने में ही उसकी मौलिकता है। मौलिकता एक ऐसी कसौटी है जिस पर खरी उतरने पर ही उस वस्तु का महत्व द्विगुणित हो जाता है। अतः कथानक में इस वस्तु की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि विषय के अनुसार देखा जाय तो संसार के सभी उपन्यासों का प्रवृत्तिगत वर्गीकरण करके उन्हें निश्चित विषयों के अंतर्गत रखा जा सकता है। परंतु एक समर्थ उपन्यासकार की दृष्टि की सूक्ष्मता का परिचय इस बात से मिलता है कि वह जीवन की गहनता से किस सीमा तक परिचित है तथा उसकी मूलभूत समस्याओं और उनसे सम्बन्धित तथ्यों का उसने साक्षात्कार किया है अथवा नहीं क्योंकि इन्हीं कुछ बातों से इस बात का पता चलता है कि उपन्यासकार ने कभी जीवन के यथार्थ का तीखा अनुभव किया है या नहीं। यदि कोई उपन्यासकार किसी एक अनुभूति की अभिव्यक्ति अधिक विस्तार और सूक्ष्मता से कर सकता है तो वह उसकी मौलिक दृष्टि का परिचय दे सकने योग्य है क्योंकि एक उपन्यासकार के दृष्टिकोण में मौलिकता की जितनी

---

१ हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास पृ ७८-७९।

सम्भावनाएँ हैं यह इन्हीं कुछ बातों पर निर्भर करता है।[1] इसके साथ ही साथ उपन्यासकार की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि पाठक आगामी घटना क्रियाकलाप अथवा अंतिम परिणाम का अनुमान न लगा सके। अतः कथानक की मौलिकता विषय की नवीनता नवीन घटनाओं की कल्पना और उनके संयोजन के क्रम वर्णन और विन्यास की विशेषताओं में देखी जा सकती है।[2]

सम्भावना —

उपन्यासकार कल्पना की उड़ान भले ही क्यों न भरे किन्तु उसे ध्यान रखना चाहिए कि उसकी सृष्टि विलक्षण होने पर भी सुलक्षण और असंगत होने पर भी सुसंगत ज्ञात हो अन्यथा बुद्धि की कसौटी पर वह खरी न उतर सकेगी। इसके लिए यह अनिवार्य है कि उपन्यासकार अपने एवं अपनी अनुभूतियों के साथ पूर्ण सत्यता का व्यवहार करे। उसे उन सभी बातों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, जिनका समावेश वह अपनी रचना में करना चाहता है। घटनाएँ सम्भावना के क्षेत्र का उल्लंघन न करें इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि स्थानों के विवरण पारिवारिक एवं सामाजिक दृश्यों के विवरण वार्तालाप वेषभूषा आदि के वर्णन भी उपन्यासकार के परिपक्व अनुभवों से ओतप्रोत होने चाहिए। केवल ऊपरी वर्णन ही नहीं पात्रों के अन्तस् से रहस्य के उद्घाटन में भी पूर्ण सत्यता एवं यथार्थता की आवश्यकता होती है। इसीलिए अंग्रेजी उपन्यास लेखिका श्रीमती इलियट ने एक बार उपन्यास-लेखिकाओं को फटकार बतलाते हुए कहा था कि पुरुष और स्त्री में प्रकृति भेद है। इसलिए स्त्रियों को कभी पुरुषों की भाँति उनके दृष्टिकोण के अनुसार लिखने का प्रयत्न न करना चाहिए। उनका अपना ही क्षेत्र क्या कम है जो वे इससे बाहर आने का प्रयत्न करती हैं। कोई लेखिका स्त्री-समाज का उसकी आशा आकांक्षा प्रेम करुणा नैराश्य आदि का जितना सफल अंकन कर सकती है उतना पुरुष समाज का नहीं। यह बात पुरुषों के विषय में भी कही जा सकती है। अतएव एक लेखक को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वह संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन कदापि न करे। उसे चाहिए कि वह जिस कल्पना पर भी अपने

---

१ हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास—डा० प्रतापनारायण टंडन पृ ७७।

२ काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र पृ ८४।

उपन्यास के कथानक की नींव रखे वह शक्तिशाली एवं ठोस हो। बिना अनुभूत आधार की कल्पना के कथानक में सत्यता नहीं आ पाती वह जीवन से सदैव दूर ही रहता है अतः ऐसे कथानक जन साधारण का मनोरंजन भले ही कर दें किन्तु इनकी कलात्मक एवं साहित्यिक महत्ता निश्चित ही न्यून पड़ जाती है। इसीलिए हेनरी जेम्स ने इस गुण की महत्ता बतलाते हुए लिखा है 'यह कहना व्यर्थ है कि सत्यता के विवेक के अभाव में आप एक अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकते किन्तु उस सत्य को अपने जीवन में पाने की कोई विधि आपको बता सकना कठिन है। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि सत्यता का वातावरण एक उपन्यास का सबसे बड़ा सद्गुण है जिस पर अन्य सभी गुण निर्भर हैं। यदि वह नहीं है तो सब कुछ होना व्यर्थ है। यदि वह है तो वह उन प्रभावों का ऋणी है जिनके द्वारा लेखक ने जीवन के भ्रम को खड़ा किया। इस सफलता को पाने की प्रणाली उपन्यासकार की कला का प्रारम्भ और अंत है।'[1]

कथानक के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण

कथानक गठन की दृष्टि से दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं:—

१ शिथिल-वस्तु-उपन्यास (नावेल्स आफ लूज प्लाट)
२ संगठित-वस्तु-उपन्यास (नावेल्स आफ आर्गेनाइज्ड प्लाट)

वे कथानक जिनमें सम्बद्धता का अभाव होता है तथा जो सूत्रों में बिखरे हैं उन्हें प्रथम कोटि के अंतर्गत रखा जा सकता है। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं का बाहुल्य होता है। इसमें कथानक एक दूसरे से फूटने वाली घटनाओं से संयोजित नहीं रहता वरन् मुख्य पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने वाली परस्पर असम्बंधित अनेक घटनाओं को लेकर उनका निर्माण होता है। उन घटनाओं में तारतम्य या कार्य-कारण का संबंध नहीं रहता वे केवल मुख्य पात्र के चारों ओर घूमती हैं। सुगठित कथानक (संगठित-वस्तु-उपन्यास) में किसी निश्चित योजना को दृष्टि में रखते हुए घटनाओं को परस्पर गूंथा जाता है। ऐसी दशा में उपन्यासकार के मस्तिष्क में कथा का पूरा ब्योरा उपन्यास रचना से पूर्व रहता है। उस योजना में पात्र और घटनाएँ उपयुक्त स्थान ग्रहण कर लेते हैं। उन

---

१ हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास—डा० प्रतापनारायण टंडन पृ ७८।

सबके मूल में कथा-सूत्र रहता है जो सबको मिलाता हुआ 'परिणाम' या 'अंत' की ओर जाता है।

सुगठित तथा पूर्व नियोजित कथानक अपनी चुस्ती और सौंदर्य के कारण पाठकों के आकर्षण का विषय रहता है किन्तु कथानक अत्यधिक योजनाबद्ध होने पर उसमें संयोग दैवयोग या आकस्मिकता के बहुप्रयोग के फलस्वरूप वह अंत कल्पित सा और अस्वाभाविक हो जाता है। संयोग जीवन में आते हैं। किन्तु उपन्यास में पग-पग पर मनोवांछित विधि से घटनाओं का घटना और पात्रों का पक्षपात पाठकों को उपन्यासकार की मनमानी जैसा जान पड़ेगा। उनकी बुद्धि संयोग की बाढ़ के प्रति विद्रोह कर उठेगी। अतः पूर्व नियोजित कथानक को स्वाभाविक गति से अग्रसर होना चाहिए।

कथानक एक या एक से अधिक कथाओं द्वारा निर्मित होने की दृष्टि से सरल तथा पेचीदा कथानकों की दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं। सरल कथानक में केवल एक कथा होती है। पेचीदा कथानक में दो या दो से अधिक कथाएँ मिलकर चलती हैं। ऐसी दशा में कथाओं का परस्पर ऐसी रीति से गूँथा जाना आवश्यक है कि वे सब किसी बड़ी सरिता में स्वतः आ मिलने वाली जल-धाराओं जैसी स्वाभाविक और कथानक की अनिवार्य अविभाज्य अंग सी जान पड़ें।

उपन्यास में कथावस्तु नाटक की भाँति दो प्रकार की होती है आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक प्रधान पात्रों से संबंध रखने वाली मुख्य कथा है इसका सूत्र प्रारम्भ से फल-प्राप्ति तक रहता है। प्रासंगिक—प्रसंगवश आनी या गौण कथा है। इसका संबंध सीधा नायक से न रहकर अन्य पात्रों से रहता है यह मूल कथा की गति को बढ़ाने के लिए रहती है। इसकी फल सिद्धि नायक के अतिरिक्त किसी अन्य को होती है। यह नायक की अभीष्ट फल-सिद्धि से भिन्न होती है किन्तु नायक का इससे हित साधन अवश्य होता है। इसके दो प्रकार हैं—पताका और प्रकरी। आधिकारिक के साथ अंत तक चलने वाली प्रासंगिक कथा पताका तथा उसके बीच में ही रुक जाने वाला कथा प्रसंग 'प्रकरी' है।[1]

आगे हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों की कथावस्तु पर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे। पीछे हम उनके उपन्यासों का वर्गीकरण प्रस्तुत कर चुके

१ काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय, पृ २८।

है। वर्ण्य-वस्तु के वर्गीकरण के आधार पर यदि उनके उपन्यासों का विश्लेषण किया जायेगा तो उपन्यासकार के मनोविकास का सहज ज्ञान हमें न हो सकेगा। अतः आगे हम उनके उपन्यासों की कथावस्तु का कालक्रमानुसार विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे जिससे उनके उपन्यास-साहित्य का विकास क्रम भी स्पष्ट हो सके।

हृदय की परख

प्रस्तुत उपन्यास आचार्य चतुरसेन जी का प्रथम प्राप्त प्रकाशित उपन्यास है। यह उनका एक सामाजिक उपन्यास है। कथा का आरम्भ एक अप्रत्याशित घटना से होता है। बूढ़े लोकनाथ सिंह के पास एक बार सवार अपनी नवजात कन्या (सरला) को एक रात्रि के लिए छोड़ जाता है किन्तु वह लौट कर उसे लेने नहीं आता। अतः वह कन्या लोकनाथ सिंह के संरक्षण में ही पालित-पोषित होती रहती है। एतदर्थ आगामी घटना के प्रति पाठक की सहज उत्सुकता जाग्रत होती है। सरला की सरलता लोकनाथ की उस पर अगाध ममता व वि को लेकर प्रमुख कथा आगे बढ़ती है। इसी समय लोकनाथ द्वारा अंतिम समय सरला के वास्तविक रहस्य का उद्घाटन और उसका मार्ग से हट जाना आदि घटनाएँ मुख्य घटना की निष्पत्ति कर देती हैं। सरला के हृदय में उठने वाला अंतर्द्वंद्व उसकी वैराग्य प्रवृत्ति सत्य का उसकी ओर आकर्षित होना और सत्या द्वारा उसके प्रेम की उपेक्षा आदि प्रवृत्तियाँ तथा घटनायें मुख्य घटना निष्पत्ति की व्याख्या करती हुई कथा को आगे बढ़ाती हैं। व्याख्या के पश्चात् ही मुख्य कथा एक नाटकीय मोड़ लेती है और कथानक में घात-प्रतिघात प्रारंभ हो जाते हैं। सरला का इसी समय अपनी वास्तविक माता शशिकला से परिचय होता है। वह अपनी माता की उपेक्षा करती है। इस घटना के पश्चात् ही कथा पुनः मोड़ लेती है। सरला सत्य का आश्रम त्याग कर चुपचाप भाग खड़ी होती है। रेल में उसका परिचय सुन्दरलाल से होता है और वह उन्हीं के साथ उनके आश्रम में पहुँच जाती है। यहीं सरला का सुन्दरलाल की बहन शारदा से परिचय होता है। दोनों का सहज आकर्षण देखकर पाठक कुछ सतर्क होता ही है कि इसी समय पुनः कथानक में एक नाटकीय मोड़ आ उपस्थित होता है। सरला शारदा के साथ अपनी वास्तविक माता शशिकला के यहाँ आ पहुँचती है। प्रथम मिलन में ही दोनों-दोनों को पहचान लेती हैं। दोनों के हृदय में अंतर्द्वंद्व प्रारंभ होता है। घात प्रतिघात की अवस्था को पार करता हुआ कथानक दीप्तमनि सी चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। सरला अपनी वास्तविक

माता के गृह से उल्टे पैरों ही लौट पड़ती है। पुत्री की यह उपेक्षा धात्रिका सहन नहीं कर पाती। इस आघात के फलस्वरूप ही उसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के पूर्व सरला की उत्पत्ति का रहस्य वह पति को बतला देती है। इन अप्रत्याशित घटना के घटित होने से मुख्य कथा का प्रवाह कुछ मंद पड़ जाता है। ऐसा आभास होने लगता है कि चरम सीमा समय से पूर्व ही आ गई किन्तु विद्याधर की प्रासंगिक कथा सरला की आधिकारिक कथा से कुछ ऐसी उलझ जाती है कि कथानक में पुनः एक त्वरा आ जाती है। सरला विद्याधर से विवाह करने को तैयार हो जाती है किन्तु विद्याधर वर्णसंकर संतान होने के कारण विवाह करना अस्वीकार कर देता है। सरला इस आघात को सहन नहीं कर पाती। उसका मस्तिष्क विकृत हो जाता है। एक रात्रि वह शारदा के गृह से भाग कर पुनः सत्य के पास पहुँच जाती है। कथा दुखान्त हो जाती है। सरला की सत्य के आश्रम में ही मृत्यु हो जाती है। और सत्य सर्वथा के लिए लुप्त हो जाता है। उपसंहार में उपन्यासकार ने सरला के पिता भूषण को अपनी वास्तविक पत्नी शारदा से पुनः मिला दिया है।

इसमें आधिकारिक कथा सरला एवं सत्य की है। विद्याधर की कथा भी सरला की कथा में पूर्णरूपेण घुलमिल गई है। भूदेव धात्रिका शारदा मुरलीधर आदि की कथाएँ मूल कथानक में प्रासंगिक कथाओं का कार्य करती हैं। किन्तु वस्तुतः यह सभी प्रासंगिक कथाएँ सरला के चरित्र के विभिन्न पक्षों का उभारने के लिए ही प्रस्तुत उपन्यास में संजोई गई हैं।

प्रस्तुत उपन्यास कथानक-संगठन की दृष्टि से पूर्ण संगठित है। कथानक की सभी घटनाएँ एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। प्रासंगिक कथाएँ भी आधिकारिक कथा को अग्रसर करने में सहायता देती हैं। कई नाटकीय मोड़ों के कारण कथा क्रम में किंचित कृत्रिमता आ गई है। वास्तव में प्रस्तुत कथानक संयोगों एवं अप्रत्याशित घटनाओं को माध्यम बनाकर अंत तक पहुँच सका है। अप्रत्याशित रूप से ही सरला जोगनाथ सिंह के आश्रय में आती है संयोगवश ही उसका परिचय अपनी वास्तविक माता धात्रिका से होता है, इसी प्रकार संयोग से ही उसका मुरलीधर शारदा एवं विद्याधर से परिचय होता है और अंत में नाटकीय ढंग से ही उसका साक्षात्कार पुनः अपनी माता धात्रिका से होता है। इसके पश्चात् की भी घटनाएँ अधिकांश नाटकीयता से पूर्ण हैं। इस प्रकार प्रस्तुत कथानक संयोगों एवं नाटकीयता की बहुलता के कारण रोचक भले ही बना रहा हो किन्तु उसकी स्वाभाविकता न्यून अवश्य हो गई है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक पूर्णरूप से मौलिक है। यह उपन्यास सन् १९१८ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। उस समय तक हिंदी में इस प्रकार कथानकों का प्रायः अभाव ही था। इसमें एक वर्णसंकर संतान की समस्या को उठाया गया है। सरला का जन्म सुखेश एवं शशिकला के अवैध संबंध से हुआ था। सरला के चरित्र को लेकर ही प्रस्तुत उपन्यास की आधिकारिक कथा खड़ी की गई है। जारज संतान का समाज में क्या स्थान है प्रस्तुत कथानक इस पर किंचित् मात्र ही प्रकाश डाल पाता है कारण सरला और शशिकला दोनों ही को उपन्यासकार शीघ्र ही मार्ग से हटा देता है। उपन्यासकार ने यह दिखलाने का प्रयत्न अवश्य किया है कि समाज में किसी व्यक्ति के कर्माचरण का तत्काल प्रभाव उतना नहीं पड़ता जितना उसकी जन्म विषयक घटनाओं का। विद्याधर सरला से पूर्णरूप से प्रेम करता है उसके आचरण और पांडित्य को देखकर वह उसे देवी समझने लगता है किन्तु उसके जन्म का रहस्य प्रकट होते ही वह उससे दूर रहने का प्रयत्न करता है उससे विवाह करना भी स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार उपन्यासकार ने प्रस्तुत कथानक के माध्यम से एक चिरंतन समस्या—समाज में जारज-संतान का क्या स्थान हो—को सुलझाने का प्रयत्न किया है। किंतु वास्तव में उपन्यासकार ने बड़े कौशल से जिस समस्या को सामने ला रखा है उसका कोई भी मौलिक हल निकालने में वह असमर्थ ही रहा है। सम्भव है उपन्यासकार का वास्तविक उद्देश्य प्रस्तुत समस्या को सामने लाना ही रहा हो हल की ओर उस समय (सन् १९१८ में) उसका ध्यान भी न गया हो तभी उसने शशिकला और सरला दोनों को ही मार्ग से बलात् हटा दिया है।

जारज-संतान-समस्या को आगे के कितने ही उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के कथानक का विषय बनाया है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कंकाल' (१९२९) में तथा श्री इलाचंद्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' (१९४६) में प्रस्तुत समस्या को ही किसी न किसी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। किंतु इनमें अंतर यह है कि आचार्य चतुरसेन जी ने सीधे और सरल ढंग से प्रस्तुत समस्या को अपने कथानक में गूंथ दिया है जब कि प्रसाद जी ने उसे धार्मिक आडम्बरों के मध्य रखकर और जोशी जी ने उस पर मनोविज्ञान का आवरण डाल कर प्रस्तुत किया है। 'कंकाल' में 'प्रसाद' जी ने भी समस्या का कोई हल प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने भी जारज-संतान विजय को मार्ग से उसी प्रकार हटा दिया है जिस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत उपन्यास से सरला को। जोशी जी ने 'प्रेत और छाया' में पारस नाथ के जारज संतान होने की कल्पना

मान की है या रूप में वह है नहीं। उन्होंने केवल एक मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के विश्लेषण के लिए ही प्रस्तुत समस्या को चुना है अतः उनसे समस्या के उचित हल की कोई आशा करना ही व्यर्थ था।

हृदय की प्यास

इस उपन्यास में मुख्य कथा का प्रारम्भ प्रवीण और सुखदा के असफल वैवाहिक जीवन से होता है। सुखदा एक आदर्श पत्नी है किन्तु प्रवीण एक उच्छृंखल एवं अतृप्त पति। एक को पति से संतोष है तो दूसरे को पत्नी से असंतोष। प्रवीण के हृदय का यही असंतोष कथा को अग्रसर करता है। वह अपनी पत्नी को अपने जीवन का सबसे महान् अभिशाप समझता है। इसी अवस्था में जब उसका साक्षात्कार अपने बाल-सखा भगवती की पत्नी से होता है तो प्रथम परिचय में ही वह अपनी मित्र-वधू पर आसक्त हो जाता है। उसका यह आकर्षण पाठक की सहज उत्सुकता को जाग्रत करता है। इस आकर्षण का परिणाम और सुखदा के निष्कपट सेवा और त्याग का फल शीघ्र से शीघ्र जानने को वह उत्सुक होता है। यहीं से मुख्य घटना का उत्कर्ष प्रारम्भ होता है। भगवती की बहू के पुत्र होना प्रवीण को बहू को एकांत में देखने का अवसर मिलना उसका आकर्षण और बढ़ना भगवती का प्रवीण पर संदेह हो जाना आदि घटनाएँ मुख्य घटना की निष्पत्ति में पूर्ण योग देती हैं। अभी मुख्य घटना की उपन्यासकार व्याख्या प्रस्तुत भी नहीं कर पाता कि एक अप्रत्याशित घटना के प्रवेश के कारण कथानक में घात-प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। भगवती अपने मित्र प्रवीण को अपनी पत्नी के साथ एकांत में देख लेता है। पूरी कथा ज्ञात किए बिना ही वह अपनी पत्नी को बुरी तरह से प्रताड़ित कर अपने गृह से निकाल देता है। नाटकीय ढंग से प्रवीण का पुन: भगवती की पत्नी से मिलना उसे मृत्यु के मुख से निकालना तथा उसे लेकर चुपचाप भाग जाना आदि घटनाएँ कथानक को चरम सीमा की ओर बड़ी त्वरा के साथ खींच ले जाती हैं किन्तु इसी समय भगवती द्वारा अपनी पत्नी के निष्कासन की घटना के फलस्वरूप प्रवीण के स्वभाव में परिवर्तन कथानक को बलात् आदर्शवादी अंत की ओर मोड़ देता है। कथानक का प्रवाह चरम-सीमा पर पहुँच कर मंद हो जाता है। भगवती के विचार भी अपनी पत्नी एवं प्रवीण के पत्रों को पढ़कर परिवर्तित हो जाते हैं और वह पुनः हृदय से दोनों का पता लगाने निकलता है। कथा में पुन: कुछ गति आने लगती है। इसी समय भगवती और प्रवीण का मिलन, प्रवीण द्वारा विष-पान आदि घटनाएँ कथानक को पुन

अपनी चरम सीमा पर आ खड़ा करती है। उपसंहार में प्रवीण और सुखदा भगवती और उसकी पत्नी का मिलन करा दिया गया है।

कथा से स्पष्ट है कि मुख्य कथा प्रवीण सुखदा एवं भगवती की बहू की है। भगवती की कथा मुख्य कथा से इस प्रकार गुँथी हुई है कि उसे प्रासंगिक कहना कठिन हो जाता है। वास्तव में यह चरित्र प्रधान उपन्यास है अतः इसमें प्रवीण के चरित्र को ही केंद्र बनाकर कथा का विकास हुआ है। प्रवीण के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए ही कथानक में कितनी ही नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं की संयोजना की गई है। प्रवीण की चारित्रिक विशेषताओं को अधिक महत्व देने के कारण कथानक का महत्व अपेक्षाकृत न्यून हो गया है। चरित्र को निखारने के कारण ही कथानक को बलात् यथार्थ से आदर्श की ओर उपन्यासकार ने मोड़ दिया है। परिणामस्वरूप कथानक की कलात्मक निःसंगता को गहरा आघात पहुँचा है।

यह सत्य है कि उपन्यासकार ने घटनाओं का संघटन इस कलात्मक ढंग से किया है कि कथा अंत तक रोचक बनी ही रहती है तथापि यह भी सत्य है कि अप्रत्याशित घटनाओं के बाहुल्य अस्वाभाविक रूप से स्वभाव में परिवर्तन एवं बलात् आदर्शवादी मोड़ ने संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन कर दिया है परिणाम यह हुआ है कि कथानक की अंतिम घटनाएँ अपने यथार्थ रूप में सामने नहीं आ पाई हैं।

प्रस्तुत कथानक के पूर्वार्ध में जीवन की कुछ अवस्थाओं के चित्रण बड़े ही सजीव हैं। प्रवीण की मानसिक ऊहापोह में अनुभूतियों का पूर्णरूपेण समावेश रहने से तथा यथार्थ का मधुर पुट पाठक के हृदय को बरबस स्पर्श कर लेता है। प्रस्तुत कथानक के माध्यम से उपन्यासकार ने यह प्रदर्शित करना चाहा है कि पुरुष को (पति को) नारी का (पत्नी का) केवल रूप ही नहीं वरन् हृदय भी देखने का प्रयास करना चाहिए।

पूर्णाहुति (खवास का ब्याह)

प्रस्तुत उपन्यास आचार्य चतुरसेन जी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका कथानक महाराज पृथ्वीराज चौहान के जीवन से संबंधित है। इसमें एक प्रधान और दो उप प्रधान कथाएँ एक साथ गुंथी हुई हैं। प्रधान कथा दिल्लीपति पृथ्वीराज की है। उपन्यास की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ भी इसी कथा से हुआ है। तथा उपप्रधान कथाएं जयचंद एवं गोरी से संबंधित है। जयचंद भी

कथा संयोगिता के माध्यम से पृथ्वीराज की कथा से आ मिली है। संयोगिता का रूप वर्णन सुनकर पृथ्वीराज और पृथ्वीराज का रूप वर्णन सुनकर संयोगिता एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। मुख्य घटना की तैयारी यहीं से प्रारम्भ हो जाती है। पृथ्वीराज से द्वेष मानने के कारण जयचंद उन्हें यज्ञ में एक राजा के सम्मान के अनुसार निमंत्रित नहीं करता। पृथ्वीराज को और भी अपमानित करने के लिए जयचंद अपने यज्ञ द्वार पर उनकी स्वर्ण-प्रतिमा को द्वारपाल के स्थान पर खड़ा कर देता है। राजकुमारी संयोगिता उसी स्वर्ण-प्रतिमा को जयमाल पहना कर वरण कर लेती है। मुख्य घटना की निष्पत्ति यहीं हो जाती है। व्याख्या में पृथ्वीराज के अंतर्द्वंद्व एवं तैयारियों का वर्णन है। इसके पश्चात् ही पृथ्वीराज एवं जयचंद के परस्पर संघर्षों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम अपरोक्ष रूप से और फिर परोक्ष रूप से। पृथ्वीराज जयचंद के दरबार में चंद कवि के साथ खवास बन कर जाता है। यहीं पृथ्वीराज एवं संयोगिता का नाटकीय ढंग से मिलन हो जाता है। वहीं दोनों का विवाह भी संपन्न हो जाता है। चंद के कहने पर पृथ्वीराज राजकुमारी संयोगिता का अपहरण कर अपनी सेना के साथ जयचंद की अपार वाहिनी को रौंदता हुआ अपनी राजधानी आ पहुँचता है। यह उक्त घटना की चरम-सीमा है और यहीं से जयचंद की कथा समाप्त हो गई है।

दूसरी प्रधान कथा गोरी की है। संयोगिता-हरण के पश्चात् ही पृथ्वीराज पर गोरी का आक्रमण हो जाता है। दोनों में जम कर युद्ध होता है किन्तु अंत में पृथ्वीराज गोरी द्वारा पराजित होकर बंदी होता है। गोरी उसे बंदी बना कर गजनी ले जाता है। वहाँ उस पर अमानुषिक अत्याचार होने लगते हैं। उसको नेत्रहीन कर दिया जाता है। इसी समय पृथ्वीराज का मित्र चंद छद्मवेश में उसके समीप पहुँच जाता है। यही वह पृथ्वीराज के शब्दभेदी बाण के चमत्कार का प्रदर्शन करवा कर गोरी को पृथ्वीराज के करों से ही समाप्त करवा देता है। अंत में पृथ्वीराज और चंद स्वयं भी आत्म-हत्या कर लेते हैं। यहीं प्रस्तुत उपन्यास की कथा का अंत हो जाता है। पृथ्वीराज की आधिकारिक कथा जयचंद एवं शाह शहाबुद्दीन गोरी की प्रासंगिक कथा को अग्रसर करने के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक दशा का भी चित्रण करने में पूर्ण सहायता करती है। अतः इनका महत्व स्वभावतः बढ़ जाता है।

कथाकार प्रस्तुत कथानक की मौलिकता एवं रोचकता की पूर्ण रक्षा करने में असमर्थ रहा है। किन्तु इसमें हम कथाकार को दोषी कदापि नहीं कह

मानने कारण उसने भूमिका में ही कह दिया है "इस पुस्तक में सब कथानक पृथ्वीराज रासो के आधार पर वर्णित हैं। केवल कथानक ही नहीं भाषा भाव और वर्णन-शैली भी रासो ही की है। मैंने केवल उसे अपने ढंग पर प्रस्तुत करने मात्र का प्रयत्न किया है। जहाँ-तहाँ कुछ पंक्तियाँ भी मेरी हैं।"[1] अब ऐसी दशा में कथानक में मौलिकता खोजना वर्णन शैली में दोष निकालना एवं अति नाटकीयता के आधिक्य को सामने ला खड़ा करना व्यर्थ ही होगा।

बहते आँसू (अमर अभिलाषा)

आचार्य चतुरसेन जी का प्रस्तुत उपन्यास समस्या प्रधान है। इसमें हिंदू विधवाओं की समस्या को उठाया गया है। भगवती नारायणी सुशीला कुमुद मालती और बसंती नाम की छै विधवाओं की कथाएँ इसमें एक साथ गूँथी गई हैं। यह सभी कथायें एक साथ अग्रसर होते हुए भी एक दूसरे की आश्रित नहीं ज्ञात होतीं। प्रत्येक कथा अपने में स्वतंत्र है अपना भिन्न अस्तित्व रखती है। इन भिन्न-भिन्न कथाओं का कोई नैसर्गिक संबंध भी नहीं है किन्तु तो भी लेखक ने इन सभी को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। यद्यपि यह सूत्र नितांत क्षीण है। भगवती और नारायणी परस्पर बहनें हैं और कुमुद एवं मालती सखियाँ। सुशीला और बसंती का परिचय मात्र है। अब इन सभी कथाओं को लेखक ने बड़े यत्न से एक साथ पिरोना चाहा है। सुशीला की राजा साहब से रमा प्रकाश नाम का एक युवक कराता है। प्रकाश कुमुद का ममेरा भाई है। इस प्रकार सुशीला की कथा का संबंध परोक्ष रूप से कुमुद की कथा से स्थापित हो जाता है। बसंती और भगवती की कथा का संबंध भी इसी प्रकार खींच तान कर स्थापित किया गया है। भगवती और बसंती दोनों ही विधवायें एक ही व्यक्ति (हरगोविंद) द्वारा प्रवंचित की जाती हैं। यों इन सभी-कथाओं को लेखक ने एक साथ जोड़ अवश्य दिया है किन्तु इससे कथानक की कलात्मकता की रक्षा नहीं हो सकी है।

प्रस्तुत कथानक में कौन सी आधिकारिक कथा है और कौन सी प्रासंगिक यह ज्ञात नहीं हो पाता। इन सभी के मध्य में प्रकरी कथायें व्याप्त हैं जिन्होंने मूल कथानक को अग्रसर होने में सहायता दी है।

प्रस्तुत उपन्यास की सभी मुख्य कथाओं में विकास की पाँचों अवस्थायें किसी न किसी रूप में प्राप्त अवश्य हो जाती हैं किन्तु कथा सूत्र के क्षीण होने के

---

१ पूर्णाहुति-दो शब्द।

कारण उन सभी का परिपाक पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। कहीं कहीं प्राप्त्याशा और नियताप्ति की अवस्थायें परस्पर इतनी घुल-मिल गई हैं कि उनमें मध्य भेद रेखा खींचना कठिन हो गया है। चामत्कारिक ढंग से सभी कथाओं का संबंध परस्पर स्थापित कर देने के कारण सभी कथाओं की "फलागम" अवस्था भी स्पष्ट नहीं उभर पाई है।

प्रस्तुत उपन्यास में कथा शिल्प की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने एक साथ छः कथाओं को चामत्कारिक ढंग से परस्पर सम्बद्ध करके अग्रसर किया है किन्तु अपने इस प्रयास में वह सफल नहीं हो सका है इसी कारण प्रस्तुत उपन्यास का कथानक बिखर सा गया है और इसके फलस्वरूप कथानक में असम्बद्धता और शिथिलता का दोष आ गया है। कथानक में बिख राव आ जाने पर भी आचार्य चतुरसेन जी अंत तक रोचकता बनाये रखने में सफल रहे हैं यह उनकी क्षमता का ही प्रमाण है।

घटनाओं का बाहुल्य होने पर भी वे सम्भावना के क्षेत्र का उल्लंघन नहीं कर सकी हैं यद्यपि कहीं-कहीं पर कथानक में नाटकीय मोड़ आ गए हैं। जैसे सुशीला की रक्षा के लिए प्रकाश का अकस्मात् आ उपस्थित होना एक दुष्ट के चंगुल से छूटकर भागती हुई मालती का अकस्मात् दूसरे दुष्ट के चंगुल में पड़ जाना आदि घटनाएँ अप्रत्याशित एवं नाटकीय हैं। किन्तु इससे कुतूहल जागृत होने के साथ-साथ कथा स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ती हुई दीख पड़ती है। इसमें कथानक में अति नाटकीयता का दोष नहीं आने पाया है। कथा में रोचकता लाने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने एक दो स्थानों पर नाटकीय व्यंग्यों का भी प्रयोग किया है जिससे कथानक की कलात्मकता में कुछ वृद्धि ही हुई है।[1]

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक किसी पुस्तक विशेष से प्रभावित न होकर यथार्थ घटनाओं से प्रभावित होकर लिखा गया है। यह सन् १९२१ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। हिंदू समाज के इतिहास को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय हिंदू विधवाओं की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उस समय के सभी प्रगतिशील विचारकों ने समाज के इस दूषण को दूर करने का पूर्ण प्रयास किया था। आचार्य चतुरसेन जी के प्रस्तुत उपन्यास में भी समाज के इस दूषण को दूर करने के लिए एक सर्वथा निर्दोष मार्ग प्रदर्शन करने का सफल

---

१ बहते आँसू पृ ७१।

प्रयत्न किया था । यही कारण है कि लेखक का सुधारात्मक एवं उपदेशात्मक दृष्टिकोण होने के कारण जहाँ एक ओर प्रस्तुत उपन्यास का सामाजिक एवं प्रचारात्मक महत्व बढ़ा है वहीं दूसरी ओर बीच-बीच में उपदेशात्मक लम्बे भाषणों के कारण कथा तत्व बाधित हुआ है फलस्वरूप कथानक की कलात्मक महत्ता क्षीण हो गई है ।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक मध्य वर्ग की हिंदू विधवाओं के जीवन से लिया गया है । जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है प्रस्तुत कथानक अपने विषय की नवीनता अभिव्यक्ति के ढंग वर्णन एवं विन्यास की विशेषताओं के कारण एक सीमा तक सफल हुआ है । किंतु अनुभूतियों के घनीभूत हो जाने के फल-स्वरूप उपन्यासकार कथानक में सूक्ष्मता गहनता एवं मार्मिकता लाने में सफल नहीं हो सका है । इसका प्रमुख कारण यही है कि कई समानान्तर कथाओं को एक साथ चलाने के कारण चित्रण की सूक्ष्मता एवं गहनता किसी में भी पूर्णरूप से नहीं आ सकी है । एक चित्र पाठक के मस्तिष्क में पूर्णरूप से उभर भी नहीं पाता कि उपन्यासकार दूसरे चित्र में रंग भरना प्रारम्भ कर देता है । इससे पाठक कथानक से पूर्णरूप से तादात्म्य स्थापित करने में सफल नहीं हो पाता फलस्वरूप उसका सहज ही साधारणीकरण नहीं हो पाता । किंतु यह तो निश्चित रूप से स्वीकार करना पड़ता है कि इसमें उपन्यासकार ने कुशलता से उन हथकण्डों का दर्शाया है जिनका आश्रय लेकर पुरुष की काम बुभुक्षा नारी के शरीर के साथ खिलवाड़ करना चाहती है ।

प्रस्तुत उपन्यास में हिंदू समाज में व्याप्त विधवा समस्या को उठाया गया है । स्पष्ट है कि प्रस्तुत समस्या कोई शाश्वत अथवा सर्वकालीन समस्या नहीं है । अतः प्रस्तुत कथानक से किसी शाश्वत निष्कर्ष की आशा करना ही व्यर्थ है किंतु इतना निश्चित है कि आचार्य चतुरसेन जी ने जिस समस्या को उठाया है उसका निष्कर्ष उपस्थित करने में वह निस्संदेह सफल रहे हैं । प्रस्तुत कथा का अध्ययन करने के पश्चात् एक ओर जहाँ पाठक को बाल-विवाह के प्रति घृणा उत्पन्न होती है वहीं दूसरी ओर निर्दोष समाज द्वारा प्रताड़ित एवं ठुकराई गई, विधवाओं के प्रति सहानुभूति ही जागृत नहीं की है वरन् उसने उनके पुनर्विवाह का भी विधान किया है । सन् १९३१ में 'विधवा विवाह' का विधान प्रस्तुत करना एक बड़े साहस का कार्य था ।

प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स अपने समस्या प्रधान उपन्यासों के लिए प्रसिद्ध हैं । वे उपन्यासों द्वारा समाज सुधार के उपदेशों को इतने

मनोरंजक एवं प्रिय ढंग से जनता तक पहुँचाते थे कि जनता को यह आभास भी न हो पाता था कि उस पर कोई उपदेश लादा या थोपा जा रहा है किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में हम कथा का यह विकास नहीं पाते। इसमें कुछ उपदेशात्मक अंशों को हम सरलता में निकाल सकते हैं।[1] इन अंशों के छूट जाने पर भी कथा में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आने पाता। इतना होने पर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि लेखक समस्या और उसका निष्कर्ष प्रस्तुत करने में किसी सीमा तक सफल रहा है।

प्रस्तुत उपन्यास में किंचित् असावधानी के कारण कुछ भद्दी भूलें रह गई हैं जिनका परिहार उपन्यासकार थोड़ा सा सतर्क रह कर सरलता से कर सकता था। एक स्थान पर प्रकाश सुशीला को एक चित्र दिखाता हुआ कहता है 'सुशीला यदि माता जीवित होती तो तुम्हें प्यार करतीं पर अब तो यह काम मुझे करना पड़ेगा'[2] इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रकाश की माता का देहांत हो चुका है किन्तु सम्भवतः आगे बढ़ने पर आचार्य चतुरसेन जी अपने इस वाक्य को भूल गये कारण प्रकाश के जेल जाने पर जब सुशीला रायसाहब के यहां स्त्रियों का डेपुटेशन ले जाने की बात प्रकाश के पिता से कहती है तब पास ही खड़ी प्रकाश की माँ आगे आकर कहती है 'मैं सहायता करूँगी'[3] जिससे यह आभास होता है कि प्रकाश की माता जीवित है। प्रकाश की विमाता की तो कथा में कहीं चर्चा है नहीं फिर यह दो विरोधी बातें मिलती हैं। बसंती की कथा में भी इसी प्रकार के कुछ विरोधी नामों के प्रयोग की भी उपन्यासकार ने कई स्थानों पर भद्दी भूलें का हैं। कुमुद के स्थान पर कुसुम[4] हरगोविंद के स्थान पर गोविंद सहाय[5] आदि के प्रयोग के कारण पाठक भ्रम में पड़ जाता है। इन दोषों के कारण कथावस्तु में अस्वाभाविकता एवं शैथिल्य के दोष आ जाते हैं जिनसे कथानक की कलात्मकता को भारी आघात पहुँचता है।

---

१ श्री रामचन्द्र द्वारा दिए गये लम्बे भाषण।

२ बहते आँसू—पृ. १८।

३ बहते आँसू—पृ. १८५।

४ बहते आँसू—पृ. १०१।

५. बहते आँसू—पृ. २११।

आत्मदाह

आचार्य चतुरसेन जी का प्रस्तुत उपन्यास चरित्र प्रधान है। एक ही चरित्र के चारों ओर कथा बिखरी हुई है। अन्य चरित्र-प्रधान उपन्यासों की भाँति इसमें भी सुधीन्द्र का चरित्र कथा-वस्तु का एक भाग होकर नहीं आया है वरन् उसका अपना निज का व्यक्तित्व है। कथावस्तु स्वयं उसके व्यक्तित्व के आधीन है। कथा का प्रारम्भ उसकी प्रिय पत्नी माया की मृत्यु से हुआ है। यहीं से उपन्यासकार माया के गुण वर्णन के साथ-साथ अपरोक्ष रीति से सुधीन्द्र का चरित्र भी उभारता गया है। उसे अपने प्रिय जनों का बिछोह सहन करना पड़ता है आत्मीय जनों से प्रवंचित होना पड़ता है। एक के उपरांत दूसरी विपत्ति से संघर्ष करना पड़ता है। प्रथम पत्नी माया की मृत्यु के पश्चात् उसे दूसरा विवाह सुधा से करना पड़ता है। सुधा के भाई मधुसूदन की रक्षा के लिए उसे उसके साथ युद्ध में विदेश जाना पड़ता है। वहाँ से मधुसूदन एक टाँग का होकर लौटता है। जलियान वाला कांड में वह पुलिस की गोली का शिकार होता है। प्रतिक्रियास्वरूप सुधीन्द्र अपनी पत्नी सहित स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेता है। परिणामस्वरूप उसे कालेपानी भेज दिया जाता है। लौटने पर पत्नी पिता और नवजात पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर वह विक्षिप्त हो जाता है।

प्रस्तुत कथानक से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कथानक सुधीन्द्र के ही चारों ओर घूमता है।। सुधींद्र की मुख्य कथा के साथ पद्मगोपाल एवं मधुसूदन की प्रासंगिक पताका कथा चलती है। इन कथाओं को आगे बढ़ाने के लिए सरला भगवती आदि की प्रकरी कथाओं का भी समावेश हुआ है किन्तु इन सभी कथा आदि का प्रयोग कथानक को सुगठित बनाने के लिए नहीं हुआ है वरन् पात्र विशेष के चरित्र को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ही हुआ है। प्रस्तुत कथानक में विभिन्न घटनाओं एवं परिस्थितियों की योजना केवल सुधींद्र में पहले से वर्तमान विशेषताओं के प्रदर्शन के लिए हुई है।

कथानक में घटनाओं की बहुलता होने के कारण कथा बिखर गई है। चरित्र प्रधान उपन्यासों में यह दोष अधिकांशतः प्राप्त होता है। कारण चरित्र को पूर्ण रूप से अनावृत करने के लिए नई-नई स्थितियों की आवश्यकता होती है। उसमें वैचित्र्य बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह कथा वस्तु द्वारा परिसीमित न हो।[1] अतः सुधींद्र के चरित्र के निर्माण एवं उसे उभारने के लिए

१ हिंदी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव—पृ ३९।

लाई गई अनेक अनावश्यक कथाओं के जमघट के कारण कथावस्तु शिथिल हो गई है। उदाहरण के लिए हम सुधीन्द्र के मित्र हरिप्रसाद सूर्यकुमार एवं प्रियवर्मा की कथाओं को ले सकते हैं।[1] इन कथाओं का मूल कथा से कोई सीधा सम्बंध नहीं है किन्तु तो भी इनका समावेश किया गया है वास्तव में सुधीन्द्र के बाल चरित्र के उद्घाटन के लिए ही यह कथा प्रस्तुत उपन्यास में संजोई गई है। इसी प्रकार सरला की कथा का समावेश भी उसकी चारित्रिक दृढ़ता को प्रकट करने के लिए ही किया गया है। इस प्रकार कथानक गठन की दृष्टि से प्रस्तुत कथानक शिथिल वस्तु कथानक की कोटि में रखा जा सकता है। इसमें सुधीन्द्र ही समस्त घटनाओं का जोड़नेवाला है नाटकीय संयोजना का भी इसमें पूर्ण अभाव है।

कुछ आलोचकों ने प्रस्तुत उपन्यास के कथानक को दोष युक्त बताते हुए कहा है 'अविकोष पात्र और अविकोष घटनाएँ इसमें ठूँसी गई सी लगती हैं जिनका न नायक से सम्बंध है और न मूल कथा से।[2] यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास में कितनी ही घटनाएँ ठूँसी हुई सी ज्ञात होती हैं किन्तु यह कहना कि उन घटनाओं अथवा पात्रों का नायक से कोई सम्बंध नहीं है सर्वथा असंगत है। जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है प्रस्तुत उपन्यास में पात्रों एवं घटनाओं का बाहुल्य केवल नायक सुधीन्द्र के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए ही हुआ है। यह सत्य है कि प्रस्तुत उपन्यास का कथानक गृ खलाबद्ध न रहने के कारण बिखर गया है किन्तु उपन्यासकार पर यह दोष लगाना 'उसके पास कोई एक पूर्ण कहानी नहीं थी। भिन्न-भिन्न कहानियों अथवा घटनाओं का बखान करने के लिए एक पात्र चुन लिया और उसे देश विदेश में भटकाते फिरे'[3] चरित्र प्रधान उपन्यासों के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करना है।[4]

कथानक में शिथिलता एवं बिखराव होने के फलस्वरूप भी उसमें रोचकता अंत तक बनी रहती है। पाठक का ध्यान सुधीन्द्र के चरित्र पर ही

---

१ आत्मदाह—पृ १८ से ७९ तक।
२ हिन्दी उपन्यास के कथा-शिल्प का विकास डा० प्रतापनारायण टंडन पृ १००
३ हिन्दी उपन्यास श्री शिवनारायण श्रीवास्तव पृ १७०।
४ हिन्दी उपन्यास श्री शिवनारायण श्रीवास्तव पृ १४ से १६ एवं उपन्यासकला श्री विनोदशंकर व्यास पृ ११ १७।

केंद्रित रहता है। नायक के चरित्र को निखारने के लिए घटनाओं को कई स्थानों पर अप्रत्याशित एवं नाटकीय ढंग से तोड़ा मरोड़ा भी गया है,[1] जिससे कथानक में कुतूहल एवं रोचकता की वृद्धि हुई है किंतु उसकी कलात्मकता अवश्य कुछ क्षीण हो गई है।

प्रस्तुत कथानक मानव जीवन का एक पूर्ण चित्र उपस्थित करता है। इसमें उपन्यास नायक सुधीन्द्र के बाल्यकाल से लेकर अंत तक की विविध अवस्थाओं को चित्रित किया गया है। एक ओर जहाँ इसमें जीवन की विविध अवस्थाओं को लिया गया है वहीं उपन्यासकार ने युग विशेष की कुछ समस्याओं को भी इसमें अनुस्यूत किया है।[2] अतः जहाँ एक ओर पाठक चित्रण की सूक्ष्मता यथार्थता एवं गहनता से प्रभावित होता है वहीं कथानक द्वारा उस युग समाज एवं देश की दशा के आभास के साथ-साथ उनकी ज्वलंत समस्याओं की व्याख्या पाकर आश्वस्त भी होता है।

प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार अपनी कुछ अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में भी पूर्ण सफल रहा है। जैसे पत्नी की मृत्यु के पश्चात् सुधीन्द्र के हृदय में दूसरे विवाह के प्रश्न पर उठने वाली उथल-पुथल का एवं विवाह के पश्चात् भी विरक्ति एवं अंतर्द्वन्द्व का सजीव चित्रण उपन्यासकार की निज की अनुभूतियों से पूर्ण ज्ञात होता है।[3]

प्रस्तुत उपन्यास में भी उपन्यासकार की असावधानी के कारण कुछ भयंकर भूलें हो गई हैं। पात्रों के नामों में इसमें भी कई स्थानों पर उलट फेर हो गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि सुधीन्द्र की छोटी बहन इंदु के पति

१ आत्मदाह सुधीन्द्र का विद्रोह कर के पलायन सरला सन्यासी की एवं किसानों आदि की कथाएँ इसी प्रकार की हैं। पृ ९१ १४३ मधुसूदन के साथ सुधीन्द्र का विदेश जाना भी नाटकीय ढंग से होता है अस्थियोंवाला बाग की कथा भी नाटकीय है।

२ क सरला की कथा के माध्यम से विधवा समस्या पर एवं स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के विषय में विचार (आत्मदाह) पृ १२९-१२९।
ख वेश्या समस्या पर विचार (आत्मदाह) पृ १५१ ५०।
ग युद्ध हिंसा एवं अहिंसा पर विचार (आत्मदाह) पृ १०४ १०८।
घ देश और प्रेम की समस्या पर विचार पृ १०४ १०८।

३ आत्मदाह पृ ८२ ८३, ८८-९०।

का नाम राजाराम एवं पुत्री का नाम सुधा था।[१] किन्तु आगे राजाराम नाम का प्रयोग सुधीन्द्र के छोटे भाई रामजस[२] के लिए सर्वत्र किया गया है।[३] इसी का उलटफेर सुधीन्द्र के छोटे भाई राजेंद्र और वीरेंद्र के नामों के साथ हुआ है। कहीं पर राजेंद्र के स्थान पर वीरेंद्र[४] और कहीं पर वीरेंद्र के स्थान पर राजेंद्र का प्रयोग किया गया है। इस असावधानी के परिणामस्वरूप कई अन्य बड़ी भूलें भी हो गई हैं। जैसे माया की मृत्यु के समय वीरेंद्र के विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं उसकी बरात आदि का भी विस्तार से वर्णन किया गया है[५] किन्तु आगे एक स्थान पर भूल से उसे अविवाहित सिद्ध किया गया है।[६] इसी प्रकार एक स्थान पर राजाराम (रामजस) की दूसरी पत्नी का नाम रेवती दिया है किन्तु वही आगे चलकर कमली[७] हो गई है। वीरेंद्र और राजेंद्र के नाम की गड़बड़ी अंत तक चलती है। इसी से पुस्तक में तो वीरेंद्र की मृत्यु की चर्चा की गई है[८] किन्तु एक स्थान पर उपन्यासकार कह जाता है कि मधु और राजेंद्र की मृत्यु ने उन्हें हिला दिया था।[९] राजाराम का नाम तो अंत आते-आते सुधरकर रामजस पुनः हो जाता है किन्तु अन्य नामों की गड़बड़ी ज्यों की त्यों चलती रही है। इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी प्रस्तुत उपन्यास में कई स्थानों पर काल की अवधि एवं पात्रों की आयु भी भूल गए हैं जिससे पाठक भ्रम में पड़ जाता है।[१०] यह बड़ी भूलें कथानक के कलात्मक सौन्दर्य को नष्ट तो करती ही हैं साथ ही पाठक की रसानुभूति को आघात पहुँचाने के कारण उपन्यासकार के प्रति उसकी श्रद्धा को भी घटाती हैं।

---

१ आत्मदाह पृ ४५।　　२ आत्मदाह पृ ४८।

३ आत्मदाह पृ ५८ पर राजाराम और रामजस दोनों ही नाम एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हैं। साथ ही देखिए पृ २०९, २१०, २११, २२६।

४ आत्मदाह पृ ६५ पर कहा गया है कि सबसे छोटे भाई का नाम राजेन्द्र था किन्तु पृ २३२ पर कहा गया है कि वीरेन्द्र माता की सबसे छोटी सन्तान था।

५ आत्मदाह, पृ ११ से १४ तक, पृ ६५।　　६ आत्मदाह पृ २३२।

७ आत्मदाह पृ २४१।　　८. आत्मदाह पृ २८४।

९ आत्मदाह पृ २९०।

१० आत्मदाह पृ २३ पर कहा गया है कि सुधीन्द्र का विवाह १९ वर्ष की अवस्था में माया से हो गया था, वह १४ वर्ष तक उसकी भार्या रही

नीलमणि

प्रस्तुत उपन्यास का व्यावहारिक प्रारम्भ नीलम और उसकी माता के वाद-विवाद से होता है। नीलम विवाहिता होने पर भी आवश्यकता से अधिक स्वच्छंद है। वह अपने बाल सखा विनय के साथ पूर्ण युवती हो जाने पर भी शैशव की भाँति ही किलोलें किया करती है। यह उसकी माता को रुचिकर प्रतीत नहीं होता। वह विनय और नीलू दोनों पर ही प्रतिबंध लगाना चाहती हैं। इसी समय अप्रत्याशित रूप से नीलू के पति महेंद्र का आगमन होता है। प्रथम ही भेंट में नीलू पति का अपमान करती है किन्तु महेंद्र सहन कर जाते हैं। इसके पश्चात् ही नीलू पति के साथ ससुराल चली जाती है। मुख्य कथा की यहीं निष्पत्ति हो जाती है। अब कथानक एक समस्या के चारों ओर चक्कर काटता हुआ अग्रसर होता है। नीलू शिक्षित नवयुवती है किन्तु तो भी उसका विवाह बिना उसका मत लिए बिना उसकी रुचि जाने एक अपरिचित से कर दिया जाता है। नीलू इसी बात से असंतुष्ट है। अब कथानक में इसी समस्या को कि स्त्रियों की बिना मर्जी के बिना उनकी रुचि जाने माता-पिता जिनके साथ चाहें बांध दें खासकर जब स्त्रियां शिक्षित हों? क्या यह न्याय है? को लेकर ही घात-प्रतिघात-प्रारंभ हो जाता है। यह संघर्ष बाह्य जगत से होकर मनोजगत में पैठता है। महेन्द्र नीलू से अपमान पर अपमान सहन कर भी प्रेम किए जाते हैं किन्तु बिना उसकी इच्छा के उसका स्पर्श तक नहीं करते। नीलू भी पति से प्रेम करने लगी है किन्तु उसका वह प्रेम बाहर नहीं आ पाता वरन् वह हृदय में ही सुलगता एवं बढ़ता रहता है। उसका शरीर घुलने लगता है किन्तु वह अपरिचित पति के समक्ष नत कैसे हो? आकर्षण और विकर्षण के मध्य होता हुआ कथानक अग्रसर होता है। इसी समय नीलू अपने बालसखा विनय से मिलती है। उसके समक्ष भी वह अपनी वही समस्या प्रस्तुत करती है। और अंत में विनय ही समस्या का निष्कर्ष उसके समक्ष प्रस्तुत कर उसकी शंकाओं का समाधान करता है। इसके पश्चात् ही कथानक त्वरा के साथ अंत

(पृ २५ २६) किन्तु उसकी मृत्यु के समय सुपीरा की आयु १८ वर्ष थी (पृ २७) ११ वर्ष से १८ वर्ष कैसे रह गए? इसी प्रकार पृ १०१ पर उपन्यासकार ने कहा है तरला ९ वर्ष की अवस्था में विधवा हुई थी इस समय वह १७ वर्ष की नवयुवती थी किन्तु पृ १२१ पर ही वह भूल गए हैं। सुपीरा के एक प्रश्न पर तरला १७ वर्ष की अवस्था में अपने को विधवा हुए पाँच ही वर्ष बतलाती है जब कि होना चाहिए ८ वर्ष।

की ओर भागता है। और अंत तक आते-आते पति-पत्नी का मिलन हो जाता है।

प्रस्तुत कथानक में नीलू और महेंद्र की कथा ही आधिकारिक कथा है। मणि की कथा प्रासंगिक प्रकरी का कार्य करती है। विनय की प्रासंगिक कथा से उलझ कर ही नीलू की कथा में जटिलता उत्पन्न होती है। किंतु अंत में विनय की प्रासंगिक कथा ही प्रस्तुत कथानक के अंत का कारण बनती है।

प्रस्तुत उपन्यास में प्रमुख समस्या है 'अपरिचित व्यक्ति से विवाह करने के पूर्व माता-पिता को कन्या की इच्छा अथवा रुचि ज्ञात करना आवश्यक है अथवा नहीं ? प्रमुख समस्या आधुनिक युग की एक प्रमुख समस्या है। इसका हल प्रस्तुत करने में एक ओर कथाकार ने जहाँ प्राचीन मत-मतांतरों का आश्रय लिया है वहीं उसने तर्क एवं विचारों का संबल भी नहीं त्यागा है। एक ओर यदि उसने महेंद्र एवं उनकी माता के मुख से नियति प्रारब्ध एवं जन्म जन्मान्तरों की बात कहलाई है[१] तो वहीं दूसरी ओर उसने विनय को माध्यम बनाकर यह भी कहला दिया है कि कन्या के स्वयं के निर्वाचन से माता-पिता का ही निर्वाचन अधिक उत्तम है। कन्या अपनी अनुभवहीनता के कारण स्वयं के निर्वाचन में बहक सकती है अपरिचित व्यक्ति से स्वयं परिचय प्राप्त करने में अपनी पवित्रता को नष्ट कर सकती है अतः माता पिता का निर्वाचन ही अधिक श्रेष्ठ एवं स्थायी है।"[२]

समस्या का हल कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया गया है कि कहीं भी कथा सूत्र की शृंखला बिखरने या टूटने नहीं पाई है। एक दो स्थल ऐसे अवश्य आ गए हैं जहाँ विचार कथानक पर छा गए हैं किन्तु उनसे कथा बोझिल नहीं हुई है वरन् उसके मध्य से समस्या का निष्कर्ष प्रस्फुटित होने के कारण उनकी कलात्मक महत्ता में वृद्धि ही हुई है। कथानक की रोचकता अंत तक बनी रही है। कथानक में नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाएं एक-दो स्थल पर अवश्य आ गई हैं[३] किन्तु उनके प्रयोग से कथा कहीं भी संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन नहीं कर पाई है। कथा में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग भी इस कुशलता के साथ किया गया है कि वह कथानक के साथ एक रस हो गए हैं। इससे उत्पन्न विज्ञानाभास प्रस्तुत कथानक को समस्या प्रधान कथानकों से कुछ परे खींच ले जाता है।

---

१ नीलमणि पृ २१।   २ नीलमणि पृ १०६।

३ नीलमणि पृ ८३ ११२, १२१।

जाते हैं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में सोमप्रभ और कुण्डनी दोनों की कथाएँ भिन्न भिन्न अग्रसर होती हैं। सोम वैशाली में कभी चित्रकार के रूप में तो कभी बहुमूल्य वस्तु के रूप में कार्य करने लगता है। कुण्डनी भी यहीं मद्रनंदिनी वेश्या के रूप में मगध की ओर से कार्य करने लगती है। यहीं कुंडनी का अंत एक चामत्कारिक घटना के द्वारा होता है। सोम वैशाली महायुद्ध में मगध के महासेनापति के रूप में कार्य करता है किन्तु ज्यों ही उसे ज्ञात होता है कि युद्ध केवल अम्बपाली के लिए हो रहा है वह तुरंत रोक देने की घोषणा कर देता है। इसी बात पर वह महाराज बिम्बसार से भी द्वन्द्व युद्ध करके उन्हें परास्त करता है। इस कथा के अन्त में आर्या मातंगी द्वारा दो रहस्य प्रकट किए जाते हैं—प्रथम सोमप्रभ सम्राट बिम्बसार का पुत्र है और अम्बपाली सोम की भगनी। सोम और अम्बपाली की माता एक और पिता दो हैं। अम्बपाली के पिता आर्य वर्षकार हैं। अम्बपाली की भाँति सोमप्रभ भी अन्त में भिक्षु हो जाता है।

तीसरी मुख्य कथा है कोशल नरेश महाराजा प्रसेनजित एवं उनके दासी पुत्र विदूडभ की। वृद्धावस्था में भी महाराज प्रसेनजित लोलुप कामी एवं विलासी हैं। उनका पुत्र विदूडभ भी इसी कारण से उनका विरोधी हो जाता है। उसे सर्वाधिक क्रोध इसी बात का है कि महाराज ने अपनी वासना पूर्ति के लिए उसे दासी से क्यों उत्पन्न किया। उसे इसी कारण पग-पग पर अपमानित होना पड़ता था। अन्ततः वह अपने विलासी एवं मदांध पिता के विरुद्ध षड्यन्त्र प्रारंभ कर देता है। बंधुलमल्ल महाराज की सहायता करते हैं तथा सोमप्रभ विदूडभ की। अन्ततः सोमप्रभ के कारण ही विदूडभ अपने पिता पर विजय प्राप्त करता है और उन्हें देश-निकाला दे देता है। मार्ग में ही महाराज प्रसेनजित एवं देवी मल्लिका की दुःखद मृत्यु हो जाती है। सोमप्रभ कोशल के सिंहासन पर विदूडभ का अभिषेक कर चम्पा की राजकुमारी चन्द्रप्रभा से उसका पाणिग्रहण करा देता है। यह कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

इन तीन प्रमुख कथाओं के अतिरिक्त प्रस्तुत उपन्यास में निम्न प्रासंगिक कथाएँ और हैं हर्षदेव की कथा[1] श्रामणपुत्र गौतम की कथा[2] कुलपुत्र मद्र की कथा[3] वैज्ञानिक आमात्य काश्यप की कथा[4] मगध महामात्य आर्य की कथा[5]

---

१ नगरवधू पृ० ४१ ४३ तथा १६७ से १७२। २ नगरवधू पृ ४६ ५२।
३ नगरवधू, पृ ५३ ५८। ४ नगरवधू, पृ ७२-८१।
५ नगरवधू, पृ ९२-९७ १६६ १७० ४२१ ४२३।

यार्या मातंगी की कथा[1] शान्तिपुत्रसिंह एवं रोहिणी की कथा[2] दम्भर ससुर की कथा[3] महाराज दधिवाहन की कथा[4] महाराज उदयन की कथा[5] बादरायण व्यास की कथा[6] अजित केशकम्बली की कथा[7] दीक्षभद्र की कथा[8] भगवान महावीर की कथा[9] कलिंग सेना की कथा[10] सेनापति कारायण की कथा[11] मधुक की कथा[12] युवराज स्वर्णसेन की कथा[13] हरि केशीबल की कथा[14] मंडन साहु की कथा[15] छाया पुरुष की कथा[16] जमराज की कथा[17] ये कथाएँ कहीं मुख्य कथाओं के सहायतार्थ आई हैं तो कहीं स्वतंत्र विकसित हुई हैं। इन कथाओं का जाल कहीं-कहीं इतना उलझा हुआ है कि मुख्य कथा खो सी गई है।

वास्तव में प्रस्तुत उपन्यास की कथा का सम्बन्ध किसी एक राज्य अथवा व्यक्ति विशेष से न हो कर अनेक राज्यों एवं राजन्य वर्गों से है कुल की प्रमुख कथाएँ चार राज्यों—वैशाली मगध चम्पा एवं कोशल से सम्बन्धित हैं। चारों ही राज्यों की राजधानियाँ प्रस्तुत कथानक की क्रीड़ा भूमि हैं। जिससे इसमें कितनी ही कथाएँ समानांतर चलती हुई दीख पड़ती हैं फलस्वरूप कथानक बिखर गया है। कई स्थानों पर विवरण की अधिकता के कारण कथा की गति अवरुद्ध हो गई है।[18] कई स्थानों पर विषयान्तर भी कथा की गति को

---

१ नगरवधू, पृ ९८ से १०८ तक। २ नगरवधू, पृ १९१ से १९६ तक।
३ नगरवधू पृ १८१ से २०२ तक। ४ नगरवधू पृ २०७ से २३५ तक।
५ नगरवधू, पृ १११ से १२० तक। ६ नगरवधू, पृ ५४१ से ५६४ तक।
७. नगरवधू पृ २४४ से ५५० तक। ८ नगरवधू, पृ १२१ से १२३, १२८ से १३१ तक।
९ नगरवधू पृ १२४ से १२७ तक। १० नगरवधू, पृ २८७ से २९४ तक।
११ नगरवधू पृ ४१२ से ४३३ तक। १२ नगरवधू पृ १३७ से १४५ तक।
१३ नगरवधू, पृ ५५९ से ५६१ तक। १४ नगरवधू, पृ ३१७ से ३२०, ५५९ से ५६० तक।
१५ नगरवधू, पृ ५३७ से ५४८ तक। १६ नगरवधू, पृ ६८५ से ६९६ ६०२ ६०४ ७०८-७११।
१७. नगरवधू, पृ ६१० से ६१२ तक। १८. नगरवधू, पृ ४४ ५८, ८२ ९१ १८५ २९४ ५९९ ३०८ २२१ से २३१ आदि।

आघात करता है। इन दोषों के कारण एक ओर जहाँ कथा-वस्तु बिखर गई है वहाँ अनावश्यक विवरणों के आधिक्य के कारण बोझिल भी हो गई है। किन्तु उपन्यासकार की यह बहुत बड़ी सफलता है कि पूर्वार्द्ध की इस बिखरी हुई कथा को उसने उत्तरार्द्ध में बड़ी कुशलता से संभाल लिया है। यद्यपि सभी कथाओं को एक साथ समेटने की शीघ्रता में उसे कई अस्वाभाविक एवं आकस्मिक मोड़ देने पड़े हैं, जिससे कहीं-कहीं पर कथानक यंत्रचालित सा ज्ञात होने लगा है। जैसे कुण्डनी की मृत्यु चुम्बन[1] एकान्त वन में चित्रकार का साहस[2], छाया पुरुष की कथा[3] आदि कई स्थलों पर भारतेंदु-युग के तिलस्मी उपन्यासों के समान ही इसमें भी घटनाएँ कथानक को आक्रान्त कर देती हैं जिससे कथानक इनके बोझ से दबा हुआ अत्यन्त मंदगति से अग्रसर हो पाता है। जैसे कौशल दुर्ग से राजकुमार विदूडभ के निकालने की कथा[4] शम्बर असुर की कथा[5] चम्पा में पर्शुपुरी के रत्न विक्रेता की कथा[6] आदि कथाएँ इसी प्रकार की हैं। इनमें उपन्यासकार ने नाटकीय ढंग से कथा को अकस्मात् इच्छित पथ पर मोड़ दिया है। जिससे कथा एक झटके के साथ रुककर, दूसरी दिशा में मुड़कर क्षिप्र गति से भाग चलती है। इससे पाठक की कुतूहल वृत्ति जाग्रत हो जाती है। जिससे कथानक की रोचकता तो बढ़ जाती है किन्तु इससे कथानक की स्वाभाविकता को गहरा आघात लगता है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक बिखर भले ही गया हो किन्तु उसकी शृंखला कहीं टूटी नहीं है। साथ ही उपन्यासकार कथा को अन्त तक पूर्ण रोचक बनाए रखने में सफल रहा है। उपन्यास में रोचकता लाने के लिए ही उसने उपर्युक्त नाटकीय एवं आकस्मिक घटनाओं की संयोजना की है। इसलिए एक आलोचक ने प्रस्तुत उपन्यास की आलोचना करते हुए लिखा है 'इस उपन्यास में विविध प्रसंगों की रोचकता के कारण कथा इतनी अरोचक तो नहीं होने पाती है परन्तु घटनाओं का भारी संयोजन जासूसी उपन्यास के कथानक की भाँति भी है जिसमें स्थान-स्थान पर अनेक घटनाएँ चलती हैं। अन्तर इतना है कि जहाँ जासूसी उपन्यासों में इस प्रकार की घटनाएँ एक दम चामत्कारिक रूप से

---

१ नगरवधू पृ १८१ से २०५ तक। २ नगरवधू पृ ४८६ से ५१७ तक।
३ नगरवधू, पृ ४८५-४९१ ५०२ ४ नगरवधू पृ ५४१ ५४५।
५०४ ७०८ से ७११ तक।
५ नगरवधू, पृ १५१ २०२। ६ नगरवधू, पृ २१७-२२१ तक।

सम्मिलित होती है वहाँ इस उपन्यास में उनका समावेश नाटकीय रूप से हुआ है।[1]

उपन्यासकार ने विलक्षण घटनाओं को भी युक्तिसंगत और असंभव प्रसंगों को भी सुसंगत बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है किन्तु तो भी कई स्थलों पर कथा सम्भावना के क्षेत्र का उल्लंघन कर गई है। उसने सम्पूर्ण कथानक को बुद्धि सम्मत बनाने की चेष्टा की है। किन्तु कथा के कुछ स्थल बुद्धि के लिए अग्राह्य हो गए हैं। महाराज उदयन का आकाश मार्ग से अम्बपाली के समक्ष वीणा-वादन एवं पुनः उसी मार्ग से प्रत्यावर्तन[2] राक्षसों के नगर का वर्णन, उसमें प्रदर्शित अलौकिक आकर्षण शक्ति[3] विष कन्या कुण्डनी द्वारा मृत्यु-चुम्बन और असुरों का विनाश[4] छाया पुरुष का प्रसंग[5] आदि कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिन पर साधारण पाठक विश्वास नहीं कर पाता। उपन्यासकार ने स्वयं भी परकाया प्रवेश को भूमिका में मनोकल्पित ही माना है[6] किन्तु फिर भी कुछ प्राचीन मान्यताओं के कारण उसने ऐसे प्रसंगों को स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो कुछ खटकते हैं। जैसे मगध सम्राट बिम्बसार का युद्ध के वातावरण में अम्बपाली के आवास में सुरक्षित पहुँच जाना[7] राजकुमार विदूडभ को बन्दी गृह से मुक्त करना[8] श्रावस्ती में प्रसेनजित नामी की नाक कटाने के लिए दैवी प्रकोप का वातावरण एक नाटकीय घटना का संयोजन करके उत्पन्न करना[9] आदि घटनाएं, किन्तु यह घटनाएँ नितांत काल्पनिक नहीं ज्ञात होतीं कारण इनके प्रस्तुत करने में उपन्यासकार ने कार्य-कारण सम्बन्ध का ध्यान रखा है, जिससे यह स्थल बुद्धि के लिए अग्राह्य नहीं होने पाये हैं।

वास्तव में यही उपन्यास आचार्य चतुरसेन जी का सर्वप्रथम मौलिक इतिहास रस का उपन्यास है। इसी उपन्यास में उन्होंने 'इतिहास रस' की स्थापना की है। प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु का आधार बौद्ध-ग्रन्थों में उल्लिखित वैशाली की गणिका अम्बपाली है। उपन्यासकार ने स्वयं इस कथा-वस्तु के

---

१ हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास डा० प्रतापनारायण टंडन पृ ३३०-३३१ तक।

२ नगरवधू पृ १११ से १२० तक।

३ नगरवधू, पृ १२१ से १८८ तक।

४ नगरवधू, पृ २०० से २०५ तक।

५ नगरवधू, पृ ५८२ ५९९ ७०८ ७११।

६ नगरवधू भूमि पृ ८११।

७ नगरवधू, पृ ७०३ से ७०७ तक।

८ नगरवधू पृ ४११ से ४४५।

९ नगरवधू पृ ५५९ से ५६० तक।

विषय में कहा है 'बहुत दिन हुए सम्भवतः अब से बीस बरस पहले मेरी दृष्टि इस गणिका से सम्बन्धित एक बौद्ध उपाख्यान पर पड़ी (महावग्ग ६/४/७) जिसमें इस बात का उल्लेख था कि गणिका अम्बपाली ने वैशाली में आने पर बुद्ध को भोजन का निमन्त्रण दिया था और उस पर वैशाली के राजपुरुषों ने ईर्षा की थी। यह भी मैंने सुना कि वैशाली गणतन्त्र में एक ऐसा कानून था जिसके आधार पर राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या को अविवाहित रखकर उसे वेश्या बना दिया जाता था (पवेणी पोत्थकम्)।[1] इन्हीं दो सूक्ष्म सूत्रों पर ही उसने इतने विशाल कथानक का निर्माण किया है। अब देखना यह है कि प्रस्तुत उपन्यास में कितनी कथाएं ऐतिहासिक हैं और कितनी कल्पना प्रसूत। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि इस उपन्यास में तीन प्रमुख कथाएं हैं अम्बपाली एवं बिम्बसार की प्रसेनजित एवं विदूडभ की एवं अन्तिम सोम प्रभ एवं कुण्डनी की।

इनके अतिरिक्त बादरायण व्यास मन्जुघोष, वर्षकार, आर्या मातंगी आदि की लगभग २१ प्रासंगिक कथाएं इन्हीं तीनों कथाओं की आश्रित हैं। वास्तव में उपन्यास की प्रथम एवं द्वितीय दोनों ही प्रमुख कथाएं एकदम काल्पनिक नहीं हैं। अम्बपाली और मगध सम्राट बिम्बसार के सम्बन्ध की कथा इतिहास में भी प्राप्त है। उपन्यासकार ने बिम्बसार से अम्बपाली से एक औरस पुत्र भी होना दिखाया है यह भी काल्पनिक नहीं ऐतिहासिक है। इतिहास में स्पष्ट उल्लेख है कि बिम्बसार का अम्बपाली से विमल कौन्डञ्ञ नामक एक पुत्र था।[2] अम्बपाली का अन्त में भगवान बुद्ध की शरण में आना तो ऐतिहासिक है ही।[3] इसके अतिरिक्त प्रस्तुत उपन्यास की द्वितीय प्रमुख कथा प्रसेनजित एवं विदूडभ की भी बहुत कुछ इतिहास सम्मत है। विदूडभ का नाम विरूढक भी इतिहास में प्राप्त होता है। इतिहास में प्राप्त होता है कि प्रसेनजित काशी तथा कोशल का अधिपति था।[4] महाशाक जातक के अनुसार शाक्य देश भी उसी के प्रभुत्व के अन्तर्गत था। (महशाक जातक ४ पृ ११४) शाक्य लोगों ने षड्यंत्र करके

---

१ भारतभू सुमि।

२ भाग १ डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स पृ १५२।

तथा १ : हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी अनुवादक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृ १८१।

३ मेरी भाषा अंग्रेजी अनुवाद पृ ५५।

३ डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स पृ १५२।

४ अंगुत्तरनिकाय (पाली टेक्स्ट सोसायिटी) वाल्यूम २ पृ १११।

अपने यहाँ की एक नीचकुलोत्पन्ना कुमारी वासभखत्तिया[1] से कोशल नरेश का विवाह कर दिया। इसी महादेवी (संयुत्तनिकाय पाली टैक्स्ट सोसाइटी) वाल्यूम १ पृ ८७) का पुत्र विड्डभ अथवा विरूढक था जो प्रसेनजित के उपरांत कोशल का शासक बना। कालांतर में जब इस कुमार को अपने मातृ पक्ष की हीनता का ज्ञान हुआ और शाक्यों की दुर्मति का पता चला तब वह बड़ा कुपित हुआ। शासन भार अपने हाथों में लेकर उसने शाक्यों से भरपूर वैर चुकाया—बड़ी निर्दयता एवं क्रूरता से उनका नाश किया (धम्मपद अट्ठकथा पाली टैक्स्ट सोसाइटी वाल्यूम १ पृ ३३९ जातक वाल्यूम १ पृ १११ वाल्यूम ४ पृ १४४) प्रसेनजित को जब अपनी महादेवी के कुलशील का पता चला तब उसे और उसके पुत्र को उसने अपदस्थ कर दिया था।[2] इसके पश्चात् ही विरूढक ने अपने पिता के विरुद्ध विप्लव भी किया था। इस विषय में प्रधान सेनापति दीघकारायण–दीर्घकारायण ने उसकी बड़ी सहायता की थी और उसी की सहायता से विरूढक सिंहासन पर बैठने में समर्थ हो सका था। बंधुल के साथ विश्वासघात और विरूढक के गद्दी पर बैठने के दुख से दुखी होकर ही प्रसेनजित की मृत्यु हुई (क) धम्मपद अट्ठ कथा वाल्यूम १ पृष्ठ २२८ ३४९ ५१ जातक वाल्यूम ४ पृ १४८ (ख) आर० एस० त्रिपाठी (हिस्ट्री आफ एंशियेंट इंडिया) पृ ९२[3] इसी प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में प्राप्त बंधुल मल्ल एवं मल्लिका वाली कथा भी एक सीमा तक ऐतिहासिक है। (डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स वाल्यूम २ पृ २६६-७१)[4] तीसरी प्रमुख कथा—सोमप्रभ एवं कुण्डनी की ऐतिहासिक नहीं है। यह एकदम कल्पना प्रसूत है। उसका निर्माण उपन्यासकार ने तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के निमित्त किया है।

---

१ आचार्य चतुरसेन जी ने इसका नाम नन्दिनी दिया है।

२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ ४५०।

३ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा—पृ० ४५, ४६ साथ ही देखिए—हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी—अनुवादक—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृष्ठ १७८।

४ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—पृष्ठ ४५, साथ ही देखिए हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ १७८ से १७९ तक।

प्रस्तुत उपन्यास की उपर्युक्त दो कथाएँ इतिहास सम्मत होते हुए भी उसे हम शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कह सकते कारण उपन्यासकार ने देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करके कई काली पात्रों को एक साथ ला खड़ा किया है जिससे कथानक में यत्रतत्र 'काल दोष' का भी आभास होने लगा है।[1] वास्तव में प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार का उद्देश्य ऐतिहासिक कथा कहने का नहीं रहा है वरन् इसमें उसने एक युग-विशेष का पुनर्निर्माण किया है। वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी का प्रस्तुत उपन्यास डा० वृन्दावनलाल वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' की भाँति ऐतिहासिक आवरण में लिपटा रोमांस मात्र है।

'वैशाली की नगरवधू' के युग से सम्बन्धित कितने ही उपन्यासों की रचना हो चुकी है। राहुल ने "जय योधेय" 'सिंह सेनापति'। यशपाल ने 'दिव्या" और 'अमिता" के माध्यम से बौद्ध युग के पुनर्निर्माण की चेष्टा की है तो डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'बाणभट्ट की आत्मकथा" में उस युग को साकार करने का सफल प्रयत्न किया है। 'प्रसाद' अपने अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' में भी इसी युग को लेकर आ रहे थे। भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' और रामरतन भटनागर के 'अम्बपाली' उपन्यास की पृष्ठभूमि में भी इसी युग का वातावरण प्रदर्शित किया गया है। केवल हिंदी में ही नहीं वरन् अन्य भाषाओं में भी इस युग से सम्बन्धित व्यक्तियों और घटनाओं पर उपन्यासों की रचना हुई है। बंगला के उपन्यासकार राखालदास बन्द्योपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास शशांक और करुणा गुजराती के प्रसिद्ध कथा शिल्पी धूमकेतु के उपन्यास 'नगर सुन्दरी' 'मगधपति' वैशाली' 'महामात्य चाणक्य' एवं चन्द्रगुप्त मौर्य तथा श्री मुंशी के 'भगवान् कौटिल्य' मराठी के उपन्यासकार श्री डा० ना० शाह का 'सम्राट अशोक' तथा हरभिहेस का 'सिद्धार्थ' आदि उपन्यास इसी युग की पृष्ठभूमि पर लिखे गये उपन्यास हैं। अब हमें देखना यह है कि इन उपन्यासों के मध्य रखने पर आचार्य चतुरसेन जी का 'नगरवधू' उपन्यास कहाँ तक अपना स्थान बना पाता है। जहाँ तक कथा सौन्दर्य का प्रश्न है 'नगरवधू किसी भी उपन्यास से पीछे नहीं है। राखाल बाबू, धूमकेतु एवं अन्य श्रेष्ठ उपन्यासकारों की भाँति आचार्य जी भी कहानी कहने में बड़े पटु हैं। वे किसी पात्र को तब तक गोपनीय रखते हैं जब तक उसकी आवश्यकता न हो। पाठक

---

१ इस पर विशेष प्रकाश आगे 'देशकाल एवं वातावरण सृष्टि' नामक अध्याय में डाला गया है।

का कौतूहल जब चरम-सीमा पर पहुँच जाता है, तब ठीक समय पर वे प्रकट कर देते हैं। इससे पाठक की उत्कंठा अन्त तक जाग्रत रहती है।

किंतु जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, आचार्य जी का यह उपन्यास राहुल बाबू के उपन्यासों अथवा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाण भट्ट की आत्मकथा' से बहुत पीछे है। 'अमर मधु' में इतिहास कथा के नीचे दबकर सर्वथा शून्य हो गया है। तो भी यह राहुल यशपाल भगवती चरण वर्मा के उपन्यासों से कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं इतिहास सम्मत है।

नरमेघ

प्रस्तुत उपन्यास की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ एक अप्रत्याशित घटना से होता है। एक स्त्री नगर के प्रसिद्ध एडवोकेट जनरल गोपालदास की निर्मम हत्या कर देती है। हत्या के पश्चात् ही वह पुलिस के समक्ष आत्म-समर्पण भी कर देती है। इस प्रारम्भिक घटना के पश्चात् ही सर ठाकुरदास और उनके पुत्र त्रिभुवनदास की कथा प्रारम्भ हो जाती है। इस कथा के साथ ही सर दासीलाल एवं उनकी पुत्री किरण की कथा भी सहायक कथा के रूप में चलती है। किरण और त्रिभुवन का विवाह निश्चित हो चुका है। उसी समय सर ठाकुरदास का निधन हो जाता है और अन्तिम समय वे अपनी समस्त सम्पत्ति किरण के नाम कर जाते हैं। साथ ही अपने पुत्र त्रिभुवनदास को किरण से विवाह न करने का आदेश दे जाते हैं।

स्वर्गीय पिता की आज्ञा पूर्ति के लिए त्रिभुवन अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति एवं अपनी प्रेयसी किरण को त्याग कर नगर में अन्यत्र जाकर रहने लगते हैं। यहीं से हत्याकारिणी की कथा पुनः प्रारम्भ होती है। पुलिस उस पर केस चलाती है। त्रिभुवनदास बैरिस्टर हैं। उस हत्याकारिणी का केस वे स्वयं करने को प्रस्तुत हो जाते हैं गुप्त रूप से वे हत्या के विषय में ज्ञात करने का प्रयत्न करते हैं किंतु उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त होती। अन्त में उन्हें कुछ सूत्र ऐसे प्राप्त हो जाते हैं कि जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिभुवनदास स्वयं उस हत्या कारिणी के पुत्र हैं। वस्तुतः वह हत्याकारिणी एक पवित्र देवी थी। पति से सुखी, पुत्र से सम्पन्न किन्तु गोपालदास के कारण ही उसे पाप पंक में डूबना पड़ा था। इसी कारण उसने उस दुष्ट की हत्या कर दी थी। यह रहस्य केवल ठाकुरदास को ज्ञात था। उनकी इसी आघात के कारण मृत्यु भी हुई थी। त्रिभुवननाथ अपनी माता को निर्दोष सिद्ध करने के लिए अथक प्रयत्न करते हैं किंतु निष्फल रहते हैं। हत्याकारिणी को मृत्युदण्ड की आज्ञा होती है।

त्रिभुवनदास के जन्म के इस रहस्य के ज्ञात होते ही काशीनाथ उससे घृणा करने लगते हैं। किंतु उनकी पुत्री किरण अपने प्रेमी (त्रिभुवनदास) से और अधिक प्रेम करने लगती है। अंत में वह अपने माता पिता की इच्छा के विरुद्ध त्रिभुवनदास से विवाह कर लेती है। यही प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा है।

प्रस्तुत उपन्यास में आधिकारिक कथा त्रिभुवनदास और किरण की है। इस कथा को अग्रसर करने के लिए काशीराम गोवर्द्धन त्रिलोक बाबू आदि की प्रासंगिक कथाओं का समावेश किया गया है। त्रिभुवन की माता हत्या कारिणी की कथा मूल कथा में पताका-स्थानक का कार्य करती है कारण त्रिभुवन दास की आधिकारिक कथा इसी कथा से उलझकर विस्तार पाती है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक एक शृंखला में बद्ध होने के कारण संगठित कहा जा सकता है, किंतु जहाँ तक रोचकता का प्रश्न है लेखक की विचार त्मक शैली उसमें बाधक हुई है। जहाँ कहीं लेखक बिना किसी प्रसंग के अपने विचार देने लगता है वहीं कथा कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गई है। आधुनिक उपन्यासकारों की भाँति लेखक इस कथा के पीछे रहकर कथा को संकेत द्वारा नहीं प्रस्तुत करता वरन् वह भारतेंदु युगीन उपन्यासकारों की भाँति पग-पग पर सामने आकर कथा कहता हुआ दीख पड़ता है। इस विचारात्मक पद्धति के कारण कथा की कलात्मकता को भारी आघात पहुँचा है। यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास के कथानक में पर्याप्त आकर्षण शक्ति है किंतु उसे प्रस्तुत करने का ढंग आकर्षक न होने के कारण उसकी आकर्षक शक्ति न्यून हो गई है।

प्रस्तुत उपन्यास में 'हृदय की परख' नामक उपन्यास की समस्या पुनः सामने आती है। इसमें भी उपन्यासकार ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि समाज में किसी व्यक्ति के कर्माचरण का तत्काल प्रभाव उतना नहीं पड़ता जितना उसकी जन्म विषयक घटनाओं का। त्रिभुवनदास की माता का रहस्य ज्ञात होते ही काशीराम आदि उससे घृणा करने लगते हैं। किंतु इसमें उपन्यास कार 'हृदय की परख' से कुछ आगे बढ़ गया है। 'हृदय की परख' का विद्याधर समाज भीरु है किंतु यहाँ किरण समाज यहाँ तक माता-पिता की चिंता किए बिना ही त्रिभुवनदास से विवाह कर लेती है। 'हृदय की परख' में उपन्यासकार ने केवल एक चिरन्तन समस्या पर प्रकाश डाला है किंतु प्रस्तुत उपन्यास में उसने उस समस्या का हल प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

रक्त की प्यास

प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा है राजकुमार भीमदेव एवं राजकुमारी इच्छनी कुमारी के असफल प्रणय की।

कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ महाराज अजयपाल देव के राज्याभिषेक से होता है। यहीं से राजकुमार भीमदेव आबू के परमार की कंकणी लेने उसके अन्तःपुर में जाते हैं। वहीं परमार की पुत्री इच्छनी कुमारी के सौंदर्य पर वह मुग्ध हो जाते हैं। और राजकुमारी भी उनके पराक्रम से प्रभावित होकर उनकी ओर आकर्षित होती है।

भीमदेव राजकुमारी को प्राप्त करने के इच्छुक हैं। किन्तु प्राप्त करें तो कैसे? अस्तु उन्होंने राजकुमारी से प्रणय निवेदन करके पूछा कि क्या मैं तेरे पिता से तेरी याचना करूँ? राजकुमारी ने हँसते हुए उत्तर दिया—छि। राजपूत भी कहीं किसी की बेटी मांगते हैं? मुझे चाहते हो तो हरण करने आबू आना। भीमदेव के हृदय को यह बात लग गई। वह उसे हरण करने के लिए आबू जाना चाहता है किन्तु वे उसे उसकी मामी महारानी नायिका देवी आबू जाने से रोक लेती हैं। महारानी नायिका देवी परमार के समीप उनकी पुत्री के लिए प्रस्ताव भेजती हैं किन्तु छत्रधारी राजा को ही अपनी पुत्री देना स्वीकार करते हैं। इसी समय महाराज अजयपाल के विरुद्ध जनता विद्रोह कर देती है। भीमदेव आदि की अनुपस्थिति में महाराज अजयपाल विद्रोहियों के द्वारा मारे जाते हैं। भीमदेव उनके एकमात्र पुत्र मूलदेव का उनकी मृत्यु के पश्चात् अभिषेक कर देता है। किन्तु शीघ्र ही रोग से उस बालक की भी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार इन अकल्पित घटनाओं के अप्रत्याशित रूप से घटित हो जाने के कारण राजकुमार भीमदेव ही छत्रधारी राजा हो जाते हैं। राजा होते ही उन्हें परमार की बेटी की बात स्मरण हो आती है और वह जो असल क्षत्रिय होते हैं कन्या मांगते नहीं हरण करते हैं।[1] "......हरण करना हो तो आबू आना कुमार, अपने चुनाव सोलंकी भटों को साथ लेकर।"[2] वे आठ सौ चुने हुए भटों और साठ सामन्तों की टुकड़ी लेकर आबू जा पहुँचते हैं। किन्तु वहाँ उन्हें ज्ञात होता है कि राजकुमारी का वाग्दान महाराज पृथ्वीराज से प्रथम ही हो चुका है। वे एकान्त में पुनः राजकुमारी से भेंट करते हैं किन्तु राजकुमारी अब

१ रक्त की प्यास पृ ९९।
२ रक्त की प्यास पृ १०।

उनके साथ जाना एक दम अस्वीकार कर देती है। भीमदेव उल्टे पैर लौट पड़ते हैं। राजकुमारी के विवाह के अवसर पर वह आबू पर चढ़ाई कर देते हैं किन्तु महाराज पृथ्वीराज एवं परमार की संयुक्त सेनाओं के समक्ष ठहर नहीं पाते। उनकी पराजय होती है। विवाह मंडप में ही भीमदेव को उन्हीं की पगड़ी से बांधकर खड़ा कर दिया जाता है और उन्हीं के देखते-देखते परमार की बेटी पृथ्वीराज की पत्नी हो जाती है। अन्त में प्यार और तलवार दोनों का मान जाकर, भीमदेव को पराजित होकर गुजरात की ओर लौटना पड़ता है। किन्तु शीघ्र ही उन्होंने इस पराजय का प्रतिशोध लेने के लिए पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर पर आक्रमण कर दिया। सोमेश्वर मारा गया। पिता के वध का प्रतिशोध लेने के लिए पृथ्वीराज ने गुजरात पर आक्रमण किया। भीमदेव पराजित हुआ। इधर भारत के ये दोनों शक्तिशाली राजे परस्पर टकरा रहे थे और उधर उसी समय अवसर देखकर भारत पर गोरी ने आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराज और भीमदेव इस परस्पर संघर्ष के कारण शक्तिहीन हो चुके थे। अतः गोरी ने इन दोनों को शीघ्र ही परास्त कर दिया। प्रेम की यह प्यास अन्त में भारत की परतन्त्रता का कारण बनी।

प्रस्तुत कथानक में आधिकारिक कथा भीमदेव एवं इच्छनी कुमारी की है। इस कथा को गतिशील बनाने के लिए कितनी ही प्रासंगिक-पताका और प्रकरी-कथाओं की सृष्टि की गई है। जिनमें मुख्य हैं पृथ्वीराज की कथा महाराज जयपाल एवं महारानी नायिका देवी की कथा रामचन्द्र पंडित महामंत्री कपर्दि एवं राज माता पद्मावती की कथा अमरसिंह एवं आम्रभट्ट की कथा। पृथ्वीराज की कथा प्रासंगिक-पताका-कथा है। परमार की राजकुमारी इच्छनी के लिए भीमदेव युद्ध करता है। यहीं से पृथ्वीराज की कथा का उदय होता है। राजकुमारी के लिए ही भीमदेव पृथ्वीराज का प्रतिद्वन्द्वी बनता है। संघर्ष प्रारम्भ होता है। प्रासंगिक कथा प्रधान कथा को अपने में पूर्ण रूप से पकड़ कर खींचती हुई, उसे मोड़कर आगे निकल जाती है।

प्रस्तुत उपन्यास की भीमदेव पृथ्वीराज एवं गोरी के युद्ध की कथा तो ऐतिहासिक है।[1] शेष कथाएँ कल्पना प्रसूत हैं। प्रस्तुत उपन्यास के कथानक पर ही आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यास 'हरण निमन्त्रण' की भी रचना की है। वास्तव में उनके 'हरण-निमंत्रण' उपन्यास को हम इसी उपन्यास का विस्तृत संस्करण कह सकते हैं।

---

१. भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरीप्रसाद पृ० १३७ से १४१ तक

देवांगना (मंदिर की नर्तकी)

प्रस्तुत कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ विक्रमशिला के नगर श्रेष्ठि धनंजय के इकलौते पुत्र दिवोदास के प्रव्रज्या लेकर भिक्षुवृत्ति ग्रहण करने से होता है। भिक्षु होकर दिवोदास अन्य भिक्षुओं के साथ काशी पहुँचता है। यहीं उसका परिचय देवदासी मंजुघोषा से होता है। प्रथम दृष्टि में ही दोनों परस्पर प्रेम करने लगते हैं। मंजुघोषा का लालन-पालन मंदिर के महन्त सिद्धेश्वर ने किया था। उसी ने मंजु की माता सुनयना को भी बन्दी बना कर गुप्त स्थान पर रख छोड़ा था। युवती हो जाने पर वह मंजुघोषा के सौन्दर्य पर स्वयं मुग्ध हो जाता है। अवसर पा एक दिन एकान्त में वह मंजुघोषा से प्रणय निवेदन करता है। मंजु उसके इस व्यवहार से अस्थिर हो उठती है। क्रोधान्ध महन्त मंजु के साथ बलात्कार करना चाहता है किन्तु इसी समय अकस्मात् दिवोदास अपने दो सहयोगियों के साथ वहाँ आ पहुँचता है। द्वन्द्व युद्ध में सिद्धेश्वर पराजित होता है। उसके मूर्छित होते ही दिवोदास मंजु को लेकर भाग निकलता है। निरापद स्थान पर पहुँचने पर दिवोदास का सेवक सुखदास मंजु के समक्ष एक रहस्योद्घाटन करता है। मंजु को अभी तक यह ज्ञात न था कि देवी सुनयना कौन है और उनसे उसका क्या सम्बन्ध है? सुखदास से उसे ज्ञात होता है कि देवी सुनयना उसकी जन्मदात्री माँ हैं और वे वास्तव में लिच्छ-विराज की पट्टराज महिषी सुकीर्ति देवी हैं। वे अपनी पुत्री के कारण ही अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा को ताक में रखकर सिद्धेश्वर के यहाँ पतित जीवन व्यतीत कर रही थीं। सुनयना के कहने पर मंजु और दिवोदास मंदिर में पुनः पहुँचते हैं किन्तु यहाँ मंजु पुनः एक अपराध कर बैठती है जिसके फलस्वरूप काशिराज की आज्ञा से दोनों बन्दी बना लिए जाते हैं। अन्त में सुखदास की युक्ति और उद्योग से मंजु और देवी सुनयना बन्दीगृह से मुक्त होकर सुखदास के साथ भाग निकलती हैं। मार्ग में ही मंजु के पुत्र उत्पन्न होता है। इसी समय राज सैनिक भी आ पहुँचते हैं। सुनयना मंजु के नवजात पुत्र की सैनिकों से रक्षा करने के लिए पुत्री को मूर्छित अवस्था में ही त्यागकर चली जाती है। कथा आदि से अन्त तक रोचक बनी रही है। अन्त में नाटकीय ढंग से उपन्यासकार ने सुनयना मंजु दिवोदास आदि सभी को परस्पर मिला दिया है। जिससे कि उपन्यास की कलात्मक महत्ता अक्षुण्ण नहीं रह सकी है।

इस मुख्य कथा के साथ-साथ प्रस्तुत उपन्यास में सुखदास-सुखानन्द महाभिक्षु वज्रसिद्ध एवं महन्त सिद्धेश्वर, शिव शर्मा एवं काशिराज महारानी

सुनयना राजा, के साले बरजोहे, कापालिक एवं आगमी मित्र आदि की कथाएँ भी प्राप्त होती हैं।

प्रस्तुत कथा में आधिकारिक कथा विनोदास और मंजुघोषा की है। इस कथा को गति देने के लिए कितनी ही प्रासंगिक-पताका एवं प्रकरी-कथाओं की योजना की गई है। सुखदास की कथा पताका राजा के साले एवं बरजोहे आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती है। सिद्ध एवं सिद्धेश्वर की कथा पताका-स्थानक का कार्य करती है। वज्रसिद्ध एवं सिद्धेश्वर की कथाएँ विनोदास एवं मंजुघोषा की कथा की उलझन बढ़ाती हैं और उसे एक नए मार्ग पर ला खड़ी करती है। प्रस्तुत कथानक की शृंखला अंत तक बनी तो रही है किन्तु इसे हम पूर्ण संगठित कथानक नहीं कह सकते कारण कुछ स्थानों पर घटनाओं में इतना बिखराव आ गया है कि कथा की गति अवरुद्ध हो गई है। कथा की गति में त्वरा लाने के लिए नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं की संयोजना की गई है। कथा का अंत भी एक अतिनाटकीय घटना के द्वारा होता है। प्रतिमा के स्थान पर अप्रत्याशित रूप से मंजुघोषा के प्रकट होने की घटना एक ऐसी ही घटना है।

जैसा कि हम प्रथम ही कह चुके हैं कि प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास है। किन्तु इसमें उपन्यासकार ने ऐतिहासिक घटनाओं को अधिक महत्व न देकर बौद्धों के विकृत वज्रयान के दुराचारों और षड्यन्त्रों का भंडाफोड़ किया है।

दो किनारे

प्रस्तुत उपन्यास में दो सर्वथा स्वतंत्र कथानक हैं। प्रथम "दो सौ की बीवी" और दूसरा "दादा भाई"। अतः हम इन दोनों स्वतंत्र कथानकों का अध्ययन करेंगे।

"दो सौ की बीवी" की कथा का प्रारंभ रमाशंकर की बीवी की मृत्यु से होता है। रमाशंकर अपने ग्यारह वर्षीय पुत्र राजीव के साथ अकेला रह जाता है। इसी समय वह अपने पुत्र के लिए घोड़ा खरीदने जाता है किन्तु खरीद लाता है मालती नाम की एक स्त्री को। यहीं मुख्य कथा की भूमिका तैयार हो जाती है। कथा निष्पत्ति की ओर बढ़ती है। राजीव प्रथम मालती से घृणा करता है किन्तु उसके सहज स्नेह से प्रभावित होकर प्रेम करने लगता है रमाशंकर भी हृदय से उससे प्रेम करने लगता है किन्तु ऊपर से वह कठोर बना

रहता है। इसी समय इन दोनों के मध्य में रमाशंकर का मित्र रामनाथ आ जाता है। मालती का उसके प्रति आकर्षण देखकर रमाशंकर के हृदय में ईर्ष्या एवं संदेह का प्रादुर्भाव होता है। घटना निष्पत्ति होते ही घात प्रतिघात प्रारंभ हो जाता है। रमाशंकर की प्रताड़ना सहन न कर पाने के कारण मालती उसका आश्रय त्यागकर रामनाथ के आश्रय में पहुँच जाती है। कथा तीव्र गति से चरम सीमा की ओर दौड़ती है। रामनाथ उसे अपने यहाँ आश्रय देता है किन्तु पत्नी नहीं भाभी मानकर। मालती उसी की होकर रहना चाहती है। रामनाथ ने उसका प्रस्ताव स्वीकार ही किया था कि इसी समय रमाशंकर अपने पुत्र के साथ वहाँ आ पहुँचता है। कथानक अब अन्त की ओर बड़ी त्वरा से दौड़ता है। रमाशंकर की दीन अवस्था एवं राजीव का स्नेह देखकर मालती पुनः उसके साथ लौटना स्वीकार कर लेती है। उपसंहार में रमाशंकर और रामनाथ की कटुता समाप्त हो जाती है। और मालती को साथ ले जाने के साथ-साथ रमाशंकर, रामनाथ को भी साथ ले जाता है। प्रस्तुत कथानक एक सरल कथानक है। इसमें केवल मुख्य कथा ही स्पष्ट है प्रासंगिक कथाओं का सर्वथा अभाव है।

"दादा भाई" की कथा-वस्तु भी सीधी है। इसमें से भी कथा-विकास की पाँचों अवस्थाएँ अत्यंत सरलता से निकाली जा सकती हैं। कथा का प्रारंभ नरेन्द्र (दादा भाई) के कारागार से छूटने से होता है। कारागार से छूटते ही वह पुनः एक होटल वाले से भिड़ जाता है इसी समय नाटकीय ढंग से उसका परिचय जगदम्बा बाबू से होता है। वह नरेन्द्र को अपने साथ ले आते हैं। मुख्य कथा की भूमिका तैयार हो जाती है। जगदम्बा बाबू नरेन्द्र को काम का व्यक्ति समझकर अपने आश्रय में रख लेते हैं। नरेन्द्र के व्यक्तित्व को निखारती हुई मुख्य कथा अग्रसर होती है। इसी समय जगदम्बा बाबू की अनुपस्थिति में उनकी पुत्री नरेन्द्र से अपरिचित होने के कारण उन्हें लुटेरा समझकर अपने घर से निकाल देती है। यहीं मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है। इसी समय नरेन्द्र मोटर दुर्घटना का शिकार हो जाता है। कुछ देर नरेन्द्र को इधर-उधर भटकाने के पश्चात् उपन्यासकार उसे पुनः कथा के एक मोड़ पर ला खड़ा करता है। कथा में घात-प्रतिघात प्रारंभ हो जाता है। जगदम्बा बाबू का मार्ग से हटना रमेश और कैलाश से मिल मजदूरों एवं नरेन्द्र का संघर्ष सुधा का नरेन्द्र की ओर आकर्षित होना आदि घटनाओं को पार करता हुआ कथानक तीव्रगति से चरम-सीमा पर पहुँच जाता है। कैलाश एवं रमेश के चंगुल से

सुनयना राजा, के साले चरवाहे कापालिक एवं मागधी मित्र आदि की कथाएं भी प्राप्त होती हैं।

प्रस्तुत कथा में आधिकारिक कथा दिवोदास और मंजुघोषा की है। इस कथा को गति देने के लिए कितनी ही प्रासंगिक-पताका एवं प्रकरी-कथाओं की योजना की गई है। सुखदास की कथा पताका राजा के साले एवं चरवाहे आदि की कथाएं प्रकरी का कार्य करती हैं। सिंह एवं सिद्धेश्वर की कथा पताका-स्थानक का कार्य करती है। कपालसिद्ध एवं सिद्धेश्वर की कथाएं दिवोदास एवं मंजुघोषा की कथा की उलझन बढ़ाती हैं और उसे एक नए मार्ग पर ला खड़ी करती हैं। प्रस्तुत कथानक की शृंखला अंत तक बनी तो रही है किन्तु इसे हम पूर्ण संगठित कथानक नहीं कह सकते कारण कुछ स्थानों पर घटनाओं में इतना बिखराव आ गया है कि कथा की गति अवरुद्ध हो गई है। कथा की गति में त्वरा लाने के लिए नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं की संयोजना की गई है। कथा का अंत भी एक अतिनाटकीय घटना के द्वारा होता है। प्रतिमा के स्थान पर अप्रत्याशित रूप से मंजुघोषा के प्रकट होने की घटना एक ऐसी ही घटना है।

जैसा कि हम प्रथम ही कह चुके हैं कि प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास है। किन्तु इसमें उपन्यासकार ने ऐतिहासिक घटनाओं को अधिक महत्व न देकर बौद्धों के विकृत वज्रयान के दुराचारों और षड्यन्त्रों का भंडाफोड़ किया है।

दो किनारे

प्रस्तुत उपन्यास में दो सर्वथा स्वतंत्र कथानक हैं। प्रथम "दो सौ की बीबी" और दूसरा "दादा भाई"। अतः हम इन दोनों स्वतंत्र कथानकों का अध्ययन करेंगे।

"दो सौ की बीबी' की कथा का प्रारंभ रमाशंकर की बीबी की मृत्यु से होता है। रमाशंकर अपने ग्यारह वर्षीय पुत्र राजीव के साथ अकेला रह जाता है। इसी समय वह अपने पुत्र के लिए घोड़ा खरीदने जाता है किन्तु खरीद लाता है मालती नाम की एक स्त्री को। यहीं मुख्य कथा की भूमिका तैयार हो जाती है। कथा निष्पत्ति की ओर बढ़ती है। राजीव प्रथम मालती से घृणा करता है किन्तु उसके सहज स्नेह से प्रभावित होकर प्रेम करने लगता है रमाशंकर भी हृदय से उससे प्रेम करने लगता है किन्तु ऊपर से वह कठोर बना

रहता है। इसी समय इन दोनों के मध्य में रमाशंकर का मित्र रामनाथ आ जाता है। मालती का उसके प्रति आकर्षण देखकर रमाशंकर के हृदय में ईर्ष्या एवं संदेह का प्रादुर्भाव होता है। घटना निष्पत्ति होते ही घात प्रतिघात प्रारंभ हो जाता है। रमाशंकर की प्रताड़ना सहन न कर पाने के कारण मालती उसका आश्रय त्यागकर रामनाथ के आश्रम में पहुँच जाती है। कथा तीव्र गति से चरम सीमा की ओर दौड़ती है। रामनाथ उसे अपने यहाँ आश्रय देता है किन्तु पत्नी नहीं भाभी मानकर। मालती उसी की होकर रहना चाहती है। रामनाथ ने उसका प्रस्ताव स्वीकार ही किया था कि इसी समय रमाशंकर अपने पुत्र के साथ वहाँ आ पहुँचता है। कथानक अब अन्त की ओर बड़ी त्वरा से दौड़ता है। रमाशंकर की दीन अवस्था एवं राजीव का स्नेह देखकर मालती पुन: उसके साथ लौटना स्वीकार कर लेती है। उपसंहार में रमाशंकर और रामनाथ की कटुता समाप्त हो जाती है। और मालती को साथ ले जाने के साथ-साथ रमाशंकर, रामनाथ को भी साथ ले जाता है। प्रस्तुत कथानक एक सरल कथानक है। इसमें केवल मुख्य कथा ही स्पष्ट है प्रासंगिक कथाओं का सर्वथा अभाव है।

"दादा भाई" की कथा-वस्तु भी सीधी है। इसमें से भी कथा-विकास की पाँचों अवस्थाएँ अत्यंत सरलता से निकाली जा सकती हैं। कथा का प्रारंभ नरेन्द्र (दादा भाई) के कारागार से छूटने से होता है। कारागार से छूटते ही वह पुन: एक होटल वाले से भिड़ जाता है इसी समय नाटकीय ढंग से उसका परिचय जगदम्बा बाबू से होता है। वह नरेन्द्र को अपने साथ ले आते हैं। मुख्य कथा की भूमिका तैयार हो जाती है। जगदम्बा बाबू नरेन्द्र को काम का व्यक्ति समझकर अपने आश्रम में रख लेते हैं। नरेन्द्र के व्यक्तित्व को निखारती हुई मुख्य कथा अग्रसर होती है। इसी समय जगदम्बा बाबू की अनुपस्थिति में उनकी पुत्री नरेन्द्र से अपरिचित होने के कारण उन्हें लुटेरा समझकर अपने घर से निकाल देती है। यहीं मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है। इसी समय नरेन्द्र मोटर दुर्घटना का शिकार हो जाता है। कुछ देर नरेन्द्र को यत्र-तत्र भटकाने के पश्चात् उपन्यासकार उसे पुन: कथा के एक मोड़ पर ला खड़ा करता है। कथा में घात-प्रतिघात प्रारंभ हो जाता है। जगदम्बा बाबू का मार्ग से हटना रमेश और कैलाश से मिल मजदूरों एवं नरेन्द्र का संघर्ष, सुधा का नरेन्द्र की ओर आकर्षित होना आदि घटनाओं को पार करता हुआ कथानक तीव्रगति से चरम-सीमा पर पहुँच जाता है। कैलाश एवं रमेश के चंगुल मे

नरेन्द्र द्वारा सुधा का उद्धार एवं अन्य नाटकीय घटनाओं के मध्य से होता हुआ कथानक अन्त की ओर अग्रसर होता है। उपसंहार में सुधा एवं नरेन्द्र का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है प्रस्तुत उपन्यास के दोनों ही कथानक सर्वथा स्वतंत्र हैं। जहाँ तक रोचकता का प्रश्न है दोनों ही कथानक रोचक हैं। "दादा भाई" में नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं के आधिक्य के कारण कथानक की कलात्मकता न्यून हो गई है। किसी-किसी स्थान पर तो कथा संभावना के क्षेत्र का भी उल्लंघन कर गई है। जैसे नरेन्द्र के कारागार से चुपचाप भागने सेफ तक पहुँचने एवं पुनः कारागार में पहुँचने की घटनाएँ। वास्तव में इन घटनाओं की योजना नरेन्द्र के व्यक्तित्व को निखारने के उद्देश्य से हुई है, किंतु व्यक्तित्व को निखारते समय कथाकार कथा के स्वाभाविक विकास को भूल गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन दो स्वतंत्र कथानकों को एक उपन्यास में क्यों रखा गया है? उपन्यास का नाम है 'दो किनारे'। यह नाम ही इन दोनों कथानकों को एक सूत्र में बाँध देता है। दो प्रकार के कथानक होते हुए भी दोनों का उद्देश्य एक है। 'दो सौ की बीबी' में स्त्री के त्याग की और 'दादा भाई' में पुरुष के त्याग की कथा है। एक में स्त्री अपनी सेवा और त्याग से पुरुष को अपने वश में कर लेती है तो दूसरे में बर्बर एवं डाकू समझे जाने वाला पुरुष अपने निःस्वार्थ कार्यों से एक स्त्री को अपनी बना लेता है। दोनों के किनारे दो हैं किन्तु अन्त एक। अतः दो किनारे नाम सर्वथा सार्थक है।

अपराजिता

प्रस्तुत कथा का आरम्भ एक अप्रत्याशित घटना से होता है। राज और ब्रजराज में परस्पर प्रेम है दोनों का विवाह निश्चितप्राय है किन्तु इसी समय राज अपने पिता गजराज सिंह के जातीय सम्मान की रक्षा के लिए अपने इस प्रेम को उसपर उत्सर्ग कर देती है। वह ठाकुर रामवीरसिंह से विवाह कर लेती है। साथ ही वह अपने प्रेमी ब्रज का विवाह अपनी प्रिय सखी राधा से करा देती है। अपने विवाह में प्राप्त दहेज भी वह अपनी सखी को दे देती है। राज की ससुराल में दहेज के इस प्रश्न पर वाद विवाद प्रारंभ हो जाता है। इसी प्रश्न पर राज से उसके पति और श्वसुर दोनों रुठ जाते हैं। राज दहेज को अनुचित बतलाकर अपने कार्य को उचित बतलाती है। इस पर राज के श्वसुर

उसके पिता को अपशब्द कह बैठते हैं। राज इसके विरोध में सत्याग्रह का अमोघ अस्त्र प्रयोग करती है। हठधर्मी एवं सत्य का द्वंद्व प्रारम्भ होता है। चरम-सीमा उस समय आती है जब समस्त ग्राम निवासी राज के सत्याग्रह का साथ देने लगते हैं। और अन्त में राज के समक्ष उसके श्वसुर को झुकना पड़ता है।

इसी समय एक अन्य आकस्मिक घटना घटित होती है। राज के पति ठाकुर राघवेंद्रसिंह मोटर एक्सीडेंट से सख्त घायल हो जाते हैं। अपने रूठे पति के समीप राज सेवा-सुश्रूषा के लिए आ पहुँचती है। ठाकुर उसकी सेवा से स्वस्थ तो हो जाते हैं किन्तु उनके नेत्र जाते रहते हैं। अंधे हो जाने पर भी वे राज के समक्ष नत होना नहीं चाहते। राज अपना कर्तव्य-पालन कर पुनः अपने श्वसुर के साथ अपने निवास स्थान पर लौट आती है। इसी प्रकार राज को अपने पति से अलग रहते २१ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। किंतु दोनों में से कोई भी एक दूसरे के समक्ष नत होना नहीं चाहता। इस बीच राज के श्वसुर का भी देहांत हो जाता है। राज के पति ने गुप्त रूप से एक अन्य स्त्री से विवाह भी कर लिया था। उससे एक पुत्र भी था। नेत्रहीन होने के पश्चात् से उनके आचरण खराब हो गए थे। पत्नी और पुत्र के साथ भी उनका व्यवहार कठोर हो गया था अन्त में उनकी दूसरी पत्नी अपने पुत्र को राज के समीप पत्र लेकर भेजती है। राज पति की दशा सुनकर अपने को रोक नहीं पाती। उसका सम्पूर्ण अहं गल जाता है। वह पति के समीप आ पहुँचती है। अपने व्यवहार से वह अपने रूठे पति को सद्मार्ग पर ले आती है। अंत में वह अपने सम्पूर्ण अहं का त्याग कर अपने पति के समक्ष आत्म-समर्पण कर देती है। ठाकुर भी सम्पूर्ण दम्भ एवं आत्म-सम्मान को बिसार कर राज को अपना लेते हैं। अन्त में ठाकुर राज से कहते हैं "जीवन गया आँखें गईं पर जीत तो मैं ही मैंने तुम्हें पा लिया।"[१] राज का उत्तर है "स्वीकार करती हूं तुम जीत गये प्रिय मैं हार कर ही तो तुम्हारे पास आई हूं।"[२] किंतु वास्तव में राज पति से पराजित होकर भी अपराजिता रहती है।

इस मुख्य कथा के साथ-साथ राधा और ब्रज माधव और रुक्मिणी जयराम रघुनंदन आदि की प्रासंगिक कथायें भी प्राप्त होती हैं।

---

१ अपराजिता-पृष्ठ ११२।
२ अपराजिता-पृष्ठ ११३।

इसी प्रकार प्रस्तुत कथानक की आधिकारिक कथा राज की है। उसके साथ ही ब्रजराज एवं राधा की कथा प्रासंगिक पताका के रूप में कथानक के अंत तक चलती है। जयराम रघुनंदन नारायण शर्मा आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं। माधव की कथा कथानक की रोचकता बढ़ाने के साथ-साथ पताका स्थानक का भी कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक संगठित है। कथानक की समस्त घटनाएँ एक शृंखला में अनुस्यूत हैं। क्रमबद्ध होने के कारण कथानक की एक सूत्रात्मकता अंत तक बनी रह सकी है। व्रज और राधा की प्रासंगिक कथा राज की आधिकारिक कथा से मध्य में पृथक हुई सी लगती है किन्तु अंत में पुनः दोनों कथाएँ संयुक्त हो गई हैं।

उपन्यासकार कथानक की रोचकता की रक्षा अंत तक करने में सफल रहा है। माधव एवं अन्य मंगल आदि की कथाएँ रोचकता वृद्धि के लिए ही कथानक में लाई गई हैं। कथानक को संभावना के क्षेत्र के अंदर ही सीमित रखने का प्रयत्न किया गया है। कहीं-कहीं कथानक में कुछ अत्युक्ति सी दीख अवश्य पड़ती है किंतु वे घटनाएँ ऐसी नहीं हैं जो पूर्णरूपेण असम्भव ही हों। उदाहरण के लिए राधा एवं व्रज के विवाह की घटना एवं राज द्वारा श्वसुर हठ के विरुद्ध में सत्याग्रह करने और उसके सत्याग्रह की देखा-देखी गाँव के सभी लोगों द्वारा उसके अनुकरण करने की बात कुछ अटपटी सी अवश्य लगती है किन्तु यह असम्भव नहीं है। जो सत्याग्रह राजनीति में सत्य एवं सफल हो सकता है समाज में उसकी सत्यता एवं सफलता पर संदेह करना उचित नहीं। राधा और व्रज का विवाह इस नाटकीय ढंग से कराया गया है जिससे वह कुछ असंभव सा अवश्य ज्ञात होने लगता है किन्तु जब पाठक का राधा के पिता से साक्षात्कार हो जाता है तो उसकी यह शंका स्वतः निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है कथानक पूर्णरूप से मौलिक है। मेरा अनुमान है कि हिंदी में सम्भवतः इस प्रकार का कोई भी कथानक आज तक लिखा नहीं गया है। दहेज की समस्या पर तो कितने लेखकों ने विचार किया है कितनों ने ही उसके कितने ही समाधान प्रस्तुत किये हैं। प्रेमचंद के पूर्ववर्ती और परवर्ती कितने ही लेखकों ने प्रस्तुत समस्या को उठाया है किन्तु यहाँ आचार्य चतुरसेन जी ने इस पिटे-पिटाये कथानक को भी सर्वथा मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है। गांधी जी ने जिस सत्याग्रह का राजनीति में प्रवेश कराया उसी सत्याग्रह का उपयोग उपन्यासकार ने सामाजिक कुरीतियों के निवारण में भी करना चाहा है।

जिस प्रकार गांधी जी ने परतंत्रता की शृंखला में आबद्ध भारतीयों के लिए एक मौलिक पथ प्रदर्शित किया था उसी प्रकार उपन्यासकार राम के माध्यम से पग-पग पर लांछित और प्रताड़ित हिंदू अबलाओं को भी एक मार्ग प्रदर्शित कर रहा है। उसका कथन है यह "राम" तो सारे संसार की सभ्य-असभ्य नारियों से पृथक अकेली ही खड़ी है। केवल अपनी ही सामर्थ्य पर। वह असहाय नहीं है परमुखापेक्षी नहीं है क्रोध दैन्य आवेग अधैर्य सबसे पाक-साफ है। वह संयम कर्तव्य और जीवन के सच्चे तत्वों की अधिष्ठात्री है वह आज की नारीमात्र की पथ प्रदर्शिका है। मैंने उसे अपराजिता स्वीकार किया है।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास में उठाई गई समस्या पुरानी है किन्तु उसकी व्याख्या और निष्कर्ष नितान्त मौलिक है।

अदल-बदल

प्रस्तुत उपन्यास भी समस्या प्रधान उपन्यास है। इसमें उपन्यासकार ने पत्नी के अदल-बदल की समस्या को उठाया है। प्रस्तुत कथानक में दो कथाएँ एक साथ चलती हैं। डाक्टर कृष्ण गोपाल अपनी साध्वी पत्नी विमला से असन्तुष्ट हैं तो मायादेवी अपने सरस स्वभाव के सज्जन पति मास्टर हरप्रसाद से। इन दोनों असन्तुष्ट पात्रों का क्लब में परस्पर परिचय हो जाता है। दोनों कथाएँ यहीं आकर परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं। मायादेवी का आकर्षण डा० कृष्ण गोपाल की ओर बढ़ता जाता है। डा० कृष्ण गोपाल अपनी पत्नी की और माया अपने पति की उपेक्षा करने लगती है। डाक्टर अपनी पत्नी को और माया अपने पति को त्याग कर परस्पर विवाह करने का निश्चय करते हैं। कथानक में पात्र प्रतिभाव अधिक नहीं निखर पाता कारण उपन्यासकार ने एक पक्ष को सर्वथा मूक दिखलाया है। कथानक एक ही आघात पाकर चरम-सीमा की ओर तीव्र गति से भागता है। माया देवी और डाक्टर का विवाह सम्पन्न हो जाता है किन्तु सुहाग रात्रि के दिन ही अकस्मात् मायादेवी के विचारों में परिवर्तन होता है और वह भागकर पुनः अपने पति के समीप आ जाती है। उपसंहार में मास्टर हरप्रसाद पुनः माया को अपने आश्रय में रख लेते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक सहज गति से चलता है। घटनाओं में शृंखला है। प्रासंगिक कथाओं का अभाव है। एक दो प्रासंगिक कथाएँ नाममात्र

1 अपराजिता-उपन्यास-आत्मकथ्य पृष्ठ ७।

इसी प्रकार प्रस्तुत कथानक की आधिकारिक कथा राम की है। इसके साथ ही ब्रजराज एवं राधा की कथा प्रासंगिक पताका के रूप में कथानक के अंत तक चलती है। जयराम रघुनंदन नारायण शर्मा आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं। माधव की कथा कथानक की रोचकता बढ़ाने के साथ-साथ पताका स्थानक का भी कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक संगठित है। कथानक की समस्त घटनाएँ एक शृंखला में अनुस्यूत हैं। सम्बद्ध होने के कारण कथानक की एकसूत्रता अंत तक बनी रह सकी है। ब्रज और राधा की प्रासंगिक कथा राम की आधिकारिक कथा से मध्य में एकदम टूट गई सी लगती है किन्तु अंत में पुनः दोनों कथाएँ संयुक्त हो गई हैं।

उपन्यासकार कथानक की रोचकता की रक्षा अंत तक करने में सफल रहा है। माधव एवं अन्य मंगल आदि की कथाएँ रोचकता वृद्धि के लिए ही कथानक में लाई गई हैं। कथानक को संभावना के क्षेत्र के अंदर ही सीमित रखने का प्रयत्न किया गया है। कहीं-कहीं कथानक में कुछ अत्युक्ति सी दीख अवश्य पड़ती है किन्तु वे घटनाएँ ऐसी नहीं हैं जो पूर्णरूपेण असम्भव ही हों। उदाहरण के लिए राधा एवं ब्रज के विवाह की घटना एवं राम द्वारा श्वसुर हठ के विरुद्ध में सत्याग्रह करने और उसके सत्याग्रह की देखा-देखी गाँव के सभी लोगों द्वारा उसके अनुकरण करने की बात कुछ अटपटी सी अवश्य लगती है किन्तु यह असम्भव नहीं है। जो सत्याग्रह राजनीति में सत्य एवं सफल हो सकता है समाज में उसकी सत्यता एवं सफलता पर संदेह करना उचित नहीं। राधा और ब्रज का विवाह इस नाटकीय ढंग से कराया गया है जिससे वह कुछ असंभव सा अवश्य ज्ञात होने लगता है किन्तु जब पाठक का राधा के पिता से साक्षात्कार हो जाता है तो उसकी यह शंका स्वतः निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है कथानक पूर्णरूप से मौलिक है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी में सम्भवतः इस प्रकार का कोई भी कथानक आज तक लिखा नहीं गया है। दहेज की समस्या पर तो कितने लेखकों ने विचार किया है कितनों ने ही उसके कितने ही समाधान प्रस्तुत किये हैं। प्रेमचंद के पूर्ववर्ती और परवर्ती कितने ही लेखकों ने प्रस्तुत समस्या को उठाया है किन्तु यहाँ आचार्य चतुरसेन जी ने इस पिटे पिटाये कथानक को भी सर्वथा मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है। गांधी जी ने जिस सत्याग्रह का राजनीति में प्रवेश कराया उसी सत्याग्रह का उपयोग उपन्यासकार ने सामाजिक कुरीतियों के निवारण में भी करना चाहा है।

जिस प्रकार गांधी जी ने परतंत्रता की शृंखला में आबद्ध भारतीयों के लिए एक मौलिक पथ प्रशस्त किया था उसी प्रकार उपन्यासकार राम के माध्यम से पग-पग पर लांछित और प्रताड़ित हिन्दू अबलाओं का भी एक मार्ग प्रशस्त कर रहा है। उसका कथन है यह "राम" जो सारे संसार की सभ्य-असभ्य नारियों से पृथक अकेली ही खड़ी है। केवल अपनी ही सामर्थ्य पर। वह असहाय नहीं है परमुखापेक्षी नहीं है शौर्य दैन्य साहस औदार्य उसमें ओत-प्रोत है। वह संयम कर्तव्य और जीवन के उच्च तत्वों की अभिलाषी है वह आज की नारीमात्र की पथ-प्रदर्शिका है। मैंने उसे अपराजिता स्वीकार किया है।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास में उठाई गई समस्या पुरानी है किन्तु उसकी व्याख्या और निष्कर्ष नितान्त मौलिक है।

अदल-बदल

प्रस्तुत उपन्यास भी समस्या प्रधान उपन्यास है। इसमें उपन्यासकार ने पत्नी के अदल-बदल की समस्या को उठाया है। प्रस्तुत कथानक में दो कथाएँ एक साथ चलती हैं। डाक्टर कृष्ण गोपाल अपनी साध्वी पत्नी विमला से असन्तुष्ट हैं तो मायादेवी अपने सरल स्वभाव के सज्जन पति मास्टर हरप्रसाद से। इन दोनों असन्तुष्ट पात्रों का क्लब में परस्पर परिचय हो जाता है। दोनों कथाएँ यहाँ आकर परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं। मायादेवी का आकर्षण डा० कृष्ण गोपाल की ओर बढ़ता जाता है। डा० कृष्ण गोपाल अपनी पत्नी की और माया अपने पति की उपेक्षा करने लगती है। डाक्टर अपनी पत्नी को और माया अपने पति को त्याग कर परस्पर विवाह करने का निश्चय करते हैं। कथानक में घात-प्रतिघात अधिक नहीं मिलते। इसी कारण उपन्यासकार ने एक दृश्य का सर्वथा सूक्ष्म चित्रण किया है। कथानक एक ही दो आघात पाकर चरम-सीमा की ओर शीघ्र गति से अग्रसर है। माया देवी और डाक्टर का विवाह सम्पन्न हो जाता है किन्तु सुहाग रात्रि के दिन ही अकस्मात् मायादेवी के विचारों में परिवर्तन होता है और वह तत्काल पुनः अपने पति के समीप आ जाती है। उपसंहार में मास्टर हरप्रसाद पुनः माया को अपने आश्रय में रख लेते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक सहज गति से चलता है। घटनाओं में [illegible] गया है। दार्शनिक प्रसंगों का अभाव है। एक दो दार्शनिक प्रसंग [illegible]

१ अपराजिता-उपन्यास-[illegible]

को ही गई है। दो कथा सूत्र भिन्न स्थानों से चलकर मध्य में एकाकार हो जाते हैं *किन्तु अन्त में दोनों पुनः अपने-अपने स्थानों पर लौट आते हैं।* यद्यपि उपन्यास का अंत नाटकीय ढंग से किया गया है किन्तु वह असम्भव नहीं ज्ञात होता कारण माया के विचार परिवर्तन के परिपार्श्व में मनोवैज्ञानिक ऊहापोह को स्थान दिया गया है।

नारी और पुरुष के अधिकार और कर्तव्यों पर दिये गये दीर्घकाय सैद्धान्तिक भाषणों से भले ही कथानक की रोचकता को अधिक आघात न पहुँचा हो किन्तु उसकी कलात्मक असुन्दरता निश्चित रूप से अस्थिर हो उठी है।

प्रथम ही कहा जा चुका है कि प्रस्तुत उपन्यास समस्या प्रधान है। पति पत्नी के बदल-बदल की समस्या इसमें उठाई गई है। उपन्यासकार इस समस्या को 'नए युग का सबसे कठिन प्रश्न' मानता है।[१] उसका कथन है 'आज की *स्त्री पुरुष की संपत्ति-परिग्रह बन कर नहीं रह सकती। वह पुरुष की सच्चे* अर्थों में संगिनी समभागिनी बन कर रहेगी। पुरुष यदि स्त्री के इस प्राप्तव्य को देने में आनाकानी करता है तो निस्संदेह उसे स्त्रियों से ऐसी खूनी लड़ाई लड़नी पड़ेगी जैसी आज तक मनुष्य इतिहास में मनुष्य ने इस स्त्री-सम्पत्ति को अपहरण करने के लिये भी युग-युग में कभी नहीं लड़ी। फिर भी उसकी जीत नहीं होगी। जीत होगी स्त्री की। यह मैं अभी से कहे देता हूँ। वीर पुरुषों को खासकर पतियों को यह नेक सलाह देता हूँ कि वे अब केवल परिश्रम-श्रम *और सहृदयता से स्त्री को अपनी जीवन-संगिनी बनाना सीख लें जिससे उनका* घर बसा का बसा रह जाय। क्योंकि यह 'बदल-बदल' की जो हवा योरोप के घरों को उजाड़ कर यहाँ आई है यदि उनके घरों में घुस गई तो वे किसी दिन दफ्तर से लौटकर अपने घर को सूना और पड़ोसी के घर को आबाद पायेंगे।'[२] इस प्रकार उपन्यासकार ने भूमिका में ही प्रस्तुत कथानक में प्रस्तुत समस्या की ओर संकेत कर दिया है। आज के युग में प्रस्तुत समस्या अपना निज का महत्व रखती है इसमें संदेह नहीं। किंतु अब देखना यह है कि उपन्यासकार क्या प्रस्तुत कथानक के माध्यम से समस्या का कोई उचित निष्कर्ष निकालने में समर्थ रहा है? कथानक के अंत में उसने दोनों ही पति-पत्नियों को पुनः मिला दिया है किंतु इसके लिए उसे मास्टर हरप्रसाद ऐसे आदर्श पुरुष

१ बदल बदल भूमिका १।

२ बदल बदल भूमिका १।

और विमला ऐसी आदर्श नारी की सृष्टि करनी पड़ी है। अतिशय आदर्शवादी होने के कारण मास्टर साहब का चरित्र स्वाभाविक नहीं रह गया है। कथानक के अंत तक पहुँचते-पहुँचते पाठक ऐसा अनुभव करने लगता है कि समस्या के निष्कर्ष को उस पर बलात् लादा जा रहा है। यद्यपि मायादेवी के मनोवैज्ञानिक विचार परिवर्तन का आश्रय लेकर एक सीमा तक उपन्यासकार समस्या का निष्कर्ष प्रस्तुत करने में सफल रहा है फिर भी यह निष्कर्ष एकांगी ही रह जाता है।

आलमगीर

प्रस्तुत उपन्यास का संबंध मुगलकाल से है। कथा का प्रारंभ मुगल सम्राट शाहजहाँ के शासन काल से होता है। कथा प्रारंभ होने के साथ ही कई छोटी छोटी कथाएं एक साथ चलने लगती हैं। वास्तव में प्रस्तुत उपन्यास में एक व्यक्ति को लक्ष्य बनाकर कथा नहीं कही गई है वरन् एक परिवार का चित्रण कथा का लक्ष्य है। अनेक कथाओं के समानांतर चलने से कथा बिखर गई है। इन मुख्य कथाओं के साथ सहायक कथाएं और सहायक कथाओं के साथ प्रासंगिक कथाएँ एवं अंतर्कथाएँ भी लगी हुई हैं। जिससे कथानक में पर्याप्त जटिलता आ गई है। वस्तुतः इसमें केवल दो मुख्य कथाएँ हैं। प्रथम मुख्य कथा शाहजहाँ की है। इस प्रधान कथा में विकास की लगभग पाँचों अवस्थाएँ आ जाती हैं। मीरजुमला की बादशाह की भेंट बादशाह के वैभव एवं विलासिता के वर्णन प्रारम्भिक अवस्था में आते हैं। बादशाह के भोग विलास के वर्णन से ही मुख्य घटना की तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। बेगम शाइस्ता खाँ[1] वाली घटना से ही कथानक में संघर्ष का प्रारम्भ हो जाता है। इसको हम प्रारंभिक संघर्षमय घटना कह सकते हैं। बादशाह के अस्वस्थ होने का समाचार फैलने की घटना तक आते-आते मुख्य घटना की निष्पत्ति की अवस्था आ जाती है। यहाँ आकर यह प्रधान कथा कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो जाती है। दूसरी प्रधान कथा है औरंगजेब की। यहीं से शाहजहाँ की कथा को पीछे छोड़ औरंगजेब की कथा सामने आ जाती है। 'खून का नक्कारा' (अध्याय १६) से कथानक में घात प्रतिघात की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। अब कई प्रधान और सहायक कथाएँ परस्पर उलझ कर आगे बढ़ती हैं। राज्य के लिए भाई भाई एवं पिता पुत्र में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। औरंगजेब अपने पिता शाहजहाँ के अस्वस्थ होने का समाचार पाते ही विद्रोह का झंडा खड़ा कर देता है। अवसर देखकर वह राज्य

---

१ आलमगीर-पृष्ठ ६४।

को हस्तगत करने के लिए आक्रमण कर देता है। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारा इनसे मिलने के लिए आ पहुँचता है। दोनों दलों का सम्मुख युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। कथा अंधकारमय भविष्य की ओर क्षिप्रता के साथ अग्रसर होती है। दोनों कथाएँ अपनी पूर्ण शक्ति के साथ परस्पर टकराती हैं। जिससे कुछ समय के लिए कथा की गति स्थिर हो जाती है। किंतु कुछ ही क्षण स्थिर रहने के पश्चात् औरंगजेब दारा को परास्त कर आगे बढ़ जाता है। शाहजहाँ को भी परास्त कर वह उसे बन्दी बना लेता है। पिता को बंदी बना लेने के पश्चात् औरंगजेब को गद्दी प्राप्त हो जाती है। अंत में वह स्वयं आलमगीर की उपाधि धारण करता है। इसके पश्चात् वह अपने भ्राताओं शुजा और दारा को भी समाप्त कर देता है। 'आखिरी शिकार' में आकर प्रस्तुत कथा समाप्त हो जाती है।

जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है कि प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा बिखरी हुई है। किसी एक प्रधान कथा सूत्र के अंत तक न होने के कारण कथा की शृंखला भी कई स्थानों पर टूट गई है। ऐतिहासिक विवरणों के आधिक्य एवं अनेक छोटी-छोटी कथाओं की भरमार के कारण प्रस्तुत उपन्यास का कथानक संगठन की दृष्टि से शिथिल हो गया है किंतु छोटी छोटी प्रासंगिक कथाओं के माध्यम से लेखक तत्कालीन सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल रहा है।

कथानक में बिखराव होने पर भी उपन्यासकार अंत तक उसकी रोचकता की रक्षा करने में सफल रहा है। यत्र तत्र ऐतिहासिक विवरण अवश्य कुछ नीरस हो गए हैं। किन्तु तो भी कथाकार ने बड़ी कुशलता से कथा की रोचकता की रक्षा की है।

आचार्य चतुरसेन जी का यह उपन्यास विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका कथा नायक अंतिम मुगल सम्राट औरंगजेब है। उसने किस प्रकार से सत्ता हस्तगत की इस भाग में उपन्यासकार ने इसी का वर्णन विस्तार से किया है। दूसरे भाग में (जो अभी अप्रकाशित है) उसके गद्दी पर बैठने के पश्चात् का वर्णन है। प्रथम भाग की कथा का प्रारंभ सन् १६२६ ई० की एक घटना से

टिप्पणी—यह उपन्यास का पूर्वार्द्ध ही है। इसका उत्तरार्द्ध अभी प्रकाशित नहीं हो सका है। उसमें औरंगजेब के आलमगीर हो जाने के पश्चात् की कथा विस्तार से दी हुई है।

होता है जब मीरजुमला ने भागकर मुगल दरबार में शरण ली थी[1]। वास्तव में प्रस्तुत उपन्यास को लिखते समय आचार्य जी ने भी यदुनाथ सरकार के प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ 'औरंगजेब' का अध्ययन किया था। अतः प्रस्तुत उपन्यास के अधिकांश ऐतिहासिक तथ्य उन्होंने उसी ग्रंथ के आधार पर लिखे हैं। शाहजहाँ की विलासप्रियता प्रसिद्ध है। उसकी इस विलासप्रियता का बड़ा यथार्थ वर्णन उपन्यासकार ने किया है। यह वर्णन कपोल कल्पित नहीं है वरन् इतिहास सम्मत है। लगभग सभी इतिहासकारों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि 'विलासप्रियता के कारण वह (शाहजहाँ) इस बात को भूल गया कि निरंकुश शासक के चारों ओर कैसे खतरे मौजूद रहते हैं। इसका (विलासप्रियता का) परिणाम यह हुआ कि जब संकट का समय आया तो उसके अफसरों ने विश्वासघात किया और उसके एहसानों की कुछ भी परवाह न की। कैदखाने में इस दुःखभरी वृद्धावस्था में उसे अपनी प्यारी बेटी जहाँआरा से बड़ी सांत्वना मिली।[2] राजगद्दी के लिए हुए शाहजहाँ के चारों पुत्रों के पारस्परिक संघर्ष के रेखा चित्र बिल्कुल यथार्थ हैं।[3] प्रस्तुत उपन्यास के पात्र घटनाएँ, स्थान आदि सभी कुछ ऐतिहासिक हैं। उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास के प्रथम 'प्रवचन' में और अंत में 'अन्तिम दृष्टि' में औरंगजेब के जीवन की लगभग सभी प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं को प्रस्तुत किया है। यद्यपि उपन्यासकार ने इसमें कहीं पर भी यह नहीं लिखा है कि प्रस्तुत उपन्यास की सामग्री कहाँ से ली गई है। किन्तु वास्तव में सत्य यह है कि औरंगजेब के जीवन पर इतनी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है कि उसका 'भूमिका' में लिख देना भी कठिन कार्य था। वैसे इसकी लगभग सभी प्रमुख घटनाएँ इतिहास सम्मत हैं। इतिहास के अत्यधिक आग्रह के कारण कई स्थानों पर कथा कुछ बोझिल हो गई है जिससे 'इतिहास रस' का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया है। वस्तुतः प्रस्तुत उपन्यास में आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासकार की अपेक्षा उनका इतिहासकार अधिक प्रबल हो उठा है। इस उपन्यास को हम डा० वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' नामक उपन्यास की भाँति शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास कह सकते

---

१ भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरी प्रसाद पृष्ठ ३४१।

२ भारतवर्ष का इतिहास-डा० ईश्वरी प्रसाद-पृष्ठ ३२१।

३ भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरी प्रसाद-पृष्ठ ३४६ ४९।
साथ ही देखिए—औरंगजेब नामा—अनुवादक राय मुन्शी देवी प्रसाद जी प्रथम भाग खण्ड १ पृष्ठ १२ से ४८ तक।

है। वास्तव में इसको आचार्य चतुरसेन जी ने अन्य उपन्यासों की भाँति इतिहास का रंग देकर नहीं सजाया है। वरन् इस इतिहास को उन्होंने उपन्यास का रूप देकर सँवारा है। स्थान-स्थान पर रोमांस का पुट होने के कारण उपन्यास अरोचक तो नहीं हो पाया है किन्तु कथा और इतिहास का उपयुक्त समन्वय होने के स्थान पर ऐतिहासिकता अधिक प्रखर हो गई है। जिससे उपन्यास यत्र-तत्र नीरस हो गया है।

सोमनाथ

'सोमनाथ' की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ एक सर्वथा अकल्पित एवं अप्रत्याशित घटना से होता है। यहीं से कथा के दोनों प्रधान पात्र—भीमदेव एवं महमूद—परस्पर टकरा कर अलग हो जाते हैं। निर्माल्य' के लिए चौला सोमनाथ महालय लाई जाती है। कोट के भीतर ही छद्मवेशी महमूद की दृष्टि उस पर पड़ जाती है। वह उसका बलात् हरण करना चाहता है। चौला के रक्षक से उसका सम्मुख युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इसी समय रक्षक की सहायता के लिए युवराज भीमदेव आ उपस्थित होते हैं। छद्मवेशी महमूद एवं युवराज भीम देव की टक्कर प्रारम्भ ही हुई थी कि गंग सर्वज्ञ आकर दोनों को शान्त करते हैं। वह महमूद को पहचान कर भी छोड़ देते हैं। यहीं से कथा दो सूत्रात्मक होकर अग्रसर होती है। एक सूत्र गंग सर्वज्ञ एवं भीमदेव के साथ महालय में रह जाता है और दूसरा सूत्र महमूद के साथ महालय से बाहर चला जाता है। इस घटना को हम प्रारम्भिक संघर्षमय घटना कह सकते हैं। गंग सर्वज्ञ एवं भीमदेव की कथा अपनी कुछ अन्य सहायक कथाओं जैसे रुद्रभद्र एवं अन्य कापालिकों की कथा के साथ क्षिप्र गति से महालय के अन्दर ही विस्तार पाने लगती है। इस मध्य महालय में कुछ प्रमुख घटनाएँ घटित होती हैं जैसे रुद्रभद्र द्वारा चौला का हरण गंग सर्वज्ञ एवं भीमदेव द्वारा चौला का उद्धार, चौला एवं भीमदेव का परस्पर आकर्षित होना आदि। इस समय कथा के दो केन्द्र हो जाते हैं। प्रथम सोमनाथ महालय और दूसरा त्रिपुरसुन्दरी का मन्दिर। यहीं से चौला के प्रश्न पर सोमनाथ देवालय के प्रधान गंग सर्वज्ञ एवं उनके प्रधान शिष्य रुद्रभद्र में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। रुद्रभद्र त्रिपुर सुन्दरी के मन्दिर में अपने गुरु के विरुद्ध गुप्तरूप से षड्यन्त्र प्रारम्भ कर देता है। इसके पश्चात् ही दूसरी ओर से महमूद की कथा प्रारम्भ होती है। महमूद अपने आगामी आक्रमण के लिए भूमिका बनाता हुआ गजनी की ओर बढ़ता है। अपने गुप्त दूतों से समाचार लेता हुआ वह गजनी पहुँच जाता है।

गजनी में महमूद सोमनाथ अभियान की पूर्ण तैयारी करने के पश्चात् अपनी विशाल वाहिनी के साथ भारत में प्रवेश करता है। उसके गुप्तचर भारत में प्रथम से ही सजग हैं अतः उसे भारत प्रवेश में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। उसके एक गुप्तचर अभीविन उस्मान अलअबीसी के कारण ही मुल्तान नरेश अजयपाल स्वयं मार्ग दे देते हैं। इसके पश्चात् महमूद घोघागढ़ के महाराज घोघाबापा के समीप भी संधि के लिए अपना दूत भेजता है, किन्तु घोघाबापा मार्ग देना अस्वीकार कर देते हैं। यहाँ आकर महमूद कुछ समय के लिए घोघा बापा से संघर्ष करने को रुकता है। यहीं से घोघाबापा की कथा से उनके पुत्र सज्जनसिंह और पौत्र सामंतसिंह की कथा सम्बद्ध हो जाती है। ये दोनों ही सोमनाथ महालय की रक्षा के लिए घोघाबापा की आज्ञा से गंग सर्वज्ञ के समीप चले जाते हैं। इधर महमूद और घोघाबापा का युद्ध प्रारम्भ होता है और घोघा बापा सपरिवार वीरगति को प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् महमूद का मार्ग स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि महमूद के मार्ग में कई अन्य छोटे छोटे अवरोध भी आते हैं किन्तु सपादलक्ष तक आने में उसे किसी प्रकार की विशेष कठिनाई नहीं होती। महमूद सपादलक्ष में रुकने को बाध्य होता है। वह मुलतान नरेश महाराज अजयपाल को अपना दूत बनाकर सपादलक्ष के महाराज धर्मगजदेव के समीप उन्हें अपने पक्ष में मिलाने के लिए भेजता है किन्तु उसे सफलता नहीं प्राप्त होती। अन्ततः उसे युद्ध के लिए बाध्य होना पड़ता है। वह युद्ध में महाराज धर्मगजदेव से पराजित होकर संधि कर लेता है किन्तु शीघ्र ही संधि का अतिक्रमण कर वह कपट से महाराज धर्मगजदेव की शिवलिंग पूजन करते समय हत्या करके उन्हें अपने मार्ग से हटा देता है। इसके पश्चात् उसे ससैन्य सोमनाथ महालय तक पहुँचने में किसी प्रकार की विशेष कठिनाई नहीं होती।

इस कथा के साथ-साथ देवपट्टन में युवराज भीमदेव गुजरात नरेश श्री चामुण्डराय एवं मंत्री विमल देवशाह की कथा भी चलती जाती है।

महमूद के आगमन का समाचार ज्ञात होते ही युवराज भीमदेव ससैन्य सोमनाथ महालय की रक्षा के हेतु प्रभास में आ जाते हैं। उनके अतिरिक्त देव रक्षा के लिए कुछ अन्य हिन्दू राजा जैसे चामुण्डराज सोरठ का राव आदि भी आ उपस्थित होते हैं।

सोमनाथ महालय के प्रधान गंगसर्वज्ञ युवराज भीमदेव को महासेनापति बनाकर महालय की रक्षा का भार उनको सौंप देते हैं। किन्तु महालय के अन्दर गृह-कलह प्रारम्भ हो जाता है। फतमाद गंगसर्वज्ञ एवं भीमदेव की उपेक्षा करने

लगता है। उसका इन दोनों के विरुद्ध गुप्त रूप से षड्यंत्र का कार्य और तीव्र हो जाता है। इस प्रकार गृह कलह के कारण परस्पर उलझी हुई प्रस्तुत कथा किसी अन्धकारमय भविष्य की ओर तीव्रता से अग्रसर होती है। इसी समय महमूद अपनी विशालवाहिनी के साथ समस्त अवरोधों का अतिक्रमण करता हुआ सोमनाथ महालय को भंग करने के लिए प्रभास में आ पहुँचता है। अब दोनों ही कथाएँ समीप आकर युद्ध के पूर्व अपनी पूर्ण शक्ति को केन्द्रित करना प्रारम्भ कर देती हैं। यहाँ आकर कथा की गति स्थिर हो जाती है। किन्तु उत्सुकता बढ़ जाती है कुछ समय तक स्थिर रहने के पश्चात् कथा में गति आ जाती है। महमूद अपने विपक्षी भीमदेव के पक्ष को निर्बल बनाने के लिए अपनी कूट नीति का प्रारम्भ कर देता है।

कथानक में उतार-चढ़ाव आने लगता है। शीघ्र ही दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। कथानक तीव्रगति से चरमसीमा की ओर बढ़ता है। निर्णायक युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इस स्थल पर श्वास अवरुद्ध कर देने वाली पाठक की उत्सुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इस समय महमूद अपनी कूट नीति में सफल होता है। और वह प्रलोभन द्वारा रुद्रभद्र को अपने पक्ष में मिला लेता है। युद्ध का निर्णायक क्षण आ जाता है। इसी समय देश द्रोह करके रुद्रभद्र महमूद की सेना को गुप्त द्वार के द्वारा महालय में बुलवा लेता है। परिणामस्वरूप भीमदेव की विजयी होती हुई सैन्य को महमूद की सैन्य से पराजित होना पड़ता है। इसके पश्चात् महमूद सोमनाथ महालय को ध्वस्त कर गंग सर्वज्ञ की निर्मम हत्या करता है। साथ ही वह देश के साथ विश्वासघात करने वाले रुद्रभद्र आदि को भी यहीं समाप्त कर देता है।

सोमनाथ महालय के ध्वस्त होने एवं गंग सर्वज्ञ की मृत्यु के पश्चात् ऐसा ज्ञात होता है कि कथा समाप्ति पर है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। कारण महमूद के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी युवराज भीमदेव अभी सुरक्षित बचा लिए गए हैं। अतः उन्हीं को समाप्त करने के लिए कुछ समय तक महमूद उनका पीछा करता है किन्तु असफल रहता है। अन्ततः विवश होकर उसे अपनी दिशा परिवर्तित करनी पड़ती है। अब पुनः महमूद और भीमदेव की कथाएँ अलग-अलग स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगती हैं। महमूद अपने उद्देश्य में सफल होने के पश्चात् गजनी लौटना चाहता है किन्तु उसके प्रत्यावर्तन के पथ पर अनेक अवरोध आना प्रारम्भ हो जाते हैं। वह भीमदेव के भय से कच्छ प्रदेश से होकर जाता है किन्तु वहाँ भी घोघाबापा के पुत्र सज्जन द्वारा उसका प्रतिरोध किया जाता है।

सज्जनसिंह की चतुरता के समक्ष विजेता महमूद को भी पराजित होना पड़ता है। वह कच्छ के महारन में मार्ग बतलाने के व्याज से महमूद की सम्पूर्ण सैन्य को भटका कर छोड़ देता है। अन्त में अपनी सम्पूर्ण शक्ति गंवाकर अकेला महमूद ही एक भारतीय रमणी शोभना की कृपा से बचकर गजनी पहुँच पाता है। भीमदेव भी महमूद के प्रत्यावर्तित होने के पश्चात् पुनः अपनी राजधानी पाटन में लौट आता है। यहाँ राजा होने के पश्चात् भी भीमदेव अपनी प्रेमिका नर्तकी चौला से कुछ राजनैतिक बन्धनों के कारण विवाह करने में असमर्थ रहता है। अन्त में चौला के नृत्य के पश्चात् प्रस्तुत उपन्यास समाप्त होता है।

प्रस्तुत उपन्यास की दोनों ही प्रधान कथाओं में कथा-विकास की पाँचों अवस्थायें प्राप्त हो जाती हैं। दोनों ही अपनी-अपनी चरम-सीमा पर परस्पर गुंथ जाती हैं। घात प्रतिघात तक की अवस्थाएँ दोनों ही कथा सूत्रों की भिन्न भिन्न चलती हैं। दोनों ही कथा सूत्रों का प्रारम्भ एक साथ होता है। अतः दोनों ही की प्रारम्भिक अवस्था 'निर्माल्य' से ही ज्ञात होती है। 'अघोर सम्भवा' तक आते-आते भीमदेव एवं गंग सर्वज्ञ की कथा में मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है, 'कठिन अभियान' (अध्याय २१) तक महमूद की कथा में भी मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है। इन दोनों अध्यायों के पश्चात् ही किंचित् व्याख्या के पश्चात् दोनों ही मुख्य कथाएँ 'घात-प्रतिघात की अवस्था में पहुँच जाती हैं। दोनों में ही यह अवस्था 'दैत्य माया' (अध्याय ६६) नामक अध्याय से प्रारम्भ हो जाती है। 'घात-प्रतिघात की अवस्था के पश्चात् ही 'चरम-सीमा' आ जाती है। 'छमभंग' (अध्याय ८२) से ऐसा ज्ञात होने लगता है कि दोनों ही कथा सूत्रों की चरम-सीमा आ गई है किन्तु वास्तव में चरम सीमा अभी दूर है। भीमदेव की कथा 'पाटन की ओर' नामक अध्याय से शिथिल हो जाती है। वास्तव में इस अध्याय तक आते-आते महमूद द्वारा गंग सर्वज्ञ की निर्मम हत्या के पश्चात् भीमदेव की कथा अकेली पड़ जाती है। अतः ऐसा ज्ञात होने लगता है कि भीमदेव की कथा अपनी 'चरमसीमा' को पार करती हुई 'उपसंहार' की ओर जाने को उन्मुख है। उपन्यास की कथा के कार्य को दृष्टि में रखकर यदि देखा जाय तो महमूद की कथा में 'चरम सीमा' की अवस्था 'कच्छ के महारन' (अध्याय १२०) नामक अध्याय पर आती है। यहाँ आकर महमूद की कथा में अवरोध उपस्थित हो जाता है। अतः यह कथा भी शिथिल गति से 'उपसंहार' की ओर अग्रसर होती है। इसके पश्चात् ही भीमदेव एवं महमूद दोनों ही की कथाएँ समाप्त हो जाती हैं। प्रस्तुत उपन्यास में भी 'चरम-सीमा' के पश्चात् 'उपसंहार' का क्रम है।

रूपता है। उसका इन दोनों के विरुद्ध गुप्त रूप से षड्यंत्र का कार्य और तीव्र हो जाता है। इस प्रकार गृह कलह के कारण परस्पर उलझी हुई प्रस्तुत कथा किसी अन्धकारमय भविष्य की ओर तीव्रता से अग्रसर होती है। इसी समय महमूद अपनी विशालवाहिनी के साथ समस्त अवरोधों का अतिक्रमण करता हुआ सोमनाथ महालय को भंग करने के लिए प्रभास में आ पहुँचता है। अब दोनों ही कथाएँ समीप आकर युद्ध के पूर्व अपनी पूर्ण शक्ति को केन्द्रित करना प्रारम्भ कर देती हैं। यहाँ आकर कथा की गति स्थिर हो जाती है। किन्तु उत्सुकता बढ़ जाती है कुछ समय तक स्थिर रहने के पश्चात् कथा में गति आ जाती है। महमूद अपने विपक्षी भीमदेव के पक्ष को निर्बल बनाने के लिए अपनी कूट नीति का प्रारम्भ कर देता है।

कथानक में उफान आने लगता है। शीघ्र ही दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। कथानक तीव्रगति से चरमसीमा की ओर बढ़ता है। निर्णायक युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इस स्थल पर श्वास अवरुद्ध कर देने वाली पाठक की उत्सुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इस समय महमूद अपनी कूट नीति में सफल होता है। और वह प्रलोभन द्वारा रुद्रभद्र को अपने पक्ष में मिला लेता है। युद्ध का निर्णायक क्षण आ जाता है। इसी समय वेष द्रोह करके रुद्रभद्र महमूद की सेना को गुप्त द्वार के द्वारा महालय में घुसवा देता है। परिणामस्वरूप भीमदेव की विजयी होती हुई सैन्य को महमूद की सैन्य से पराजित होना पड़ता है। इसके पश्चात् महमूद सोमनाथ महालय को ध्वस्त कर गंग सर्वज्ञ की निर्मम हत्या करता है। साथ ही वह देश के साथ विश्वासघात करने वाले रुद्रभद्र आदि को भी यहीं समाप्त कर देता है।

सोमनाथ महालय के ध्वस्त होने एवं गंग सर्वज्ञ की मृत्यु के पश्चात् ऐसा ज्ञात होता है कि कथा समाप्ति पर है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। कारण महमूद के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी युवराज भीमदेव अभी सुरक्षित बचा लिए गए हैं। अतः उन्हीं को समाप्त करने के लिए कुछ समय तक महमूद उनका पीछा करता है किन्तु असफल रहता है। अन्ततः विवश होकर उसे अपनी दिशा परिवर्तित करनी पड़ती है। अब पुनः महमूद और भीमदेव की कथाएँ अलग-अलग स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगती हैं। महमूद अपने उद्देश्य में सफल होने के पश्चात् गजनी लौटना चाहता है किन्तु उसके प्रत्यावर्तन के पथ पर अनेक अवरोध आना प्रारम्भ हो जाते हैं। वह भीमदेव के भय से कच्छ प्रदेश से होकर जाता है किन्तु वहाँ भी घोघाबापा के पुत्र सज्जन द्वारा उसका प्रतिरोध किया जाता है।

मुञ्जनसिंह की चतुरता के समक्ष विजेता महमूद को भी पराजित होना पड़ता है। वह कच्छ के महारन में मार्ग बतलाने के ब्याज से महमूद की सम्पूर्ण सैन्य को भटका कर छोड़ देता है। अन्त में अपनी सम्पूर्ण शक्ति गवाकर अकेला महमूद ही एक भारतीय रमणी शोभना की कृपा से बचकर गजनी पहुँच पाता है। भीमदेव भी महमूद के प्रत्यावर्तित होने के पश्चात् पुनः अपनी राजधानी पाटन में लौट आता है। यहाँ राजा होने के पश्चात् भी भीमदेव अपनी प्रेमिका नर्तकी चौला से कुछ राजनैतिक बन्धनों के कारण विवाह करने में असमर्थ रहता है। अन्त में चौला के मृत्यु के पश्चात् प्रस्तुत उपन्यास समाप्त होता है।

प्रस्तुत उपन्यास की दोनों ही प्रधान कथाओं में कथा-विकास की पाँचों अवस्थायें प्राप्त हो जाती हैं। दोनों ही अपनी-अपनी चरम-सीमा पर परस्पर गुंथ जाती हैं। घात प्रतिघात तक की अवस्थाएं दोनों ही कथा सूत्रों की भिन्न भिन्न चलती हैं। दोनों ही कथा सूत्रों का प्रारम्भ एक साथ होता है। अतः दोनों ही की प्रारम्भिक अवस्था 'निर्माल्य' से ही ज्ञात होती है। 'अघोर सम्पदा' तक आते-आते भीमदेव एवं गंग सर्वज्ञ की कथा में मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है 'कठिन अभियान' (अध्याय २१) तक महमूद की कथा में भी मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है। इन दोनों अध्यायों के पश्चात् ही किंचित् व्याख्या के पश्चात् दोनों ही मुख्य कथाएँ 'घात प्रतिघात' की अवस्था में पहुँच जाती हैं। दोनों में ही यह अवस्था दैत्य माया' (अध्याय ६६) नामक अध्याय से प्रारम्भ हो जाती है। 'घात प्रतिघात' की अवस्था के पश्चात् ही 'चरम-सीमा' आ जाती है। 'छत्रभंग' (अध्याय ८२) से ऐसा ज्ञात होने लगता है कि दोनों ही कथा सूत्रों की चरम-सीमा आ गई है किन्तु वास्तव में चरम सीमा अभी दूर है। भीमदेव की कथा 'पाटन की धार' नामक अध्याय से शिथिल हो जाती है। वास्तव में इस अध्याय तक आते-आते महमूद द्वारा गंग सर्वज्ञ की निर्मम हत्या के पश्चात् भीमदेव की कथा अकेली पड़ जाती है। अतः ऐसा ज्ञात होने लगता है कि भीमदेव की कथा अपनी 'चरमसीमा' को पार करती हुई 'उपसंहार' की ओर जाने को उन्मुख है। उपन्यास की कथा के 'कार्य' को दृष्टि में रखकर यदि देखा जाय तो महमूद की कथा में 'चरम सीमा' की अवस्था 'कच्छ के महारन' (अध्याय १२०) नामक अध्याय पर आती है। यहाँ आकर महमूद की कथा में अवरोध उपस्थित हो जाता है। अतः यह कथा भी शिथिल गति से 'उपसंहार' की ओर अग्रसर होती है। इसके पश्चात् ही भीमदेव एवं महमूद दोनों ही की कथाएँ समाप्त हो जाती हैं। प्रस्तुत उपन्यास में भी 'चरम-सीमा' के पश्चात् 'उपसंहार' का क्रम है।

प्रस्तुत उपन्यास की आधिकारिक कथा भीमदेव और महमूद की है जो ादि से अंत तक समानान्तर चलती है—कहीं परस्पर संघर्ष करते हुए तो कहीं ार्ष करने के लिए उद्यत इस आधिकारिक कथा के साथ-साथ उसको अग्रसर रने के लिए कितनी ही प्रासंगिक कथाएँ सम्पूर्ण उपन्यास में छाई हुई हैं। ोमना एवं फतेह मुहम्मद तथा 'चामों महता' की कथा मूल कथा के साथ ताका' का कार्य करती है। चौलादेवी, धर्मगजदेव, विमलदेव शाह तथा ालुक्य बालकराय सेठ आदि की कथाएँ मूल कथा में 'प्रकरी' की भाँति प्रयुक्त ई है। इसके अतिरिक्त अन्य कितनी ही छोटी-छोटी कथाएँ मूल कथा को ग्रसर करने के लिए प्रस्तुत उपन्यास में प्रयुक्त हुई है। 'शोभना' की कथा ताका स्थानक' का कार्य करती है कारण यह भीमदेव की आधिकारिक कथा ी उलझन बढ़ा देती है और इसी से प्रोत्साहित होकर एवं सहायता प्राप्त कर हमूद की कथा भीमदेव की कथा को आक्रान्त करती है।

प्रस्तुत उपन्यास की प्रत्येक प्रासंगिक कथा सोद्देश्य है। फतेह मुहम्मद एवं शोभना की कथा सामने रखकर उपन्यासकार ने तत्कालीन हिंदू समाज ी स्थिति को प्रकट करना चाहा है। उसने 'आधार' में स्पष्ट कहा है सबसे थम मेरा ध्यान हिन्दुओं के रूढ़िवाद अज्ञान धर्मान्धता कट्टरता तथा जाति ौर और आत्म-कलह पर गया। मैंने स्वीकार किया कि इसी ने हिंदुओं को लित किया पराजित किया है। मैंने इसकी प्रतिक्रियास्वरूप गाजी पुत्र देवा स्वामी-फतेह मुहम्मद की सृष्टि की।[1] दूसरी जिस अलौकिक मूर्ति की चना मुझे करनी पड़ी—वह थी 'शोभना' एक विधवा ब्राह्मण कुमारी[2] सी प्रकार चामुण्डराय विमलशाह आदि की प्रासंगिक कथाएँ भी सोद्देश्य है। जरात के सोलंकी राजा चामुण्डराय की कथा उस काल के हिंदू राजाओं के स असावधान जीवन की ओर संकेत करती है—जिसके कारण हिंदू राजा राबर पराजित होते गए। विमलदेव शाह की कथा के पीछे भी एक महत्वपूर्ण केत है। उस कथा द्वारा लेखक ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि पराजय का क प्रमुख कारण गुजरात की तत्कालीन राजनीति भी थी। उस काल में जरात के राजा शैव और मंत्री जैन थे। प्रजाजन में जन साधारण शैव और ाहूकार जैन थे। इनमें उन दिनों साम्प्रदायिक झगड़े होते रहते थे। इससे ाजसत्ता राजा और मंत्री में विभाजित रहती थी। हिंदू राज्यों के पतन का ह भी एक कारण है।[2] इसी कारण के स्पष्ट करने के लिए विमल देव शाह

१ सोमनाथ आधार पृष्ठ ९। २ सोमनाथ आधार पृ १२ १३।

की कथा को उपन्यासकार ने इसमें रखा है। खद्रभद्र की प्रासंगिक कथा भी इसी प्रकार से सोद्देश्य है।

कथानक संगठन की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास आचार्य जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें मूल तथा प्रासंगिक कथाओं का अभूतपूर्व समन्वय हुआ है। यद्यपि कितनी ही प्रासंगिक कथाएँ अधिकारिक कथा के साथ असम्पृक्त हैं किन्तु उनके आधिक्य से भी कथा बोझिल नहीं होने पाई है। सभी कथा सूत्र प्रारंभ से लेकर अंत तक इस कौशल के साथ सुनियोजित किये गए हैं कि उनका सम्बन्ध अबाध एवं अटूट रहता है। प्रत्येक कथा सूत्र के विकास में संतुलन और अनुपात का पूर्ण ध्यान रखा गया है। इस सुसंगठित कथानक का यही रहस्य है कि सभी प्रासंगिक कथाओं के मूल में वही अधिकारिक कथा सूत्र है जो सभी को संयुक्त करता हुआ अंत तक कथा को त्वरा के साथ खींच ले गया है। वास्तव में कलात्मक ढंग से प्रत्येक कथा सूत्र के संयोजन के कारण ही प्रस्तुत कथानक का स्वाभाविक गति से विकास सम्भव हो सका है।

प्रस्तुत उपन्यास इतना विशालकाय होने पर भी अंत तक रोचक बना रहता है। यह उपन्यासकार की आश्चर्यजनक सफलता है कि ६४७ पृष्ठों के इस उपन्यास में पाठक की कुतूहलवृत्ति कहीं भी न्यून नहीं होती। प्रस्तुत कथानक को पूर्ण रोचक बनाने के लिए ही उपन्यासकार ने 'अघोर वन' (अध्याय १०) आदि जैसी कुछ सर्वथा चमत्कारिक घटनाओं का भी इसमें समावेश किया है।

इतिवृत्तात्मक एवं रसात्मक स्थलों का अभूतपूर्व समन्वय प्रस्तुत कथानक में हुआ है। इन दोनों के आनुपातिक समन्वय के कारण पाठक के हृदय में वांछित प्रभाव उत्पन्न करने में उपन्यासकार पूर्ण सफल रहा है। उपन्यास के अन्त तक रोचक होने का कारण यह भी रहा है।

प्रस्तुत कथानक शृंखलाबद्ध एवं योजनाबद्ध अवश्य है, किन्तु इसमें भी उपन्यासकार ने अनुपात का पूर्ण ध्यान रखा है। कहीं कथानक अत्यधिक योजनाबद्ध होने के कारण अस्वाभाविक एवं यन्त्रचालित-सा नहीं होने पाया है। कथा सूत्र को धक्का देने के लिए पग-पग पर दैवयोग संयोग अथवा आकस्मिकता का भी प्रयोग नहीं किया गया है जिससे कथानक अन्त तक स्वतः गतिमान रहा है।

प्रस्तुत उपन्यास में मानव जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक है। एक ओर जहाँ इसमें युद्ध की काली घटाएं उमड़ी हुई दीख पड़ती हैं वहीं दूसरी ओर पाठक को धूमाच्छन्न गगन में प्रेमियों का विप्रलम्भ भी चमकता है। वीर में शृंगार, करुण में हास आदि सभी कुछ एक साथ प्रस्तुत उपन्यास में देखने को मिल जाता है। प्रस्तुत उपन्यास की सर्वप्रधान विशेषता उसके यथार्थ एवं सूक्ष्म चित्रण में है। उपन्यासकार ने जिस कथा सूत्र को भी पकड़ा है, वह पूर्णरूप से उभर कर सामने आ गया है। छोटे छोटे कथा सूत्र भी लेखक की लेखनी का एक ही आघात पाकर पूर्ण सजीव हो उठे हैं। उपन्यास के प्रत्येक कथा सूत्र में लेखक की उर्वरा कल्पना शक्ति, यथार्थ सूक्ष्म एवं मार्मिक चित्रण कला परिव्याप्त है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण उपन्यासकार अपनी अनुभूतियों की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में सफल रहा है। उपन्यासकार की यह बहुत बड़ी सफलता रही है कि उसने जिस युग का कथानक चुना है उस युग को पाठक के नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष ला खड़ा किया है। उसने उस युग को इतने सशक्त और प्रखर रूप में प्रस्तुत किया है कि पाठक अपने मानस चक्षुओं से उस युग की प्रत्येक समस्या प्रत्येक रहस्य यहाँ तक कि उस काल के प्रत्येक पात्र का प्रत्यक्षीकरण करने में पूर्ण सफल रहता है।[1]

प्रस्तुत उपन्यास एक ऐतिहासिक उपन्यास है। अतः स्वभावतः ही यह प्रश्न हो सकता है कि क्या इसकी कथा इतिहासानुमोदित है? प्रस्तुत उपन्यास की मूल घटना एवं प्रमुख पात्र ऐतिहासिक हैं। उपन्यास की मूल घटना है मूर्तिभंजक महमूद गजनवी का सोमनाथ महालय पर अभियान और प्रमुख पात्र हैं महमूद और भीमदेव। यह घटना ईस्वी सन् १ २५ में घटित हुई थी जबकि मूर्तिभंजक महमूद गजनवी अपनी विशाल वाहिनी लेकर सुदूर गजनी से मुल्तान और अजमेर की राह देव मूर्ति को भंग करने के लिए पाटन पहुँचा। इस घटना का उल्लेख 'रोजत उस सफा (जो १५ वीं शताब्दी में लिखी गई थी) में भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार ने 'फरिश्ता" एवं अलबरूनी के "तवारीखे हिन्द" का आश्रय लिया है।[2] इस प्रकार इतिहास से उपन्यासकार ने केवल निम्न तथ्य लिए हैं—

१ ईस्वी सन् १ २५ में महमूद ने आक्रमण किया।

---

१ इस विषय पर आगे "देशकाल एवं वातावरण" वाले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

२ सोमनाथ आधार पृ १४।

२ अन्य राजाओं के भय से उसे मरुस्थल की राह से आना पड़ा।
३ रास्ते में गुर्जरेश्वर भीम के भय से उसे कच्छ के महारन से वापस आना पड़ा।
४ उसने सोमनाथ का मन्दिर तोड़ा।

इसके अतिरिक्त इस आक्रमण के विषय में अन्य तथ्य प्राप्त भी नहीं होते। इस आक्रमण को उस समय इतना तुच्छ समझा गया कि हेमचंद्र सोमेश्वर और मेरुतुंग जैसे इतिहासकारों ने इसकी चर्चा तक न की।[१] गुजरात में कुछ शिलालेख ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनमें महमूद के इस आक्रमण का उल्लेख है।[२]

इन प्रमुख घटनाओं के अतिरिक्त उपन्यासकार ने शेष घटनाओं की सृष्टि अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा की है। उसने श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के उपन्यास 'जय सोमनाथ' के कुछ प्रमुख पात्र एवं घटनाएँ अवश्य ली हैं। उपन्यासकार ने स्वीकार किया है "श्री मुंशी चूँकि मुझसे प्रथम "जय सोमनाथ" लिख चुके थे—इसलिए इस कथा में मैंने श्री मुन्शी को आप्त पुरुष मान लिया। उनकी सब काल्पनिक स्थापनाओं को मैंने सत्य की भाँति ग्रहण कर लिया। इससे मेरे उपन्यास में परंपरा मूलक रसोदय हुआ। दोनों उपन्यास पढ़ने पर पाठक के मन पर उस घटना का द्विगुण प्रभाव होगा। विरोधी भावना नहीं पैदा होगी। इससे रस भंग का दोष नहीं आएगा यहीं मैंने सोचा। ऐतिहासिक सत्यों की मैंने परवाह नहीं की। इतना ही काफी समझा कि महमूद ने सोमनाथ का आक्रमण किया था। उसने गुजरात की लाज लूटी थी।[३] इसमें उपन्यासकार ने स्पष्ट कहा है कि मैंने ऐतिहासिक सत्यों की परवाह नहीं की। उसने इसमें 'इतिहास रस' की स्थापना की है। यद्यपि इसमें वह ऐतिहासिक तथ्यों से बंधकर नहीं चला है उसने इसमें मनमानी कुलांचे भी मारी हैं। किंतु तो भी उसने संभावना के क्षेत्र का कहीं भी अतिक्रमण नहीं किया है। "कच्छ का महारन" में महमूद की सम्पूर्ण सेना का विनाश अवश्य असम्भव-सा ज्ञात होता है किन्तु यह कथा मूल भी काल्पनिक न होकर ऐतिहासिक है। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता कहता है कि महरवान

१ सोमनाथ आधार पृ १७।
२ देखिये इन्द्रा की की राजमाला में उल्लिखित शिलालेखों का विवरण और इसी विषय पर रामलाल चन्नीलाल का लेख।
३ सोमनाथ आधार पृ ८।

(अनहिलवाड़) का राजा भिरुहम देव (भीमदेव) अजमेर के नरेश तथा अन्य राजाओं की सेनाओं को एकत्रित करके सुल्तान का रास्ता रोकने की भारी तैयारी कर रहा था इसीलिए उसने सिन्ध के मार्ग से मुलतान जाने का विचार किया। मार्ग में असह्य गरमी और पानी के नितांत अभाव के कारण सेना का अधिकांश भाग पागल होकर मर गया।[1] इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास की प्रमुख घटनाएँ तो ऐतिहासिक हैं किन्तु उपन्यास में अन्य अनेक घटनाओं की कल्पना लेखक ने की है। जिनका कि इतिहास में उल्लेख नहीं है ऐसी घटनाओं की कल्पना करने का ऐतिहासिक उपन्यासकार को पूर्ण अधिकार है।

तत्कालीन वातावरण तथा घटनाओं की रूप रेखा बनाने में गुजराती साहित्य और गुर्जर विद्वानों के लिखे संस्कृत प्राकृत आदि के अनेक ग्रंथों का लेखक ने आश्रय लिया है।[2] तत्कालीन भारत की राजनीतिक धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को चित्रित करने के लिए उपन्यासकार ने कुछ बिल्कुल कल्पित पात्र तथा सूत्रों को कथानक में अनुस्यूत किया है।[3]

उपन्यासकार ने भूमिका में कहा है कि मैंने इस कथा में श्री मुंशी को आप्त माना है। इसके अतिरिक्त मुंशी के 'जय सोमनाथ' के विषय में उसका कथन है 'इसी समय श्री मुंशी का 'जय सोमनाथ' मेरे सामने आया। पहले मैंने उसे मूल गुजराती में पढ़ा पीछे हिंदी अनुवाद पढ़ा। मुझे इस बात का ख्याल ही न रहा कि यह उपन्यास श्री मुंशी ने लिखा है या मैंने। मैं यही सोचने लगा कि क्या वास्तव में सोमनाथ लिख दिया गया है। परन्तु मेरा मन भरा नहीं। और किसी एक अतर्कित भावना ने मेरे हृदय में एक ऐसी तीव्र आकांक्षा उत्पन्न करदी कि अब मैं सोमनाथ पर कलम बिना उठाये रह ही न सकता था। अब मैंने यह विचार किया कि मैं श्री मुंशी के इस उपन्यास
कुछ प्राप्त कर सकता हूँ या नहीं। मैंने दो तीन बार उसे बारीकी से पढ़ा। इस समय तक मेरा 'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास प्रकाशित हो चुका था। श्री मुंशी के 'जय सोमनाथ' के प्रति मैंने एक प्रतिस्पर्धी की दृष्टि डाली। मन में कहा—यदि मेरा उपन्यास इससे निकृष्ट बना लोगों ने उसे न पढ़ा तो क्या

---

१ फरिश्ता—ब्रिग्स, पृ ७२ रतिकांत भट्ट गुर्जरेश्वर भीमदेव सोलंकी, बुद्धिप्रकाश जुलाई-सितम्बर, १९५५ का अंक।

२ सोमनाथ आधार पृ ८।

३ सोमनाथ आधार पृ ९।

हुआ ?[1] अब देखना यह है कि क्या वास्तव में ही यह उपन्यास मुंशी के 'जय सोमनाथ' से उत्कृष्ट बन सका है। दोनों उपन्यासकारों का सोमनाथ लिखने समय उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहा है। इस उपन्यास में मेरा उद्देश्य सुल्तान महमूद के आक्रमण का वर्णन करना नहीं गुजरात द्वारा किये गए प्रतिरोध का वर्णन है।[2] इसके विपरीत आचार्य चतुरसेन जी का उद्देश्य इससे कहीं अधिक विस्तृत है। उन्होंने केवल प्रतिरोध का ही नहीं वरन् तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियों को भी चित्रित किया है। महमूद के चित्रण में भी उनने अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक कोमलता भावुकता और प्रेम की सम्पन्नता उंडेल दी है। वास्तव में उनका उद्देश्य आक्रमण का सांस्कृतिक प्रभाव दिखाना था केवल प्रतिरोध का वर्णन करना नहीं।

वास्तव में सभी दृष्टियों से देखने पर आचार्य जी का यह उपन्यास "जय सोमनाथ" से उत्कृष्ट बन पड़ा है। कम से कम कथानक की दृष्टि से तो यह उससे अधिक उत्कृष्ट सुसंगठित एवं कलात्मक है ही। मुंशी के उपन्यास में व्यर्थ विवरणों की भरमार के कारण कथानक कई स्थानों पर अवरुद्ध हो गया है किन्तु इसके विपरीत आचार्य जी के प्रस्तुत उपन्यास का कथा सूत्र कहीं भी शिथिल अथवा अवरुद्ध नहीं होने पाया है।

सोमनाथ पर महमूद के इस आक्रमण की तुलना हम नैपोलियन के मास्को पर किए गए आक्रमण से कर सकते हैं। नैपोलियन के मास्को पर किए गए इस आक्रमण का चित्रण रूस के विश्व विख्यात उपन्यासकार काउन्ट लियो टाल्सटाय ने अपने अमर उपन्यास "युद्ध और शान्ति" में किया है। अतः यहां आचार्य जी के "सोमनाथ" और टाल्सटाय के "युद्ध और शान्ति" पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा। दोनों की कथाओं में भारी साम्य है। दोनों आक्रमणकारी महत्वाकांक्षी थे—और दोनों ने ही पर राज्य में बलात् प्रवेश किया। नैपोलियन प्रकृति के द्वारा अवरुद्ध होकर पीछे फिरा किन्तु महमूद को शत्रुओं से भय खाकर भागना ही का बोध होना पड़ा। जिस प्रकार नैपोलियन अपने विजयोन्माद में रूस पर आक्रमण करता है वैसे ही महमूद भारत पर। जिस प्रकार उधर नैपोलियन की विशाल वाहिनी को अवरुद्ध करने के लिए जार की सेना कुछ समय के लिए आत्मसमर्पण प्रदान करती है किन्तु अन्त में उन सभी को कुचलकर

---

1 सोमनाथ आधार पृ १४।

नैपोलियन मास्को में उसी प्रकार प्रवेश करता है जिस प्रकार महमूद घोघाबापा धर्मगजदेव भीमदेव आदि को छल बल से पराजित करके सोमनाथ महालय में। नैपोलियन और महमूद दोनों ही देश के शरीर पर अधिकार अवश्य कर लेते हैं किंतु देश की आत्मा सदैव प्रतिशोध के लिए तड़पती रहती है। और अंतत दोनों को ही विपन्नावस्था में अपने देश की ओर प्रत्यावर्तित होना पड़ता है। अपने इस उपन्यास में भी आचार्य चतुरसेन जी ने रमाबाई के मुख से टाल्सटाय की भांति 'युद्ध और शांति' की समस्या पर प्रकाश डलवाया है। परंतु अपने समाधान में आचार्य जी टाल्सटाय से प्रभावित नहीं कहे जा सकते।

धर्मपुत्र

'धर्मपुत्र' उपन्यास की मुख्य कथा है एक मुस्लिम माता पिता की अवैध संतान दिलीप के एक निष्ठावान् आस्तिक हिंदू परिवार में पालन-पोषण एवं एक जाति च्युत राय साहब की पुत्री माया से उसका पाणिग्रहण की। इस उपन्यास के कथानक में विकास की लगभग सभी अवस्थायें आ जाती हैं। कथा के प्रारम्भ में ही पाठक के सामने एक अद्भुत समस्या आ जाती है। एक मुस्लिम बालक एक हिंदू परिवार में पाला जाने लगता है। अतः आगामी घटना के प्रति पाठक की सहज उत्सुकता जाग्रत होती है। आरम्भ का सूत्र मुख्य घटना को उभारने के लिए अग्रसर होता है। दिलीप की वास्तविक माता हुस्न बानू मार्ग से हट जाती है। और संसार के सामने डा० अमृतराय और अरुणा उसके पिता तथा माता के रूप में सामने आते हैं। मुख्य घटना की निष्पत्ति हो जाती है। और पाठक स्वभावत आगामी घटना के विकास को शीघ्र से शीघ्र देखने को उत्सुक हो जाता है। इसी समय दिलीप के विवाह की समस्या आ उपस्थित होती है। उपन्यासकार अभी घटना निष्पत्ति की व्याख्या दे भी नहीं पाता कि कथानक में घात प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। डा अमृतराय और अरुणा प्राचीन धार्मिक मान्यता के अनुसार दिलीप को जन्म से विजातीय मानने के कारण उसका विवाह अपनी जाति की किसी कुलीन कन्या से करना अधर्म समझते हैं। इसी कारण से वे उसका विवाह जाति च्युत राय राधाकृष्ण बैरिस्टर की विलायत रिटर्न पुत्री माया देवी से करना चाहते हैं किंतु दिलीप कट्टर हिंदू होने के कारण इस संबंध को अस्वीकृत कर देता है। यह घटना कथानक को आगे बढ़ाती है। राय साहब विवाह के प्रस्ताव के अस्वीकृति की बात सुन पुत्री सहित डा अमृतराय के यहाँ आ पहुँचते हैं। अब पाठक की कौतूहल वृत्ति पूर्णरूपेण जाग्रत हो जाती है। इसी समय दिलीप और माया का अप्रत्याशित रूप से आकस्मिक मिलन और दोनों का

पारस्परिक रूप से आकर्षित होना कथानक में एक नाटकीय मोड़ ला देता है। दानों-दोनों के लिए व्याकुल होते हैं अंतर्द्वन्द्व प्रारम्भ होता है। दिलीप माया को अस्वीकार करके भी उसी के लिए व्याकुल हो उठता है और उधर माया भी दिलीप द्वारा अपमानित होने पर उसी को अपना मान बैठती है। घात प्रतिघात एवं अंतर्द्वन्द्वों का अतिक्रमण करता हुआ कथानक तीव्रगति से चरम सीमा की ओर बढ़ता है। इसी समय पुनः कथानक में एक नाटकीय मोड़ आता है। दिलीप का अपनी वास्तविक माता हुस्नबानू से अप्रत्याशित रूप से साक्षात्कार हो जाता है। यहीं उसे वास्तविक रहस्य कि वह मुसलमान है ज्ञात होता है। वह इस घटना से इतना प्रभावित होता है कि अपना घर त्यागने तक को प्रस्तुत हो जाता है। कथानक अपनी चरम सीमा तक पहुँचते-पहुँचते अकस्मात् मुड़ जाता है। संयोग से माया भी उस समय वहाँ उपस्थित थी उस अनिश्चित अवस्था में भी अपनी प्रेयसी की सहानुभूति और प्रेम पाकर दिलीप पुनः रुक जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत कथानक की चरम सीमा अपनी नाटकीयता एवं संयोग से चरितार्थ होने के कारण उसे बलात् आदर्शवादी अंत की ओर खींच ले गई है फलतः कथानक की कलात्मकता को गहरा आघात पहुँचा है। चरम सीमा के पश्चात् भी उपन्यासकार आगे बढ़ता है। और उपसंहार में दोनों का शुभ पाणिग्रहण करा देता है जो प्रेमचंद युगीन उपन्यासकारों की एक प्रमुख विशेषता है।

इसमें आधिकारिक कथा दिलीप और माया की है। इस मूल कथा को अग्रसर करने और उसमें सौंदर्य वृद्धि करने के लिए डा० अमृतराय हुस्न बानू नवाब जहाँगीर अमीर अली तिमिर, सुशील आदि की प्रासंगिक कथाओं का भी प्रयोग हुआ है। दिलीप की आधिकारिक कथा के साथ डा० अमृतराय एवं करुणा हुस्न बानू एवं नवाब की कथा पताका एवं तिमिर सुशील आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं। स्वामी जी की कथा का प्रयोग यद्यपि लेखक ने धार्मिक अंधविश्वासों का मूलोच्छेदन एवं हास्य सृष्टि के लिए ही किया है किन्तु वह प्रस्तुत कथा में पताका-स्थानक का कार्य करती है।

कथानक संगठन की दृष्टि से प्रस्तुत कथानक संगठित है। कथानक की समस्त घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। आधिकारिक कथा के साथ आई हुई प्रासंगिक पताका और प्रकरी कथाएँ भी कथानक के विकास में योग देती हैं और उसमें एकसूत्रता बनाए रखती हैं। कथानक के मध्य में हुस्नबानू एवं नवाब की प्रासंगिक कथा अवश्य आधिकारिक कथा से दूर जा पड़ती है। किन्तु अंत तक पहुँचते-पहुँचते वह पुनः मूल कथा से आकर संयुक्त हो गई है। मूल कथा इस प्रासंगिक कथा को

मेश्र तीव्रता से आगे बढ़ती है। एक के ऊपर एक कुतूहल की सृष्टि होती है। और चरम सीमा को पार करते-करते कथानक घटना और संयोगों के मध्य में पड़कर अपना संतुलन खो बैठता है जिससे कथानक अपनी मूल समस्या के निष्कर्ष के समीप आते-आते नाटकीय ढंग से मुड़ जाने के कारण उसका एकत्रित प्रभाव नष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत कथानक की रोचकता अंत तक बनी रहती है। रोचकता की सृष्टि के लिए ही उपन्यासकार ने दिलीप शिशिर एवं सुशील के माध्यम से देश-काल को चित्रित किया है। नाटकीय मोड़ नवाब साहब का विचित्र स्वभाव और उसके पार्श्व में धड़कते बार-बार अम्लान व्यथित किंतु पवित्र नारी हृदय एवं स्वामी जी की कौतूहक एवं मनोरंजनवर्धक कथाओं की सृष्टि इसी उद्देश्य से उपन्यास कार ने की है। रोचकता सम्पादन के प्रयत्न में कथा कहीं कहीं बिखरने लगती है किंतु अंत तक आते आते उपन्यासकार ने उसे बड़े यत्न से संवार लिया है।

कथानक को यथासाध्य संभावना की सीमा में बांधने का प्रयत्न किया गया है किंतु तो भी एक दो अप्रत्याशित एवं नाटकीय घटनाएँ सीमा का उल्लंघन करती हुई ज्ञात होती हैं। उदाहरण के लिए कट्टर हिंदू दिलीप माया से प्रथम बार मिलकर ही इतना आत्म विस्मृत हो जाता है कि उसके जन्म से पालित पोषित समस्त संस्कार जड़मूल से उखड़-तू हो जाते हैं। वही नारी जिसका कुछ क्षण पूर्व ही उसने अपमान किया था—उसी नारी को एक ही दृष्टि में अपना हृदय अर्पित कर देना—चित्रपट की घटनाओं के अतिरिक्त यथार्थ जीवन में नहीं दीख पड़ता। कुछ इसी प्रकार की घटना अंत में भी संजोयी गयी है। वही दिलीप जो अपने आत्मघाती माता पिता के रुदन की उपेक्षा करके अपने अन्य आत्मीय जनों के प्रेम एवं स्नेह को ठुकरा कर घर त्यागने को उद्यत है वही केवल माया की सहानुभूति एवं प्रेम पाकर चमत्कारिक ढंग से रुक जाता है। यद्यपि कथाकार ने इन दोनों घटनाओं को इस प्रकार संजोया है कि कथा संभावना के क्षेत्र का किंचित उल्लंघन करके पुनः सीमा में बंध जाती है। कथाकार ने यदि दोनों घटनाओं के मूल में संयोग और नाटकीयता के स्थान पर मनोविज्ञान का पूर्ण आश्रय लिया होता तो कथा संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन संभवतः न कर पाई होती। साथ ही जो कथा सीमा का उल्लंघन करके पुनः ससीम हो गई है उसका श्रेय भी उन्हीं मनोवैज्ञानिक स्थलों को है जो घटनाओं के मूल में परिलक्षित एवं अमस्त आ गए हैं।

अब स्वभावतः एक प्रश्न उठता है कि क्या कथाकार उस समस्या का निष्कर्ष देने में सफल रहा है जो कथानक के प्रारम्भ में उठाई गई थी ? स्पष्ट है कि कथानक एक ऐसी समस्या को लेकर चला है जो किसी सीमा तक शाश्वत कही जा सकती है। समस्या है धर्म का सीमाबंधन जन्म एवं रक्त से होता है अथवा संस्कारों से ? गुरुदेव रवीन्द्र बाबू ने भी अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' में प्रस्तुत समस्या को उठाया है। इसमें संदेह नहीं कि समस्या महत्वपूर्ण है। उसके प्रस्तुत करने का ढंग भी मौलिक एवं यथार्थ है किन्तु कथानक अंत तक आते-आते इतनी द्रुतगति से भागा है कि मूल समस्या पीछे ही छूट गई है। अतः समस्या का निष्कर्ष भी पूर्णरूपेण निखर नहीं पाया है। कथा की चरम सीमा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण पाठक अंत तक आते-आते कुतूहलों के व्यामोह के मध्य अपनी मूल समस्या को भूल जाता है किन्तु कथा समाप्त करते ही मूल समस्या नेत्रों के सम्मुख पुनः घूम जाती है। परोक्ष रूप से उस मूल समस्या का कोई भी समाधान कथानक में दीख नहीं पड़ता किन्तु किंचित मात्र ध्यान देने पर उसे कथाओं के मध्य मूल समस्या का निष्कर्ष आभ-सित दीख पड़ता है। अप्रत्याशित एवं नाटकीय ढंग से दिलीप और माया का पाणिग्रहण कराकर उपन्यासकार ने रक्त एवं जन्म द्वारा प्रवर्तित धर्म विषयक मान्यताओं एवं सीमाबंधनों का मूल से उखाड़ फेंकने की चेष्टा की है। लेखक अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रगतिशील होता जायेगा त्यों-त्यों उसकी धर्म विषयक मान्यताओं में भी क्रांतिकारी परिवर्तन आते जायेंगे। जहाँ भी मानव की कोमल वृत्तियाँ परस्पर संघर्ष करने लगेंगी वहीं धर्म की रक्त जन्म अथवा संस्कार संबंधी-मान्यताएँ स्वयं तिरोहित हो जायेंगी।

प्रस्तुत कथानक की कलात्मकता समस्या की व्याख्या के साथ-साथ जीवन की विविध अवस्थाओं के चित्रण के समावेश के कारण द्विगुणित हो गई है। कुछ स्थानों पर पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का चित्रण बड़ा मार्मिक बन पड़ा है। यद्यपि नाटकीयता के समावेश के कारण कथानक शीघ्र ही मनोविज्ञान का रास्ता छोड़कर घटनाओं और संयोगों की भंवर में पड़कर अग्रसर होने लगता है। किन्तु जहाँ भी कथानक इन दोनों के जंजाल से निकलकर मनोविज्ञान के स्वस्थ वातावरण में ब्याज लिया है वहाँ उपन्यासकार की अनुभूतियों की सफल अभि-व्यक्ति देखने को मिलती है।

अन्य उपन्यासों की भाँति इसमें भी असावधानी के कारण कुछ भद्दी भूलें हो गई हैं। एक दो स्थानों पर करुणा का प्रयोग हुआ है।[1] सम्भव है यह

---

१ धर्मपुत्र, १८२।

वह लेखक का नहीं अपितु मुद्रण की असावधानी के कारण हुआ हो किंतु तो भी दोष तो है ही।

वयं रक्षाम

प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा है रावण के दिग्विजय एवं राम द्वारा उसकी पराजय की। इसमें कथा का प्रारम्भ एक दैत्यबाला के नृत्य के वर्णन से होता है। यहाँ प्रस्तुत उपन्यास के नायक रावण की उस दैत्यबाला से भेंट हो जाती है। रावण उस दैत्य सुन्दरी के सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है। वह नृत्य के लिए स्वर्ण देकर उस दैत्य बाला को अपने साथ ले लेता है। अब यहीं से रावण की प्रधान कथा शनैः शनैः अग्रसर होती है। विवरणात्मक और वर्णनात्मक ऐतिहासिक स्रोतों से पूर्ण अध्यायों के बीच-बीच में आ जाने के कारण यह प्रधान कथा अपनी वक्रगति से ठिठक-ठिठक कर अपना मार्ग स्वयं निर्मित करती हुई आगे बढ़ती जाती है। वास्तव में उपन्यास के इस भाग में इस प्रधान कथा की गति उस शैवलिनी की भाँति प्रतीत होती है जो पर्वतीय प्रदेश में शिला खण्डों से टकराती उन्हें तोड़ती अपने में समेटती कभी वक्र कभी ऊर्ध्व कभी स्थिर तो कभी क्षिप्रगति से पर्वतों को पार करती समतल मैदान की ओर स्वतः प्रेरित सी भागती चली जाती है।

'रावणेंद्र रावण' (अध्याय ११ पृष्ठ १५८) तक प्रधान कथा की यही दशा रहती है। इसके पश्चात् ही इस कथा में गति आती है। रावण एकाकी ही दिग्विजय करने के लिए लंका से बाहर निकल पड़ता है। इस विजय यात्रा में रावण दो स्थानों पर पराजित हुआ—प्रथम किष्किन्धापुरी में बालि से[1] और दूसरे माहिष्मती में चक्रवर्ती अर्जुन से[2]। किन्तु इन दोनों वीरों से पराजित होकर भी उसने इन दोनों से ही मैत्री संबंध स्थापित कर लिया था। वैजयन्ती-पुरी में अपने साढ़ू असुरराज तिमिध्वज शम्बर से भी वह पराजित हुआ था। असुर की नगरी में ही रावण ने उसकी पत्नी मायावती से अनुचित संबंध स्थापित करने की चेष्टा की थी। असुर ने उसकी इस लम्पटता को देख लिया था। इसी बात से क्रोधित होकर असुर ने मल्लयुद्ध में रावण को पराजित करके बंदी बना लिया था। किंतु 'देवासुर-संग्राम' में असुर के मारे जाने के कारण असुर पत्नी मायावती इसे बंदी गृह से मुक्त कर स्वयं अपने पति के साथ सती हो गई थी।[3] रावण

१ वयं रक्षाम: पृ० २१०-२११।
२ वयं रक्षाम: पृ० १३६ १४७।
३ वयं रक्षाम: पृ० १८३-१९९ तक।

की इन स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र विजय हुई थी। उसने यम, कुबेर, वरुण और इंद्र तक को अपनी विशाल वाहिनी के द्वारा अपने आधीन कर लिया था।

प्रस्तुत उपन्यास की दूसरी मुख्य कथा है राम की। मिथिला में 'धनुष यज्ञ' के अवसर पर रावण प्रथम बार राम के दर्शन करता है। इस घटना[1] के पश्चात् से ही प्रस्तुत उपन्यास में राम की कथा प्रारम्भ होती है। यहीं से राम और रावण दोनों ही की कथाएँ समानान्तर चलने लगती हैं। उधर रावण देव लोक, गंधर्वलोक, नागलोक, यक्ष लोक आदि पर विजय प्राप्त कर रहा था और इधर कैकेयी के हठ के फलस्वरूप राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास की आज्ञा हो चुकी थी। राम इस अवधि को पूर्ण करने के लिए वन-वन भटक रहे थे। इसी समय रावण की भगिनी सूर्पनखा के माध्यम से राम रावण की समानान्तर चलती हुई कथाओं में संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। यह संघर्ष भयंकर युद्ध का रूप धारण कर लेता है। रावण राम की पत्नी सीता का हरण करता है और राम ससैन्य उस पर आक्रमण। अंत में घनघोर संग्राम के पश्चात् राम रावण का वध कर अपनी पत्नी सीता को प्राप्त करते हैं। यही प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा है।

इसमें आधिकारिक कथा राम और रावण की है। प्रासंगिक पताका और प्रकरी एवं अप्रासंगिक कथाओं की प्रस्तुत उपन्यास में भरमार है। इसमें प्रागैतिहासिक कालीन देव, दैत्य, दानव, असुर, किन्नर, गन्धर्व, आर्य, अनार्य आदि की सांस्कृतिक गति विधियों को विभिन्न कथा सूत्रों में पिरोने का प्रयत्न किया गया है। इसी कारण से इसमें राम रावण की आधिकारिक कथा के साथ-साथ मत्स्य वाराहों द्वारा धरती का उद्धार, देवासुर-संग्राम, तारकामय दाशराज-संग्राम, सम्बर-संग्राम आदि की कितनी ही अप्रासंगिक कथायें बलात् लाई गई हैं। कितनी ही इसमें ऐसी भी कथायें हैं जिनका अपरोक्ष रूप से रावण की आधिकारिक कथा से सम्बंध स्थापित किया गया है। रावण के प्रथम अभियानों का विस्तृत विवरण देकर कितनी ही प्रासंगिक कथाओं को एक में समेटने का प्रयत्न अवश्य किया गया है किन्तु तो भी अनेक ऐसी प्रासंगिक कथायें रह गई हैं। जिनका मूल कथा से किसी प्रकार का सम्बंध स्थापित नहीं हो सका। जैसे मनु-भरत, मत्स्य, वरुण, ब्रह्मा, आदित्य, दैत्य-मानव, देवासुर संग्राम आदि अध्यायों की कथायें।

---

1 वयं रक्षामः पृ १६०।

इसमें कथा रावण के चरित्र के चारों ओर चक्कर काटती हुई अन्त तक चली है इसमें कितने ही कथासूत्र बिखर गए हैं। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ ऐसे भी चरित्रों का समावेश हुआ है जो भारत भूमि मध्य एशिया अरब अफ्रीका और पूर्वी द्वीपसमूह तक फैले हुए हैं। इससे कथा और भी बिखर सी गई है। इसमें कथा की एकसूत्रात्मकता तो समाप्त हो ही गई है साथ ही खाद्य पदार्थों शृंगार-सज्जा सामग्री अस्त्र-शस्त्र के नामों एवं प्राचीन राजाओं की वंशावलियों के विवरणों के आधिक्य के कारण कथा की रोचकता को भी महान् आघात लगा है। मेरा अपना विश्वास है कि यदि आचार्य जी इस विवरणात्मक और अप्रासंगिक सामग्री को मूल कथा से निकाल कर भाष्य में दे देते तो निश्चित रूप से प्रस्तुत उपन्यास की कथा की कलात्मक महत्ता द्विगुणित हो गई होती। इतना होने पर भी कुछ अंशों को छोड़कर कथाकार अंत तक कथा को सरस एवं रोचक बनाये रखने में पूर्ण सफल रहा है।

जैसा कहा जा चुका है प्रस्तुत उपन्यास का मुख्य कथानक अत्यन्त प्राचीन है। राम-रावण की कथा ही उसके मूल में है जिसे आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आज तक के कवियों ने अपनी कथा का माध्यम बनाया है। इतनी प्रचलित कथा को उठाने पर भी उपन्यासकार ने इसे नितांत मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसने स्वयं कहा है इस उपन्यास में प्राग्वेदकालीन नर, नाग देव दैत्य दानव आर्य अनार्य आदि विविध नृवंशों के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखाचित्र हैं जिन्हें धर्म के रंगीन शीशे में देखकर सारे संसार ने उन्हें अंतरिक्ष का देवता मान लिया था। मैं इस उपन्यास में उन्हें नर-रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूँ। 'वयं रक्षाम' एक उपन्यास तो अवश्य है परंतु वास्तव में वह वेद पुराण दर्शन और वैदेशिक इतिहास-ग्रंथों का दुस्सह अध्ययन है।[1] प्रस्तुत उपन्यास की इस विशेषता के साथ-साथ इसकी यह मौलिकता भी उल्लेखनीय है कि इसमें राम-कथा को एक नवीन दृष्टिकोण से देखा गया है। आज तक के महाकाव्यों में केवल राम परिवार का आश्रय लेकर कथा विकसित हुई थी किन्तु इसमें आधिकारिक कथा रावण के परिवार की है। बंग कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनादवध' का प्रभाव प्रस्तुत कथा पर स्पष्ट है किन्तु दोनों का दृष्टिकोण एकदम भिन्न है। इसमें 'उपन्यासकार ने वेद पुराण दर्शन ब्राह्मण और इतिहास की भ्रान्तियों की एक बड़ी सी गठरी बाँधकर इतिहास रस में एक डुबकी दे दी है। उसको इतिहास रस में रंग दिया

१ वयं रक्षाम: पूर्व निवेदन पृ ४।

है। फिर भी यह इतिहास रस का उपन्यास नहीं 'अतीत रस' का उपन्यास है। इतिहास रस का तो इसमें केवल पुट है स्वाद है अतीत रस का।[1]

इस उपन्यास के शिथिल हो जाने का एक कारण और है। उपन्यासकार ने इसमें प्रासंगिक और अप्रासंगिक कथाओं के माध्यम से तत्कालीन धार्मिक सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का विस्तार से विवरण देने का प्रयत्न किया है। यह सत्य है कि प्रस्तुत कथानक के माध्यम से उपन्यासकार उस युग समाज तथा संस्कृति का आभास देने में पूर्ण सफल रहा है किन्तु इस सफलता के लिए उसे कथानक के सुगठन का बलिदान करना पड़ा है।

प्रस्तुत कथा में कई स्थानों पर नाटकीय मोड़ हैं। उदाहरण के लिए 'बाणे पुष्पमासमेत्' 'असुर का विक्रम' आदि अध्यायों को लिया जा सकता है। किन्तु इसमें भी 'अति नाटकीयता' नहीं आने पाई है। कथा कुछ अंशों को छोड़कर आदि से अंत तक अपने ही पैरों पर चलती है किन्तु जहाँ पर प्रचलित कथानकों को बलात् मोड़ने का प्रयत्न किया गया है वहाँ कथा असंभाव्य भी एवं अस्वाभाविक हो गई है। उदाहरण के लिए 'सागर-तरण' 'पराक्रम का मंथन' 'धूर्जटि के सान्निध्य में' आदि अध्यायों को ले सकते हैं। उपन्यासकार ने सभी तथ्यों को बुद्धिसंगत बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है किन्तु इन्द्रजीत के पराक्रम प्रसंग में वह 'मेघनाद वध' से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण इस संतुलन का निर्वाह नहीं कर सका है। कहीं-कहीं प्रसंग अतिरंजित हो गए हैं जिससे कथा के सूत्र टूटे-टूटे से दीख पड़ते हैं। उपन्यासकार ने अपनी पूर्ण प्रतिभा का उपयोग कथा को यथासम्भव औचित्यपूर्ण एवं बुद्धिसंगत बनाने में ही कर दिया है। कथा के बीच-बीच में आए हुए लम्बे-लम्बे वार्तालाप इसी बात के साक्षी हैं। इससे कथा के क्रम को ही आघात पहुँचा हो किन्तु इन प्रसंगों का समावेश कथाकार ने सम्भावना एवं औचित्य के निर्वाह के लिए ही किया है। बहुत संभव है तुलसी की भाँति प्रस्तुत के मान की रक्षा भी उद्देश्य रहा हो।

जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है कि प्रस्तुत कथा-वस्तु अति प्राचीन है और कितने ही महान् ग्रंथों की रचना इसी कथा को आधार बनाकर हो चुकी है। अब देखना यह है कि प्रस्तुत उपन्यास किस सीमा तक अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं से प्रभावित है? इस उपन्यास पर वाल्मीकि रामायण के 'उत्तरकांड' माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध' का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। कथा की रूपरेखा उसे प्रस्तुत करने का ढंग आदि उपन्यासकार के अपने हैं। परिवर्तन

---

१ वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ ४५।

विशिष्ट स्थल तो पूर्णरूप से उपरोक्त दोनों ग्रंथों के आधार पर ही लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए 'रथींद्र का अभिगमन'[1] मेघनाद-अभिषेक[2] 'धूर्जटि के सानिध्य में'[3] 'अभिसार'[4] 'समागम'[5] रथीन्द्र-वध[6] आदि अध्यायों को ले सकते हैं जो मेघनाद-वध' के षष्ठ और सप्तम सर्ग से बहुत कुछ प्रभावित हैं। कोई कोई अंश तो दोनों में एक से दीख पड़ते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ हम केवल एक तुलना देते हैं–

'झनकार तथा चरणों की झनझनाहट सुन रथीन्द्र मेघनाद ने चौकन्ना होकर नेत्र खोल सौमित्र की सौम्य मूर्ति को देखा। उसने समझा प्रसन्न हो भगवान् वैश्वानर ने ही प्रत्यक्ष दर्शन देने का अनुग्रह किया है। उसने उठकर, दूर ही से भूतल में गिर, साष्टांग प्रणाम कर बद्धांजलि हो कहा— 'देव वैश्वानर, यह दास मात्र आपकी आराधना कर रहा है क्या इसीलिए आपने इस रूप में प्रकट होकर दास पर अनुग्रह किया है ? हे देव मैं आपको प्रणाम करता हूँ'

सौमित्र खड्ग लिए आगे बढ़े। मेघनाद ने पीछे हटते हुए कहा– 'ठहर तू यदि सत्य ही रामानुज लक्ष्मण है तो मैं अभी तेरी युद्ध कामना पूरी करता हूँ।' 'तब तक मेरा आतिथ्य ग्रहण कर। मैं तनिक वीर–साज सज लूँ शस्त्र ले लूँ।

लक्ष्मण ने गरज कर कहा "अरे मूढ़

चौंककर, बंद आँखें खोलकर सहसा देखा बली रावणि ने देवाकृति सामने तेजस्वी-महारथी हो उदय तरणि ज्यों अंशुमाली !

करके प्रणाम पड़ पृथ्वी में हाथ जोड़ बोला तब वासव विजेता यों– 'पूजा शुभयोग में है आज है विभाव सो किंकर ने तुमको उसी तो प्रभो तुमने करके पदार्पण पवित्र किया लंका को।

रौद्रमूर्ति दाशरथि बोले वीर-दर्प से— 'पावक नहीं मैं देख रावणि निहार के। लक्ष्मण है नाम मेरा जन्म रघु-कुल में। मारने को सुर-सिंह तुमको समर में आया हूँ यहाँ मैं अविलम्ब मुझे युद्ध दे।"

विस्मय से बोला बली "सत्य ही जो तुम हो रामानुज तो हे रथि किस छल से कहो राक्षसराज-पुर में घुसे हो तुम।

'रामानुज लक्ष्मण हो यदि तुम सत्य ही तो हे महाबाहो मैं तुम्हारी रण—लालसा मिटूँगा अवश्य वीर

---

१ वयं रक्षाम अध्याय १०८।
२ वयं रक्षाम अध्याय १ ९।
३ वयं रक्षाम अध्याय १११।
४ वयं रक्षाम अध्याय ११२।
५ वयं रक्षाम अध्याय ११४।
६ वयं रक्षाम अध्याय ११८।

बाण व जाल में फँसने पर क्या किरात उसे छोड़ देता है। मैं तुझे इसी क्षण निरस्त्र वध करूँगा।

मेघनाद ने क्रुद्ध होकर कहा— 'अरे, अधम मानव निरस्त्र शत्रु पर आघात करना वीरकुल की मर्यादा नहीं। तूने चोर की भाँति मेरे मंदिर में प्रवेश किया। ठहर, मैं तुझे चोर ही की भाँति दण्ड दूँगा।" उसने एक गुरु पाषाण उठाकर लक्ष्मण के सिर पर दे मारा। आदि'[1]

युद्ध में मरता। कभी होता है विरत इंद्रजित रण-रंग से। सज लूँ जरा मैं वीर-साज से।"

बोले तब लक्ष्मण गम्भीर घन-घोष से "छोड़ता किरात है क्या पा के निज जाल में बाघ को अबोध ? अभी वैसे ही करूँगा मैं तेरा वध।"

बोला तब इंद्रजित "क्षत्र-कुल का है तू कलंक तुझे धिक है।

लक्ष्मण। नहीं है तुझे लज्जा किसी बात की मूँद लेगा कान वीर-वृन्द घृणा करके सुनकर तेरा नाम।

अरघा उठाकर तुरंत महावीर ने मारा घोरनादयुक्त लक्ष्मण के भाल में।"[2]

इसके अतिरिक्त भी कई अन्य स्थानों पर उपन्यासकार 'मेघनाद वध' से प्रभावित हुआ है। जिन स्थानों पर उपन्यासकार माइकेल से प्रभावित है, वे स्थान प्रभावशाली नहीं रह पाये हैं। उनके चरित्रों का विकास उन स्थानों पर स्वतंत्र रूप से नहीं हो सका है। 'मेघनाद वध' से 'षष्ठ सर्ग' का पूर्ण रूपेण अनुकरण करने से इसके उत्तरार्ध में भी वही दोष आ गये हैं जो 'मेघनाद वध' में थे। 'मेघनाद वध' के षष्ठ सर्ग के विषय में श्री युत योगीन्द्रनाथ वसु ने कहा था 'मेघनाद वध' का षष्ठ सर्ग ही सारे काव्य में सबसे निकृष्ट है। मधुसूदन जिस कारण से इस सर्ग की इस प्रकार रचना करने के भ्रम में पड़े हैं उसके दो कारण थे। पहला कारण राक्षस-वंश पर उनकी अत्यधिक सहानुभूति है (आचार्य जी भी राक्षस जगदीश्वर के तेज से अत्यधिक प्रभावित थे) और दूसरा कारण वाल्मीकि को छोड़कर होमर को आदर्श रूप मानकर उनका अनुकरण की चेष्टा है। राक्षस वीरों के वीरत्व ने मधुसूदन को ऐसा मुग्ध कर लिया था कि इसके प्रतिपक्षी भी वीर हैं इसे वे एक बार ही भूल गए थे। —'साहबार' लक्ष्मण

१ वयं रक्षामः पृ ७०९ १० ।

२ मेघनाद वध—माइकेल मधुसूदनदत्त अनुवादक—मधुप षष्ठ सर्ग पृ १०८ १८९ तक।

उनके द्वारा विजयी महावीर की न्याययुद्ध में वध करें कवि के लिए यह मानों असह्य था। इसी से उन्होंने लक्ष्मण को एक बालिका की अपेक्षा भी दुर्बल बना डाला। नायक का गौरव बढ़ाने के लिए प्रतिनायक को भी गौरव युक्त रखना पड़ता है जान पड़ता है मेघनाद वध के कवि को इस बात का भी स्मरण नहीं रहा है। जिन स्थलों पर आचार्य जी ने "मेघनाद वध" का अनुकरण किया है वहाँ निश्चित रूप से यही दोष उनके उपन्यास में भी उभर आया है किन्तु जहाँ उन्होंने अपनी कल्पना से वाल्मीकि रामायण एवं "मेघनाद वध" की कथाओं का समन्वय प्रस्तुत किया है अथवा किसी नवीन घटना की उद्भावना की है वहाँ पर निश्चित रूप में उन्हें सफलता प्राप्त हुई है। ऐसे ही स्थलों पर उनकी प्रतिभा निखर आई है। नवीन उद्भावनाओं की दृष्टि से इसी कारण से प्रस्तुत उपन्यास का पूर्वार्ध अधिक सफल रहा है यद्यपि कथा संगठन की दृष्टि से उत्तरार्ध अधिक सुगठित है।

प्रस्तुत कथा वस्तु के संगठन में उपन्यासकार ने दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य कितने ही प्राचीन ग्रंथों का आश्रय लिया है। उपन्यासकार का गंभीर अध्ययन उसके तीन सौ पृष्ठों के भाष्य से प्रकट होता है। उसने स्वयं कहा है उपन्यास में व्याख्यात तत्वों की विवेचना मुझे उपन्यास में स्थान-स्थान पर करनी पड़ी है। मेरे लिए दूसरा मार्ग था नहीं। फिर भी प्रत्येक तथ्य की सप्रमाण टीका के बिना मैं अपना बचाव नहीं कर सकता था। अतः ढाई सौ पृष्ठों (यद्यपि हो तीन सौ पृष्ठों का गया है) का भाष्य भी मुझे अपने इस उपन्यास पर रचना पड़ा।[1] वास्तव में उस भाष्य से और प्रस्तुत कथानक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक ने सब वेद पुराण दर्शन ब्राह्मण और इतिहास ग्रंथों को निचोड़ कर एक ही भाजन में भर दिया है जिससे कि यह उपन्यास से अधिक इन प्राचीन ग्रंथों का व्याख्या ग्रंथ बन गया है।

जहाँ तक प्रस्तुत उपन्यास की ऐतिहासिकता का प्रश्न है मैं नहीं समझ पाता कि इसे इतिहास कहूँ या उपन्यास। स्वयं उपन्यासकार ने लिखा है[2] "वयं रक्षाम की गणना अब तक प्रचलित उपन्यासों की श्रेणी में नहीं की जा सकती। कथा की दृष्टि से इसमें रावण की कथा है चरित्र सम्बन्धी नहीं सांस्कृतिक प्रयास की वास्तव में यह रामचरित का विपर्यय है और उसकी पृष्ठभूमि में

१ मेघनाद वध—माइकेल मधुसूदनदत्त अनुवादक—'मधुप' परिचय और आलोचना पृ १२१-२७।
२ वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ ४।

देव, दानव, दैत्य तथा तत्कालीन जातियों से जीवित संपर्क है।[1] उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास की ऐतिहासिकता प्रदर्शित करने के लिए लगभग तीन सौ पृष्ठों का एक भाष्य भी प्रस्तुत किया है, जिसमें उक्त उपन्यास की लगभग प्रत्येक प्रमुख घटना की ऐतिहासिकता पर विचार किया है। आचार्य जी ने प्रस्तुत उपन्यास को 'इतिहास रस' का नहीं वरन् 'अतीत रस' का मौलिक उपन्यास माना है।[2] वास्तव में इसमें प्राग्वेदकालीन जातियों के सम्बन्ध में सर्वथा अकल्पित-अतर्कित नई स्थापनाएं हैं, मुक्त सहवास है, विवस्त्र विचरण है, हरण और पलायन है। शिश्न देव की उपासना है, वैदिक-अवैदिक अद्भुत मिश्रण है। नरमांस की खुले बाजार में बिक्री है, नृत्य है, मद है, उन्मुक्त अनावृत यौवन है।[3] इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास के विषय का खूब अध्ययन कर और प्रमाणों की धूमधाम रचकर आचार्य चतुरसेन जी अग्रसर हुए हैं। जिससे 'इतिहास रस' पर 'ऐतिहासिक-सत्य' (यहां 'अतीत रस' पर अतीत-सत्य) हावी हो गया है जिससे यह उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास न होकर तत्कालीन संस्कृति का इतिहास अधिक हो गया है किन्तु तो भी इसकी भनक अतीत की स्मृतियों जैसा चित्र बड़े सजीव और उभरे हुए हैं। तात्पर्य यह कि प्रस्तुत उपन्यास का कथानक भी अतीत के इतिहास के बीच में उलझता अवश्य रहा है, किन्तु यह इतिहास का आवरण इतना स्थूल हो गया है कि कथानक पूर्णरूप से उभर नहीं पाया है जिससे 'अतीत-रस' का पूर्ण

---

१ वातायन पृ २९१।

२ वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ ४२।

३ वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ २। उपन्यासकार ने इसके अतिरिक्त भी लिखा है इस उपन्यास में प्राग्वेदकालीन नर, नाग, देव, दैत्य, दानव, आर्य, अनार्य आदि विविध नृवंशों के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखा चित्र हैं, जिन्हें धर्म के रंगीन शीशे में देखकर सारे संसार ने उन्हें अंतरिक्ष का देवता मान लिया था। मैं इस उपन्यास में उन्हें नर रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूं। 'वयं रक्षामः' एक उपन्यास तो अवश्य है परन्तु वास्तव में वह वेद पुराण दर्शन और वैदेशिक इतिहास ग्रन्थों का दुस्सह अध्ययन है।...... संक्षेप में मैंने सब वेद पुराण दर्शन ब्राह्मण और इतिहास के प्राणों की एक बड़ी सी गठरी बांधकर इतिहास रस में एक डुबकी दे दी है। सबको इतिहासरस में रंग दिया है। फिर भी यह इतिहास रस का उपन्यास नहीं अतीत रस का उपन्यास है। इतिहास रस का तो इसमें केवल रंग है, स्वाद है अतीत रस का। वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ ४५।

संचार नहीं हो पाया है। हाँ ऐतिहासिक तथ्यों के जमघट के कारण उपन्यास में ऐतिहासिकता निश्चित रूप से उभरी हुई है।

इस युग से सम्बन्धित हिंदी में तथा भारत की विभिन्न भाषाओं में अन्य कितने ही उपन्यास प्राप्त हैं। भगवत शरण उपाध्याय के संघर्ष सपेरा गर्जन रांगेय राघव का मुर्दों का टीला वृन्दावन लाल वर्मा के 'भुवन-विक्रम' एवं राहुल की 'वोल्गा से गंगा' की कुछ आरम्भिक कहानियों में प्रागैतिहासिक युग का ही चित्रण प्राप्त होता है किन्तु इनमें से 'भुवन-विक्रम' को छोड़कर अन्य उपन्यासों में व्याख्यात्मकता से कथात्मकता ही अधिक है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि 'वयं रक्षाम' में कथा पर विद्वत्ता हावी हो गई है। मुंशी का 'भगवान् परशुराम' भी इसी काल से सम्बन्धित उपन्यास है किन्तु उसमें भी कथाकार कथाकार ही रहा है, इतिहासकार बनने की उसने कहीं भी चेष्टा नहीं की है। हाँ इस उपन्यास में भी 'वयं रक्षाम' के समान ही कुछ चरित्रों में अलौकिकता अवश्य आ गई है। उदाहरण के लिए हम गुरुनाथ अघोरी के चरित्र को ले सकते हैं। चाहे आचार्य जी हों चाहे भगवतशरण उपाध्याय हों और चाहे गुजराती के कथा-शिल्पी मुंशी और धूमकेतु हों पौराणिक संस्कारों के कारण पौराणिकता को वे पूर्णरूप से नहीं त्याग पाये हैं।

गोली

प्रस्तुत उपन्यास आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया है। कथा का व्यावहारिक आरम्भ प्रधान पात्री चम्पा के अपनी स्वयं की कथा लिखने से होता है। वह कथा के प्रारम्भ में ही कहती है 'मैं जन्म-जात अभागिन हूँ। स्त्री जाति का कलंक हूँ। स्त्रियों में अधम हूँ। परन्तु मैं निर्दोष हूँ निष्पाप हूँ। मेरा दुर्भाग्य मेरा अपना नहीं है मेरी जाति का है। जाति-परम्परा का है। हम पैदा ही इस लिए होती हैं कि कलंकित जीवन व्यतीत करें।'[1] इस प्रारम्भ से ही पाठक की सहज उत्सुकता जाग्रत हो जाती है। प्रधान कथा चम्पा के जीवन के साथ ही चलने लगती है। वह अपने जीवन की प्रायः सभी प्रधान घटनाओं की ओर संकेत प्रथम अध्याय 'जन्म-जात कलंकिनी' में ही कर देती है। अब यह सभी कथाएं अपने परिपार्श्व में एक रहस्य को समेटे, जिज्ञासा वृत्ति को जगाती धीमे धीमे गतिशील होने लगती है। कथा के कुछ ही चलने पर यह स्पष्ट होने लगता है कि यह एक ऐसी स्त्री की आत्मकथा है जो स्त्री होते हुए भी अन्य स्त्रियों से भिन्न है जो एक राजा की पर्यंकशायिनी होने पर भी उसकी रानी नहीं है उसकी

---

१ गोली पृ १।

विवाहिता पत्नी नहीं है। उस राजा के औरस उसके पाँच सन्तानें हुईं पर वह उसका पिता न था पिता था उसका पति जिसका कर-स्पर्श उसने केवल एक बार जब वह पन्द्रह वर्ष की थी विवाह-मण्डप में किया था। किंचित मात्र कथा के और विकसित होते ही पाठक को ज्ञात हो जाता है कि यह एक 'गोली' की आत्मकथा है जिन्हें स्त्री होते हुए भी भेड़ बकरियों के रेवड़ की भाँति बेचा जा सकता था। दहेज में दान दिया जा सकता था दहेज में आकर इन गोलियों को उस राजपूत कन्या के पति की उप-पत्नी या रखैल की भाँति रहना पड़ता था किन्तु उनका विवाह उनकी ही जाति के किसी गोले से कर दिया जाता था। पर यह विवाह केवल इसलिए होता था कि वह दासी की संतान का केवल वैधानिक पिता बन जाय। पति से पत्नी का गोले से गोली का शरीर सम्बन्ध प्रायः नहीं हो पाता था। वे उस राजपूत की पर्यंकशायिनी होती थीं किन्तु पत्नी होती थीं गोले की। इस प्रकार न पति का पत्नी पर अधिकार था, न पत्नी का पति पर। उनका अपनी सन्तानों पर भी कोई अधिकार न था और न वे कोई अपनी निजी सम्पत्ति ही रख सकती थी। राजस्थान विलय के समय इस जाति के ६० हजार से भी अधिक गोले-गोलियाँ राजाओं और ठाकुरों के रनवासों में उनकी स्वेच्छाचारिता और विलास-वासना का शिकार बने हुए थे। इस 'विगत इतिहास' का परिचय कराती हुई चम्पा की आत्मकथा धीरे धीरे अग्रसर होती है। अपने सम्पूर्ण जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालकर उपन्यास की नायिका अब एक-एक कथा-सूत्र को खोलना आरम्भ कर देती है। कथा ठिठक कर पीछे लौट आती है। चम्पा के शैशव काल की कथाओं उसके पारिवारिक विवरणों को समेटती हुई कथा अत्यन्त क्षिप्रगति से अग्रसर होती है। 'महाराजाधिराज' से परिचय होने के पश्चात् चम्पा का व्यक्तित्व धीरे धीरे उन्हीं के व्यक्तित्व में विलीन होने लगता है। यद्यपि चम्पा उनकी विवाहिता पत्नी नहीं है वह केवल दहेज में मिली एक गोली मात्र है। किन्तु तो भी वह महाराज की पटरानियों के ऊपर पाँव धरती है। चम्पा कुंवरी के विवाह में प्राप्त की गई एक गोली है। महाराजाधिराज विवाह करके कुंवरी को लाते हैं किन्तु प्रथम रात्रि में ही वह अपनी नव-विवाहिता पत्नी को छोड़कर विवाह में मिली गोली चम्पा के पास मे जा पहुँचते हैं। कुंवरी भी एक ठाकुर की बेटी थी, फिर भला उसे यह अपमान कैसे सहन होता? विवाहिता पत्नी को ठुकराकर नीच गोली का सम्मान? असह्य! वह उसने पिता के अधीन अपने इस अपमान का [illegible] भेज देती है। तथा स्वयं एकान्त में जा बैठती है। महाराजाधिराज से भी वह मिलना अस्वीकार कर देती है। महाराजाधिराज से अपनी बेटी के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए कुंवरी

उभार नहीं हो पाया है। हाँ, ऐतिहासिक तथ्यों के जमघट के कारण उपन्यास में ऐतिहासिकता निश्चित रूप से उभरी हुई है।

इस युग से सम्बन्धित हिंदी में तथा भारत की विभिन्न भाषाओं में अन्य कितने ही उपन्यास प्राप्त हैं। भगवत शरण उपाध्याय के संघर्ष सबेरा गर्जन रांगेय राघव का मुर्दों का टीला वृन्दावन लाल वर्मा के 'भुवन-विक्रम" एवं राहुल की "वोल्गा से गंगा' की कुछ आरम्भिक कहानियों में प्रागैतिहासिक युग का ही चित्रण प्राप्त होता है, किन्तु इनमें से 'भुवन विक्रम' को छोड़कर अन्य उपन्यासों में व्याख्यात्मकता से कथात्मकता ही अधिक है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि 'वयं रक्षाम' में कथा पर विद्वत्ता हावी हो गई है। मुंशी का 'भगवान् परशुराम' भी इसी काल से सम्बन्धित उपन्यास है किन्तु उसमें भी कथाकार कथाकार ही रहा है, इतिहासकार बनने की उसने कहीं भी चेष्टा नहीं की है। हाँ इस उपन्यास में भी 'वयं रक्षाम' के समान ही कुछ चरित्रों में अलौकिकता अवश्य आ गई है। उदाहरण के लिए हम भूतनाथ अघोरी के चरित्र को ले सकते हैं। चाहे आचार्य जी हों चाहे भगवतशरण उपाध्याय हों और चाहे गुजराती के कथा-शिल्पी मुंशी और धूमकेतु हों पौराणिक संस्कारों के कारण पौराणिकता को वे पूर्णरूप से नहीं त्याग पाये हैं।

गोली

प्रस्तुत उपन्यास आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया है। कथा का व्यावहारिक आरम्भ प्रधान पात्री चम्पा के अपनी स्वयं की कथा लिखने से होता है। वह कथा के प्रारम्भ में ही कहती है 'मैं जन्म-जात अभागिन हूँ। स्त्री जाति का कलंक हूँ। स्त्रियों में अधम हूँ। परन्तु मैं निर्दोष हूँ निष्पाप हूँ। मेरा दुर्भाग्य मेरा अपना नहीं है, मेरी जाति का है। जाति-परम्परा का है। हम पैदा ही इस लिए होती हैं कि कलंकित जीवन व्यतीत करें।'[1] इस प्रारम्भ से ही पाठक की सहज उत्सुकता जाग्रत हो जाती है। प्रधान कथा चम्पा के जीवन के साथ ही चलने लगती है। वह अपने जीवन की प्राय सभी प्रधान घटनाओं की ओर संकेत प्रथम अध्याय 'जन्म-जात कलंकिनी' में ही कर देती है। अब यह सभी कथाएं अपने परिपार्श्व में एक रहस्य को समेटे जिज्ञासा वृत्ति को जगाती चलीं शनै गतिशील होने लगती है। कथा के कुछ ही चलने पर यह स्पष्ट होने लगता है कि यह एक ऐसी स्त्री की आत्मकथा है जो स्त्री होते हुए भी अन्य स्त्रियों से भिन्न है जो एक राजा की पर्यंकशायिनी होने पर भी उसकी पत्नी नहीं है उसकी

---

१ गोली पृ ९।

विवाहिता पत्नी नहीं है। उस राजा के औरस उसके पाँच सन्तानें हुईं पर वह उसका पिता न था पिता था उसका पति, जिसका कर-स्पर्श उसने केवल एक बार जब वह पन्द्रह वर्ष की थी, विवाह-मण्डप में किया था। किंचित मात्र कथा के और विकसित होते ही पाठक को ज्ञात हो जाता है कि यह एक 'गोली' की आत्मकथा है जिन्हें स्त्री होते हुए भी भेड़ बकरियों के रेवड़ की भाँति बेचा जा सकता था। दहेज में दान दिया जा सकता था वहाँ से आकर उन गोलियों को उस राजपूत कन्या के पति की उप-पत्नी या रखैल की भाँति रहना पड़ता था किन्तु उनका विवाह उनकी ही जाति के किसी गोले से कर दिया जाता था। पर वह विवाह केवल इसलिए होता था कि वह गोली की संतान का केवल वैधानिक पिता बन जाय। पति से पत्नी का योन से गोली का शरीर सम्बन्ध प्राय नहीं हो पाता था। वे उस राजपूत की पर्यंकशायिनी होती थीं किन्तु पत्नी होती थीं गोले की। इस प्रकार न पति का पत्नी पर अधिकार था न पत्नी का पति पर। उनका अपनी सन्तानों पर भी कोई अधिकार न था और न वे कोई अपनी निजी सम्पत्ति ही रख सकती थीं। राजस्थान विलय के समय इस जाति के ६० हजार से भी अधिक दास-दासियाँ राजाओं और ठाकुरों के रनवासों में उनकी स्वेच्छाचारिता और विलास-वासना का शिकार बने हुए थे। इस 'भिन्न इतिहास' का परिचय कराती हुई चम्पा की आत्मकथा धीरे धीरे अग्रसर होती है। अपने सम्पूर्ण जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालकर उपन्यास की नायिका अब एक-एक कथा-सूत्र को खोलना प्रारम्भ कर देती है। कथा फिर कर पीछे लौट आती है। चम्पा के शैशव काल की कथाओं उसके पारिवारिक विवरणों को समेटती हुई कथा अत्यन्त क्षिप्रगति से अग्रसर होती है। 'महाराजाधिराज' से परिचय होने के पश्चात् चम्पा का व्यक्तित्व धीरे धीरे उन्हीं के व्यक्तित्व में विलीन होने लगता है। यद्यपि चम्पा उनकी विवाहित पत्नी नहीं है वह केवल दहेज में मिली एक गोली मात्र है। किन्तु तो भी वह महाराज की [illegible] के ऊपर पहुँच जाती है। चम्पा कुंवरी के विवाह में [illegible] है। महाराजाधिराज विवाह करके कुंवरी को लाते हैं किन्तु प्रथम [illegible] अपनी नव-विवाहिता पत्नी को छोड़कर विवाह में मिली [illegible] जा पहुँचते हैं। कुंवरी भी एक ठाकुर की बेटी थी [illegible] कैसे सहन होता? विवाहिता पत्नी का छोड़कर [illegible] ने अपने पिता के यहाँ अपने इस [illegible] में जा बैठती है। महाराजाधिराज [illegible] है। महाराजाधिराज न अपनी बड़ी के [illegible]

के पिता मारे हैं किन्तु कुंवरी उन्हें शान्त कर देती है। विवाह के पश्चात् कुंवरी उन्नीस वर्ष जीवित रहती है किन्तु उसका फिर महाराजाधिराज से सम्बन्ध न हो सका। उसने अपने जीवन के यह उन्नीस वर्ष त्याग और तपस्या में ही व्यतीत कर दिये थे।

चम्पा का महाराजाधिराज से इक्कीस वर्ष तक सम्बंध रहा। जब प्रथम बार महाराजाधिराज से उसके गर्भ रहा उसी समय महाराजाधिराज ने उसका विवाह किसुन नामक एक गोले से कर दिया था। वह केवल नाम मात्र का पति था। वस्तुतः महाराज के औरस से उत्पन्न बच्चों का पिता कहलाने के लिए ही चम्पा का किसुन से विवाह किया गया था। इसी समय लाल जी खवास के चरित्र को आधार बनाकर एक नवीन सहायक कथा का जन्म होता है। इसके चम्पा की कथा से उलझते ही कथा में खिचाव उत्पन्न हो जाता है। चम्पा और लालजी खवास में शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। वह लालजी से महाराजाधिराज को चम्पा की ओर से विमुख करके चम्पा को राज्य से निष्कासित करने की योजना प्रारम्भ कर देता है। अन्त में वह अपने षड्यंत्र में सफल होता है। महाराजाधिराज चम्पा को त्याग देते हैं। केवल त्याग ही नहीं देते बरन् उसको समाप्त कर देने का भी षड्यंत्र करते हैं। किन्तु भंडा फूट जाता है और उसमें लालजी खवास रंगे हाथों पकड़ा जाता है। महाराजाधिराज इस घटना से चम्पा से प्रसन्न हो जाते हैं। उनकी आज्ञा से चम्पा को ड्योढ़ियों के नारकीय जीवन में डाल दिया जाता है। अब उसी के चारों ओर कथा चक्कर काटने लगती है। कथा ड्योढ़ियों के नारकीय जीवन की छोटी छोटी घटनाओं का वर्णन करती बड़ी से बड़ी विपदाओं का चित्रण करती अवरोधों का अतिक्रमण करती हुई अन्त तक पहुंचती है। कथा के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते महाराजाधिराज और किसुन की मृत्यु हो जाती है। अन्त में भारत स्वतंत्र होने के पश्चात् प्रधान पात्री चम्पा सब बन्धनों का अतिक्रमण कर ड्योढ़ियों के नारकीय वातावरण से मुक्ति पाकर अपने परिवार सहित स्वच्छन्द वातावरण में श्वास लेती है।

प्रस्तुत कथानक में विकास की लगभग सभी अवस्थाएँ प्राप्त हो जाती हैं। 'चारणों का प्रभाव' नामक अध्याय (अध्याय २) तक कथा के आरम्भ की अवस्था है। इसके पश्चात् ही 'यौवन की देहरी पर' (अध्याय ६) से मुख्य घटना की तैयारी की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। 'नए जीवन की राह पर' (अध्याय १२) तक आते आते मुख्य घटना निष्पत्ति की अवस्था आ जाती है। इसके पश्चात् ही विभिन्न भाव व्यापारों के पश्चात् कथानक में चरम प्रतिपात

प्रारम्भ हो जाते हैं। कुंवरी चम्पा, महाराजाधिराज किशुन आदि के चारों ओर कथानक घूमने लगता है। इसमें 'चरम-सीमा' और 'घात प्रतिघात' की अवस्थाएं दो बार प्रयुक्त हुई हैं। एक में सुख की चरम सीमा होती है तो दूसरे में दुःख की। 'घात प्रतिघात' की अवस्था भी दोनों बार चरम-सीमा के पूर्व आई है। इसमें भी चरम-सीमा के पश्चात् 'उपसंहार' का क्रम है।

प्रस्तुत उपन्यास में आधिकारिक कथा चम्पा की ही है। इस प्रधान कथा को गति प्रदान करने के लिए कितनी ही प्रासंगिक-पताका एवं प्रकरी-कथाएं भी स्वयं आ गई हैं। कुंवरी किशुन आदि की कथाएं पताका एवं बन्दर राजा, वासुदेव महाराज आदि की कथाएं प्रकरी की भाँति प्रयुक्त हुई हैं। कालजी कचास एवं गंगाराम भोजा की कथा प्रस्तुत कथानक में पताका-स्थानक का कार्य करती हैं।

कथा संगठन की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास का कथानक निर्दोष है। आचार्य जी के अन्य विशालकाय उपन्यासों-विशेषतया 'वैशाली की नगरवधू' 'वयं रक्षाम' 'सोना और खून'—के कथानकों में विस्तार का एवं अनावश्यक कलेवर-वृद्धि का जो दोष है, वह इसमें नहीं आ पाया है। इसमें उपन्यासकार में निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नहीं दीख पड़ती। यही कारण है कि प्रस्तुत कथा आदि से अंत तक असम्बद्ध स्वतः प्रवाहित है।

कथा कहीं भी संभावना के क्रम का उल्लंघन नहीं करने पाई है। कथा में पूर्ण विश्वसनीयता लाने के लिए बड़े ही रोचक ढंग से उपन्यासकार ने कथा का इस प्रकार अन्त किया है "मुझ अभागिन की पाप कथा समाप्त हो गई। अभी मेरा जीवन शेष है। " "किसी दिन आइए मेरे घर मेरे गुलाब देखने। देखिए और दाद दीजिए। " "लाल गुलाब तो प्रधान मंत्री नेहरू के लिए हैं। हर सोमवार को मैं और मेरी लड़की एक टोकरी लाल गुलाब लेकर प्रधान मंत्री के घर खूब भोर ही में पहुंच जाते हैं। बहुत खुश होते हैं वे मेरे फूलों से। मेरी दुःख-गाथा सुनकर वे आँखें गीली कर चुके हैं। पर अब तो देखते ही हंसते हैं। अब मेरी बेटी एक लाल कली अपने हाथ से उनकी शेरवानी में लगा देती है तो वे उसकी ठोड़ी पकड़कर चमका दुलार करते हैं। क्या कहूं, बिना चाय पिलाए जाने देते ही नहीं। "

कदाचित् किसी दिन आप मेरे यहाँ आएं, जब मन हो तभी आइए ४२० पृथ्वीराज रोड नई दिल्ली कृपया ४२० को न भूलिए।[1]

---

१ सोना-पृष्ठ ३४६ ४७।

कथा का प्रस्तुत अन्त उसमें यथार्थता का भ्रम उत्पन्न करने के लिए ही संजोया गया है किन्तु कुशल कथाकार ने अन्तिम वाक्य "रुपया ४२० को न भूलिए।" कहकर सतर्क पाठकों के हृदय में गुदगुदी भी उत्पन्न कर दी है। कथा को स्वाभाविक बनाने के लिए ही उपन्यासकार ने स्थान-स्थान पर आंचलिकता का पुट देने के लिए स्थानीय बोली के शब्दों का भी प्रयोग किया है।

उपन्यासकार ने पूर्ण तन्मयता एवं लगन के साथ कथा कही है। कथा में पूर्ण गतिमयता एवं रोचकता है। पाठक बिना प्रयास के ही पात्रों के साथ तादात्म्य कर लेता है। पात्र मुखोद्गारित आत्म-कथा के रूप में कही जाने के कारण उपन्यासकार पात्री के अन्तस् के रहस्य को उद्घाटन करने में पूर्ण सफल रहा है। इसमें रोचकता सम्पादन के लिए उपन्यासकार को बलात् अप्रत्याशित आकस्मिक अथवा अति नाटकीय घटनाओं की संयोजना नहीं करनी पड़ी है।

प्रस्तुत कथानक के माध्यम से कथाकार ने तत्कालीन राजस्थान की आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का भी सफल चित्रण प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह एक गोली की आत्मकथा है किन्तु तो भी इस कथानक में व्यक्तिगत भावनाओं के स्थान पर वर्गगत भावनाओं की प्रचुरता है। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत उपन्यास आत्मनिष्ठ कथाकार जैनेन्द्र एवं इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों से प्रेमचन्द के वर्गगत उपन्यासों के अधिक समीप है। वास्तव में इसमें आत्मनिष्ठता की भावनाओं के परिपार्श्व में एक समाज विशेष की व्यक्त एवं अव्यक्त भावनाओं को पिरोया गया है।

प्रस्तुत कथानक की सर्वप्रधान विशेषता इसकी मौलिकता है। हिंदी में यही प्रथम उपन्यास है जिसमें राजस्थान की इस प्रमुख समस्या पर प्रकाश डाला गया है। जैसा कहा जा चुका है राजस्थान विलय के समय ६० हजार से भी अधिक गोले-गोलियाँ राजाओं और ठाकुरों के रनवासों में उनकी स्वेच्छाचारिता और विलास-वासना का शिकार बने हुए थे। अब भी स्वतंत्र भारत में भी इन गोलियों का नितांत अभाव नहीं हो गया है। आज भी यह प्रथा गुप्त रूप से अथवा किसी अन्य रूप में चल रही है। इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रस्तुत उपन्यास एक क्रान्तिकारी रचना है। केवल विषय की नवीनता के कारण ही नहीं वरन् नवीन कल्पनाओं उद्भावनाओं कलात्मकता चित्रणों एवं कथा विन्यास की विशेषताओं के कारण भी प्रस्तुत कथानक मौलिक है। उपन्यासकार की यह बहुत बड़ी सफलता है कि उसने समाज के जिस क्षेत्र से कथानक का चुनाव किया है उसको सूक्ष्म दृष्टि से देखा समझा है। वह उस क्षेत्र विशेष की प्रत्येक

सम्भावनाओं, उसके प्रत्येक पहलुओं से पूर्ण रूप से अवगत है। यही कारण है कि वह अपनी बात को सशक्त एवं प्रखर रूप से प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल रहा है।

उदयास्त

कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ एक रियासत के राजा साहब के परिवार से होता है। सुरेश उसी रियासत के राजकुमार हैं। उनके पिता राजा साहब में राजाओं की सभी विशेषताएँ समाविष्ट हैं। प्रस्तुत कथा का विकास राजा साहब एवं मंगनू नाम के एक चमार के वाद-विवाद से होता है। मंगनू आधुनिक प्रगतिशील नवयुवकों का प्रतिनिधित्व करता है और राजा साहब रूढ़िवादी सामंतशाही का। सुरेश राजा साहब और मंगनू की मध्यस्थता करते हैं किन्तु समझौता कराने में असफल रहते हैं। दोनों में संघर्ष बढ़ने लगता है। कांग्रेस दल की सहायता से मंगनू राजा साहब के समक्ष आ डटता है। कथानक में घात प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्याशा की अवस्था तक आते-आते प्रस्तुत कथा एकदम मंद पड़ जाती है। उपन्यासकार प्रस्तुत कथा को यहीं छोड़ देता है। इसी के पश्चात् कुंवर सुरेशसिंह अपनी पत्नी को साथ ले दिल्ली भ्रमण को जाते हैं। प्रधान कथा उनके साथ ही साथ दिल्ली पहुँच जाती है और इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक दशाओं को प्रदर्शित करने वाली कितनी ही प्रासंगिक कथाएँ मूल कथानक के साथ सम्बद्ध हो गई हैं। प्रधान दिल्ली में आई सभी प्रासंगिक कथाओं को ज्यों का त्यों छोड़कर पुनः कुंवर सुरेश सिंह के साथ अपने पूर्व स्थान पर आकर अपनी पूर्वगति से चलने लगती है। मंगनू एवं राजा साहब वाली कथा पुनः प्रारम्भ हो जाती है। घात-प्रतिघात पुनः प्रारम्भ हो जाता है। कांग्रेस-दल की सहायता पाकर मंगनू ने राजा-साहब के विरुद्ध मान हानि का दावा कर दिया था साथ ही कांग्रेस ने उसे निर्वाचन में राजा-साहब के सामने खड़ा कर दिया था। अब कथानक को घात प्रतिघात चरम सीमा की ओर खींच ले आता है। कथानक चरम सीमा पर उस समय पहुँचता है जब राजा साहब मान हानि के दावे में मंगनू से पराजित होते हैं और जिसका आघात न सहन कर पाने के कारण उनकी मृत्यु हो जाती है। उपसंहार आदर्शवादी ढंग से किया गया है। कुंवर सुरेश की उदारता के समक्ष मंगनू को नत होना पड़ता है और अंत में वह कुंवर के साथ ही उनके फार्म पर कार्य करने लगता है।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास की आधिकारिक कथा राजा साहब सुरेश एवं मंगनू की है। कैम्पान एवं पद्मा सरला रमेश एवं नरेश आदि की कथाएँ

कथा का प्रस्तुत अंश उसमें यथार्थता का भ्रम उत्पन्न करने के लिए ही संजोया गया है किन्तु कुशल कथाकार ने अन्तिम वाक्य "कृपया ४२० को न भूलिए।" कहकर सतर्क पाठकों के हृदय में गुदगुदी भी उत्पन्न कर दी है। कथा को स्वाभाविक बनाने के लिए ही उपन्यासकार ने स्थान-स्थान पर आंचलिकता का पुट देने के लिए स्थानीय बोली के शब्दों का भी प्रयोग किया है।

उपन्यासकार ने पूर्ण तन्मयता एवं लगन के साथ कथा कही है। कथा में पूर्ण गतिमयता एवं रोचकता है। पाठक बिना प्रयास के ही पात्रों के साथ तादात्म्य कर लेता है। पात्र मुखोच्चारित आत्म-कथा के रूप में कही जाने के कारण उपन्यासकार पात्रों के अन्तस् के रहस्य को उद्घाटन करने में पूर्ण सफल रहा है। इसमें रोचकता सम्पादन के लिए उपन्यासकार को बलात् अप्रत्याशित आकस्मिक अथवा अति नाटकीय घटनाओं की संयोजना नहीं करनी पड़ी है।

प्रस्तुत कथानक के माध्यम से कथाकार ने तत्कालीन राजस्थान की आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का भी सफल चित्रण प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह एक गोली की आत्मकथा है किन्तु तो भी इस कथानक में व्यक्तिगत भावनाओं के स्थान पर वर्गगत भावनाओं की प्रमुखता है। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत उपन्यास आत्मनिष्ठ कथाकार जैनेन्द्र एवं इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों से प्रेमचन्द के वर्गगत उपन्यासों के अधिक समीप है। वास्तव में इसमें आत्मनिष्ठता की भावनाओं के परिपार्श्व में एक समाज विशेष की व्यक्त एवं अव्यक्त भावनाओं को पिरोया गया है।

प्रस्तुत कथानक की सर्वप्रधान विशेषता इसकी मौलिकता है। हिंदी में यही प्रथम उपन्यास है जिसमें राजस्थान की इस प्रमुख समस्या पर प्रकाश डाला गया है। जैसा कहा जा चुका है राजस्थान विलय के समय ६० हजार से भी अधिक दासी-गोलियाँ राजाओं और ठाकुरों के रनवासों में उनकी स्वेच्छाचारिता और विलास-वासना का शिकार बने हुए थे। अब भी स्वतंत्र भारत में भी इन गोलियों का नितांत अभाव नहीं हो गया है। आज भी यह प्रथा गुप्त रूप से अथवा किसी अन्य रूप में चल रही है। इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रस्तुत उपन्यास एक क्रान्तिकारी रचना है। केवल विषय की नवीनता के कारण ही नहीं वरन् नवीन कल्पनाओं उद्भावनाओं कलात्मकता चित्रणों एवं कथा विन्यास की विशेषताओं के कारण भी प्रस्तुत कथानक मौलिक है। उपन्यासकार की यह बहुत बड़ी सफलता है कि उसने समाज के जिस क्षेत्र से कथानक का चुनाव किया है उसको सूक्ष्म दृष्टि से देखा समझा है। वह उस क्षेत्र विशेष की, प्रत्येक

सम्भावनाओं, उसके प्रत्यक रहस्यों से पूर्ण रूप से अवगत है। यही कारण है कि वह अपनी बात को सशक्त एवं प्रखर रूप से प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल रहा है।

उदयास्त

कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ एक रियासत के राजा साहब के परिवार से होता है। सुरेश उसी रियासत के राजकुमार हैं। उनके पिता राजा साहब में राजाओं की सभी विशेषताएँ समाविष्ट हैं। प्रस्तुत कथा का विकास राजा साहब एवं मंगनू नाम के एक चमार के वाद-विवाद से होता है। मंगनू आधुनिक प्रगतिशील नवयुवकों का प्रतिनिधित्व करता है और राजा साहब रूढ़िवादी सामंतवादी का। सुरेश राजा साहब और मंगनू की मध्यस्थता करते हैं किन्तु समझौता कराने में असफल रहते हैं। दोनों में संघर्ष बढ़ने लगता है। कांग्रेस दल की सहायता से मंगनू राजा साहब के समक्ष आ डटता है। कथानक में घात प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्याशा की अवस्था तक आते-आते प्रस्तुत कथा एकदम मंद पड़ जाती है। उपन्यासकार प्रस्तुत कथा को यहीं छोड़ देता है। इसी के पश्चात् कुँवर सुरेशसिंह अपनी पत्नी को साथ ले दिल्ली भ्रमण को जाते हैं। प्रधान कथा उनके साथ ही साथ दिल्ली पहुँच जाती है और इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक दशाओं को प्रदर्शित करने वाली कितनी ही प्रासंगिक कथाएँ मूल कथानक के साथ सम्बद्ध हो गई हैं। प्रधान दिल्ली में आई सभी प्रासंगिक कथाओं को ज्यों का त्यों छोड़कर पुनः कुँवर सुरेश सिंह के साथ अपने पूर्व स्थान पर आकर अपनी पूर्वगति से चलने लगती है। मंगनू एवं राजा साहब वाली कथा पुनः प्रारम्भ हो जाती है। घात प्रतिघात पुनः प्रारम्भ हो जाता है। कांग्रेस-दल की सहायता पाकर मंगनू ने राजा-साहब के विरुद्ध मान हानि का दावा कर दिया था साथ ही कांग्रेस ने उसे निर्वाचन में राजा-साहब के सामने खड़ा कर दिया था। अब कथानक को घात प्रतिघात चरम सीमा की ओर तीव्र ले जाता है। कथानक चरम सीमा पर उस समय पहुँचता है जब राजा साहब मान हानि के दावे में मंगनू से पराजित होते हैं और जिसका आघात न सहन कर पाने के कारण उनकी मृत्यु हो जाती है। उपसंहार आदर्शवादी ढंग से किया गया है। कुँवर सुरेश की उदारता के समक्ष मंगनू को नत होना पड़ता है और अंत में वह कुँवर के साथ ही उनके पक्ष पर कार्य करने लगता है।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास की आधिकारिक कथा राजा साहब सुरेश एवं मंगनू की है। कैलाश एवं पद्मा सरला रमेश एवं रश्मि आदि की कथाएँ

मुख्य कथा में प्रासंगिक पताका का कार्य करती है। सुरुचि हरबक्स सिंह नवाब साहब आदि की कथायें मुख्य कथा में प्रकरी के समान प्रयुक्त हुई हैं। मुख्य कथा में करामत अली एवं राजा भैया की कथा का प्रयोग पताका-स्थानक के रूप में हुआ है। आनंद स्वामी की कथा केवल विचारों और सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए ही बलात् लाई गई है। इससे कथानक की कलात्मकता को भारी आघात पहुँचा है।

कथानक की घटनाएँ संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन नहीं कर पाई हैं। अधिकांश घटनाएँ लेखक की देखी हुई ज्ञात होती हैं तभी उनमें इतनी सजीवता एवं मार्मिकता आ पाई है। कुछ स्थानों के वर्णन ऐसे अवश्य हैं जिन्हें लेखक ने देखा नहीं है जैसे अशोक होटल का वर्णन। किन्तु यह कोई ऐसी त्रुटि नहीं है कारण होटल का काल्पनिक वर्णन भी किया जा सकता है।

उपन्यासकार कथानक की रोचकता का निर्वाह अंत तक करने में एक सीमा तक सफल रहा है। आनंद स्वामी के प्रचारात्मक लम्बे भाषणों ने कथा को बोझिल अवश्य बना दिया है किन्तु सिद्धांतों का दृष्टिकोण मौलिक एवं नवीन होने के कारण पाठक की उत्सुकता एवं कथानक की रोचकता न्यून नहीं होने पाती। रोचकता वृद्धि के लिए ही उपन्यासकार ने कितनी ही प्रासंगिक कथाओं की सृष्टि की है। नाटकीय ढंग से मंगतू के हृदय का परिवर्तन कुछ आदर्शवादी अवश्य हो गया है किन्तु न उससे कथानक की रोचकता ही नष्ट हो पाई है और न ही वह अपनी कथन शैली के कारण संभावना के क्षेत्र का ही उल्लंघन करने पाई है।

प्रस्तुत कथानक में युग देश एवं समाज का सफल चित्रण हुआ है। मंगतू की कथा नव जागरण का संदेश देती है। कैलाश-पद्मा पुरुषोत्तम सेठ एवं रेणुका सरला रमेश एवं रश्मि आदि की कथायें तत्कालीन देश की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को चित्रित करने के लिए प्रस्तुत कथानक में अनुस्यूत की गई हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में मानव जीवन की पूर्ण झाँकी तो नहीं है किन्तु उसकी भिन्न विविध अवस्थाओं का समावेश इसमें किया गया है वे अपने चित्रण की यथार्थता एवं सूक्ष्मता के कारण मार्मिक बन पड़ी हैं।

प्रस्तुत कथानक में उपन्यासकार ने एक समस्या को भी उठाया है। समस्या है छुआछूत ऊँच-नीच की भावना का अंत किस प्रकार किया जा सकता है।

प्रस्तुत कथानक के माध्यम से उपन्यासकार ने दिखलाया है कि छुआछूत का उन्मूलन मात्र अथवा प्रस्तावना से कभी नहीं किया जा सकता। आज युग परिवर्तित हो चुका है। अब चमार को चमार कह कर पुकारने में उसके हृदय को चोट में नहीं किया जा सकता वरन् आज उसके हृदय को जीतने के लिए भी हार्दिक भावनाओं सहानुभूति एवं प्रेम आदि की आवश्यकता है। मंगू चमार है। उसमें एक स्वाभिमानी उच्छृंखल नवयुवक का हृदय धड़क रहा है। राजा साहब द्वारा भर्त्सना एवं अपमानित किए जाने पर वह शान्त नहीं होता वरन् अपमान का प्रतिकार लेने के लिए राजा साहब के समक्ष आ खड़ा होता है किन्तु जब कुंवर पुष्पेन्द्रसिंह स्वयं उसके घर जाकर अपमान के लिए उससे क्षमा याचना करते हैं तब उसका सारा क्रोध टूक-टूक हो जाता है और वह कुंवर के चरणों पर गिर पड़ता है। कुंवर भी उसे अपना ही समझ कर अपने यहाँ ही आश्रय दे देते हैं। इस प्रकार उपन्यास में समस्या का एक आदर्शवादी हल प्रस्तुत किया है जो कि आज के युग की भावनाओं के अति निकट है।

प्रस्तुत उपन्यास का अंत इनके प्रत्येक के उपन्यासों—विशेषकर त्याग एवं समाश्रम के उपसंहार का स्मरण दिला देता है। उनमें कथानक का आदर्शवादी अंत आश्रम की स्थापना से हुआ है और इसमें कुंवर पुष्पेन्द्रसिंह द्वारा ग्राम की स्थापना से। अंत इन सभी का आदर्शवादी है और सभी में यह आदर्शवादी अंत बलात् लाया हुआ सा ज्ञात होता है।

आभा

प्रस्तुत कथानक का प्रारम्भ ही एक अनिश्चय में होता है। आभा डा॰ अनिल की पत्नी है। उससे उसके एक पुत्री भी हो चुकी है किन्तु वह पति को भक्ति ही दे पाती है प्रेम नहीं। वह अनिल के मित्र रमेश के प्रति आकर्षित होती है। रमेश भी उसकी ओर आकर्षित होता है। इन दोनों के पारस्परिक आकर्षण का किंचित मात्र आभास अनिल को नहीं हो पाता है। वह रमेश पर एक दिन अप्रत्याशित रूप से बिगड़ उठता है। इस घटना से ही प्रस्तुत कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ होता है। अनिल रमेश और आभा पर बिगड़ तो उठता है किन्तु शीघ्र ही उसे अपने कार्य पर पश्चात्ताप होने लगता है। वह रमेश और आभा से क्षमा मांगना चाहता है किन्तु इसी समय आभा के द्वारा उसे ज्ञात होता है कि वह रमेश के साथ उसको त्याग कर जाना चाहती है। अनिल प्रथम इस अप्रत्याशित आघात को सहन नहीं कर पाता किन्तु वह शीघ्र ही अपने को वश में कर आभा को साथ की आज्ञा दे देता है। थोड़ी देर उपरान्त अनिल के

मुख्य कथा में प्रासंगिक पताका का कार्य करती है। सुमन जी, हरबक्स सिंह नवाब साहब आदि की कथाएँ मुख्य कथा में प्रकरी के समान प्रयुक्त हुई हैं। मुख्य कथा में करामत अली एवं राजा भैया की कथा का प्रयोग पताका स्थानक के रूप में हुआ है। आनंद स्वामी की कथा केवल विचारों और सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए ही बलात् लाई गई है। इससे कथानक की कलात्मकता को भारी आघात पहुँचा है।

कथानक की घटनाएँ संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन नहीं कर पाई हैं। अधिकांश घटनाएँ लेखक की मैंनी देखी जान होती हैं तभी उनमें इतनी सजीवता एवं मार्मिकता आ पाई है। कुछ स्थानों के वर्णन ऐसे अवश्य हैं जिन्हें लेखक ने देखा नहीं है जैसे अशोक होटल का वर्णन। किन्तु यह कोई ऐसी त्रुटि नहीं है कारण होटल का काल्पनिक वर्णन भी किया जा सकता है।

उपन्यासकार कथानक की रोचकता का निर्वाह अंत तक करने में एक सीमा तक सफल रहा है। आनंद स्वामी के प्रचारात्मक लम्बे भाषणों ने कथा को बोझिल अवश्य बना दिया है किन्तु सिद्धांतों का दृष्टिकोण मौलिक एवं नवीन होने के कारण पाठक की उत्सुकता एवं कथानक की रोचकता न्यून नहीं होने पाती। रोचकता वृद्धि के लिए ही उपन्यासकार ने कितनी ही प्रासंगिक कथाओं की सृष्टि की है। नाटकीय ढंग से मंगलू के हृदय का परिवर्तन कुछ आदर्शवादी अवश्य हो गया है किन्तु न उसमें कथानक की रोचकता ही नष्ट हो पाई है और न ही वह अपनी कथन शैली के कारण संभावना के क्षेत्र का ही उल्लंघन करने पाई है।

प्रस्तुत कथानक में युग देश एवं समाज का सफल चित्रण हुआ है। कैलाश-पद्मा पुरुषोत्तम सेठ मंगलू की कथा नव जागरण का संदेश देती है। कैलाश-पद्मा, पुरुषोत्तम सेठ एवं रेणुका सरला रमेश एवं रहीम आदि की कथाएँ तत्कालीन देश की धार्मिक और सामाजिक स्थिति को चित्रित करने के लिए प्रस्तुत कथानक में अनुस्यूत की गई हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में मानव जीवन की पूर्ण झाँकी तो नहीं है किन्तु उसकी भिन्न विविध अवस्थाओं का समावेश इसमें किया गया है वे अपने चित्रण की यथार्थता एवं सूक्ष्मता के कारण मार्मिक बन पड़ी हैं।

प्रस्तुत कथानक में उपन्यासकार ने एक समस्या को भी उठाया है। समस्या है छुआछूत ऊँच-नीच की भावना का अंत किस प्रकार किया जा सकता है।

प्रस्तुत कथानक के माध्यम से उपन्यासकार ने दिखलाया है कि छुआछूत का उन्मूलन भय अथवा प्रताड़ना से कभी नहीं किया जा सकता। आज युग परिवर्तित हो चुका है। अब चमार को चमार कह कर दुत्कारने से उसके हृदय को वश में नहीं किया जा सकता वरन् आज उसके हृदय को जीतने के लिए भी हार्दिक भावनाओं सहानुभूति एवं प्रेम आदि की आवश्यकता है। मंगलू चमार है। उसमें एक अपरिमित उमंग भरा नवयुवक का हृदय धड़क रहा है। राजा साहब द्वारा पददलित एवं अपमानित किए जाने पर वह नत नहीं होता वरन् अपमान का प्रतिकार करने के लिए राजा साहब के समक्ष आ खड़ा होता है किन्तु जब कुंवर सुरेन्द्रसिंह स्वयं उसके घर जाकर अपमान के लिए उससे क्षमा याचना करते हैं तब उसका साहस टूक-टूक हो जाता है और वह कुंवर के चरणों पर गिर पड़ता है। कुंवर भी उसे अपना ही समझ कर अपने यहाँ ही आश्रय दे देते हैं। इस प्रकार उपन्यास में समस्या का एक आदर्शवादी रूप प्रस्तुत किया है जो कि आज के युग की भावनाओं के अति निकट है।

प्रस्तुत उपन्यास का अंत हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों—विशेषकर सेवासदन एवं प्रेमाश्रम के उपसंहार का स्मरण दिला देता है। उनमें कथानक का आदर्शवादी अंत आश्रम की स्थापना से हुआ है और इसमें कुंवर सुरेन्द्रसिंह द्वारा धर्म की स्थापना से। अतः इन सभी का आदर्शवादी है और सभी में यह आदर्शवादी अंत बलात् लाया हुआ सा ज्ञात होता है।

आभा

प्रस्तुत कथानक का प्रारम्भ ही घात प्रतिघात से होता है। आभा डा० अनिल की पत्नी है। उससे उसके एक पुत्री भी हो चुकी है किन्तु वह पति को भक्ति ही दे पाती है प्रेम नहीं। वह अनिल के मित्र रमेश के प्रति आकर्षित होती है। रमेश भी उसकी ओर आकर्षित होता है। इन दोनों के पारस्परिक आकर्षण का किंचित भास आभास अनिल को प्राप्त हो जाता है। वह रमेश पर एक दिन अप्रत्याशित रूप से बिगड़ उठता है। इस घटना से ही प्रस्तुत कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ होता है। अनिल रमेश और आभा पर बिगड़ ही उठता है किन्तु शीघ्र ही उसे अपने कार्य पर पश्चात्ताप होने लगता है। वह रमेश और आभा से क्षमा माँगना चाहता है किन्तु इसी समय आभा के द्वारा उसे ज्ञात होता है कि वह रमेश के साथ उसका त्याग कर जाना चाहती है। अनिल प्रथम इस अप्रत्याशित आघात को सहन नहीं कर पाता किन्तु वह शीघ्र ही अपने को वश में कर आभा को जाने की आज्ञा दे देता है। थोड़ी देर तम्बाकू आदि के

वाद विवाद के कारण कथा कुछ समय के लिए स्थिर होकर पुनः एक झटके के साथ तीव्रगति से अग्रसर होती है। आभा रमेश के साथ चली जाती है। अब कथा पूर्वदीप्ति (Flush back) चेतना प्रवाह (Stream of consciousness) एवं अंतर्द्वन्द्व के माध्यम बनाकर रेंगती हुई आगे बढ़ती है। बाह्य दृष्टि से प्रस्तुत कथा का विकास अत्यंत मंद गति से होता दीख पड़ता है किन्तु वास्तव में उसका अंतप्रयाण हो चुका है। उसमें बाह्य वस्तुनिष्ठ जगत के स्थान पर मनोजगत को अपना क्रीड़ा क्षेत्र बना लिया है। रमेश के साथ आभा चली तो गई किन्तु अपने साथ पूर्व स्मृतियों एवं अंतर्द्वन्द्वों का आधार लेती गई और यही दोनों वस्तुएँ वह अनिल के समीप भी छोड़ गई। इन्हीं के माध्यम से कभी कथा वाद प्रतिवाद की अवस्था से प्रारम्भिक अवस्था में आ पहुँचती है तो कभी प्रारम्भिक घटना की तैयारी एवं कभी निष्कर्ष पर। तात्पर्य यह कि कथा की गति अब किंचित वक्र हो गई है वह अब सीधी न चलकर सर्प गति से रेंगती हुई अंत की ओर त्वरा कुछ मंद और कुछ ठिठकती हुई गति से पहुँच रही है। वास्तविक कथा बाह्य घटना से ही प्रभावित है अतः उसका अन्त भी बाह्य घटना से ही होता है। कथा मनोजगत से अब बाह्य संसार की ओर झाँककर देखना चाहती है तभी नवीन घटना का जन्म होता है। आभा रमेश के साथ कितने ही स्थानों पर घूमती फिरी किन्तु न उसे मानसिक शांति की उपलब्धि हो सकी न ही वह रमेश के समक्ष आत्म-समर्पण ही कर सकी और न ही वह अनिल को भूल सकी। वह इसी ऊहापोह के विवर्त में चक्कर काट रही थी कि इसी समय उसे ज्ञात होता है कि वह गर्भवती है। इस विचार मात्र से ही वह भय से काँप उठती है किन्तु भय से गर्भ समाप्त नहीं होता। यथासमय रमेश के यहाँ ही आभा के पुत्र उत्पन्न होता है। अनिल डाक्टर के रूप में उस समय बुलाया जाता है कथा अब चरम सीमा पर पदार्पण कर चुकी है। कथा यहीं से शनैः शनैः अंत की ओर जाती दीख पड़ती है। कुछ दिनों के पश्चात् आभा पुत्र को लेकर अप्रत्याशित रूप से अपने पति अनिल के यहाँ पुनः पहुँच जाती है। सिद्धांत चर्चा के पश्चात् कथा समाप्त हो जाती है। अनिल पुनः आभा को अपनी पत्नी की भाँति स्वीकार कर लेता है।

जैसा कि हम प्रथम ही कह चुके हैं कि आभा एक शुद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं है अतः इसमें मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रचार को ढूँढना व्यर्थ ही होगा।

आभा अनिल एवं रमेश की त्रिकोणात्मक पारिवारिक कथा के साथ

साथ गंगू की प्रासंगिक कथा भी चलती है। यह कथा-सूत्र प्रधान सूत्र को गति देने और उसके दूसरे पक्ष पर प्रकाश डालने का कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास शुद्ध चरित्र प्रधान उपन्यास है। अतएव इसमें कथानक एवं घटना-प्रसंगों का आकर्षण कम है किंतु आंतरिक स्पर्धों से सिक्त होने के कारण कथानक में अंत तक प्रवाह एवं आकर्षण रहा है। यही कारण है कि घटना चमत्कार से नितांत रहित होने पर भी प्रस्तुत उपन्यास में पर्याप्त रमणीयता एवं सजीवता आती है।

प्रस्तुत उपन्यास जैनेंद्र के चरित्र प्रधान उपन्यासों सुनीता एवं सुखदा एवं रवि बाबू के उपन्यास 'घर-बाहर' का स्मरण दिला देता है। 'रविबाबू' ने अपने उपन्यास 'घर-बाहर' में 'घर' (पति पत्नी) में 'बाहर' का प्रवेश कराया है जिससे 'घर' विक्षुब्ध हो उठा है और यदि संदीप बाहर का प्रतीक पलायन न कर जाता तो घर के टूट जाने की आशंका थी। किंतु प्रस्तुत उपन्यास में न तो 'घर' टूटा है और न 'बाहर' के प्रति उसे बंद ही किया गया है। 'घर' (आभा और अनिरुद्ध) और 'बाहर' (रमेश) दोनों परस्परापेक्षाधीन हैं। यही प्रस्तुत उपन्यास का उच्चादर्श है किंतु यह निष्कर्ष वास्तविक जीवन से कुछ हटा हुआ अवश्य है।

लाल पानी

प्रस्तुत उपन्यास भी एक ऐतिहासिक उपन्यास है। मुख्य कथानक अब से कोई पांच सौ वर्ष पूर्व घटित काठियावाड़ के कच्छ प्रांत के दो स्वतंत्र राजाओं के पारस्परिक संघर्ष पर आधारित है अन्य कथानकों की भांति इसका कथा विकास भी सामान्य पद्धति से हुआ है। इसमें कथा विकास की पांचों अवस्थाएं स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। जामाओं और ठाकुरों के राजाओं भीम जी एवं जाम रावणसिंह के परिचय से कथा का व्यावहारिक प्रारंभ होता है। भीम के पुत्र जाम हम्मीर से जाम रावण सिंह हार्दिक द्वेष मानता है। जाम हम्मीर रावणसिंह का धोखे से वध कर देता है। रावणसिंह हम्मीर का वध करने के पश्चात् उनके पुत्रों का भी सफाया करने का प्रयत्न करता है किंतु छच्छर बूटा नामक जाम हम्मीर का विश्वस्त नौकर उनके दोनों पुत्रों खंगार जी और साहब जी को गुप्तरूप से लेकर कच्छ त्यागकर भाग खड़ा होता है। यहीं मुख्य कथा की निष्पत्ति हो जाती है। छच्छर बूटा कुमारों की रक्षा करता हुआ गुजरात की ओर गुप्तरूप से अग्रसर होता है। इसी समय रावणसिंह के सैनिक कुमारों का पता लगाते हुए बीच में ही आ पहुँचते हैं। इन सैनिकों से मियाना मियां

अपने पुत्रों की बलि देकर दोनों कुमारों की रक्षा करता है। इसी समय मार्ग ही में ठाकुर बालिमसिंह की पुत्री से बड़े कुमार एवं बीरसिंह की कन्या से छोटे कुमार का विवाह हो जाता है। विवाह कार्यों से निवृत्त होकर दोनों कुमार छच्छर के साथ पुन गुप्तरूप से गुजरात के लिए चल पड़ते हैं। वे सभी अवरोधों का अतिक्रमण करते हुए सकुशल गुजरात पहुँच जाते हैं। यहाँ गुजरात के सुल्तान मुहम्मद बेगड़ा से इनका परिचय एक आकस्मिक घटना के द्वारा होता है। सुल्तान सिंह का शिकार करने जाते हैं किन्तु उनके प्राण संकट में पड़ जाते हैं। उस समय उनकी प्राण रक्षा दोनों कुमार ही करते हैं। प्रसन्न होकर वह कुमारों को सैनिक सहायता देते हैं सुल्तान से सैनिक सहायता लेकर कुमार, जाम रावलसिंह पर आक्रमण करते हैं और उसे बन्दी कर लेते हैं। यही मुख्य कथा की चरम-सीमा होती है। उपसंहार में राव खंगार की का राजा होना और रावलसिंह को क्षमा प्रदान करना आदि आ जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत कथानक में जाम रावलसिंह राव खंगार एवं छच्छर बूटा की कथा आधिकारिक है। इस कथा को सहायता देने के लिए कितनी ही प्रासंगिक-पताका-प्रकरी कथाएँ भी प्रस्तुत कथानक में आ गई हैं। मियाना मियां एवं बालिमसिंह की कथाएँ प्रस्तुत कथानक में पताका का तथा सिंह की सुहागा बाई पार्वती बाई, बाजूधारा के सेठ आदि की कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में गुजरात के सुल्तान मुहम्मद बेगड़ा का चरित्र भी वृन्दावनलाल वर्मा की 'मृगनयनी' के महमूद बघर्रा के चरित्र का स्मरण दिला देता है। 'मृगनयनी' एवं प्रस्तुत उपन्यास का कथानक एक ही काल से संबंधित है किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि प्रस्तुत कथा कच्छ से गुजरात और गुजरात से कच्छ तक ही सीमित है। जबकि 'मृगनयनी' की कथा का केन्द्र ग्वालियर है। और उसी में अन्य स्थानों के कथा सूत्र भी आकर मिलते और बिछुड़ते रहते हैं।

इस उपन्यास में उपन्यासकार न भूमिका में स्वयं ही कहा है 'यह उपन्यास सामन्ती युग के रक्त भरे दिनों की एक रोमांचकारी सत्य ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। उपन्यास में कच्छ के प्रसिद्ध खंगार जी का चरित्र व्याख्यात है। इस समय तक भी कच्छ का कोई सांगोपांग अच्छा इतिहास उपलब्ध नहीं है। बाम्बे गजेटियर की पाँचवीं जिल्द में कच्छ के इतिहास पर तथा आर्कियोलोजिकल सर्वे की रिपोर्ट म थोड़ा हुत कुछ प्रकाश डाला गया है।

पूर्ण वर्णन किया है। इलियट ने 'हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स' और 'हिस्टोरियन्स' नामक इतिहास ग्रंथ में कच्छ राज्य का थोड़ा वर्णन किया गया है। मिसेज पोस्टन्स के ग्रंथ और 'रेंडम स्केचेज' नामक ग्रंथ में कच्छ का यत्किंचित विस्तृत वर्णन है। भारतीय लेखकों में आत्माराम केशव जी त्रिवेदी ने एक छोटा सा 'कच्छ का इतिहास' ग्रंथ गुजराती में लिखा है। इन्हीं सब ग्रन्थों के आधार पर इस उपन्यास की आधार भूमि बनाई गई है। श्री केशव जी जोशी ने जमादार जी के चरित्र पर आधारित एक उपन्यास भी लिखा था। उसमें कुछ दन्त कथाओं का भी आश्रय लिया था तथा कुछ कल्पना का भी उपयोग किया था। इसके बाद टक्कर नारायण विश्राम जी ने एक उपन्यास 'कच्छनो कार्तिकेय' नामक लिखा था। इन्हीं सब कथा वस्तु पर आधारित यह उपन्यास लिखा गया है। विशेषकर अंतिम ग्रंथ को आलम्बन माना गया है।[1] इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास का कथानक एक सीमा तक ऐतिहासिक है।

बगुला के पंख

प्रस्तुत उपन्यास के कथानक का व्यावहारिक प्रारम्भ जुगनू नाम के एक अवसरवादी भंगी के प्रारंभिक जीवन के परिचय से होता है। इस परिचय के पश्चात् ही कथानक उस व्यक्ति के जीवन के चारों ओर चक्कर लगाता हुआ अग्रसर होता है। जुगनू की यह कथा अपनी स्वाभाविक गति से घटनाओं के घातप्रतिघात को पार करती हुई आगे बढ़ती है। किन्तु शीघ्र ही जुगनू की आर्थिक दशा चिन्तनीय हो जाने के कारण इस कथा का प्रवाह शिथिल पड़ जाता है। कारण इससे निकलने के पश्चात् जुगनू अपने जीवन में आगे बढ़ने का मार्ग टटोलने लगता है। इसी समय उसका परिचय अपने एक पुराने मित्र शोभाराम से होता है। जुगनू की दयनीय स्थिति को देखकर शोभाराम उसे आश्रय प्रदान करता है। शोभाराम दिल्ली की कांग्रेस पार्टी का एक प्रभावशाली सदस्य है। शिक्षित और दूरदर्शी किन्तु अस्वस्थ रहने के कारण शरीर से विवश। ऐसे अवसर पर जुगनू को उसका आश्रय प्राप्त हो जाता है। शोभाराम के प्रभाव का जुगनू पूर्ण लाभ उठाता है। शोभाराम भी स्वयं अस्वस्थ होने के कारण अपने स्थान पर जुगनू को ही आगे बढ़ाता है। धीरे धीरे जुगनू अपने आश्रयदाता शोभाराम के व्यक्तित्व पर इस प्रकार हावी हो जाता है कि शोभाराम का व्यक्तित्व उसके व्यक्तित्व के नीचे दब जाता है। जुगनू अपने भ्रष्ट आचरण का परिचय यहाँ भी देता है। वह शोभाराम की पत्नी पद्मा की ओर आकर्षित होता है। और यह आकर्षण नित्यप्रति बढ़ता ही

१ लाल पानी-दो शब्द।

जाता है। इसी समय एक ओर जुगनू सोमाराम की पूर्ण शक्ति प्राप्त कर मिनिस्टर बन बैठता है तो दूसरी ओर सोमाराम अधिक अस्वस्थ हो जाने के कारण पद्मा को साथ ले चिकित्सा कराने मसूरी चला जाता है। मसूरी में ही उसका स्वर्गवास हो जाता है। पद्मा निराश्रय रह जाती है। अतः उसे जुगनू की कृपा का आकांक्षी होना पड़ता है। जुगनू की आश्रित होने के कारण पद्मा को विवश होकर उसके समक्ष आत्म-समर्पण करना पड़ता है। किन्तु शीघ्र ही जुगनू पद्मा को मसूरी में ही छोड़कर स्वयं पुनः दिल्ली लौट आता है। यहाँ भी वह अपने दूषित चरित्र का परिचय देता है। पद्मा ऐसी साध्वी रमणी के सतीत्व को भंग कर वह उसे भी प्रवंचित करता है।

मंत्री हो जाने के पश्चात् दिल्ली में जुगनू की मान प्रतिष्ठा नित्य बढ़ती जाती है। सोमाराम की मृत्यु के पश्चात् उसका नैतिक चरित्र और भी पतित हो जाता है। पद्मा को भ्रष्ट कर उसकी काम बुभुक्षा और तीव्र हो जाती है। यही स्पष्ट करने के लिए गोमती की कथा उपन्यासकार ने संयोजित की है। गोमती की कथा का अंत पद्मा से भी अधिक करुण होता है। वह जुगनू द्वारा भ्रष्ट हो जाने के कारण एवं पति द्वारा अपमानित होने के कारण आत्म-हत्या कर लेती है। इस घटना के पश्चात् भी जुगनू के चरित्र में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। मंत्री होने के कारण उसे नगर के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो जाता है। वह उनके सहयोग से एक संभ्रान्त परिवार की सुशिक्षित कन्या शारदा से विवाह करना चाहता है। अपने इस प्रयास में उसे सफलता भी प्राप्त होती है। किन्तु यहीं से कथा बड़ी तीव्रगति से अग्रसर होती है। शारदा का जुगनू से विवाह होने के पूर्व ही नाटकीय ढंग से कथा की समाप्ति हो जाती है। अर्थात् जुगनू से विवाह होने जा रहा था इसी समय नाटकीय ढंग से उसके मंत्री होने का पता चल जाता है। यहीं से कथा एकदम मुड़ जाती है। जुगनू विवाह मंडप से भाग खड़ा होता है और शारदा के अध्यापक परशुराम के साथ उसका विवाह सम्पन्न हो जाता है। यही नाटकीयता की चरम सीमा है। वास्तव में यह विवाह कराना ही इस नाटकीय घटना के समावेश का प्रधान उद्देश्य रहा है किन्तु इससे उपन्यास के शिल्प-पक्ष को भारी आघात पहुँचा है। चरम सीमा के पश्चात् उपसंहार का क्रम इसमें भी है।

कथा से स्पष्ट है कि आधिकारिक कथा जुगनू की है। उसी के चरित्र के गुण दोषों को निखारने के लिए कितनी ही अन्य प्रासंगिक कथाओं का समावेश किया गया है। राधेमोहन एवं गोमती परशुराम एवं शारदा आदि की कथायें

प्रस्तुत कथा में पताका का कार्य करती है। शारदा की प्रासंगिक कथा तो आधिकारिक कथा को अपने में पूर्ण रूप से जकड़ कर इतनी त्वरा के साथ उसे खींचती है कि वह अप्रत्याशित रूप से मुड़ जाती है और यही प्रासंगिक कथा अंत में प्रधान होकर कथा का उपसंहार करती है। लाला फकीरचन्द एवं नवाब की कथायें इसमें पताका स्थानक का कार्य करती हैं। यह दोनों ही कथाएँ आधिकारिक कथा के विकास में पूर्ण सहायता देती हैं। फकीरचंद और नवाब की कथा ही जुगनू की कथा में उलझन बढ़ाकर उसे नित्य नवीन मार्ग प्रदर्शित करती है।

जुगनू की आधिकारिक कथा के महत्व के साथ-साथ प्रत्येक पताका एवं प्रकरी कथा का भी अपना स्वतंत्र महत्व है। यदि फकीरचंद की कथा धनिक वर्ग के उन कुत्सित कार्यों को निराकरण करती है जिनके द्वारा वे अपने स्वार्थ साधन के लिए राजतंत्र में उलटफेर किया करते हैं तो विद्यासागर नियोगी की कथा चुनाव के विभिन्न हथकंडों का परिचय देती है।

कथाकार प्रस्तुत कथा की रोचकता की रक्षा करने में किसी सीमा तक सफल तो रहा है किंतु जिन स्थानों पर वह सिद्धांतों की आलोचना[1] प्रचार[2] अथवा विद्वता का प्रदर्शन[3] करने लगा है उन स्थलों पर कथानक का प्रवाह शिथिल हो गया है। और उसकी रोचकता को भी गहरा आघात पहुँचा है। नाटकीय एवं अप्रत्याशित घटनाओं के बाहुल्य के कारण यत्र-तत्र कथा संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन करने लगी है। नाटकीय ढंग से सोमाराम के माध्यम से जुगनू का सभ्य समाज में प्रवेश तो समझ में आता है किन्तु उस समाज में पूर्णरूप से घुलमिल जाने पर भी उसकी कलई का न खुलपाना कुछ बुद्धि संगत नहीं प्रतीत होता। कम से कम पद्मा जैसी विदुषी नारी जो उसकी प्रत्येक चेष्टा से परिचित है—का उसके समक्ष इतनी शीघ्रता से आत्म-समर्पण कर देना उचित नहीं ज्ञात होता। जब गोमती ऐसी अशिक्षिता स्त्री भी जुगनू को प्रथम दृष्टि में ही पहचान गई थी तब क्या कारण था कि पद्मा जैसी सच्चरित्र एवं विदुषी उसे न पहचान सकी। जुगनू की कथा को संयोगों एवं अप्रत्याशित घटनाओं के माध्यम से एकदम चरम सीमा पर पहुँचा देना और वहाँ से पुनः एक अप्रत्याशित नाटकीय घटना के माध्यम से उसे पुनः खड्ड में फेंक देना कथानक की कलात्मक महत्ता को न्यून कर देता है। मंत्री एवं नगर का एक प्रभावशाली व्यक्ति बन

---

१ बगुला के पंख पृष्ठ २१६ १८।   २ बगुला के पंख पृष्ठ २१६ १८।

३ बगुला के पंख पृष्ठ १९६-९७।

जाने के पश्चात् कुमनू को केवल इसी कारण से कि उसके मंत्री होने के रहस्य का उद्घाटन हो गया है, मुख्य कथा से उसका पलायन करा देना व्यावहारिक नहीं ज्ञात होता। यदि कुमनू के पलायन की इस नाटकीय घटना के संघटन में किंचित मनोविज्ञान का कथाकार ने आश्रय लिया होता तो कथा का यह अंश संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन कदापि न कर पाता। एक दो स्थानों पर पूर्व संकेतों (Dramatic lroy)[1] के प्रयोग के कारण कथानक की कलात्मकता एवं रोचकता बढ़ी है।

जहाँ तक कथानक की मौलिकता का प्रश्न है उसके प्रस्तुत करने में भले ही कोई मौलिकता न हो किन्तु प्रतिपाद्य विषय सर्वथा मौलिक है। इस उपन्यास के पूर्व शायद ही किसी अन्य उपन्यास में एक मंत्री को जीवन की इन अनेक परिस्थितियों में डाल कर चित्रित किया गया हो। स्वतंत्रता के पूर्व मंत्री के जीवन की कल्पना भी क्या की जा सकती थी। किन्तु इसमें भी कुमनू मंत्री बन कर नहीं वरन् मुंशी (कायस्थ) बनकर उपस्थित करता है अतः उसके जीवन के परिपार्श्व से मंत्री जीवन का विशेष चित्रण नहीं हो पाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कथाकार प्रस्तुत कथानक के माध्यम से किन तथ्यों का उद्घाटन करना चाहता है। वास्तव में वह बाद के शासन की बढ़ती हुई धाँधली एवं जनतंत्र के नाम पर अवसरवादी व्यक्तियों का छुट बनाकर नग्न नृत्य करना चित्रित करना चाहता है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा भी है "डेमोक्रेसी का नया ही बेहूदा और बदनामी से भरा हुआ तरीका है यह चुनाव का सिलसिला। जिसके लिए दुनिया भर के अनीतिपूर्ण काम धूम-धाम से किए जाते हैं। दुनिया भर की धुंआधारी करके चुनाव जीते जाते हैं और तब अपने को जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि कहकर बेहयाई की सीमा लांघ दी जाती है। चुनावों का एक भारी दोष यह है कि उनमें योग्यतम व्यक्ति को अधिकार नहीं मिलता। गुटों के प्रतिनिधि को अधिकार मिलता है। चाहे उसमें योग्यता हो या नहीं।"[2] इसी दोष को स्पष्ट करने के लिए ही कथाकार ने प्रस्तुत कथानक एवं चरित्र को सामने ला खड़ा किया है।

प्रस्तुत कथानक में वर्तमान राजनीतिक जीवन चुनाव तथा गुटबाजियों आदि का बड़ी सूक्ष्मता एवं यथार्थता के साथ चित्रण किया गया है। यह सत्य है कि कथाकार ने जीवन की इन विविध अवस्थाओं को दूर से ही देखा है तभी जहाँ उनमें एक ओर सूक्ष्मता एवं यथार्थता आ पाई है वहीं दूसरी ओर अज्ञान

---

१ अमृता के पंच पृष्ठ १८ एवं २२७। २ अमृता के पंच पृष्ठ २१४, १५।

कता एवं अतिनाटकीयता का भी प्रवेश हो गया है। किंतु यह सत्य है कि कथाकार प्रस्तुत कथानक के माध्यम से एक सीमा तक वर्तमान युग समाज एवं एक वर्ग विशेष का चित्रण करने में सफल रहा है। वास्तविकता तो यह है कि प्रस्तुत कथानक वर्तमान सामाजिक राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों एवं उनसे उद्भूत जीवन-कुंठाओं के संदर्भ में व्यक्ति की नित्य परिवर्तित होती हुई वासनाओं एवं तज्जनित उसकी दुर्बलताओं का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ रहा है।

खग्रास

प्रस्तुत उपन्यास का व्यावहारिक प्रारम्भ एक रूसी तरुण वैज्ञानिक जोरोवस्की की चंद्रलोक की सफल यात्रा के विवरण से होता है। वह स्वयं अपनी प्रेमिका लिजा को चंद्रलोक से लौटने के पश्चात् वहाँ की सफल यात्रा की कथा सुनाता है। अब यही कथा धीरे धीरे विस्तार पाने लगती है। 'अगम्य खगोल' शीर्षक अध्याय तक[1] जोरोवस्की अपनी चंद्रलोक की यात्रा का ही विवरण सुनाता है। इस प्रधान कथा के साथ-साथ अमेरिकन वैज्ञानिक स्मिथ की कथा भी उलझती हुई चलती है। चंद्रलोक की यात्रा का विवरण समाप्त होते ही कुछ रुक कर जोरोवस्की कुछ अन्य वैज्ञानिकों के साथ दक्षिणी ध्रुव की यात्रा पर चल देता है।[2] इस यात्रा में उसकी प्रेमिका लिजा भी उसके साथ है। दक्षिणी ध्रुव प्रदेश की इस यात्रा में भी जोरोवस्की की प्रधान कथा के साथ-साथ स्मिथ की प्रासंगिक कथा भी पुनः उलझती हुई चलती है। 'बल गर्व अभिमान' में अवश्य स्मिथ की कथा को हम स्वतंत्र रूप से विकसित होते हुए देखते हैं। इन दोनों कथाओं के अतिरिक्त कितनी ही अन्य सहायक एवं स्वतंत्र कथाएँ भी इन दोनों कथाओं से उलझती हुई चलती हैं। कई स्थानों पर स्वतंत्र कथाओं के कारण प्रधान कथा अवरुद्ध भी हो गई है। उपन्यास के अंतिम खंड में आकर जोरोवस्की एवं स्मिथ की प्रधान कथा विच्छिन्न हो गई है। 'गूढ़ पुरुष' शीर्षक के अध्याय तक आते-आते यह प्रधान कथा समाप्त हो गयी है। और इसके स्थान पर भारतीय वैज्ञानिक की कथा प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रधान कथा के साथ-साथ तिवारी की सहायक कथा भी चलती है। उपन्यास का अंत भी गूढ़ पुरुष एवं तिवारी की कथा से ही होता है। भारतीय वैज्ञानिक 'गूढ़ पुरुष' के परिचय के पश्चात् उसकी पुत्री प्रतिभा का तिवारी

---

१ खग्रास पृष्ठ ८९।   २ खग्रास पृष्ठ १००।

से विवाह हो जाता है। इस प्रकार यह अंतिम दोनों कथाएँ अंत में परस्पर संयुक्त हो जाती हैं और यहीं कथा समाप्त हो जाती है।

प्रस्तुत उपन्यास के कथानक का सबसे बड़ा दोष है उसका विशृंखलित होना। उपन्यास में दो सर्वथा स्वतंत्र कथानक हैं जिनमें किसी प्रकार का पौर्वापर्य नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें कितनी ही अन्य कथाएँ भी आती और जाती दीख पड़ती हैं जो सर्वथा स्वतंत्र हैं जिनका प्रधान कथानक से कोई संबंध नहीं है[1] जिनमें किसी प्रकार का पौर्वापर्य नहीं है कथानक के इस विघटन के कारण प्रस्तुत उपन्यास विभिन्न घटनाओं का संग्रह सा ज्ञात होता है। यह घटनाएं भी परस्पर संयुक्त न होकर पृथक्-पृथक् हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक सर्वथा मौलिक है। इसमें संदेह नहीं कि उपन्यासकार को प्रस्तुत उपन्यास लिखने में पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा होगा। ज्ञान को अधिक से अधिक कथानक में ठूस देने के मोह में अन्य प्रमुख उपन्यासों की भांति इस उपन्यास के कथानक को भले ही बिखरा दिया हो किन्तु उसकी मौलिकता में किंचित मात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता। जहाँ तक मुझे ज्ञात है हिंदी में यह प्रथम वैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें चंद्रलोक एवं उत्तरी ध्रुव की यात्रा का वर्णन इतने विस्तार के साथ किया गया है। नवीन से नवीन वैज्ञानिक प्रगतियों का समावेश भी प्रस्तुत उपन्यास की अपनी मौलिक विशेषता है।

विज्ञान ऐसे नीरस विषय में भी रस संचार करके लेखक उपन्यास की रोचकता को अन्त तक रखा करने में पूर्ण सफल रहा है। वैज्ञानिक एवं राजनीतिक विवरणों के वात्याचक्र में ज्यों ही कथानक भटकने लगता है त्यों ही उपन्यासकार अपनी प्रबल कल्पनाशक्ति के माध्यम से उसे पुनः सरस बनाकर एक नूतन मार्ग पर ला खड़ा करता है। यद्यपि पुनः पुनः नवीन कल्पनाओं के प्रयोग से कथानक बिखर गया है, किन्तु इससे उपन्यास की रोचकता न्यून नहीं हुई है।

प्रस्तुत कथानक की सबसे बड़ी विशेषता उसके समन्वय में है। इसमें विज्ञान राजनीति एवं साहित्य का स्पष्ट समन्वय किया गया है। उपन्यासकार

---

१ पश्चिमी एशिया में नवीन शक्ति का उदय पृष्ठ १०६ १०७। अलहुतशाह अल अरबी (पृ० १०८ से ११०) की सितारें (पृ० ११०-११२) तक पगवाद सधि सम्मेलन (पृ० १२१ १२४) विश्व समस्याओं की उलझनें इण्डोनेशिया माटी आइसनहावर का पत्र नए भारत का उदय (पृ० १४०-१५७) इ— आदि अध्याय की कथाएँ इसी प्रकार की हैं।

ने प्रस्तुत उपन्यास की रचना ही साहित्य एवं विज्ञान के समन्वय के लिए की थी।[1] उसने भूमिका में स्पष्ट कहा है 'जिस गति से विश्व वर्तमान में आगे बढ़ रहा है उसे देखते हुए यही उचित है कि साहित्य में प्राविधिक और वैज्ञानिक पुट अधिक रक्खा जाय।[2]

प्रस्तुत उपन्यास में वर्तमान मानव जीवन की कितनी ही प्रमुख समस्याओं को भी उठाया गया है। आज के युग का सबसे ज्वलंत प्रश्न है कि विज्ञान को मानव मात्र के लिए मुक्तिदूत बनाया जाय या मृत्युदूत! इस प्रश्न का उपन्यासकार ने भारतीय वैज्ञानिक की पुत्री प्रतिमा के मुख से स्पष्ट उत्तर दिलवाया है। तिवारी के यह प्रश्न करने पर कि तुम्हारे पापा भारत सरकार की सहायता क्यों नहीं करते प्रतिमा उत्तर देती है 'पापा तो विज्ञान को मनुष्य के लिये मृत्युदूत नहीं बनाना चाहते। वे तो विज्ञान को मानव मात्र के लिए मुक्तिदूत बनाना चाहते हैं।[3] वह शांति की शक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति मानते हैं। आचार्य चतुरसेन जी ने भारतीय वैज्ञानिक को ही सर्वश्रेष्ठ दिखलाकर यही सिद्ध करना चाहा है कि वही देश संसार में सर्वश्रेष्ठ हो सकेगा जो शांति के पथ का अनुसरण करेगा। इसी प्रकार की कई अन्य ज्वलंत समस्याओं को भी उपन्यासकार ने प्रस्तुत उपन्यास में उठाया है। जन संख्या वृद्धि[4] पारसियों में सुधार[5] हिंसा और अहिंसा की समस्या आदि पर भी उपन्यासकार ने इसमें विचार किया है।

अब रहा संभावना अथवा सत्यता का प्रश्न। क्या प्रस्तुत उपन्यास की घटनाएँ संभावना के क्षेत्र का उल्लंघन तो नहीं करतीं। यदि हम साधारण दृष्टि से देखें तो इसमें ऐसी कितनी ही घटनाएँ हैं जिन्हें हम असम्भव कह सकते हैं किन्तु उपन्यासकार ने उन घटनाओं को विज्ञान के उस गहरे रंग में रंग दिया है जो विलक्षण होने पर भी सुलक्षण और असंगत होने पर भी सुसंगत ज्ञात होती हैं। उपन्यासकार ने अपनी उर्वर कल्पना शक्ति का आश्रय लेकर स्वानुभव से परे स्थानों एवं वस्तुओं का बड़ी सफलता के साथ चित्रण किया है। यह एक वैज्ञानिक उपन्यास है। इस उपन्यास का एक और भी उद्देश्य है। इस कथा के व्याज से उपन्यासकार सरल और रुचिकर भाषा में जन साधारण को विज्ञान के

---

१ धर्मयुग आचार्य चतुरसेन व्यक्तित्व और विचार भुवनकार जाय कपूर ९ अगस्त १९५९।

२ खग्रास भूमिका पृष्ठ २१। ३ खग्रास पृष्ठ १७३।

४ खग्रास पृष्ठ १७४। ५ खग्रास पृष्ठ २८८।

नवीन आविष्कारों से अवगत करा देना चाहता है। ‘जिस प्रकार कविता में कांता सम्मित शैली से नीति और धर्म का उपदेश किया जाता है उसी प्रकार कथा-छल से नई खोजों का परिचय प्राप्त कराया जाता है। कथा तो बहाना मात्र है उससे कोरे वैज्ञानिक वर्णन का रूखापन दूर हो जाता है। इस उद्देश्य के साथ-साथ लेखक ने विज्ञान की वर्तमान और भावी प्रगति का भी आभास देना चाहा है। भावी प्रगति की जो उपन्यासकार ने कल्पना की है उसी की सत्यता एवं संभावना पर विचार करना शेष रह जाता है। उपन्यासकार ने आज की वैज्ञानिक प्रगति को अपनी कल्पना का आधार बनाया है। रूस और अमेरिका दोनों ही ओर से चंद्रलोक की यात्रा के प्रयास चल पड़े हैं। अंतरिक्ष यात्रा के प्रयास तो दोनों के सफल भी हो चुके हैं। ऐसी दशा में लेखक ने जो कल्पना की है, वह असम्भव नहीं कही जा सकती। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कथानक कहीं से भी संभावना के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करने पाया है। कथा के जो प्रसंग असम्भव ज्ञात भी होते हैं वे भी विज्ञान का कवच धारण कर लेने के कारण संदिग्धता का आघात लगने से सुरक्षित हैं।

सह्याद्रि की चट्टानें

प्रस्तुत उपन्यास का प्रारम्भ ही एक झटके के साथ होता है। तान्हा जी नाम का एक युवक घायल अवस्था में छत्रपति शिवाजी को मिलता है। शिवाजी उसकी प्राण रक्षा करते हैं और उसे अपने साथ ले लेते हैं। यह कथा यहीं रुक जाती है। इसके आगे शिवाजी के प्रारम्भिक जीवन की कथा प्रारम्भ हो जाती है। किन कठिनाइयों से शिवाजी की माता ने उनका लालन-पालन किया किस प्रकार शिवाजी ने शिक्षा प्राप्त की किस प्रकार गुरु रामदेव स्वामी से उन्होंने शस्त्र संचालन में निपुणता प्राप्त की आदि का वर्णन तानाजी मसूरी (अध्याय १०) तक प्राप्त होता है। अब तानाजी भी शिवाजी के साथ कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। शिवाजी की सैनिक शक्ति नित्य प्रति बढ़ती जाती है। भवानी के प्रताप से वे अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते जाते हैं। इसी समय मुगल सम्राट औरंगजेब से शिवाजी का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। संघर्ष बढ़ता जाता है। औरंगजेब शिवाजी को समाप्त करने की कितनी ही योजनाएँ बनाता है किन्तु असफल रहता है। उसे इस प्रयास में अपने कई अनुभवी सरदारों से भी हाथ धोना पड़ता है। औरंगजेब अब दूसरी कूटनीति की चाल चलता है। शिवाजी मिर्जा राजा जयसिंह के कहने से औरंगजेब से मिलने आगरा जाते हैं किन्तु आगरा

---

१ आलोचना-वैज्ञानिक कथा साहित्य डा० सम्पूर्णानंद पृष्ठ १८७।

में औरंगजेब उनका अपमान करता है और उन्हें बंदी बना लेता है। शिवाजी वहीं से अपनी मुक्ति के लिए प्रयास प्रारम्भ कर देते हैं। औरंगजेब कारागार में ही उन्हें समाप्त करना चाहता है। दोनों ही अपनी कुटिल चालें चलते हैं। अंत में शिवाजी एक दिन मिठाई के टोकरे में बैठकर गुप्तरूप से बंदीगृह से पलायन कर जाते हैं।

समस्त अवरोधों का अतिक्रमण करते हुए गुप्त रूप से शिवाजी अपने राज्य में सकुशल पहुँच जाते हैं। महाराष्ट्र में आकर वे औरंगजेब के राज्य की जड़ें हिलाना प्रारम्भ कर देते हैं। प्रस्तुत उपन्यास का अंत सिंहगढ़ की विजय से होता है। सिंहगढ़ पर विजय प्राप्त करने के लिए शिवाजी ने बीड़ा रखा था। उस बीड़े को तानाजी ने ही ग्रहण किया था। तानाजी गढ़ पर विजय तो प्राप्त कर लेते हैं किन्तु उनकी मृत्यु विजय के पश्चात् किले में ही हो जाती है। अपने इसी वीर सेनानी की मृत्यु देखकर शिवाजी के मुख से अनायास ही निकल जाता है 'गढ़ आया, पर सिंह गया।'[1]

इसमें आधिकारिक कथा शिवाजी एवं औरंगजेब की है। इस प्रधान कथा को अग्रसर करने के लिए आदिलशाह, अफजल खाँ, शाइस्ताखाँ, तानाजी, मिर्जा राजा जयसिंह, उदयभानु आदि की प्रासंगिक कथाओं का भी प्रयोग हुआ है। शिवाजी की प्रधान कथा के साथ ताना जी की कथा पताका का एवं अन्य कथाएँ प्रकरी का कार्य करती हैं। खान अब्दुस्समद की कथा यद्यपि प्रकरी की भाँति प्रयुक्त हुई है किन्तु कथा में संघर्ष को बढ़ाने एवं सम्पूर्ण कथा के मूल में रहने के कारण प्रस्तुत कथा-पताका स्थानक का कार्य करती है।

प्रस्तुत उपन्यास शिवाजी के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं से सम्बन्धित है। वास्तव में प्रस्तुत उपन्यास को हम आचार्य जी के 'आलमगीर' नामक उपन्यास का पूरक कह सकते हैं। किन्तु यह उससे एक बात में भिन्न है। 'आलमगीर' में ऐतिहासिकता का प्राधान्य है तो इसमें औपन्यासिकता का। वास्तव में इसमें उपन्यासकार ने 'ऐतिहासिकता' और औपन्यासिकता का सुंदर समन्वय प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत उपन्यास की शिवाजी एवं औरंगजेब के संघर्ष संबंधी घटनाएँ पूर्ण ऐतिहासिक हैं।[2]

---

१ सह्याद्रि की चट्टानें पृष्ठ १२६।

२ औरंगजेबनामा अनुवादक श्री देवी प्रसाद जी दूसरा भाग खण्ड ११ औरंगजेब दक्खिन में पृष्ठ ११२ से ११५ तक।

मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार ह० म० आप्टे के 'गड आला पण सिंह गेला' उपन्यास जिसका हिंदी में अनुवाद 'सिंहगढ़' के नाम से हुआ है—के कथानक का प्रभाव इस पर स्पष्ट ज्ञात होता है।

बिना चिराग का शहर

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक तेरहवीं शताब्दी के भारत से सम्बन्धित है। उस समय दिल्ली के सिंहासन पर अलाउद्दीन सुशोभित था। प्रस्तुत उपन्यास की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ २४ अप्रैल सन् १३११ ईस्वी की एक घटना से होता है। सुल्तान ने अपने प्रिय गुलाम मलिक काफूर की दक्षिण विजय से प्रसन्न होकर उसका भव्य स्वागत करने के लिए दरबार किया था। इसी दरबार में एक बिल्कुल अप्रत्याशित घटना हो जाती है। एक पक्षी लेकर सुल्तान के सामने ही मलिक काफूर का प्रतिद्वन्द्वी मंगोल सरदार ऊलगू खाँ उससे आ भिड़ता है। संघर्ष में ऊलगू खाँ का बाज मलिक काफूर का एक नेत्र निकाल लेता है। बादशाह के सामने ही यह घटना घटित हो जाती है। इस घटना के पश्चात् ही ऊलगू खाँ दरबार से गुप्त रूप से पलायन कर जाता है।

मुख्य घटना को स्पष्ट करने के लिए उपन्यासकार ने मलिक काफूर की दक्षिण विजय से पूर्व की कथा उपर्युक्त घटना के पश्चात् आ रखी है किन्तु यह कथा में उलट फेर किसी कलात्मक पद्धति से नहीं किया गया है। जिससे कथानक की कलात्मक महत्ता क्षीण हो गई है। यदि इस कथा के उलट फेर को पूर्व दीप्ति (Flesh back) पद्धति से उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया होता तो निश्चित ही प्रस्तुत कथानक का महत्त्व बढ़ गया होता। मलिक काफूर की दक्षिण विजय की कथा सामने आ जाती है। कुछ समय के लिए ऊलगू खाँ की कथा गुप्त प्राय हो जाती है।

मलिक काफूर के देवगिरि के आगमन के माध्यम से उपन्यासकार ने राजा कर्ण राजकुमार शंकर देव एवं राजकुमारी देवल देवी आदि की कथा भी सामने ला रखी है।

कर्णदेव गुजरात का राजा था। वह कायर, आलसी अफीम का व्यसनी और कामी प्रकृति का था। उसकी पत्नी कमलावती अप्रतिम सुंदरी थी। पराजय होने पर कर्णदेव अपनी पत्नी को छोड़ केवल अपनी पुत्री देवल देवी के साथ भागकर देवगिरि के राजा रामचंद्र की शरण चला गया था। कमलावती

बंदी हुई अंत में वह अपने पति को त्याग कर सुल्तान अलाउद्दीन की बेगम बन जाती है। इतना ही नहीं वह अपनी निर्दोष बेटी देवल देवी को भी शाहजादा खिज्र खाँ के लिए बलात् पकड़ मंगवाती है। शत्रुओं को परास्त करके सुल्तान की आज्ञा से गुलाम मलिक काफूर देवल को तो ले आता है किन्तु वह स्वयं देवल से प्रेम करने लगता है। इसी समय दिल्ली में उलगू खाँ वाली उपर्युक्त घटना घटित हो जाती है। मलिक की प्रेमिका देवल का विवाह खिज्रखाँ से हो चुका था। अभी वह इस आघात को भूल भी न पाया था कि उलगू खाँ उसका अंग भंग कर गुप्त रूप से देवल का अपहरण कर देवगिरि के नए राजा हरपाल की शरण चला जाता है। सुल्तान की आज्ञा से मलिक देवगिरि पर आक्रमण करता है। युद्ध में उलगू खाँ मारा जाता है और राजा जीवित पकड़ लिया जाता है। मलिक की आज्ञा से राजा की जिंदा खाल खींची जाती है। किन्तु तो भी उसे देवल प्राप्त नहीं हो पाती। दिल्ली की ओर प्रत्यावर्तित होते समय मलिक को भी उसी के सैनिक समाप्त कर देते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक शिथिल है। एक साथ कई समानान्तर कथाएँ चली हैं। जिससे एक व्यवस्थित एवं सुगठित प्रधान कथा की अपनी अन्विति से पाठक पर पूर्ण प्रभाव डाल सके का अंत तक अभाव रहा है।

प्रस्तुत उपन्यास की केवल पृष्ठभूमि मात्र ही ऐतिहासिक है कथानक काल्पनिक ही है। उपन्यासकार ने तो स्वयं ही कह दिया है इस उपन्यास में यद्यपि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है पर इसे शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। पाठक इसे ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी की दृष्टि से न पढ़ें। इसमें केवल उस युग की जिसकी चर्चा इस उपन्यास में है—राजनैतिक और सामाजिक अस्त व्यस्त स्थिति तथा मुस्लिम सुल्तानों की नृशंस उच्छृंखलता का जिसकी साक्षी अतीत है दिया गया है।[1]

प्रस्तुत उपन्यास का सम्बन्ध सुल्तान अलाउद्दीन के जीवन से है। सुल्तान अलाउद्दीन ई० सन् १२९६ में तख्त पर बैठा और जनवरी सन् १३१६ में मर गया। उसने केवल बीस वर्ष शासन किया। परन्तु उसका यह बीस वर्ष का शासन ऐसा अद्भुत रहा कि उसने समूचे भारत का नक्शा बदल दिया। सबसे पहले यही सुल्तान दक्षिण में अपने सवार ले गया। तब सबसे पहिले इसी ने परिस्थित मुस्लिम सुल्तानों में भारतीयता का पुट दिया।……किन्तु उसकी हिंसक प्रवृत्ति और नृशंस अत्याचार अप्रतिम रहा। ……उपन्यास में जैसा

१ बिना चिराग का शहर-दो शब्द पृष्ठ ३।

कि होता ही है कल्पना से काम लिया गया है। क्योंकि इस काल का इतिहास भी पक्षपातपूर्ण और भ्रान्त है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिकता की अपेक्षा काल्पनिकता के अधिक समीप है।[1]

पत्थर युग के दो बुत

आचार्य चतुरसेन जी का यह उपन्यास कथा शिल्प की दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है। इस उपन्यास का महत्व शिल्प की नवीनता एवं प्रयोगात्मकता की दृष्टि से आचार्य जी के अन्य सामाजिक उपन्यासों से अधिक है।

कथावस्तु प्रारंभ होने के पूर्व ही लेखक ने भूमिका में स्पष्ट कहा है पत्थर-युग के दो बुत मुझे मिले हैं—एक औरत और दूसरा मर्द। जमाने ने इन्हें सभ्यता के बड़े-बड़े लिबास पहनाये इन्हें सजाया संवारा सिखाया पढ़ाया। जमाना आगे बढ़ता गया और वह सभ्यता के शिखर पर जा बैठा पर वे दोनों बुत अपने लिबास के भीतर आज भी वैसे हो पत्थर युग के बुत हैं। इनमें एक बाल बराबर भी अंतर नहीं पड़ा है—एक है औरत और दूसरा है मर्द।

इस भूमिका के पश्चात् ही कथा प्रारम्भ हो जाती है। भूमिका से ऐसा भास होता है कि कथा दो सूत्रात्मक होगी किन्तु वास्तव म प्रस्तुत कथानक छ सूत्रात्मक है। पुरुष और नारी दोनों ही के तीन-तीन पात्रों के कथा सूत्र एक साथ अनुस्यूत हुए हैं। वास्तव में यह उपन्यास 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' नामक उपन्यास की भाँति खंड अंशों में लिखा गया है। कथा को छ अंशों में विभक्त किया गया है। कथा के यही छ खंड कथा के छ विभिन्न सूत्र हैं। प्रस्तुत उपन्यास में रेखा की कथा प्रधान है। कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ भी इसी प्रधान कथा से होता है।

रेखा एक विवाहित नारी है। उसका पति सुशीलवस्तु सुरा का प्रेमी है। रेखा को सुरा से घृणा है। वह पति को सुरा सेवन से विरत करना चाहती है किन्तु इसी बात को लेकर दोनों में विचार वैभिन्य हो जाता है। रेखा की प्रधान कथा को आगे बढ़ाने लिए दत्त राय, माया वर्मा एवं लीला आदि की पांच सहायक कथायें भी साथ-साथ चलती हैं। रेखा पति की उपेक्षा सहन नहीं कर पाती। उसके अंतर में पति से प्रतिशोध लेने की भावना उमड़ आती है साथ ही वह अपने पति के अनन्य मित्र दिलीपकुमार राय की ओर शनैः शनैः आकर्षित होने लगती है। राय प्रथम से ही रेखा को अपनी भोग्य सामग्री

१ बिना चिराग का शहर-श्री राम मेघ ३ ४।

समझता था। रेखा शीघ्र ही अपने पति सुनीलदत्त के साथ विश्वासघात करके राय को आत्म-समर्पण कर देती है। इन दोनों कथाओं के साथ-साथ रेखा के पति दत्त की कथा भी चलती है। वह सुरा का प्रेमी होते हुए भी एकनिष्ठ पति है रेखा को हृदय से प्यार करता है। रेखा को दुखी देखकर वह सुरा त्याग देता है किन्तु तो भी रेखा को वह प्रसन्न नहीं कर पाता। अब यह तीनों ही कथाएँ परस्पर उलझती हुई अग्रसर होती हैं। इन कथाओं के साथ-साथ तीन अन्य कथायें भी चलती हैं। इन कथाओं का मुख्य सम्बन्ध राय की कथा से है। राय की पत्नी माया अपने पति के आचरण से असंतुष्ट है। यद्यपि राय से उसकी एक पुत्री-लीला हो चुकी है किन्तु तो भी वह अपने पति की उपेक्षा सहन नहीं कर पाती। यहीं से कथा में घात प्रतिघात प्रारम्भ हो जाता है। माया वर्मा नाम के एक अन्य अविवाहित नवयुवक की ओर आकर्षित हो जाती है। पति की ओर से पूर्ण स्वतंत्रता पाकर वह अपने पति और पुत्री को त्यागकर वर्मा से पुनः विवाह कर लेती है। इधर राय भी सुनीलदत्त की पत्नी रेखा को अपने वश में कर चुका है। रेखा एक दिन अकस्मात अपने पति से अपने और राय के सम्बन्ध में कह देती है और साथ ही राय से विवाह करने की भी इच्छा प्रकट करती है। कथा अब चरम सीमा पर पहुँच जाती है। दत्त पूर्ण घटना सुनकर मौन हो जाता है। उसका अंतर्द्वन्द्व बढ़ जाता है। वह अवसर पाकर गुप्तरूप से राय के समीप पहुँचकर रेखा के साथ विवाह करने की बात कहता है किन्तु राय इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। राय का उत्तर था "सब तो जो जो औरतें मेरे साथ सोती हैं मुझे उन सबसे शादी करनी पड़ेगी"।[1] दत्त को उसके इस उत्तर पर क्रोध आ जाता है और वह राय को गोली का निशाना बना देता है। यही कथा की चरम सीमा है। चरमसीमा के पश्चात् उपसंहार का भी क्रम है। अंत में दत्त को मृत्यु दण्ड की आज्ञा होती है। उपसंहार में रेखा के पश्चाताप का संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है।

प्रस्तुत कथा में यद्यपि रेखा की कथा प्रधान है किन्तु तो भी उसे अन्य कथाओं से विलग आधिकारिक कथा की संज्ञा नहीं दी जा सकती कारण उन सब कथाओं से विलग उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह जाता। कथा खण्ड-रूपों में प्रधान पात्र-पात्रियों को आधार बनाकर चलती है। सभी पात्र अपनी दृष्टि से ही अपने से सम्बंधित कथा कहते हैं जिससे अन्य पात्रों की कथाओं को निकाल देने से किसी भी एक पात्र की कथा अपने में स्वतः पूर्ण

---

१ पत्थर युग के दो बुत पृ० १८१।

नहीं रह पाती। सब मिलाकर कथा संगठित है। अंतराल शैली के माध्यम से सभी स्वतंत्र कथा-खंडों को लेखक ने बड़े यत्न और कौशल से एक ही शृंखला में अनुस्यूत किया है।

कथानक के विभिन्न खंडों में विभक्त होने पर भी उसकी रोचकता अंत तक बनी ही रही है किन्तु वर्मा एवं वरा के अंतराल के वे अंश जिसमें उन दोनों ने शास्त्र के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है[1] से कथा कई स्थानों पर अवरुद्ध हो गई है। कथा के माध्यम से इस प्रकार के सिद्धांतों के प्रतिपादन ने कथा की कलात्मक महत्ता को न्यून कर दिया है।

'अज्ञेय' के उपन्यास 'नदी के द्वीप' की भांति यह उपन्यास भी सामाजिक विधि-निषेध से किंचित् तटस्थ परम्परित जीवन व्यवस्था से कुछ विच्छिन्न समाजहृत रूढ़ियों बंधनों व्यंजनाओं से मुक्त यह कुछ व्यक्तियों का अपना जगत है जो अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करते हैं और जीवन की एक नई दिशा की ओर संकेत करते हैं।[2] किन्तु इस उपन्यास में अपनी भिन्न की विशेषता है इसमें परम्परित जीवन व्यवस्था के प्रति विद्रोह के संकेत भले ही प्राप्त हो जायें किन्तु उन संकेतों के परिपार्श्व में उपन्यासकार ने स्पष्ट यह निर्देश किया है कि इस व्यवस्था के प्रति विद्रोही होकर उच्छृंखल हो जाना निश्चित ही घातक है। उपन्यासकार ने कथा के प्रारंभ में जो भूमिका दी है उसमें भी उसका स्पष्ट संकेत है कि मनुष्य की काम विषयक भावनाओं में आदिम युग से एक बाल बराबर भी अंतर नहीं आया है। आज भी वह वैसा ही हिंसक है जैसा तब था। जहाँ उसकी प्राचीन मान्यताओं को किंचित मात्र भी ठेस पहुँची वहीं वह विद्रोही हो जाता है। वास्तव में प्रस्तुत उपन्यास पारिवारिक जीवन के माध्यम से उसमें के नित्य परिवर्तित होते हुए मूल्यों को देखने का बड़ा सुन्दर प्रयास है।

इस उपन्यास की प्रमुख समस्या काम विषयक है। निश्चित ही समस्या महत्वपूर्ण है। इसके पांच प्रमुख पात्र हैं और उन सभी की समस्यायें लगभग एक सी हैं। रेखा विवाहित होते हुए भी अपने पति वरा से असंतुष्ट है कुंवर राय भी विवाहित है किन्तु वह भी अपनी पत्नी माया के नीरस सहर्ष से ऊब चुका है। दोनों ही अतृप्त हैं। माया भी अपने पति राय से उपेक्षित होने के कारण एक दूसरे अतृप्त नवयुवक का सांचल मानती है। इस

१ पत्थरयुग के दो बुत-पृ० ५५ ८०।
२ हिन्दी उपन्यास-पृष्ठ ३१५।

प्रकार इसके समस्त सभी प्रमुख पात्र चिर अतृप्त कामासक्त हैं। सभी काम के दुर्दम्य आकर्षण से पराभूत होकर अपनी वास्तविक स्थिति को भूल चुके हैं। समाज के जर्जर बंधन इनकी काम बुभुक्षा के मार्ग में अवरोध बनने में असमर्थ हो चुके हैं। मनुष्य की वासनात्मक पशु प्रवृत्ति अपने नग्न रूप में सामने आ चुकी है। किन्तु आज की सभ्यता के कृत्रिम आवरणों ने इस नग्नता को ढक लिया है केवल मुनीश्वरदत्त की नग्नता ही इस आवरण से परे है कारण वह पुरानी लकीर का फकीर है वह अपनी पत्नी की उपेक्षा पर किसी दूसरी रमणी का आँचल नहीं थामता वरन् वह अपनी पत्नी को पथभ्रष्ट करने वाले नरपशु की हत्या कर डालता है। कथा का यह अंत दिखाकर लेखक ने उपर्युक्त सभी समस्याओं का निष्कर्ष प्रस्तुत कर दिया है। उसका स्पष्ट रूप से कहना है 'वह आदमी जो घर की पवित्रता को भंग करता है, दूसरे की विवाहिता स्त्री को व्यभिचारिणी होने में सहायता देता है व्यभिचारिणी बनाता है उसकी कम से कम सजा मौत है। वह समाज के लिए एक भयंकर खतरा है। अंत में उपन्यासकार ने सेक्स की मूल समस्या का समाधान आदर्शवादी ढंग से किया है। उसका कथन है 'हो सकता है कि स्त्री पुरुषों को गृहस्थ जीवन में शारीरिक बाधायें हों मानसिक बाधायें भी हों—इतनी बड़ी इतनी शक्तिवान कि जिनके कारण जीवन का सारा आनंद ही खत्म हो जाय। इस समय स्त्री या पुरुष दोनों को अपने उच्च चरित्र का त्याग और निष्ठा का सहारा लेना चाहिए, वासना का नहीं।[1] इसके बिल्कुल विपरीत अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' में प्रस्तुत सेक्स समस्या का निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। आचार्य चतुरसेन भी उस यथार्थवादी निष्कर्ष को समाज के लिए घातक मानते हैं, इसी कारण से उन्होंने अपना आदर्शवादी निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। 'नदी के द्वीप' की भाँति यह उपन्यास खंडों में तो विभक्त है किन्तु इसमें उसकी भाँति खंडों के मध्य 'अंतराल' नहीं है जिससे इसकी कथा अन्त तक संगठित एवं शृंखलाबद्ध रही है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'काले फूलों का पौधा' शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास से कुछ-कुछ साम्य रखता है।

वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी के प्रस्तुत उपन्यास का कथानक 'हृदय की प्यास' 'अदल बदल' एवं 'आभा' के समान ही है। 'अदल बदल' के मास्टर हरप्रसाद एवं 'आभा' का अनिल एक प्रकार से निष्क्रिय द्रष्टा मात्र हैं। वे प्रेम तथा सहानुभूति के द्वारा हृदय-परिवर्तन के गांधीवादी आदर्श के पक्ष में हैं

---

१ पत्थर युग के दो बुत-पृ० १८८।

इन दोनों ही पात्रों का निज का कोई व्यक्तित्व नहीं। यह केवल पत्नी के हाथों की कठपुतली मात्र है। किंतु प्रस्तुत उपन्यास का सुनील पुरुष है—तेज पुरुष प्रखरता आदि गुणों से पूर्ण। प्रथम तीनों उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन जी ने गांधीवादी सिद्धांतों का ही आश्रय लिया है। उनमें वे आदर्श की ओर अधिक उन्मुख दीख पड़ते हैं, जबकि प्रस्तुत उपन्यास यथार्थ की भाव भूमि पर आधारित है।

आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत उपन्यास की रचना कैप्टेन नामावली-कांड से प्रभावित होकर की थी।

सोना और खून

प्रस्तुत उपन्यास यदि पूर्ण हो गया होता तो केवल भारतीय भाषाओं में ही नहीं वरन् विश्व की समस्त भाषाओं में सबसे विशालकाय उपन्यास होता किन्तु दुःख है कि इसे पूर्ण करने से पूर्व ही आचार्य चतुरसेन जी इस संसार को त्याग कर चल दिए। उनकी प्रस्तुत उपन्यास को कुल पचास खंडों और दस भागों में समाप्त करने की योजना थी किन्तु वे केवल दो भाग एवं तृतीय भाग का खंड ही पूर्ण कर सके। दूसरे भाग का उत्तरार्द्ध उन्होंने निधन से कुछ दिन पूर्व ही पूर्ण किया था। आचार्य जी का प्रस्तुत उपन्यास हमें 'चार्ल्स डिकेन्स' के अधूरे उपन्यास दि मिस्टरी आफ एडविन ड्रुड' का स्मरण दिला देता है। कथा संघटन की दृष्टि से बंगला उपन्यासकार का 'साहब बीबी गुलाम' उपन्यास प्रस्तुत उपन्यास का संक्षिप्त रूप कहा जा सकता है। उसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी से अब तक के कलकत्ता की कथा है और प्रस्तुत उपन्यास में १६२७ से १९४७ तक के इतिहास की घटनाओं का चित्रण उपन्यासकार करना चाहता था। प्रस्तुत उपन्यास की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था कि 'यह अंगरेजों के भारत आने से भारत छोड़ने तक के समस्त ऐतिहासिक काल की वृहद् गाथा होगी जिसमें एक विदेशी जाति के कौशल देशभक्ति वीरता कूटनीति स्वार्थपरता और क्रूरता के साथ पश्चिम और पूर्व की विचारधाराओं का टकराव नये और पुराने का संघर्ष भारत का राष्ट्रीय पतन और उत्थान कड़ियाँ पर विज्ञान की विजय स्वतंत्रता आंदोलन त्याग और बलिदान के सजीव दृश्य प्रस्तुत किये जायेंगे।[१] वे इन दो भागों में केवल सन् १८५७ तक की कथा को ही रोचक ढंग से प्रस्तुत कर सके हैं। सन १८५७

१ धर्मयुग-दिसम्बर १ १९५७ 'आचार्य चतुरसेन लिखक और मानव भी हंस 'एडवर'।

के विषय में उनका दृष्टिकोण अन्य विद्वानों से भिन्न था। एक बार उन्होंने प्रस्तुत प्रबंध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में बतलाया था मैं सत्तावन का विद्रोह देशभक्तों ने किया यह नहीं मानता कारण उस समय भारत एक राष्ट्र और एक देश नहीं था। अतः राष्ट्रीयता और देशप्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता। और साथ ही मैं यह भी नहीं मानता कि भारत के वर्तमान स्वतन्त्रता संग्राम में सन् सत्तावन की कोई प्रतिक्रिया थी कारण जब उस समय राष्ट्रीय परम्परा ही न थी तो उसकी प्रतिक्रिया का प्रश्न ही कहाँ उठता है।'[1] इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास में आचार्य जी ने कितने ही मौलिक प्रश्नों को उठाया है।

यहाँ हम दोनों भागों एवं बारहों खंडों की प्रधान कथाओं को एक साथ ले रहे हैं। एक दो हजार पृष्ठों के बृहत उपन्यास में लगभग १०९ प्रधान और प्रासंगिक कथाएँ प्राप्त होती हैं। प्रथम भाग के छः खंडों में ही कई कथा सूत्र हैं किंतु इन दोनों में चौधरी प्राणनाथ के परिवार की कथा प्रधान है। चौधरी प्राणनाथ की कथा प्रथम भाग के पूर्वार्द्ध में समाप्त हो जाती है उत्तरार्द्ध में कथा चौधरी परिवार के एक सदस्य-सौबलसिंह को लेकर विकसित हुई है। यह कथा प्रथम भाग के चौथे खंड में ही समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् प्रथम भाग के ही पाँचवें और छठे खंड में अन्य छोटी-छोटी स्वतन्त्र कथाएँ विकसित हुई हैं। प्रस्तुत उपन्यास के इस भाग का विकास कुछ-कुछ ड्यूमा के 'थ्री मस्केटियर्स' और 'ट्वेंटी इयर्स ऐण्ड आफ्टर' के ढंग पर हुआ है। श्री देवकी नंदन खत्री के 'चंद्रकांता' तथा 'चंद्रकांता संतति' नामक उपन्यासों में भी एक ही परिवार की दो पीढ़ियों की कथा कही गई है।

प्रस्तुत उपन्यास के प्रथम भाग (पूर्वार्द्ध) के प्रथम खंड की कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ मियाँ खुर्शीद मुहम्मद खाँ उर्फ बड़े मियाँ के परिचय से होता है। मियाँ की कथा यहीं से धीरे-धीरे विकसित होने लगती है। शीघ्र ही चौधरी प्राणनाथ की कथा भी इससे आ संयुक्त होती है। दोनों कथाएँ कुछ बढ़कर रुक जाती हैं। द्वितीय खंड में यही कथा पुनः लौट पड़ती है। अब इसमें कथा का प्रारम्भ उपर्युक्त कथा के पैंतीस वर्ष पूर्व घटित घटना से होता है। इस कथा के केंद्र में चौधरी और बड़े मियाँ का ही चरित्र है। वास्तव में उपर्युक्त दोनों कथाएँ ही पीछे लौटकर पुनः चली हैं। इसको हम 'काल क्रम में

---

१ धर्मयुग-अगस्त ९, १९६९ आचार्य चतुरसेन-व्यक्तित्व और विचार-शुभकार नाथ कपूर।

उलट-पलट (Time Shift) वाली टेकनीक कह सकते हैं किन्तु वास्तव में यह पूर्वस्पेस यह टेकनीक नहीं है। इसकी आगे हम व्याख्या करेंगे। द्वितीय खंड का प्रारम्भ चौधरी की कथा से ही होता है। इसके साथ-साथ कितनी ही सहायक कथाएँ एवं स्वतंत्र कथाएँ भी विकसित होती चीख पड़ती हैं। 'तृतीय खंड' में भी यही कथा चीख पड़ती है। कुछ दूर तक तो यह कथा सहायक कथाओं को अपने साथ लिए हुए चलती है किन्तु मध्य में आकर यह कथा सहायक कथाओं के पीछे रुककर लुप्तप्राय हो जाती है। छोटी-छोटी कितनी ही सहायक कथाएँ आ-आ कर कथानक को खिसकाने लगती हैं जिससे कथा ठिठकती हुई अग्रसर होने लगती है। गाजी मसीउद्दीन हैदर की कथा अवश्य कुछ समय तक स्वतन्त्र चलती है किन्तु शीघ्र ही इस कथा का भी अतिक्रमण करती हुयी चौधरी की कथा पुनः प्रकट हो जाती है। चौधरी की यह कथा 'प्रथम खंड' में आई हुई घटनाओं के पश्चात् की है। यहीं पुराने बरगों का खात्मा हो जाता है। चौधरी प्राणनाथ की मृत्यु हो जाती है और बड़े मिर्जा गुप्त रूप से पलायन कर जाते हैं। यहीं दोनों प्रधान कथाएँ समाप्त हो जाती हैं। प्रथम भाग 'पूर्वार्द्ध' की समाप्ति भी यहीं हो जाती है।

प्रथम भाग के उत्तरार्द्ध की कथा का प्रारम्भ चौधरियों के नामी घराने के एक तरुण सौवर्णसिंह के चरित्र को आधार बनाकर होता है। चौधरी के परिवार में केवल यही शेष रह गया था। यह चौधरी के सबसे छोटे बेटे सुखपाल का बेटा था। चौथे खण्ड में कथा सूत्र इसी के चरित्र के चारों ओर घूमता रहता है।

प्रथम भाग के 'उत्तरार्द्ध' के 'पाँचवें खण्ड' में एकदम नवीन कथा का प्रारम्भ होता है। इस कथा का आरम्भ 'समहवीं शताब्दी की दुनिया' से होता है। इस खण्ड की कथा भारत भूमि इंगलैंड फ्रांस एवं अन्य द्वीप समूहों को आधार बनाकर विकसित हुई है। छोटे-छोटे कितने ही कथा सूत्र आते जाते रहते हैं। कथा में कोई शृंखला नहीं रह पाई है। कहीं कथा यूरोप के नगरों की प्रमुख घटनाओं को आधार बनाकर चली है तो कहीं भारत की। कथाकार का उद्देश्य केवल उन घटनाओं को प्रस्तुत करना है जिनमें सोने के लिए खून बहाया गया है। छठे खण्ड में भी कथा का यही क्रम रहा है। कथा में कोई क्रम भी नहीं रहा है। कहीं कथा प्रथम भाग के पूर्वार्द्ध की घटनाओं के भी पर्दे की आ गई है तो कहीं एकदम बाद की। उदाहरण के लिए हम छठे खण्ड के कुछ अध्यायों को ले सकते हैं। अध्याय चालीस 'सीता एक आठ'[1] में सन्

1 सोना और खून-प्रथम भाग उत्तरार्द्ध-अध्याय ४० पृ० १६६।

१६०८ की एक घटना दी गई है 'मंज ए सबाई'[1] में सन् १६९५ की एक घटना दी गई है इसके पश्चात् ही मुगल सम्राट आलमगीर की कथा आ गई है[2] कुछ ही अध्यायों के पश्चात् सन् १७२० की एक घटना आ गई है[3] इस प्रकार १७वीं शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी की कथाएँ लौट-लौट कर आती गई हैं। कथा का क्रम भंग है। लेखक ने विशेष क्रम मिलाने की चेष्टा भी नहीं की है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उपन्यासकार का उद्देश्य विश्व की उन समस्त घटनाओं को प्रस्तुत करने का रहा है जो 'सोना और खून' के लिए हुई हैं। लेखक ने बारह पृष्ठों की भूमिका में यह स्पष्ट रूप से कह भी दिया है।[4]

प्रस्तुत उपन्यास का द्वितीय भाग भी छै खंडों में विभक्त है। प्रस्तुत भाग के प्रथम खंड में अट्ठारहवीं शताब्दी की सामाजिक स्थिति को विभिन्न कथाओं के माध्यम से साकार करने का प्रयत्न किया गया है। कई स्थानों पर एक ही कथा सूत्र में सामाजिक धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों को गूंथ दिया गया है उदाहरण के लिए हम लाहौर की छाती पर[5] देसी राज्यों की लाय[6] तोपों का युद्ध[7], मुर्दों वाली मस्जिद[8] मिरजे की मुलाकात[9] आदि अध्यायों के कथा सूत्रों को ले सकते हैं सन् १८५७ के गदर की पृष्ठभूमि इसी खंड से बननी प्रारम्भ हो जाती है। इसी भाग के उत्तरार्द्ध में आकर कथा इसी पृष्ठभूमि पर शनैः शनैः विस्तार पाने लगती है। छोटे-छोटे कथा सूत्र इस कथा को शनैः शनैः अग्रसर करने लगते हैं। तीसरे खंड में भी यही कथाएँ चली हैं। इनके माध्यम से उपन्यासकार ने तत्कालीन वातावरण को सम्मुख ला खड़ा किया है। तीसरे खंड के अन्तिम अध्याय में गदर की आग भड़क उठती है। इसके अन्य खंडों में इस भड़की हुई आग का विस्तृत वर्णन किया

---

१ सोना और खून-प्रथम भाग उत्तरार्द्ध-अध्याय ४१ पृ० २७७।
२ सोना और खून-प्रथम भाग उत्तरार्द्ध-अध्याय ४४ पृ० २८०।
३ सोना और खून-प्रथम भाग उत्तरार्द्ध-नया आदमी।
४ सोना और खून-प्रथम भाग पूर्वार्द्ध-पृ० १ से २०।
५ सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय १२।
६ सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय १५।
७ सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय १७।
८ सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय १९।
९. सोना और खून-दूसरा भाग पूर्वार्द्ध-अध्याय ४९।

पात्र और चरित्र-चित्रण

जिस प्रकार से संसार का अस्तित्व-जिसमें कि हम विचरण करते हैं—प्राणि-मात्र पर निर्भर है उसी प्रकार से किसी भी कथानक का आधार किसी भी उसके पात्र हैं। जिस प्रकार से हम बिना प्राणियों के संसार की कल्पना नहीं कर सकते उसी प्रकार से पात्रों के अभाव में किसी कथानक की भी कल्पना करना असम्भव है। इसी कारण से पात्र को उपन्यास-कला में कथानक के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण तत्व माना गया है।

चरित्र—

"चरित्र से तात्पर्य है पात्र या मनुष्य के व्यक्तित्व का बाह्य और आंतरिक स्वरूप। मनुष्य का बाह्य (उसका आकार प्रकार, वेश-भूषा आचार-विचार, रहन-सहन चाल-ढाल बातचीत का निजी ढंग तथा कार्यकलाप) उसके अंतःकरण का बहुत कुछ प्रतीक होता है।[1] उसका यह 'अंतः' क्या है? मनोवैज्ञानिक मानव के चरित्र के अंतर्गत उसके आंतरिक गुणों पर ही विचार करते हैं। सुप्रसिद्ध शिक्षा मनोवैज्ञानिक रास का मत है कि चरित्र हमारी मूल-प्रवृत्तियों तथा स्थायी भावों से सुसंगठित व्यापक स्थायी-भाव है। इस संगठन की पूर्णता या शैथिल्य पर ही चरित्र की सबलता और दुर्बलता निर्भर है।[2] मूलप्रवृत्ति प्राणियों में पाई जानेवाली एक जन्मजात मानसिक गठन या वृत्ति है। यह वृत्ति दी हुई परिस्थितियों में प्राणी की गति विधि विशेष को निश्चित करती है। मैग्डूगल ने चौदह मूल-प्रवृत्तियाँ—संतान-कामना, युयुत्सा कुतूहल भोजनान्वेषण विरक्ति पलायन सामूहिकता आत्म-गौरव दैन्य काम-प्रवृत्ति विधायक-वृत्ति शरणागति तथा हासवृत्ति स्वीकार की है।[3] इन्हीं के आधार पर सम्बद्ध

१ काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय पृ० १७८।

२ एजूकेशनल साइकालोजी रास पृ० १२१।

३ एजूकेशनल साइकालोजी रास पृ० ३१ से ३२ तक।

वात्सल्य-स्नेह क्रोध, आश्चर्य भूख-प्यास तथा घृणा आदि १४ संवेग उसने माने हैं।[१]

"सुख दुःख, पीड़ा आदि आंतरिक राग कहलाती हैं। किसी कारण से जब ये राग सबल रूप धारण कर व्यक्त हो उठते हैं संवेग कहलाते हैं। जब अनेक संवेग किसी एक वस्तु, व्यक्ति अथवा विचार से सम्बद्ध हो हमारे मन में एक संस्कार उत्पन्न कर देते हैं उस समय मानसिक गठन में संस्कारों का यह स्थायी संगठन स्थायी भाव की संज्ञा पाता है।"[२]

'अतः मनुष्य के व्यक्तित्व का आंतरिक पक्ष उसके हाड़ मांस के बाह्य व्यक्तित्व के किसी कोने में अंतःकरण में सुप्त सा छिपा रहता है। चरित्र चित्रण करते समय उपन्यासकार पात्र के आंतरिक गुणों को गुप्त अंधकार से जगत के प्रकाश में लाने के उद्योग में लगा रहता है। वह पात्र की मूल प्रवृत्तियों संवेगों तथा स्थायी भावों को गिनता नहीं वरन् ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है कि जिनसे पात्र का संघर्ष होने पर उसके दबे-ढके गुण स्वतः स्वाभाविक रूप से बाहर उभर आयें। इस प्रकार पात्रों के चरित्र को स्पष्ट और विकसित करने का कार्य परिस्थितियाँ घटनायें या उपन्यास की कथा स्वतः करती है। चरित्र का विकास धीरे धीरे होने पर ही उसकी स्वाभाविकता और आकर्षण की रक्षा सम्भव है।[३]

पात्रों का वर्गीकरण

सभी पात्र समान नहीं होते। कुछ आदर्श होते हैं तो कुछ साधारण कुछ में मानवीय गुणों की प्रचुरता होती है तो कुछ में अमानवीय गुणों का बाहुल्य। कभी एक ही पात्र किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करता हुआ अग्रसर होता है, तो कभी कोई अपना निज का व्यक्तित्व प्रस्फुटित करता हुआ सामने आता है। इस दृष्टि से हम पात्रों को निम्न दो वर्गों में रख सकते हैं—

१ वर्गगत प्रतिनिधि या सामान्य पात्र—जब पात्र अपनी कुछ सामान्य विशेषताओं के कारण किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करने लगे।

२ व्यक्तित्व प्रधान-पात्र—अपनी निज की विशेषताओं के कारण यह उपन्यास के अन्य पात्रों से किंचित भिन्न एवं विलक्षण होते हैं।

---

१ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० शशिभूषण सिंहल पृ० ११८।

२ निराश मनोविज्ञान की रूप रेखा विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी पृ० १२१ १२९।

३ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिंहल पृ० ११८ से ११९ तक।

किंतु जहाँ तक वर्ग गत एवं व्यक्तित्व प्रधान पात्रों का प्रश्न है किसी भी उपन्यास के पात्रों का निर्माण इस कसौटी पर कस कर नहीं किया जाता। एक साधारण पात्र में सामान्य एवं व्यक्तित्व दोनों ही प्रकार की विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। जब उसमें सामान्य गुणों का आधिक्य हो जाता है तो उसे हम वर्गगत पात्र और जब उसमें व्यक्तित्व प्रधान गुणों का बाहुल्य हो जाता है तो उसे व्यक्तित्व प्रधान पात्र कहते हैं। वर्गगत पात्रों में भी केवल उस समाज विशेष में प्राप्त होने वाले सामान्य गुण ही नहीं वरन् कुछ गुण उसके निज के व्यक्तित्व को प्रकट करने वाले भी रहते हैं। यह गुण पात्र विशेष स्वयं अपने साथ लाता है उस वर्ग विशेष में उन गुणों का होना अनिवार्य नहीं है।

वास्तव में उसी पात्र का चरित्र-चित्रण अधिक सफल कहा जाता है जिसमें सामान्य एवं विशेष दोनों ही गुणों का सानुपातिक समन्वय हो। सामान्यता एवं विलक्षणता दोनों के ही अतिरेक से पात्र निर्जीव एवं अस्वाभाविक हो जाते हैं।

कुछ विद्वानों ने पात्रों का एक अन्य विभाजन भी किया है। उनके अनुसार पात्रों को दो भागों में रखा जा सकता है—

१ स्थिर

२ गतिशील या परिवर्तनशील

'स्थिर चरित्रों में बहुत कम परिवर्तन होता है। और गतिशील चरित्रों में उत्थान और पतन अथवा पतन और उत्थान दोनों ही बातें होती हैं।'[1]

श्री ई० एम० फास्टर ने कुछ इसी से मिलता-जुलता पात्रों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उसने पात्रों के 'फ्लैट' तथा 'राउन्ड' दो भेद किये हैं। 'फ्लैट' वह उन चरित्रों को मानता है जो मूलतः एक ही विचार या विशेषता के चारों ओर उसी को केन्द्र मानकर घूमते रहते हैं। जैसे ही उनका यह केन्द्र गत विचार या विशेषता एक से अधिक हो जाती है, तब उन्हें 'राउंड' कहा जाता है। इस प्रकार से ये दोनों ही प्रकार के पात्र सहज ही पहचाने जाने योग्य होते हैं। उन्हें पाठक बहुत सरलतापूर्वक स्मरण रख सकता है। चूंकि परिस्थितियों के परिवर्तन का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता इसलिए वे सदा समान विशेषताएँ रखते हैं।[2]

---

१ काव्य के रूप—डा० गुलाबराय पृ० १७९।

२ हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास डा० प्रतापनारायण टंडन पृ० ८८।

चरित्र चित्रण की शैलियाँ

उपन्यासकार चरित्र चित्रण के लिए प्रायः निम्न दो प्रकार की शैलियों का अवलम्बन करता है —

१ विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष (एनोलिटिक)

२ नाटकीय या अभिनयात्मक अथवा परोक्ष (ड्रामेटिक)

१ विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष —

इसमें उपन्यासकार स्वयं अपने पात्रों को निर्संग दृष्टि से देखता है और एक वैज्ञानिक या आलोचक की भाँति उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों विचारों मनोवृत्तियों आदि का तटस्थ भाव से विश्लेषण प्रस्तुत करता जाता है और कभी-कभी उस पात्र विशेष के संबंध में अपना स्वयं का मत या निर्णय भी दे बैठता है। इससे पाठक को स्वयं अपना निर्णय अथवा मत निश्चित करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता जिससे वह पात्रों को अपना आत्मीय नहीं समझ पाता। जब भी वह पात्र को अपना आत्मीय समझना चाहता है, अथवा उसे निकट से देखना चाहता है लेखक स्वयं एक मध्यस्थ के रूप में पात्र और पाठक के मध्य आ उपस्थित होता है। इससे पाठक पात्र को स्वयं अपना सा न समझकर एक दूर का व्यक्ति समझने लगता है जिससे उसका पूर्ण साधारणी करण नहीं हो पाता। लेखक की पग-पग पर उपस्थिति के कारण पाठक पात्र को एक विदेशी के समान ही समझता रहता है जिससे कि वह उसकी भाषा न ज्ञात होने के कारण एक 'दुभाषिए' के द्वारा वार्तालाप करता है। इस पद्धति का यदि कुछ अंशों में प्रयोग किया जाय तो पाठक को चरित्र को समझने में सरलता रहती है किन्तु इस पद्धति का अधिक प्रयोग उपन्यास को बोझिल बना देता है। पग-पग पर पाठकों को सम्बोधित करते हुए चलना स्थान-स्थान पर अपनी उपस्थिति का आभास देते रहना पात्रों के विषय में पाठक के स्वयं के निर्णय की उपेक्षा कर अपना स्वयं का आधिकारिक निर्णय दे बैठना गौण पात्रों को अपने व्यक्तित्व के परिपार्श्व में छिपा कर स्वयं पाठकों के समक्ष आ उपस्थित होना उपन्यासकार की अनुभवहीनता एवं उपन्यासकला के प्रति उसकी अनभिज्ञता के द्योतक हैं। ऐसी दशा में उपन्यासकार के पात्र स्वयं अपना व्यक्तित्व नहीं निखार पाते वे प्रत्येक क्रियाकलाप को कार्यान्वित करते समय अपने निर्माता उपन्यासकार के मुखापेक्षी रहते हैं जिससे वे सजीव पात्र न रह कर कठपुतली के पात्रों के समान आचरण करने लगते हैं। अतएव यह नितांत आवश्यक है कि उपन्यासकार इस पद्धति का प्रयोग सतर्कता एवं संयम पूर्वक करे।

किन्तु इससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस पद्धति की सर्वथा उपेक्षा की जाय। इसका सर्वथा बहिष्कार करने पर हम औपन्यासिक क्षेत्र में मिले अभिव्यक्ति के एक नवीन साधन से अनायास हाथ धो बैठेंगे। नाटक रचना में विश्लेषणात्मक पद्धति का कोई स्थान नहीं है किन्तु उपन्यासकार इसका प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र है। अतः उपन्यासकार को इस स्वाभाविक देन से वंचित करने का अर्थ होगा उसकी स्वतंत्रता का हनन तथा उस पर नाटककार को बलपूर्वक थोपना।[1]

२ नाटकीय या अभिनयात्मक —

इसमें उपन्यासकार पात्रों की सृष्टि करके उन्हें कार्य क्षेत्र में विधाता की भाँति छोड़कर स्वयं दूर जा खड़ा होता है। पात्र कार्य क्षेत्र में प्रवृत्त होकर स्वयं अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित करते हैं। उनके कार्यकलाप पारस्परिक कथोपकथन स्वगत कथन एवं अंतर्द्वंद्व द्वारा ही उनका चरित्र स्वयं स्पष्ट होता चलता है। पात्र विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर घात-प्रतिघात खाता हुआ उत्कर्ष अपकर्ष को पार करता हुआ अपने निकटस्थ पात्रों का स्वयं विश्लेषण करता हुआ रंगस्थली पर अभिनय करता जाता है। उपन्यासकार की यह सृष्टि भी विधाता की सृष्टि की भाँति अपरोक्ष से संचालित होती है। एक बार पात्र की सृष्टि करने के पश्चात् उपन्यासकार उसे अपने पैरों पर चलने देता है अपने स्वयं के गुणों अवगुणों पर अपने भविष्य का निर्माण करने की स्वतंत्रता देता है। उपन्यासकार स्वयं विधाता की भाँति सृष्टा होते हुए भी पाठक की भाँति दृष्टामात्र रह जाता है। वह भी अन्य पाठकों की भाँति तटस्थ भाव से अपने निर्मित पात्र के एक एक गुण अवगुण को अनावृत होते देखता है। पाठक के समान ही वह उसमें रस लेता है। पाठक भी पात्र के प्रति उतनी ही आत्मीयता का अनुभव करता है, जितना स्वयं लेखक। इस पद्धति के द्वारा लेखक पात्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों का उद्घाटन अपरोक्ष में रहते हुए भी करने में पूर्ण सफल रहता है। पात्रों के कथोपकथन लम्बे विश्लेषणात्मक वर्णनों से कहीं अधिक रोचक एवं प्रभावशाली होते हैं।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उपर्युक्त दोनों शैलियाँ परस्पर विरोधिनी हैं। डा० भगीरथ जी मिश्र ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है 'इसमें (नाटकीय शैली में) भी पृष्ठभूमि में उपन्यास-लेखक विश्लेषण-पूर्ण विवरण

१ दि स्टडी आफ लिट्रेचर पृ १९४ पृ १४० उद्धृत उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिद्धस।

प्रस्तुत करता है। यह सोचना कि एक शैली सर्वथा दूसरी से निरपेक्ष रूप में आती है भ्रमात्मक है। एक को अधिक आधुनिक समझना भी उचित नहीं क्योंकि मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को स्पष्ट करने के लिए विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है। अतः उद्देश्य और चरित्र के अनुसार इन दो में से जो शैली अधिक उपयुक्त हो उसका प्रयोग करना चाहिए। वास्तव में आजकल के सफल उपन्यासों में समन्वित शैली का उपयोग होता है। जिसमें नाटकीय और विश्लेषणात्मक दोनों विधियाँ यथावश्यक रूप में प्रयुक्त होती हैं।[1]

आचार्य जी ने अपने प्रौढ़ उपन्यासों में समन्वित शैली का ही प्रयोग किया है। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों यथा 'हृदय की परख' 'हृदय की प्यास' 'बहते आँसू' 'आत्मदाह' 'पूर्णाहुति' आदि में उन्होंने विश्लेषणात्मक पद्धति का खुलकर प्रयोग किया है। इन उपन्यासों में स्थान-स्थान पर वे पाठकों को सम्बोधित करते चले हैं।[2] परंतु अपने आगे के उपन्यासों यथा—'नमरक्षा' 'सोमनाथ' आदि में उन्होंने इन दोनों ही पद्धतियों का परिष्कृत एवं संतुलित प्रयोग किया है। इन उपन्यासों में दोनों प्रणालियों का समन्वय अवश्य है किन्तु फिर भी इनमें विवरण का प्रयोग अपेक्षाकृत न्यून ही है। अपने पात्रों के विषय में उसके स्वयं एकाध वाक्य ही कहा है। उसके यह वाक्य आप्त वाक्य के रूप में अन्त तक सहायता देते हैं। इन वाक्यों में उसके उस पात्र के चरित्र का बीज रहता है। जो परिस्थिति कार्य व्यापार, कथोपकथन स्वगत कथन आदि उपकरणों के द्वारा पल्लवित होता चलता है। उदाहरण के लिए हम उसके 'सोमनाथ' उपन्यास में चित्रित भीमदेव महमूद एवं गंग सर्वज्ञ के चरित्रों को ले सकते हैं। इन तीनों ही पात्रों के विषय में उसने उपन्यास के प्रारम्भ में (निर्मास्या नामक अध्याय में) जो शब्द कहे हैं[3] उनसे जिन विशेषताओं को उसने ध्वनित करना चाहा है—वही विशेषताएँ उपन्यास में आदि से अंत तक भिन्न-भिन्न अवसरों और परिस्थितियों में किसी न किसी रूप में व्यक्त होती रही हैं।

पात्र और कथानक

उपन्यास के सभी तत्वों में कथानक और पात्र का महत्व सबसे अधिक है। दोनों में किसका महत्व अधिक है इस पर भी विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ

---

१ काव्यशास्त्र डा० भगीरथ मिश्र-पृ० ८६।
२ बहते आँसू-पृ० ९९।
३ सोमनाथ-पृ० ८ ९।

विद्वान उपन्यास के सभी तत्वों में कथानक को सर्वप्रमुख स्थान देते हैं 'उपन्यास के सभी तत्वों में कथानक सर्वप्रमुख है'[1] दूसरी ओर कुछ विद्वान् पात्रों को उपन्यास में कथानक से अधिक महत्वपूर्ण बतलाते हैं। उनका मत है 'पात्रों का क्रियाकलाप कथा को जन्म देता है और कथा की नूतन परिस्थितियाँ पात्रों को उनका व्यक्तित्व विकसित करने का अवसर प्रदान करती हैं। यदि दोनों में से किसी एक को अपेक्षाकृत अधिक महत्व का प्रश्न उठाया जाय तो उपन्यास में पात्र निश्चित रूप से अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार करने होंगे। उपन्यास का ध्येय है मानव चरित्र का चित्रण। इस चरित्र के चित्रण के हेतु घटनाओं का संयोजन आवश्यक है। अतः उपन्यास में साध्य है मानव चरित्र का चित्रण और साधन है घटनाएं। यही घटनाएं कथानक हैं। यदि इन घटनाओं को सू सम्बद्ध कर एक लक्ष्य की दिशा में संयोजित कर दिया जाय तो कथा की रोचकता की दृष्टि से आकर्षण तथा लक्ष्य विशेष की दृष्टि से महत्व कहीं अधिक हो जाए।'[2] किंतु मेरा विचार है कि इन दोनों ही तत्वों का उपन्यास में समान महत्व है। बिना कथानक के पात्र स्वच्छन्द हो जायेंगे उनके विकास का कोई लक्ष्य न होगा और बिना पात्रों के कथानक यन्त्रचालित सा एवं अस्वाभाविक हो जायेगा। अतः यह दोनों ही तत्व मूल में एक दूसरे से सम्बंधित हैं। अतः इन दोनों के बीच संतुलन का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों के पात्रों का वर्गीकरण

आचार्य जी के कुछ प्रमुख एवं गौण पात्रों की संख्या एक सहस्त्र के लगभग है। इनमें वे पात्र भी सम्मिलित हैं जो कुछ समय के लिए पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके लुप्त हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त राह चलते पात्रों की संख्या तो असंख्य है। इन समस्त पात्रों को हम चार वर्गों में रख सकते हैं—

१ कथा को गति प्रदान करने वाले प्रमुख पात्र

२ कथा को गति प्रदान करने वाले सहायक पात्र

३ काल विशेष के परिचायक व्यक्तित्व प्रधान पात्र

४ कथा प्रवाह में गौण क्षणिक स्थान ग्रहण करने वाले पात्र।

आचार्य जी के उपन्यासों में पात्रों की संख्या बढ़ाने का दायित्व अंतिम वर्ग के पात्रों पर ही है। ऐतिहासिक उपन्यासों में तृतीय वर्ग के पात्रों की संख्या

---

१ हिन्दी उपन्यास के कथा शिल्प का विकास-डा०प्रतापनारायण टंडन-पृ ९०-९१

२ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिंहल-पृ० १४१।

भी अधिक है। परंतु वास्तव में उपन्यास की कथा को गतिशील बनाने में प्रथम और द्वितीय वर्ग के पात्रों का ही महत्व है। इस प्रकार के पात्रों की संख्या आचार्य जी के समस्त उपन्यासों में केवल २५५ है। इन पात्रों के चरित्र की रेखाएं पर्याप्त उभरी हुई एवं पुष्ट हैं। इन प्रमुख पात्रों में केवल १०१ पात्र उनके उपन्यासों के नायक[1] प्रतिनायक सहनायक एवं नायिकाएं हैं। जिनको हम प्रथम वर्ग में और शेष को द्वितीय वर्ग में रख सकते हैं।

आचार्य जी के इन समस्त पात्रों को हम प्रथम दो वर्गों—पुरुष एवं नारी पात्र—में विभक्त कर लेते हैं। ये पात्र वर्गगत भी हैं और व्यक्तिनिष्ठ भी। स्थिर भी हैं गतिशील भी। 'फ्लैट' भी हैं और 'राउण्ड' भी। किंतु हम आचार्य चतुरसेन जी के समस्त पात्रों को उपन्यास के कथानक की दृष्टि से निम्न तीन वर्गों में रख सकते हैं —

१ पौराणिक पात्र—पुरुष—रावण राम मेघनाद लक्ष्मण आदि
नारी—शूर्पणखा सीता मन्दोदरी अम्बा आदि
२ ऐतिहासिक पात्र—पुरुष—सोमप्रभ बिम्बसार भीमदेव महमूद आदि
नारी—अम्बपाली चौला संयोगिता आदि
३ सामाजिक पात्र—पुरुष—दिलीप सुधीन्द्र किशुन आदि
नारी—माया सुधा हुस्नबानू चम्पा आदि

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार भी हम आचार्य जी के पात्रों को निम्न तीन वर्गों में रख सकते हैं —

१ वर्गगत या प्रतिनिधि पात्र
२ व्यक्तित्व प्रधान पात्र
३ अलौकिक या असाधारण पात्र।

---

१ प्राचीन आदर्शों और वर्तमान आदर्शों में इस बात का अन्तर हो गया है कि पहले नायक प्रख्यात और उच्चकुलोद्भव होता था अब होरी किसान भी उपन्यास का नायक बन जाता है। पहले प्रख्यात नायक इसीलिए रहता था कि जिससे सहृदय पाठकों का सहज में तादात्म्य हो जाय अब लोगों की मनोवृत्तियां कुछ बदल गई हैं। आभिजात्य का अब उतना मान नहीं रहा है इसीलिए होरी के सम्बन्ध में पाठकों का सहज ही तादात्म्य हो जाता है। पात्र के कल्पित होने से भी उसके साधारणीकरण में बाधा नहीं पड़ती क्योंकि वह प्रायः अपनी जाति का प्रतिनिधि होता है।
सिद्धान्त और अध्ययन पृ २८० साथ ही देखिए हिन्दी उपन्यास पृ ११ १७ तथा समीक्षा के सिद्धान्त पृ १३९ १४०।

वर्गगत पात्र

राजवर्ग एवं सामन्त वर्ग—

आचार्य जी के पौराणिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों के अधिकांश पात्र राजवर्ग एवं सामन्त वर्ग के ही हैं। इन दो प्रकार के पात्रों की इच्छा पूर्ति के लिए किंचित ही साधारण श्रेणी के पात्र निर्धन एवं शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। इनका स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं। किसी न किसी प्रकार से उनका सम्बन्ध राजवर्ग या सामन्त वर्ग के पात्रों से स्थापित मिलता है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के कथानकों को गति एवं प्रवाह प्रदान करने का श्रेय उनके राज एवं सामन्तवर्गीय पात्रों पर ही है। उनके 'गोली' एवं 'उदयास्त' नामक सामाजिक उपन्यासों में भी कथा इन्हीं दो वर्गों के पात्रों के चारों ओर घूमती हुई देख पड़ती है। इस वर्ग के पात्र और इनसे सम्बन्धित पात्रों को हम शासक और शासित (शोषित) वर्गों में रखकर देख सकते हैं। दोनों ही वर्गों में भले और बुरे, सज्जन और दुर्जन दोनों ही प्रकार के पात्र मिलते हैं।

शासक और शासित दोनों ही वर्गों के पात्रों के भी तीन प्रकार हैं। शासक वर्ग की प्रथम श्रेणी में हम उन पात्रों को रख सकते हैं जो आदर्श शासक हैं जनता की रक्षा जिनका आदर्श है। वे ईमानदार, वीर, साहसी और अपने प्रण के लिए दृढ़ संकल्प हैं। दूसरे वे जो किसी सदुद्देश्य के लिए ही अपनी शक्ति का व्यय करते हैं। जैसे घोघाबापा, धर्मगजदेव बड़ा चौलुक्य भीमदेव दामो मेहता सामन्तसिंह, सज्जनसिंह दुर्लभराय आदि (सोमनाथ) सोमप्रभ (नगरवधू) राम लक्ष्मण मेघनाद (वयं रक्षामः) शिवाजी (सह्याद्रि की चट्टानें) कुमार जी (लाल पानी) राजा हरपाल (बिना चिराग का शहर) आदि। दूसरी श्रेणी में हम उन वीर किन्तु विलासी राजाओं नवाबों बादशाहों सामन्तों आदि को रख सकते हैं जो केवल मात्र सुंदर स्त्री को प्राप्त करने के लिए तलवारें खटकाने को सदैव तत्पर रहते हैं। वे वीर हैं किन्तु बुद्धिमान नहीं। वे सुन्दरी और भूमि को वीर भोग्या मानने के अभ्यासी हैं। इस प्रकार के पात्रों में हम महमूद मसऊद (सोमनाथ) बिम्बसार, दधिवाहन विदूडभ (नगरवधू) रावण (वयं रक्षामः) पृथ्वीराज गोरी (पूर्णाहुति) कुमारपाल अजयपाल मौमदेव (रक्त की प्यास) औरंगजेब (आलमगीर) मलिक काफूर उमलू खाँ (बिना चिराग का शहर) आदि को रख सकते हैं।

शासक वर्ग की तीसरी श्रेणी में हम उन पात्रों को रख सकते हैं जो केवल नाममात्र के शासक हैं। जिनके जीवन का प्रधान लक्ष्य केवल भोग करना मात्र है। तलवार केवल उनका आभूषण मात्र है। वे कायर डरपोक शिथिल प्रमादी लोलुप कामुक विलासी एवं स्वेच्छाचारी हैं। आचार्य जी के उपन्यासों में इस प्रकार के पात्रों का बाहुल्य है। प्रसेनजित सुर्वीण दुर्वीण (नगरवधू) अजयपाल चामुंडराय (सोमनाथ) शाहजहाँ दारा शुजा (आलमगीर) महाराजाधिराज (गोली) नवाब जहाँगीर, वजीरअली (धर्मपुत्र) राजा छत्रप्रताप (उदयास्त) आदि पात्रों को हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं।

राज एवं सामंत वर्ग के नारी पात्र भी तीन प्रकार के हैं। प्रथम वे जिनमें राजपूती गौरव कूट-कूट कर भरा हुआ है जो अपनी मर्यादा रक्षा के लिए प्राणों तक का उत्सर्ग करने को तत्पर रहती हैं। अपने स्वार्थ के लिए नहीं वरन् परमार्थ के लिए त्याग करती हैं। इनके जीवन का उद्देश्य महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार की नारी पात्रियाँ उत्सर्ग की भावना से पूर्ण होती हैं। जैसे कलिंगसेना चंद्रप्रभा रोहिणी (नगरवधू) सीता मंदोदरी सुलोचना (वयंरक्षामः) हुस्नबानू (धर्मपुत्र) कुँवरी (गोली) चौला शोभना रमा (सोमनाथ) बेगम शाइस्ताखाँ (आलमगीर) लक्ष्मीबाई (सोना और खून) मंजुघोषा देवांगना आदि। दूसरी श्रेणी में हम उन नारी पात्रों को रख सकते हैं जो वीर तो हैं किन्तु उनका उद्देश्य दूषित है। उनके सामने अपना अपने प्रेमी का ही स्वार्थ रहता है, देश और जाति के गौरव की उन्हें चिंता नहीं होती। अम्बपाली (नगरवधू) शूर्पनखा मायावती (वयंरक्षामः) इच्छनी कुमारी (रक्त की प्यास) आदि।

इस वर्ग की तीसरे प्रकार की नारी पात्र वे हैं जिनके जीवन का उद्देश्य केवल मात्र भोग है। जिनके समीप मर्यादा नाम की कोई चीज नहीं। जो केवल मात्र पुरुष मात्र की भोग सामग्री बनकर जीवनयापन करती हैं। जैसे जहाँआरा रोशनआरा हीराबाई (आलमगीर) देवलदेवी (बिना चिराग का शहर) चंद्रमहल (गोली) आदि।

शोषित वर्ग के पात्रों को भी हम इसी प्रकार तीन श्रेणियों में रख सकते हैं। इनकी प्रथम श्रेणी में हम उन पात्रों को रख सकते हैं जिनके जीवन का प्रधान लक्ष्य अपने स्वामी के लिए ही उत्सर्ग करना मात्र होता है। उनका जीवन लड़ने-भिड़ने और अपने राजा की सेवा में जूझ मरने में ही जाता है। ये स्वामिभक्त, सच्चे ईमानदार वीर साहसी एवं त्यागी होते हैं। इनके लिए राजा की आज्ञा ही सब कुछ होती है। इस श्रेणी के पात्रों में हम विभिन्न

उपन्यासों में प्राप्त सच्चे एवं स्वामिभक्त सैनिक पात्रों को ले सकते हैं। जैसे—हनुमान (वयं रक्षामः) सामाजी (सह्याद्रि की चट्टानें) बान्धू चन्द (पूर्णाहुति) छब्बर बूटा (बाल पानी) आदि। हनुमान के लिए पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन सत्य ही है 'सेवक में जो-जो गुण चाहिए, सब हनुमान में लाकर इकट्ठे कर दिये गए हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है निरलसता और तत्परता स्वामी के कार्यों के लिये सब कुछ करने के लिये उनमें हम हर समय पाते हैं। सेवक को अमानी होना चाहिए। प्रभु के कार्य साधन में उसे अपने मान अपमान का ध्यान न रखना चाहिए।'[1] लगभग सभी गुण 'वयं रक्षामः' के हनुमान में भी प्राप्त हैं।

दूसरी श्रेणी में हम उन पात्रों को ले सकते हैं जो वीर, साहसी एवं बुद्धिमान हैं किन्तु वे अपनी शक्ति का उपयोग तभी करते हैं जब उनकी बुद्धि एवं आत्मा प्रेरित करती है। वे स्वामी के दास तो होते हैं किन्तु अपवाद नहीं कहीं-कहीं तो वे स्वामी के भी अभिभावक बन जाते हैं। इसी श्रेणी में हम उन पात्रों को भी रख सकते हैं जो अक्खड़ उद्दण्ड एवं सनकी होने के कारण अपनी मनमानी शासक के नाम पर करते हैं। जैसे आलमगीर अनाम वासुदेव महाराज गंगाराम लोका (सोमी) आदि।

शासित पात्रों की तीसरी श्रेणी में हम उन पात्रों को ले सकते हैं जो सामन्तशाही शोषण के प्रतीक हैं। जो अपने शासकों का अत्याचार सहन करके भी मूक हैं। वे अत्याचारों के विरुद्ध जिह्वा खोलना चाहते हैं, किन्तु उसके पूर्व ही जिह्वा विहीन कर दिए जाते हैं। उनके शासन, उनकी शक्ति को उनकी बुद्धि को उनकी मर्यादा को धन और शक्ति पर क्रय कर लेते हैं। धर्म और समाज के कृत्रिम बंधनों के द्वारा भी ऐसे निरीह पात्रों को जकड़ दिया जाता है। आचार्य जी के उपन्यासों में सबसे कम इसी श्रेणी के पात्र हैं। जैसे विसुन (गोली)।

शासित वर्ग की नारी पात्रियां भी इसी प्रकार तीन श्रेणियों में रखी जा सकती हैं। प्रथम श्रेणी में हम उन पात्रियों को रख सकते हैं जिनके जीवन का उद्देश्य केवल मात्र स्वामिनी की सेवा करना मात्र है। वे अपनी स्वामिनी के लिए ही अपने जीवन को उत्सर्ग कर देती हैं। इस श्रेणी में हम एक सीमा तक घोघना (सोमनाथ) के चरित्र को रख सकते हैं। दूसरी श्रेणी में हम उन पात्रियों को ले सकते हैं जिनमें उत्सर्ग की भावना होते हुए भी स्वयं का विवेक

---

1 तुलसी ग्रंथावली तीसरा खंड पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रस्तावना पृ १९४।

होता है। ऐसी पात्रियाँ अपने गुणों का सदुपयोग कर धूर्त शासक को अपनी उंगलियों पर नचाया करती हैं। शोभना (सोमनाथ) के चरित्र में इस वर्ग के भी कुछ गुण प्राप्त होते हैं। तीसरी श्रेणी में हम उन पात्रियों को ले सकते हैं जिनको अपने रूप के कारण ही सामन्तशाही के अत्याचारों को सहन करना पड़ता है। इनमें से कुछ इन अत्याचारों को सहन करते हुए ही जीवन त्याग देती हैं। और अन्त तक अपने सतीत्व की रक्षा करती हैं और कुछ ऐसी हैं जो मूल्य लेकर अपने को बेच देती हैं अथवा विवश होकर उन्हें ऐसा करना पड़ता है। जैसे चम्पा केसर (मोती)

इसके अतिरिक्त इसी वर्ग में हम उन पात्रों को भी रख सकते हैं जो शासक वर्ग के आश्रित होते हुए भी उनके द्वारा शासित नहीं हैं। इस श्रेणी में हम विद्वत् समाज एवं कलाकार वर्ग को रख सकते हैं। इस वर्ग के पात्र अपने दुर्लभ गुणों के कारण पूज्य हैं। शासक उनको अपना आश्रय देकर अपने को ही गौरवान्वित अनुभव करता है। जैसे गंग सर्वज्ञ (सोमनाथ) वशिष्ठ विश्वामित्र (वयं रक्षाम:) गौतमबुद्ध महावीर, बादरायण व्यास गोभिल भारद्वाज कात्यायन-शौनक बोधायन सामश्रम (नगरवधू) आदि।

कुछ अन्य वर्गगत पात्र—

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों में राजवर्ग एवं सामन्त वर्ग से सम्बंधित पात्रों के अतिरिक्त भी कितने ही अन्य वर्गों के पात्र आते हैं। उनके उपन्यासों में समाज द्वारा शोषित वर्गों के पात्र भी हैं। इस प्रकार के पात्रों में हम हिन्दू समाज की विधवाओं एवं पग-पग पर प्रताड़ित अन्य विभिन्न नारी पात्रों को रख सकते हैं। जैसे सुशीला भगवती नारायणी कुमुद मालती (बहते आँसू) राज (अपराजिता) विमलादेवी (अदल-बदल) पद्मा गोमती (बगुला के पंख) आदि।

आधुनिक युग में उत्पन्न कितने ही नवीन वर्ग के पात्रों का चित्रण आचार्य जी के उपन्यासों में प्राप्त होता है। उन्होंने कांग्रेस समाजवादी साम्यवादी एवं जनसंघ सभी पार्टियों के पात्रों का अपने उपन्यासों में समावेश किया है। 'बगुला के पंख' नामक उपन्यास के दोनों प्रधान पात्र जुगनू एवं शोभाराम कांग्रेसी हैं। जुगनू कांग्रेस के नाम पर ऐश करने वाले कांग्रेसियों का प्रतिनिधित्व करता है और शोभाराम त्यागी और तपस्वी देशभक्त कांग्रेसियों का। 'धर्मपुत्र' उपन्यास का नायक दिलीप जनसंघी है तथा उसके अन्य भाई साम्यवादी एवं कांग्रेसी।

इसके अतिरिक्त उनके 'सोना और खून' एवं 'कपास' उपन्यासों में कितने ही विदेशी पात्र भी आये हैं। यह अपने कुछ गुणों के कारण अपने देशों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

व्यक्तित्व प्रधान पात्र

आचार्य चतुरसेन जी के कई उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। इन उपन्यासों का सम्पूर्ण आकर्षण उनके विभिन्न प्रकार के पात्रों पर ही केन्द्रित रहता है। इनमें व्यक्ति विशेष का शील-वैलक्षण्य क्रमशः इस प्रकार उद्घाटित किया जाता है कि उनकी सब कड़ियां स्पष्ट झलक उठें जीवन की विविध परिस्थितियों के भीतर पड़ा हुआ व्यक्ति इस प्रकार से अपने कर्म आचरण और विचार व्यक्त करता है कि उसका चारित्रिक गठन और मनोबल प्रभावशाली रूप धारण कर लेता है। इन उपन्यासों के चरित्र कथावस्तु का ही एक भाग नहीं होते उनकी पृथक सत्ता होती है और घटनाएं उनके अधीन होती हैं। वे परिस्थितियों या घटनाओं के दास नहीं वरन् परिस्थितियां या घटनाएं स्वयं उनके इशारे पर नाचती हैं। य चरित्र प्रायः आदि से अन्त तक एक रस रहते हैं। आरम्भ से ही इनमें एक पूर्णता तथा अपरिवर्तनशीलता रहती है। उदाहरण के लिए हम आचार्य जी के उपन्यास 'हृदय की परख' की सरला और 'हृदय की प्यास' की सुखदा को ले सकते हैं। इनमें आरम्भिक पृष्ठों में ही हमें इनके प्रधान पात्रों का जो परिचय मिलता है उसमें अन्त तक हमें उलट फेर करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यही इन पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है। वे एक सुपरिचित भूदृश्य के समान होते हैं जो कभी-कभी छाया-प्रकाश के विशेष प्रभाव द्वारा परिवर्तित सा होकर अथवा किसी दूसरे कोण से देखने पर हमें आश्चर्यान्वित कर देता है। पात्रों के गुण दोष आदि उनमें आरंभ से ही रहते हैं वे नहीं बदलते। केवल बदलता है तद्विषयक हमारा ज्ञान"[1] आचार्य जी के इस प्रकार के उपन्यासों के पात्र अधिकाधिक व्यक्तिमुखी हैं। इन्हें हम आत्मलीन पात्र कह सकते हैं जिनकी समस्यायें जिनके हृदय का संघर्ष उनकी अत्यधिक संवेदनात्मकता के परिणाम हैं। ऐसा लगता है मानों लेखक ने अपने कल्पना लोक में कतिपय पात्रों की सृष्टि कर रखी है जो उसे अत्यधिक प्रिय हैं। इन्हें स्वरूप देने के लिए विभिन्न स्थितियों का निर्माण करके और उनमें उन्हें रखकर उनके चरित्र के उन विशेष पक्षों को प्रकाशित करने का प्रयास किया

---

१ हिंदी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ४६२-४६३।

गया है।[१] इस प्रकार के पात्रों में हम सरला (हृदय की परख) सुभद्रा (हृदय की प्यास) माया देवी (बदल बदल) आभा (आभा) रेखा (पत्थर युग के दो बुत) तथा पुरुष पात्रों में सत्य (हृदय की परख) प्रवीण (हृदय की प्यास) सुधीन्द्र (आत्मदाह) हरप्रसाद (बदल-बदल) अजित (आभा) दिलीपराय मुनीसदत्त (पत्थर युग के दो बुत) आदि को ले सकते हैं। इन पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है इन पात्रों का अपना निज का व्यक्तित्व। और अपने इस व्यक्तित्व के कारण ही ये आदि से अन्त तक आकर्षण के केंद्र बने रहते हैं।

अलौकिक या असाधारण पात्र

अलौकिकता के अर्थ हैं अपौरुषय दानवीय असम्भव विचित्र कल्पनाओं का संयोजन (तिलिस्म तथा जादू के चमत्कार, दैवी कारनामे) ऐसी घटनाओं अथवा वर्णनों के समावेश से एक अवास्तविक और मिथ्या वातावरण पैदा हो जाता है। इसस मानवीय भावनाओं की प्रवीणता कम हो जाती है यही साधारणीकरण में बाधा डालती है।[२] अलौकिकता एवं असाधारणता में भी अन्तर है। जब पात्र में असाधारण शारीरिक या आत्मिक बल दिखाई दे तो वह महामानव बन जाता है। शक्तिहीन मानव में जब अलौकिकता का समावेश हो जाता है तब वह पौराणिक राक्षस पिशाच या दानव कहलाने लगता है।[३] आचार्य जी के उपन्यासों में इन दोनों ही प्रकार के पात्र प्राप्त होते हैं। कुण्डनी अथवा पुरुष उदयन सम्बर असुर आदि (नगरवधू) एवं इन्द्र मेघनाद मारीच आदि (वयं रक्षाम:) में अलौकिक पात्र हैं। सोमप्रभ हरिकेशीबल अम्बपाली (नगरवधू) रावण राम आदित्य हनुमान आदि (वयं रक्षाम:) मंजुघोषा खम्मह आदि (सोमनाथ) असाधारण पात्र हैं।

आचार्य जी के उपन्यासों के कतिपय प्रमुख पुरुष एवं नारी पात्र

पीछे हमने आचार्य चतुरसेन जी के समस्त पात्रों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। यहाँ हम उनकी चरित्र-चित्रण शक्ति पर विशेष प्रकाश डालने वाले कतिपय प्रमुख पात्रों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि आचार्य जी के प्रमुख पात्रों की संख्या भी लगभग १०९ के है। इनमें चरित्र चित्रण शक्ति पर विशेष प्रकाश डालने वाले पात्रों की संख्या भी साठ से

---

१ हिन्दी उपन्यास, पृ २९१।

२ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिद्दन-पृ. ११७।

३ ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार डा० गोपीनाथ तिवारी—पृ ९८-९९

रम न होगी। इन सभी के चरित्र का विश्लेषण करना यहाँ निश्चित रूप से कठिन है। अतः यहाँ हम केवल उदाहरण के लिए पाँच प्रमुख पात्रों के चरित्रों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। आगे इसी विश्लेषण के आधार पर हम आचार्य की की पात्र-निर्माणकला एवं चरित्र-चित्रण विषयक प्रमुख विशेषताएँ देने का प्रयत्न करेंगे।

रावण जगदीश्वर

चरित्र से सम्बन्धित घटना चक्र—

'वयं रक्षामः' उपन्यास का नायक प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार ने राम को परमेश्वर एवं रावण को जगदीश्वर माना है। आदि से अंत तक रावण का चरित्र ही प्रस्तुत उपन्यास में छाया हुआ है। इसी चरित्र के कारण प्रस्तुत उपन्यास का सम्पूर्ण घटनाचक्र गति पाता है। उपन्यास का प्रारंभ तिल तंदुल नामक अध्याय से होता है। यहीं से उन्मुक्त विचरण करता हुआ रावण उपन्यास में प्रवेश करता है। उपन्यास के पूर्वार्ध में इस चरित्र के साहसिक कार्यों संगठन कुशलता, वीरता एवं विजयों का ही वर्णन प्राप्त होता है। उपन्यास के पूर्वार्ध के अन्त में राम की पत्नी सीता के हरण के पश्चात् इसका चरित्र पतित होना प्रारंभ होता है और इस पतन का अंत होता है इसके कुल सहित विनाश द्वारा। इसी के पश्चात् प्रस्तुत उपन्यास समाप्त हो जाता है।

शारीरिक रूप रंग और व्यक्तित्व—

रावण का प्रारंभिक परिचय इस प्रकार प्राप्त होता है 'इतने में एक तरुण भीड़ में आगे आया। उसका किशोर वय था उज्ज्वल श्यामवर्ण काकपक्ष ग्रीवा पर लहरा रहे थे कमर में कृष्णाजिन कन्धे पर धनुष तूणीर, हाथ में शूल, विशाल वक्ष बड़ी-बड़ी आँखें प्रशस्त ललाट नीचली मसें कंचित भृकुटि केहरि सी कटि कठोर पिंडलियें, अभय मुद्रा, सुहासयुक्त अभिनन्दित मुखश्री।'[1] रावण का यह प्रारम्भिक परिचय एक उन्मुक्त, स्वच्छन्द वीर एवं रसिक व्यक्ति के रूप में प्राप्त होता है और उसके यही गुण आगे उपन्यास में विकसित होते हुए दीख पड़ते हैं।

प्रकृति, शील स्वभाव, योग्यता और क्षमता—

रावण स्वभाव से ही वीर, साहसी, भोगी निर्भीक एवं दुर्धर्ष योद्धा था। वह रणशास्त्र का महापण्डित होने के साथ-साथ नीति शास्त्र का भी मर्मज्ञ था।

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन—पृ. २-३।

गया है।'[1] इस प्रकार के पात्रों में हम सरला (हृदय की परख) सुखदा (हृदय की प्यास) माया देवी (बदल बदल) आभा (आभा) रेखा (पत्थर युग के दो बुत) तथा पुरुष पात्रों में सत्य (हृदय की परख) प्रवीण (हृदय की प्यास) सुधीन्द्र (आत्मदाह) हरप्रसाद (बदल-बदल) अनिल (आभा) विलीपराय सुनीलदत्त (पत्थर युग के दो बुत) आदि को ले सकते हैं। इन पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है इन पात्रों का अपना निज का व्यक्तित्व। और अपने इस व्यक्तित्व के कारण ही ये आदि से अन्त तक आकर्षण के केंद्र बने रहते हैं।

अलौकिक या असाधारण पात्र

अलौकिकता के अर्थ हैं अपौरुषेय दानवीय असम्भव विचित्र कल्पनाओं का संयोजन (तिलिस्म तथा जादू के चमत्कार, दैवी कारनामे) ऐसी घटनाओं अथवा वर्णनों के समावेश से एक अवास्तविक और मिथ्या वातावरण पैदा हो जाता है। इससे मानवीय भावनाओं की प्रवीनता कम हो जाती है यही साधारणीकरण में बाधा डालती है।[2] अलौकिकता एवं असाधारणता में भी अन्तर है। जब पात्र में असाधारण शारीरिक या आत्मिक बल दिखाई दे तो वह महामानव बन जाता है। शक्तिहीन मानव में जब अलौकिकता का समावेश हो जाता है तब वह पौराणिक राक्षस पिशाच या दानव कहलाने लगता है।[3] आचार्य जी के उपन्यासों में हम दोनों ही प्रकार के पात्र प्राप्त होते हैं। कुजनी छाया पुरुष उग्रवत सम्बर असुर आदि (नगरवधू) रुद्र इन्द्र मेघनाद मारीच आदि (वयं रक्षाम:) में अलौकिक पात्र हैं। सोमप्रभ हरिकेशीबल अम्बपाली (नगरवधू) रावण राम आदित्य हनुमान आदि (वयं रक्षाम:) गंगसर्वज्ञ दामाद आदि (सोमनाथ) असाधारण पात्र हैं।

आचार्य जी के उपन्यासों के कतिपय प्रमुख पुरुष एवं नारी पात्र

पीछे हमने आचार्य चतुरसेन जी के समस्त पात्रों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। यहां हम उनकी चरित्र-चित्रण शक्ति पर विशेष प्रकाश डालने वाले कतिपय प्रमुख पात्रों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि आचार्य जी के प्रमुख पात्रों की संख्या भी लगभग १०६ के है। इनमें चरित्र चित्रण शक्ति पर विशेष प्रकाश डालने वाले पात्रों की संख्या भी साठ से

---

१ हिन्दी उपन्यास पृ २२२।

२ उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा डा० सिद्धप्-पृ ११७।

३ ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार डा० गोपीनाथ तिवारी—पृ १८ २९

कम न होगी । इन सभी के चरित्र का विश्लेषण करना यहाँ निश्चित रूप से कठिन है । अतः यहाँ हम केवल उदाहरण के लिए पाँच प्रमुख पात्रों के चरित्रों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे । आगे इसी विश्लेषण के आधार पर हम आचार्य जी की पात्र-निर्माणकला एवं चरित्र-चित्रण विषयक प्रमुख विशेषताएँ देने का प्रयत्न करेंगे ।

रावण जगदीश्वर

चरित्र से सम्बन्धित घटना चक्र—

'वयं रक्षाम:' उपन्यास का नायक प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार ने राम को परमेश्वर एवं रावण को जगदीश्वर माना है । आदि से अंत तक रावण का चरित्र ही प्रस्तुत उपन्यास में छाया हुआ है । इसी चरित्र के कारण प्रस्तुत उपन्यास का सम्पूर्ण घटनाचक्र गति पाता है । उपन्यास का प्रारंभ 'तिग्म तंदुल' नामक अध्याय से होता है । यहीं से उन्मुक्त विचरण करता हुआ रावण उपन्यास में प्रवेश करता है । उपन्यास के पूर्वार्ध में इस चरित्र के साहसिक कार्यों संगठन कुशलता वीरता एवं विजयों का ही वर्णन प्राप्त होता है । उपन्यास के पूर्वार्ध के अन्त में राम की पत्नी सीता के हरण के पश्चात् इसका चरित्र पतित होना प्रारंभ होता है और इस पतन का अंत होता है इसके कुल सहित विनाश द्वारा । इसी के पश्चात् प्रस्तुत उपन्यास समाप्त हो जाता है ।

शारीरिक रूप रंग और व्यक्तित्व—

रावण का प्रारंभिक परिचय इस प्रकार प्राप्त होता है "इतने में एक तरुण भीड़ में आगे आया । उसका किशोर वय था, उज्ज्वल श्यामवर्ण काकपक्ष ग्रीवा पर लहरा रहे थे कमर में कृष्णाजिन कन्धे पर धनुष तूणीर, हाथ में शूल विशाल वक्ष बड़ी-बड़ी आँखें प्रशस्त ललाट भीगती मसें कुंचित भृकुटि केहरि सी कटि, कठोर पिंडलियाँ, अभय मुद्रा मुहास्ययुक्त अभिमन्त्रित मुखश्री ।"[१] रावण का यह प्रारम्भिक परिचय एक उन्मुक्त, स्वच्छन्द वीर एवं रसिक व्यक्ति के रूप में प्राप्त होता है और उसके यही गुण आगे उपन्यास में विकसित होते हुए दीख पड़ते हैं ।

प्रकृति, शील स्वभाव, योग्यता और क्षमता—

रावण स्वभाव से ही वीर, साहसी योगी निर्भीक एवं दुर्धर्ष योद्धा था । वह रसशास्त्र का महापण्डित होने के साथ-साथ नीति शास्त्र का भी मर्मज्ञ था ।

---

१ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ. ३ ।

'उसके शरीर में शुद्ध आर्य और दैत्यवंश का रक्त था। उसका पिता पौलस्त्य विश्रवा आर्य ऋषि था और माता दैत्य राजपुत्री थी। उसका पालन-पोषण आर्य विश्रवा के आश्रम में उन्हीं के तत्वावधान में हुआ।[1] वास्तव में रावण के मन में तीन तत्व काम कर रहे थे। उसका पिता शुद्ध आर्य और विद्वान वैदिक ऋषि था उसकी माता शुद्ध दैत्य वंश की थी उसके बन्धुबान्धव बहिष्कृत आर्यवंशी थे। उन्हें क्रियाकर्म तथा यज्ञ से च्युत कर दिया गया था।[2] इसी कारण स उसने भारत और भारतीय आर्यों को दलित करके उन पर आधिपत्य स्थापित करने और सब आर्य अनार्य जातियों के सम्पूर्ण नृवंश को एक ही 'रक्ष संस्कृति' के आधीन समान भाव से दीक्षित करने का विचार किया था। तत्कालीन परम्पराओं के अनुसार उसने अपने इस नृवंश के सब धार्मिक और राजनीतिक नेतृत्व अपने हाथ में लेने का संकल्प दृढ़ किया।[3] उसने अपने इस दृढ़ संकल्प को शीघ्र ही पूर्ण करना प्रारंभ कर दिया था। उसने शीघ्र ही देवों और आर्यों के दृढ़ संगठन को अपने पुरुषार्थ से हिला दिया। उसने सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों ही प्रकार के विप्लवों का सूत्रपात किया था। इस कार्य के लिए मेधावी मस्तिष्क और साहसिक शरीर ही यथेष्ट था जिस पर उसके साथ सहयोगी सुमाली मयमकण प्रहस्त महोदर अकम्पन आदि महारथी सुभट और विचक्षण मन्त्री थे। कुम्भकर्ण-सा भाई और मेघनाद-सा पुत्र था। इसी कारण उसकी शक्ति अपनी चरमसीमा पर पहुँच गई थी। उसने अपनी इस शक्ति और योग्यता के द्वारा शीघ्र ही यम कुबेर, वरुण और इंद्र के चारों देवलोकों के लोकपालों और आर्यावर्त के प्रमुख राजाओं को जय कर लिया था। आर्यावर्त के बड़े-बड़े सम्राटों को उसने एकाकी ही जय किया था। इस जय यात्रा में उसे केवल तीन स्थानों पर पराजित होना पड़ा था। प्रथम मायावती नगरी में अपने साढ़ू असुरराज शम्बर से दूसरे[4] माहिष्मती में चक्रवर्ती अर्जुन से[5] और तीसरे वानरराज बाली से। अंतिम दो से पराजित होकर भी उसने मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया था।[6]

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन—पृ १६१।
२ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ १६१।
३ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ १६१ १६२।
४ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ १८६।
५ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ ३४६ ३४७।
६ वाल्मीकि रामायण उत्तरकांड सर्ग १८ १९ में भी यह प्राप्त है।

किसी संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार किस प्रकार करना चाहिए इसका उसे भलीभांति ज्ञान था तभी उसने अपने द्वारा स्थापित 'रक्ष संस्कृति' के प्रचार के लिए सर्वप्रथम वेद का सम्पादन किया। उस समय वह ही एक मात्र आर्य साहित्य था—वह भी मौखिक। अपने पिता से उसने वेद पढ़ा था। उस पर विचार किया। इसी वेद का उसने सम्पादन किया। ऋचाओं पर उसने टिप्पणियां तैयार कीं। मूल मंत्रों की व्याख्या की। व्यवहार अध्याय को बीच-बीच में वृद्धि गत किया। इस प्रकार मूल वेद और रावण कृत टिप्पणियां और व्याख्याएं सब मिलाकर वेद का एक ऐसा संस्करण तैयार हो गया जो जम्बूद्वीप के सब आर्यों तथा आर्येतरों के लिए मान्य हो गया कुछ तो वेद के नाम से और कुछ रावण के प्रभाव से। आगे चलकर यही रावण भाष्य टिप्पणी सहित 'कृष्णयजुर्वेद' के नाम से विख्यात हुआ। इसमें पशुवध मद्यपान स्त्री समर्पण शिश्नपूजन भोज्य भक्षण ब्राह्मणवध शूद्रवध आदि का विधान सम्मिलित कर दिया गया जो वास्तव में बहिष्कृत आर्यों एवं असुरों की परिपाटी थी।[1] इसके अतिरिक्त उसने इसमें मांसभक्षण और प्राणिवध के साथ-साथ मद्यपान एवं पर स्त्री-गमन भी विहित कर दिया था।[2] यह था उसका सैद्धान्तिक सांस्कृतिक प्रभाव इन सिद्धान्तों को ही आगे चलकर उसने व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया। वह शिश्न पूजक था। जहां कहीं वह जाता—एक स्वर्ण निर्मित लिंग साथ ले जाता उसे बालू की वेदी पर स्थापित करके वह लिंग पूजन करता था।[3] इतना ही नहीं इसने बलपूर्वक वैदिक यज्ञानुष्ठानों को आसुरी ढंग पर करने के अनेक उपाय किये—इसने सहस्त्रों राक्षसों को यह आदेश दिया कि जहां कहीं आर्य ऋषि रावण विरोधी विधि से यज्ञ कर रहे हों वहां बलपूर्वक बलि मांस और मद्य की आहुति दो।[4] अपनी 'रक्ष संस्कृति' को स्थापित करने में उसने धर्म को त्याग दिया नियमों का उल्लंघन कर दिया। केवल इतना ही नहीं अपनी संस्कृति के प्रचार के लिए वह अधिक से अधिक अत्याचार और पाप करने तक को प्रस्तुत हो गया था। उसने अपनी संस्कृति के प्रचार के लिए राक्षसों द्वारा यज्ञ कर्ता ऋषियों ही को मार कर बलि देना प्रारम्भ कर दिया। नर भक्षण उसका और उसके अनुयायियों का एक व्यापार हो गया था।[5] वह अधर्मी होते हुए भी वीर, साहसी और निर्भीक था। इसी रावण की योग्यता और क्षमता पर उसके प्रतिद्वंद्वी राम भी विमोहित

---

१ धर्म रसायन भाष्य पृ १६२।
२ धर्म रसायन भाष्य पृ १६३ १६४
३ धर्म रसायन भाष्य पृ १६५ साथ ही देखिए वाल्मीकि रामायण उत्तरकांड।
४ धर्म रसायन पृ १६१।
५ धर्म रसायन भाष्य पृ १६१।

रो उठे थे। उनके मुख से अनायास ही निकल गया था 'राक्षसराज रावण का तेज तो अपरिसीम है। इसकी अंग सुषमा देवताओं से भी अधिक शोभायमान है और इसके पार्षद भी बड़े तेजस्वी प्रतीत होते हैं। कौन कहता है कि लंका वीरों से शून्य हो गई है।'[१] इतने पराक्रमी वीर को भी सपरिवार क्यों नष्ट होना पड़ा। इसका कारण भी उसी के मनुज विभीषण के शब्दों में सुनिए—'रावण जिस प्रकार महातेज रावण इन भयानक आकृति वाले भूतों से घिरा है उसी प्रकार इसकी अन्तरात्मा भी कलुषपूर्ण है। यही कारण उसके प्रबल पराक्रम के भंग होने का है।'[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस महावीर के पतन का कारण उसकी अन्तरात्मा का कलुष ही था। वास्तव में सत्य तो यह है कि तुलसी के रावण के समान ही वयं रक्षामः के रावण के चरित्र में भी आचार्य चतुरसेन जी ने 'एक प्रवृत्ति प्रमुख चरित्र' (टाइप) उपस्थित किया है और यह 'प्रवृत्ति प्रमुख चरित्र' आदर्शवादी नहीं वरन् वस्तुवादी कल्पनावादी नहीं वरन् प्रयत्नवादी निराशावादी नहीं वरन् आशावादी अदृष्टवादी नहीं वरन् संकल्पवादी संशयवादी नहीं वरन् निश्चयवादी और धार्मिक नहीं वरन् अधार्मिक का है।'[३]

इतिहास से साम्य और भिन्नता—

यद्यपि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इस उपन्यास में रावण को जग हीतर के रूप में चित्रित करना चाहा है किंतु अपने इस प्रयास में वे सफल नहीं हो सके हैं। उनका रावण भी जगत के पालक के रूप में नहीं वरन् एक दुराचारी के रूप में ही चित्रित हुआ है। वह तुलसी के रावण से किंचित् मात्र भी भिन्न नहीं है। तुलसी के रावण के लिए जो शब्द पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहे हैं लगभग वही शब्द वयं रक्षामः के रावण के लिए भी कहे जा सकते हैं। उनका कथन है जिस प्रकार राम-राम थे उसी प्रकार रावण-रावण था। वह भगवान् का उन ललकारने वालों में से था जिनकी ललकार पर उन्हें आना पड़ा था। बालकांड में गोस्वामी जी ने पहले उसके उन अत्याचारों का वर्णन करके जिनसे पीड़ित होकर दुनिया पनाह मांगती थी तब राम का अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसों का सरदार था जो गाँव जलाते थे खेती उजाड़ते थे चौपाए नष्ट करते थे ऋषियों को यज्ञ आदि नहीं करने देते थे किसी की कोई अच्छी चीज देखते थे तो छीन ले जाते और जिनके लाए हुए

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ७१४।
२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ७१४।
३ तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ २८९।

लोगों को हड्डियों में दक्खिन का अमल भरा पड़ा था। कैकेज खाँ और नादिर शाह तो मानों लाखों को उसका कुछ अनुमान कराने के लिए आए थे। राम और रावण को चाहे महरमज्द और अहरमान समझिए, चाहे खुदा और शैतान। फर्क इतना ही समझिए कि शैतान और खुदा की लड़ाई का मैदान इस दुनिया से जरा दूर पड़ता था और राम-रावण की लड़ाई का मैदान यह दुनिया ही थी।[1] आचार्य चतुरसेन जी ने अपने रावण को श्रेष्ठ विद्वान एवं वेदपाठी माना है। तुलसी का रावण भी वेदपाठी एवं तपस्वी था। तुलसी के रावण में भी कष्ट सहिष्णुता थी। वह बड़ा भारी तपस्वी था। उसकी वीरता में भी कोई सन्देह नहीं है। भाई, पुत्र कितने कुटुम्बी के सबके मरे जाने पर भी वह उसी उत्साह के साथ लड़ता रहा। जब रहे धर्म के सत्य आदि और अंग जो किसी वर्ग की रक्षा के लिए आवश्यक होते हैं। उनका पालन राक्षसों के बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षस कुल रह कैसे सकता था? पर धर्म का पूर्ण आज लोक-व्यापकत्व में है। यों तो चोर और डाकू भी अपने दल के भीतर परस्पर के व्यवहार में धर्म बनाए रहते हैं। सारांश यह कि रावण में केवल अपने लिये और अपने दल के लिये शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था समाज में उस शक्ति का सदुपयोग करने वाला धर्म नहीं था। रावण पंडित था राजनीति कुशल था और था वीर था पर सब गुणों का उसने दुरुपयोग किया। उसके मरने पर उसका तेज राम के मुख में समा गया।[2] आचार्य जी के रावण का तेज भले ही राम के मुख में न समाया हो किन्तु अन्य गुणों में वह वाल्मीकि एवं तुलसी के रावण से विचित्र मात्र भी भिन्न नहीं है। हाँ अपने कुछ गुणों में आचार्य चतुरसेन जी का रावण स्वर्गीय माइकेल मधुसूदनदत्त के रावण से भी प्रभावित है। वाल्मीकि व्यास कालिदास एवं तुलसी रावण के कोमल भावों को स्पर्श नहीं कर सके हैं किन्तु आचार्य चतुरसेन जी ने मधुसूदन दत्त के समान ही अपने इस उपन्यास में रावण के कोमल भावों का भी अनावृत्त करके रख दिया है। इन्द्रजीत से पुत्र के निधन पर पिता रावण के हृदय की करुण दशा दर्शनीय है। परलोकगत वीर पुत्र को सम्बोधित करके रावण का वह मर्मभरी विलाप सुनकर पाषाणहृदय मनुष्य भी दहल जायगा। यहाँ पर आचार्य जी का रावण जगदीश्वर भी मात्सर्यवादी हो गया

---

१ तुलसी-ग्रंथावली तृतीय खंड-सम्पादक पं० रामचन्द्र शुक्ल-प्रस्तावना पृ १९४ १९५।

२ तुलसी-ग्रंथावली तृतीय खंड-सम्पादक पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रस्तावना पृ १९९।

है।[1] वह ईश्वर को दोष देता हुआ कहता है कि हे विधाता क्या अभागे रावण को यही सुनाने के लिए जीवित रक्खा था ? वास्तव में रावण के इस दारुण दुःख के सामने रामचन्द्र के शोणित बाणों की तीक्ष्णता क्या चीज है ? वह मेघनाद-सदृश पुत्र एवं प्रमीला-सदृश पुत्र वधू को चितानि में आहुति देने के लिए आया है। उसके हृदय के इन भावों का वर्णन क्या सम्भव है ? वाणी से हृदय के भाव प्रकट करने की शक्ति उसमें न थी अथच आत्मसंयम की क्षमता भी वह न रख सका। धीरे धीरे पुत्र की चिता के समक्ष आकर वह बोला अरे मेघनाद मैंने आशा की थी कि तुझे राज्यभार देकर महायात्रा करूंगा। परंतु अदृष्ट ने कुछ और ही रचना कर डाली। स्वर्ण सिंहासन की जगह तुझे आज पुत्र-वधू सहित इस अग्निरथ पर बैठा मैं देख रहा हूँ। हाय इसीलिए मैंने तेरा देव सान्निध्य कराया था ? इसीलिए मैंने रुद्राराधना की थी ? हा पुत्र! हा वीर श्रेष्ठ!!

समरजयी रावण जगदीश्वर सिर धुनता हुआ भूमि पर गिर पड़ा।[2] वास्तव में पुत्रशोक से कातर रावण को देखकर पाठक उसके समस्त अत्याचारों को भूल जाता है और उसकी दुरवस्था पर सहानुभूति प्रकट करने की उसकी इच्छा होती है। निश्चित रूप से आचार्य चतुरसेन जी अपने रावण जगदीश्वर के हृदय के इस करुण भाव को दिखला कर उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न कराने में एक सीमा तक सफल रहे हैं। अतः हम कह सकते हैं आचार्य जी का रावण भी उतना ही अत्याचारी पापी अधर्मी एवं दुराचारी है जितना वाल्मीकि एवं तुलसी का रावण किन्तु वह अत्याचारी होते हुए भी सहृदय है अधर्मी होते हुए भी धर्म और मान्य के समक्ष नत होने वाला है। शोक-जर्जरित रावण के व्यवहार से आचार्य जी ने मानव हृदय के इस गूढ़ तत्व का उद्घाटन करके उसे पौराणिक रावण के चरित्र से कहीं अधिक सजीव स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक एवं पूर्ण बना दिया है।

असाधारण-चरित्र-नायक सोमप्रभ

'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास का नायक। प्रस्तुत कथा में उसके चरित्र का चित्रण कुछ इस प्रकार से हुआ है कि उसके चरित्र की रेखाएँ एक-एक कर कथा के अन्त तक उभरती रही हैं। कथा की समाप्ति के साथ-साथ उसका चरित्र भी पूर्ण रूप से सामने आ पाता है। आदि से इति तक यह चरित्र अपने

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १५१।

२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ७५०।

में एक रहस्य छिपाये हुए रहता है। इसका प्रारम्भिक परिचय ही एक रहस्यमय युवक के रूप में दिया जाता है।[1] वह पाठकों के समक्ष एक 'अज्ञात कुलशील युवक' के रूप में आता है।[2] उसका प्रारम्भिक परिचय स्मृति-संचारी द्वारा ही पाठकों को प्राप्त होता है 'उसे अपने बालकाल की विस्मृत स्मृतियाँ याद आने लगीं। आठ वर्ष की अवस्था में उसने यहीं से तक्षशिला का एक सार्थवाह के साथ प्रस्थान किया था। तब से अब तक १८ वर्ष निरन्तर उसने तक्षशिला के विश्वविश्रुत विद्यालय में विविध शास्त्र-शास्त्रों का अध्ययन किया था। इन १८ वर्षों में उसने केवल शस्त्राभ्यास और अध्ययन ही नहीं किया पार्शुपुर यवनदेश तथा उत्तर—कुरु तक यात्रा भी की। देवासुर संग्राम में सक्रिय भाग लिया। पार्शुपुर के शासनुशास से शिबुनद पर मोहा लिया। इसके बाद लगभग सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की यात्रा कर डाली।[3] इतने परिचय के पश्चात् वह तरुण स्वयं ही पाठकों के मानस में अपना स्थान बना लेता है।

प्रकृति, शील स्वभाव योग्यता एवं क्षमता—

साम स्वभाव से ही कर्तव्य परायण वीर एवं निर्भीक है। निर्बलों पर होते हुए अत्याचार को वह सहन नहीं कर पाता। तभी कुण्डनी पर होते हुए अत्याचार को देखकर वह अपने गुरु का भी विरोध करने को तत्पर हो जाता है। किन्तु उसके इस विरोध में भी अशिष्टता नहीं वरन् नम्रता एवं निर्भीकता है। उसने गुरु के अत्याचार का विरोध अवश्य किया किन्तु उनकी आज्ञा की अवहेलना उससे न हो सकी। शस्त्र रखने की गुरु की आज्ञा होते ही एक अतर्कित अनुशासन के वशीभूत होकर उसने तुरन्त शस्त्र त्याग दिया' यद्यपि इसमें उसे अपने प्राणनाश की ही सम्भावना अधिक थी।[4]

उसकी यह निर्भीकता उचित के लिए अड़ने की प्रवृत्ति एवं उसका यह अटूट आत्म विश्वास आदि अन्य गुणों के कारण ही उसका चरित्र आदि से अन्त तक निखरता ही गया है। अपनी निर्भीकता वीरता पुरुषार्थ स्वाभिमान एवं आत्मविश्वास के संबल को लेकर ही वह विदूडम को छुड़ाने के लिए दुर्भेद्य कारागृह में एकाकी प्रवेश करके विरोधियों को पराजित करके राजकुमार

---

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ७४।
२ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन पृ ९४।
३ वैशाली की नगरवधू पृ ७६। ४ वैशाली की नगरवधू पृ ८०।

को निर्विघ्न निकाल लाता है। इतना ही नहीं कोपाल की भरी सभा में वह सभी विरोधियों की उपेक्षा करके राजकुमार विदूडभ के सम्राट होने की घोषणा करता है।

सोम में एक ओर जहाँ पर वीरता और निर्भीकता दीख पड़ती है वहीं उसकी व्यवहार-कुशलता एवं प्रत्युत्पन्नमतित्व भी कम सराहनीय नहीं है। वह प्रत्येक स्थिति के अनुकूल ही अपने को ढालने का प्रयत्न करता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसके चरित्र में इतनी अधिक उभरी हुई है कि कई स्थानों पर अस्वाभाविक भी ज्ञात होने लगी है। महामात्य वर्षकार के सामने वह एक योद्धा है[1] अपनी जननी आर्यामातंगी के समक्ष वह एक विनम्र बालक है[2] असुरों के नगर में वह एक आज्ञापालक के रूप में[3] और चम्पा नगरी में पार्श्वपुरी के रत्न विक्रेता के रूप में हमारे सामने आता है।[4] अम्बपाली की रक्षा करने के लिए वह एक चित्रकार बन कर पहुँच जाता है और वीणा वादन करके वह उसे पूर्णरूपेण अपनी ओर आकर्षित कर लेता है[5] वस्तु बलभद्र बनकर वह वैशाली के दीन हीनों की सहायता करता है[6] मगध का सेनापति बनकर वह वैशाली की सैन्य को पराजित करता है और मगध सम्राट के क्षुद्र स्वार्थ को जानकर वह अपने सम्राट् से भी युद्ध करके उन्हें प्रत्यक्ष युद्ध में पराजित करता है।[7] इस प्रकार सोम के चरित्र में अनेकरूपता आने के स्थान पर अस्वाभाविकता आ गई है। कहीं-कहीं वह जासूसी एवं अय्यारी उपन्यास के नायक की भाँति अभिनय करता हुआ ज्ञात होने लगता है। इसी कारण हमने इसके चरित्र को असाधारण कहा है।

मगध महामात्य वर्षकार से उसका परिचय साम्राज्य एवं महामात्य के प्रति एकनिष्ठ रहने की प्रतिज्ञा और कुण्डनी के साथ उसका चम्पा अभियान आदि घटनाएँ उसके चरित्र के एकाएक गुणों को क्रमशः स्पष्ट करती चलती हैं। आर्या मातंगी से उस जीवन में प्रथम बार ज्ञात होता है कि वही उसकी जननी है। जननी के दर्शन के पश्चात् भी उसे अपने जनक का परिचय नहीं प्राप्त हो

---

१ वैशाली की नगरवधू पृ ८०। २ वैशाली की नगरवधू पृ १०६।
३ वैशाली की नगरवधू पृ १८ से २०० तक।
४ वैशाली की नगरवधू पृ २१२ से २१६ तक।
५ वैशाली की नगरवधू पृ ४८९ से ५१७।
६ वैशाली की नगरवधू पृ ५२७ से ५३९।
७. वैशाली की नगरवधू पृ ७२७ से ७२९।

पाता। केवल उसे इतना ही ज्ञात हो पाता है कि वे विश्वविश्रुत विभूति के अधिकारी हैं और जीवित हैं।[1] इससे उसका स्वाभाविक आत्म सम्मान जाग्रत हो उठता है। वह आर्या मातंगी से कहता है 'तो अभी यही अभीष्ट है मां शेष सब मैं अपने कौशल से जान लूंगा। किन्तु उसकी माँ का आदेश है 'इधर उद्योग मत करना इससे तुम्हारा अनिष्ट होगा। अपनी माँ के इस आदेश को वह सहर्ष स्वीकार कर लेता है। भले ही उसे अज्ञात कुलशील की असह्नीय सामाजिक यन्त्रणा क्यों न सहन करनी पड़े। वह कर्तव्यपरायण भी ऐसा है कि उसे माँ की ममता और उसका वात्सल्य कर्तव्य पथ से विमुख नहीं कर पाता।

सोमप्रभ के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है—उसका साम्राज्य प्रेम। साम्राज्य की रक्षा के लिए वह सम्राट की आज्ञा की भी अवहेलना करने की प्रतिज्ञा कर लेता है। वह सम्राट की आज्ञाओं का अंधानुकरण करने के पक्ष में न होकर साम्राज्य के हित साधन में ही अधिक तत्पर रहता है। उसके देश-प्रेम की भावना के मूल में केवल साम्राज्य की मंगल कामना ही निहित है अपना स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं। वह मगध साम्राज्य का विस्तार चाहता है किन्तु मगध सम्राट की व्यक्तिगत इच्छाओं के लिए व्यर्थ के रक्तपात के पक्ष में वह नहीं है। उसने मगध साम्राज्य के विस्तार के लिए चम्पा पर अभियान किया और अपनी कूटनीतिक चालों से उसे विजित किया[2] साम्राज्य के हित साधन के लिए ही उसने वैशाली को दस्यु बलभद्र बनकर आतंकित किया[3] एवं वैशाली से प्रत्यक्ष युद्ध के समय उसने सेना संचालन का सम्पूर्ण भार अपने कंधों पर ले लिया किन्तु ज्यों ही उसे ज्ञात हुआ कि इस युद्ध का उद्देश्य दूषित है, यह युद्ध 'एक स्त्रैण कामीपुरुष कर्तव्यच्युत सम्राट की इच्छापूर्ति के लिए किया जा रहा है' वैसे ही उसने युद्ध रोक देने की आज्ञा दे दी थी।[4] सम्राट बिम्बसार के प्रश्न करने पर उसका उत्तर था कि मैंने तक्षशिला के विश्वविश्रुत विद्या केन्द्र में राजनीति और रणनीति की शिक्षा पाई है। मेरा यह निश्चित मत है कि साम्राज्य की रक्षा के लिए साम्राज्य की सेना का उपयोग होना चाहिए।

---

१ वैशाली की नगरवधू, पृ १०६।
२ वैशाली की नगरवधू पृ २१२-२१६।
३ वैशाली की नगरवधू पृ ३२७-३२९ तक।
४ वैशाली की नगरवधू पृ ७११।

सम्राट की अभिलाषा और लोभलिप्सा की पूर्ति के लिए नहीं।[१] सम्राट के विरोध करने पर वह सम्राट से युद्ध करने को तत्पर हो जाता है। वह सम्राट की युद्ध घोषणा को ठुकराता हुआ कहता है। 'इस कार्य के लिए रक्त की एक बूँद भी नहीं गिरायी जाएगी और देवी अम्बपाली मगध के राजमहालय में पट्टराजमहिषी के पद पर अभिषिक्त होकर नहीं जा सकतीं। 'यदि गयीं' 'तो या सम्राट नहीं या मैं नहीं।[२] इस घोषणा के पश्चात् वह साम्राज्य की मान रक्षा के लिए सम्राट से भिड़ जाता है। द्वंद्व युद्ध में वह सम्राट से विजयी होता है किन्तु अम्बपाली की भिक्षा पर वह सम्राट को प्राणदान देता है।[३] इस युद्ध के पश्चात् ही उसे अपनी जननी आर्या मातंगी से ज्ञात होता है कि वह सम्राट बिम्बसार का ही अवैध पुत्र है और अम्बपाली आर्यवर्षकार से उत्पन्न उसकी भगिनी है।[४]

सोमप्रभ कर्तव्यपरायण वीर एवं निर्भीक होने के साथ-साथ उदार एवं त्यागी भी है। वह दूसरे के हित के लिए अपने महान् से महान् स्वार्थ के त्याग करने को प्रस्तुत रहता है। राजकुमार विदूडभ के साथ उसने जो अलौकिक दया उदारता का व्यवहार किया वह वास्तव में श्लाघ्य है। प्रसेनजित की दुखद मृत्यु और राजकुमार विदूडभ के बंदी होने के पश्चात् कोशल राज्य निराश्रित हो रहा था इस अवसर पर सोम निर्विघ्न कोशल का सम्राट बन सकता था किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। एक बार —के मस्तिष्क में विचार आया अवश्य (यदि यह विचार उसके मस्तिष्क में न आता तो वह मानव न रहकर महामानव हो जाता) किन्तु शीघ्र ही उसने अपने मस्तिष्क से बलात् ऐसे विचारों को निकाल फेंका। उसने अपने पुरुषार्थ के बलपर केवल राजकुमार विदूडभ को कोशल की गद्दी पर ही नहीं बैठाया वरन् अपनी प्रेमिका राजकुमारी चन्द्रप्रभा को भी उसने विदूडभ के लिए त्याग दिया। उसने अपने स्वार्थ के कारण चम्पा राजनन्दिनी का अहित करना उचित नहीं समझा उसे इतना ही संतोष है कि आज तक उसने अपनी प्रेमिका का अहित ही किया है। उसके पिता का हनन किया उसे निराश्रित किया—किन्तु आज इस अज्ञात कुलशील नगण्य सैनिक की पत्नी बनने के स्थान पर वह उस थोड़े त्याग से द्वारा राजमहिषी

१ वैशाली की नगरवधू पृ ७११-७१२।
२ वैशाली की नगरवधू पृ ७१२-७१३।
३ वैशाली की नगरवधू पृ ७१३-७१४।
४ वैशाली की नगरवधू पृ ७२१-७२२।

बना सकता है। यही विचार उसे अपनी प्रेमिका के त्याग के लिए प्रेरित करते हैं। प्रेम के ऊपर कर्तव्य हावी हो जाता है। राजकुमारी के इस कथन पर कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ सोम केवल तुम्हें। वह उत्तर देता है और मैं भी तुम्हें प्राणाधिकदीक्ष। किन्तु पृथ्वी पर प्यार ही सब कुछ नहीं है। सोचो तो यदि प्यार ही की बात होती तो मैं विदूरथ का क्यों उद्धार करता। क्यों अपने हाथों उसके सिर पर कोशल का राजमुकुट रखकर कोसलेश्वर कहकर अभिवादन करता। प्रिये भारतीके निष्ठा और कर्तव्य मानव-जीवन का चरम उत्कर्ष है। मैंने उसी को निबाहा। अब तुम मुझे सहारा दो।[१] इस वाणी में सच्चे त्याग उदारता एवं आत्म विश्वास से पूर्ण अगाध प्रेम छलकता हुआ ज्ञात होता है। उसके इस महान उत्कर्ष से प्रभावित होकर ही राजकुमारी चन्द्रप्रभा कहती है मैं जानती थी तुम यही करोगे। सोम प्रियदर्शन किन्तु मेरे प्रत्येक रोम में तुम्हारा वास है और आजीवन रहेगा। जीवन के बाद भी यदि चिरन्तन काल तक।[२] अपने क्षुद्र स्वार्थ त्याग के द्वारा उसने कितनी सरलता से राजकुमारी के हृदय को विजयी कर लिया।

राजकुमार विदूरथ भी सोम के इस महान उत्कर्ष एवं उसकी वीरता से प्रभावित है। वे इसे हृदय से स्वीकार करते हैं कि कोशल राज्य उन्हें सोम के कारण ही प्राप्त हो सका। उन्होंने अन्तिम विदा के अवसर पर सोम से कहा भी था 'मित्र सोम अधिक कहने के योग्य नहीं हूँ। परन्तु मित्र कोशल का यह राज्य तुम्हारा ही है। किन्तु सोम विदूरथ की विवशता समझता है। वह यह जानता है कि उसका राजकुमार के निकट रहना कोशल के हित में नहीं। विदूरथ के इस कथन पर कि 'मित्र राजनीति ही तुमसे मेरा बिछोह कराती है। वह राजकुमार से कहता है 'और भी बहुत कुछ महाराज। परन्तु राजनीति मानव—जनपद की चरम व्यवस्था है। उसके लिए हमें त्याग करना ही होगा।[३] और वास्तव में वह सभी कुछ यहाँ तक कि अपनी प्रेमिका भी विदूरथ को देकर खुले हाथ कोशल त्याग कर चल देता है। उसकी विदा के समय राजकुमार विदूरथ का केवल यह वाक्य ही कोशल को सब कुछ देकर मित्र।[४] (तुम जा रहे हो) सोम की महानता का उसके भव्य त्याग को एवं

---

१ वैशाली की नगरवधू पृ ४७० ।
२ वैशाली की नगरवधू पृ ४७१ ।
३ वैशाली की नगरवधू पृ ४६६ ४६७ तक ।
४ वैशाली की नगरवधू पृ. ४६७ ।

विदुम्म के कुत्रत्स्वभाव को व्यक्त कर देता है। वास्तव में सत्य तो यह है कि सोमप्रभ के शौर्य कौशल और सत्साहस के समान ही उसका प्रेम भी उद्दीप्त है। वह दुस्साहस कर चम्पा विजय करता है चम्पा की राजकुमारी को उसके श्रेय के लिए विसर्जित करता है और अम्बपाली को उसके सम्मान के लिए। उसमें त्याग और विसर्जन के ऊँचे तत्व हैं। ऐसे ऊँचे कि कदाचित ही मनुष्य वहाँ तक पहुँच सके।[1] अतः सोमप्रभ को एक असाधारण चरित्र नायक कहा जा सकता है।

उपन्यास में प्रस्तुत चरित्र का महत्व और अन्य चरित्रों पर उसका प्रभाव—

जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है कि 'नगरवधू' उपन्यास का यह नायक है। उपन्यास का सम्पूर्ण घटना चक्र इस पर और इसकी भगिनी अम्बपाली के चरित्र पर ही आधारित है। यदि प्रस्तुत उपन्यास से इसके चरित्र को निकाल दिया जाय तो निश्चित रूप से उपन्यास का कथा-सौंदर्य समाप्त हो जायगा। अब रहा प्रभाव का प्रश्न? प्रस्तुत उपन्यास के लगभग सभी प्रमुख पात्र इसके व्यक्तित्व से प्रभावित होते हुए दीख पड़ते हैं। वैशाली की नगरवधू अम्बपाली मगधसम्राट बिम्बसार राजकुमार विदुम्म राजकुमारी चन्द्रप्रभा एवं कुण्डनी आदि प्रस्तुत उपन्यास के सभी मुख्य पुरुष एवं नारी पात्रों पर इसके व्यक्तित्व का प्रभाव छाया हुआ स्पष्ट दीख पड़ता है। प्रस्तुत उपन्यास में चार प्रमुख राज्यों—वैशाली मगध कोशल एवं चम्पा की कथाएँ पृथक-पृथक चली हैं इन चारों राज्यों की कथाओं में एक शृंखला इसी पात्र के कारण सम्भव हो सकी है। यह जन्म से मागध है किन्तु इसका कार्यक्षेत्र वैशाली कोशल एवं चम्पा तक व्याप्त है। इस प्रकार हम देखते हैं प्रस्तुत उपन्यास की कथा में इस पात्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके क्रियाकलाप घटनाओं को जन्म देते हैं और घटनाएँ कथा को अग्रसर करती चली हैं। इससे कथा अन्त तक अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ती चली गई है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सोमप्रभ ही वैशाली की नगरवधू उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुरुष पात्र है।

धर्मान्ध, दुर्दान्त विजेता महमूद

चरित्र से सम्बन्धित घटना चक्र—

'सोमनाथ' उपन्यास का प्रतिनायक। उपन्यास का सम्पूर्ण घटनाचक्र इसी चरित्र के कारण गति पाता है। कथा का प्रारंभ और अन्त दोनों ही

---

१ वातायन—आचार्य चतुरसेन पृ २६ २७।

इसके चरित्र से सम्बन्धित घटना क्रम से होते हैं। सोमनाथ महालय को विजय करने के दृढ़ संकल्प को लेकर ही यह चरित्र प्रस्तुत उपन्यास में प्रवेश करता है। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह प्रथम एकाकी साधुवेश में महालय का चक्कर लगाता है। यहीं निर्माल्य के लिए आई गई चौला के रूप पर वह मुग्ध हो जाता है। वह उसका बलात् हरण करना चाहता है किन्तु भीमदेव एवं गंगसर्वज्ञ के मध्य में आ जाने के कारण असफल रहता है। गंग इसे पहचान कर भी भीम के प्रतिरोध करने पर भी क्षमा दान देते हैं। इस घटना के पश्चात् ही वह अपने मूल स्थान गजनी लौट कर महालय पर अभियान के लिए तैयारी करना प्रारंभ कर देता है। ईद के बाद ही इसने अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ सोमनाथ विजय के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में कितने ही अवरोध आए, किन्तु महमूद अपने साहस और विवेक के बल पर इन समस्त अवरोधों का अतिक्रमण कर प्रगति के पथ पर बढ़ता ही गया और अंत में उसने छल-बल से सोमनाथ महालय पर विजय प्राप्त कर उसे ध्वस्त किया। महालय को लूटने के अतिरिक्त उसका उद्देश्य भीमदेव की प्रेमिका और महालय की देवदासी चौला को प्राप्त करने का भी था, किन्तु वह चौला के स्थान पर शोभना को प्राप्त कर सका। और अन्त में वह शोभना की ही कृपा से जीवनदान पा उसी के आँचल की छाँह में अपना सर्वस्व गंवा चुपचाप गजनी की राह प्रत्यावर्तित हो सका।

शारीरिक रूपरंग और व्यक्तित्व—

महमूद उपन्यास के आरंभ में एक छद्मवेषी साधु के रूप में ही आता है और उसके कथा में प्रवेश करते ही कथा में त्वरा आने लगी है इस कारण से उपन्यासकार प्रारम्भ में ही उसके व्यक्तित्व का स्थूल रेखाचित्र देने का अवकाश नहीं निकाल पाया है। यद्यपि उसने अन्य प्रधान पात्रों के व्यक्तित्व का परिचय देते समय ऐसी चित्रण-कला का प्रयोग किया है जिससे उस पात्र विशेष का सजीव चित्र पाठक के कल्पना नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष आ जाता है। इससे एक ओर जहाँ पात्र के पदार्पण करते ही पाठक उसके रूप रंग शारीरिक गठन एवं व्यक्तित्व से पूर्ण परिचित हो जाता है वहाँ दूसरी ओर पात्र के प्रति पाठक का आकर्षण भी न्यून पड़ जाता है। वह पात्र के समूचे व्यक्तित्व को एक साथ आत्मसात करने में असफल रहता है। अन्त तक चरित्र के प्रति पाठक का आकर्षण बना अवश्य रहता है किंतु वह चरित्र से युक्त व्यक्तित्व के कारण नहीं वरन् कुतूहलपूर्ण कथा के कारण। महमूद के चरित्र के प्रति पाठक का उसके व्यक्तित्व एवं कथा दोनों ही के कारण अन्त तक आकर्षण बना रहता है। उसके

व्यक्तित्व का निर्माण उपन्यासकार ने स्थूल रेखायें खींचकर नहीं वरन् सूक्ष्म और संश्लिष्ट रेखाओं द्वारा किया है।

प्रकृति एवं शील स्वभाव—

महमूद एक वीर, निर्भय साहसी एवं दुर्धर्ष योद्धा था। उपन्यासकार ने उसके चरित्र का विश्लेषण करते हुए स्वयं लिखा है 'महमूद का सच्चा चरित्र चाहे जो हो वह एक दृढ़ योद्धा आक्रांता और वीर पुरुष था। उसका जीवन ही कठिन अभियानों में बीता। पर उस व्यक्ति में मानवोचित गुण न थे यह मैं कहने का साहस कैसे करूँ ? निस्सन्देह जैसा कि मैंने पहले कहा विभाजन-की विभीषिका से प्रभावित मैंने सभी सम्भव अत्याचारों का आरोप इस अभियान के नायक महमूद पर किया है। परंतु वह मेरी खीज ही तो थी। कुछ हिंदू होने के नाते नहीं मनुष्य होने के नाते भी। इसीलिए उस खीज में आकर मैं एक ऐसे महान विजेता के साथ अत्याचार ही करता रहूँ यह मेरी साहित्यिक निष्ठा नहीं। अतः मैंने अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक कोमलता भावुकता और प्रेम की सम्पन्नता उसे प्रदान कर दी। मुझे यह याद ही न रहा कि वह मनुष्यों का शत्रु, खूनी और डाकू है। अन्ततः वह मनुष्य है यह मैं कैसे भूल सकता था। फिर, वह मनुष्य भी साधारण नहीं। महान् विजेता योद्धा और नियन्ता। अतः उसमें जो वर्णना के योग्य था उसका वर्णन कर उसमें जो पूजा है उसकी मैंने पूजा की। और ऐसा करके मैंने अपना साहित्यिक धर्म पालन किया।[1]

इस प्रकार उपन्यासकार ने प्रस्तुत चरित्र को अत्यन्त कुशलता के साथ संवारा है। कठोरता और कोमलता दोनों ही प्रकार के गुणों का समन्वय महमूद के चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता है। महमूद स्वभाव से दृढ़ कार्यों में साहसी शत्रुओं के लिए कठोर और मित्रों के लिए कोमल था। उसके दरबार में कवियों तथा इतिहासकारों व विद्वान दार्शनिक जनों का भी सम्मान होता था। फिरदौसी और अलबरूनी जैसे विद्वानों का वह पोषक था। उसने देश-देश की पुस्तकों का एक बहुत भारी संग्रह गजनी के राजकीय पुस्तकालय में किया था। इस अलभ्य ग्रंथ सागर को एकत्र करने में उसने पानी की तरह रुपया खर्च किया था। गजनी और देहातों में उसने राज्य भर में बच्चों की शिक्षा की उत्तम व्यवस्था की थी। उसने मुक्त हाथ से लाखों रुपया इस कार्य में व्यय किया था। यद्यपि वह स्वभाव से कंजूस और धनलोलुप था पर विद्याविकास में वह दिल खोलकर खर्च करता था। कविता सुनने का वह अत्यन्त शौकीन था। फिरदौसी

1 सोमनाथ आधार, पृ ९ से १०।

के पूर्ववर्ती कवि अंसारी तथा ईरानी कवि दाकिनी को उसने शाहनामा लिखने की आज्ञा दी थी जिसे फिरदौसी ने पूरा किया था।[1]

धार्मिक कट्टरता एवं स्वेच्छाचारिता के कारण उसका स्वभाव क्रूर, कठोर एवं जिद्दी हो गया था। वह अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों को हीन दृष्टि से देखता था। अन्य धर्मावलम्बियों के लिए वह मृत्युदूत था। हिन्दुओं की पवित्र एवं पूज्य मूर्तियों को ध्वस्त करने में वह अपना गौरव समझता था। उसका विश्वास था कि "मैं खुदा का बंदा महमूद खुदा के हुक्म से कुफ्र तोड़ता हूँ।"[2] सोमनाथ महात्म्य को ध्वस्त करना अपने प्राण रक्षक गजदर्शन की निर्मम हत्या करना निरीह प्राणियों का रक्तपात करके प्रसन्न होना कैदियों के काफिले पर अत्याचार करके गौरव का अनुभव करना आदि कार्य महमूद की क्रूर, खूनी निर्दय एवं दुर्दान्त रक्त पिपासु प्रकृति को प्रकट करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है उपन्यासकार ने महमूद के कठोर स्वभाव के साथ-साथ उसकी कोमल भावनाओं को भी उरेहा है। वह एक क्रूर एवं दुर्दान्त लुटेरा ही नहीं वरन् एक प्रेमी का हृदय रखने वाला मानव भी है। चौला का अभिनय करने वाली शोभना के सामने वह प्रेम का भिखारी बन कर आता है।[3] वह शोभना से कहता है 'जानेमन प्यार की इस चोट से मैं अब तक बेखबर था। आज देखता हूँ जैसे मैंने अपनी सारी जिन्दगी ही बर्बाद की। अब महमूद जिन्दा नहीं रह सकता।'[4] उसके इन वाक्यों से उसके हृदय की तड़पन स्पष्ट है।

उसके क्रूर स्वभाव में कोमलता का समावेश उपन्यासकार ने रमाबाई की वार्ता के पश्चात् से करना आरम्भ किया है। वह रमाबाई से स्वयं कहता है— 'बहुत लोग मुझसे अपनी राज्य और दौलत के लिए लड़े। लेकिन इन्सान के लिए आज तक मुझसे कोई नहीं लड़ा।'[5] और इन्सान के लिए लड़ने वाली औरत का हुक्म मानकर ही उसने उसी क्षण देव पट्टन को छोड़कर सेना को कूच करने का हुक्म दे दिया था।[6] 'इसके पश्चात् शोभना के सान्निध्य में आने के पश्चात् तो उपन्यासकार उसके क्रूर स्वभाव में स्थान-स्थान पर कोमलता का स्पर्श देता ही गया है। यह कोमलता के गुण उसके क्रूर स्वभाव के परिपार्श्व से निकल कर उसी

---

१ सोमनाथ पृ ८७।
२ सोमनाथ पृ १८५।
३ सोमनाथ पृ ४६७।
४ सोमनाथ पृ २४८।
५ सोमनाथ पृ १८६।
६ सोमनाथ पृ १८७।

यवन आक्रमणकारियों को सब सम्भव सहायता देते थे ।[१] मुलतान के चौहान राजा अजयपाल का समर्पण महमूद ने एक ऐसे ही औलिया के द्वारा प्राप्त किया था ।[२] शाह मदार की कृपा से ही वह धर्मगजदेव के सेनापति को लालच देकर तोड़ सका था ।[३] इस प्रकार महमूद ने अपनी दूरदर्शी राजनीति के कारण युद्ध के पूर्व ही एक सुदृढ़ भूमिका निर्मित कर ली थी। उसकी विजय का सम्पूर्ण श्रेय उसकी इस दूरदर्शी राजनीति को ही है।

उपन्यास में उसका महत्व और अन्य चरित्रों पर उसका प्रभाव—

जैसा कि हम चरित्र से सम्बन्धित घटना चक्र में दिखला चुके हैं कि प्रस्तुत उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक केवल महमूद के चरित्र पर ही आश्रित है। यदि केवल इस चरित्र को उपन्यास से निकाल दिया जावे तो कथानक का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा। कल्पना कीजिए कि प्रस्तुत उपन्यास से महमूद के चरित्र को निकाल दिया जावे तो कथानक किस रूप में हमारे सामने आवेगा ? महमूद के चरित्र को निकाल देने पर भारत पर आक्रमण का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। जब आक्रमण ही नहीं रहा तो उसके अवरोध का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। अतः हम निःसंकोच कह सकते हैं कि महमूद का चरित्र प्रस्तुत उपन्यास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं अन्य महत्वपूर्ण चरित्रों का अस्तित्व भी केवल इसी चरित्र के कारण है।

इतिहास से साम्य और भिन्नता—

आचार्य जी ने महमूद का चित्रण ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर किया है। ऐतिहासिक महमूद के चरित्र में भी वे सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं[४] जो हम पीछे महमूद की 'प्रकृति और शील स्वभाव' में दिखला चुके हैं। आचार्य जी का महमूद केवल दो बातों में ऐतिहासिक महमूद से किंचित भिन्न दीख पड़ता है। प्रथम ऐतिहासिक महमूद की सोमनाथ महालय पर अभियान के समय अवस्था लगभग ५५ वर्ष की थी[५] जबकि आचार्य जी का महमूद एकदम तरुण दीख पड़ता है। द्वितीय ऐतिहासिक महमूद केवल बुत शिकन स्वामी एवं कट्टर मुसलमान था किन्तु आचार्य चतुरसेन जी के महमूद में यह सब गुण होने के साथ साथ उसमें एक प्रेमी का व्याकुल हृदय भी दिखलाया गया है। और

१ सोमनाथ पृ ८० । २ सोमनाथ पृ १८ से १९ ।

३ सोमनाथ पृ १९४ से १९५ ।

४ देखिए भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरीप्रसाद पृ १७५-७६ ।

५ देखिए भारतवर्ष का इतिहास पृ १७४ ।

के पूर्ववर्ती कवि मसारी तथा ईरानी कवि दाकिनी का उसने शाहनामा लिखने की आशा दी थी जिसे फिरदौसी ने पूरा किया था।[१]

धार्मिक कट्टरता एवं स्वच्छाचारिता के कारण उसका स्वभाव क्रूर, कठोर एवं जिद्दी हो गया था। वह अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों को हीन दृष्टि से देखता था। अन्य धर्मावलम्बियों के लिए वह मृत्युदूत था। हिन्दुओं की पवित्र एवं पूज्य मूर्तियों को ध्वस्त करने में वह अपना गौरव समझता था। उसका विश्वास था कि "मैं खुदा का बंदा महमूद खुदा के हुक्म से कुफ्र तोड़ता हूँ।[२] सोमनाथ महालय को ध्वस्त करना अपने प्राण रक्षक गंधसर्वज्ञ की निर्मम हत्या करना निरीह प्राणियों का रक्तपात करके प्रसन्न होना कैदियों के काफिले पर अत्याचार करके गौरव का अनुभव करना आदि कार्य महमूद की क्रूर, खूनी निर्मम एवं दुर्दान्त रक्त पिपासु प्रकृति को प्रकट करते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है उपन्यासकार ने महमूद के कठोर स्वभाव के साथ-साथ उसकी कोमल भावनाओं को भी उरेहा है। वह एक क्रूर एवं दुर्दान्त लुटेरा ही नहीं वरन् एक प्रेमी का हृदय रखने वाला मानव भी है। चौला का अभिनय करने वाली शोभना के सामने वह प्रेम का भिखारी बन कर आता है।[३] वह शोभना से कहता है 'नाजनीन प्यार की इस चोट से मैं अब तक बेखबर था। आज देखता हूँ जैसे मैंने अपनी सारी जिंदगी ही बर्बाद की। अब महमूद जिंदा नहीं रह सकता।'[४] उसके इन वाक्यों में उसके हृदय की तड़पन स्पष्ट है।

उसके क्रूर स्वभाव में कोमलता का समावेश उपन्यासकार ने रमाबाई की वार्ता के पश्चात् से करना प्रारम्भ किया है। वह रमाबाई से स्वयं कहता है— "बहुत लोग मुझसे अपने राज्य और दौलत के लिए लड़े। लेकिन इस्लाम के लिए आज तक मुझसे कोई नहीं लड़ा।"[५] और इस्लाम के लिए लड़ने वाली औरत का हुक्म मानकर ही उसने उसी क्षण देव पट्टन को छोड़कर सेना को कूच करने का हुक्म दे दिया था।[६] इसके पश्चात् शोभना के सान्निध्य में आने के पश्चात् तो उपन्यासकार उसके क्रूर स्वभाव में स्थान-स्थान पर कोमलता का स्पर्श देता ही गया है। यह कोमलता के गुण उसके क्रूर स्वभाव के परिपार्श्व से निकल कर उसी

---

१ सोमनाथ पृ ८७।
२ सोमनाथ पृ ३८५।
३ सोमनाथ पृ ४४७।
४ सोमनाथ पृ ४४८।
५ सोमनाथ पृ ३८६।
६ सोमनाथ पृ ३८७।

यवन आक्रमणकारियों को सब सम्भव सहायता देते थे ।[1] मुलतान के चौहान राजा अजयपाल का समर्थन महमूद ने एक ऐसे ही मौलिया के द्वारा प्राप्त किया था ।[2] शाह मदार की कृपा से ही वह धर्मगजदेव के सेनापति को लालच देकर तोड़ सका था ।[3] इस प्रकार महमूद ने अपनी दूरदर्शी राजनीति के कारण युद्ध के पूर्व ही एक सुदृढ़ भूमिका निर्मित कर ली थी। उसकी विजय का सम्पूर्ण श्रेय उसकी इस दूरदर्शी राजनीति को ही है ।

उपन्यास में उसका महत्त्व और अन्य चरित्रों पर उसका प्रभाव—

जैसा कि हम चरित्र से सम्बन्धित वस्तु पक्ष में लिख चुके हैं कि प्रस्तुत उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक केवल महमूद के चरित्र पर ही आश्रित है । यदि केवल इस चरित्र को उपन्यास से निकाल दिया जावे तो कथानक का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा । कल्पना कीजिए कि प्रस्तुत उपन्यास से महमूद के चरित्र को निकाल दिया जावे तो कथानक किस रूप में हमारे सामने आवेगा ? महमूद के चरित्र को निकाल देने पर भारत पर आक्रमण का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । जब आक्रमण ही नहीं रहा तो उसके अवरोध का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है । अतः हम निःसंकोच कह सकते हैं कि महमूद का चरित्र प्रस्तुत उपन्यास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । इतना ही नहीं अन्य महत्त्वपूर्ण चरित्रों का अस्तित्व भी केवल इसी चरित्र के कारण है ।

इतिहास से साम्य और भिन्नता—

आचार्य जी ने महमूद का चित्रण ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर किया है । ऐतिहासिक महमूद के चरित्र में भी वे सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं[4] जो हम पीछे महमूद की 'प्रकृति और शील स्वभाव' में लिख चुके हैं । आचार्य जी का महमूद केवल दो बातों में ऐतिहासिक महमूद से किंचित भिन्न दीख पड़ता है । प्रथम ऐतिहासिक महमूद की सोमनाथ महालय पर अभियान के समय अवस्था लगभग ५५ वर्ष की थी[5] जबकि आचार्य जी का महमूद एकदम तरुण दीख पड़ता है । द्वितीय ऐतिहासिक महमूद केवल बुत शिकन नामी एवं कट्टर मुसलमान था किंतु आचार्य चतुरसेन जी के महमूद में यह सब गुण होने के साथ साथ उसमें एक प्रेमी का व्याकुल हृदय भी दिखलाया गया है । और

१ सोमनाथ पृ ८० । २ सोमनाथ पृ ९८ से ९९ ।
३ सोमनाथ पृ १९४ से १९५ ।
४ देखिए भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरीप्रसाद पृ १०२-७६ ।
५. देखिए भारतवर्ष का इतिहास पृ १०४ ।

उसका यह पक्ष इतना प्रधान हो गया है कि वह उसके समस्त ऐतिहासिक गुणों के ऊपर हावी हो गया है। आचार्यजी का महमूद अपने औलिया से कहता है कि 'वही (नाजनीन) मेरा दीनो ईमान है'[1] इतना ही नहीं वह इस्लाम को भी उस नाजनीन के बाद की चीज मानता है।[2] उसके यह वाक्य ऐतिहासिक महमूद के मुख से निःसृत वाक्य नहीं ज्ञात होते। इसके अतिरिक्त आचार्य जी का महमूद अपने अन्य गुणदोषों में ऐतिहासिक महमूद के बिल्कुल निकट है।

श्री मुंशी के 'जयसोमनाथ' के महमूद से आचार्य जी के महमूद का चरित्र अधिक उभरा हुआ है। श्री मुंशी के महमूद का चित्रण एक दूर से देखे हुए लुटेरे के चित्रण के समान ज्ञात होता है जब कि आचार्य जी ने अपने महमूद की आत्मा में प्रवेश करके उसका चित्रण किया है। प्रथम से हम केवल भय और घृणा मात्र करते हैं जबकि दूसरे से हम भय और घृणा के साथ-साथ कोमलता के कारण प्यार भी करने लगते हैं।

निष्कर्ष—

अब देखना यह है कि क्या प्रस्तुत चरित्रका चरित्र-चित्रण कला की कसौटी पर पूर्ण खरा उतरता है? वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत चरित्र को बड़े संयम से सँवारा है, इसके चरित्र का बुद्धि-क्रम बड़ी सुन्दरता से निभाया गया है। घटनाओं और परिस्थितियों में डाल-डाल कर उसके चरित्र को तपा तपा कर निखारा गया है। क्रूरता और कोमलता का समन्वय भी एक ही चरित्र में उपन्यासकार ने बड़ी कुशलता से भरा है। चरित्र को निखारने के लिए उपन्यासकार ने चित्रण की दोनों शैलियों—प्रत्यक्ष और परोक्ष का उपयोग किया है। चरित्र कथानक के अनुकूल ही ढलता गया है। क्रूरता और कोमलता दोनों ही गुण अपने-अपने स्थान पर उचित प्रतीत होते हैं। व्यक्तित्व की पूर्णता के कारण ही प्रस्तुत चरित्र पूर्ण सजीव ज्ञात होता है। उसके प्रेमी हृदय की व्याकुलता दिखलाने में उपन्यासकार ने मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। इसी कारण ऐसे क्रूर, हिंसक विधर्मी एवं धर्मद्रोही के प्रति भी हमारी सहज सहानुभूति बनी रहती है। एक ओर उसकी क्रूरता देख कर यदि हमें उस पर क्रोध आता है तो दूसरी ओर उसकी 'नाजनीन' के प्रति विह्वलता देख कर दया भी आती है। चरित्र मुंशी के महमूद से प्रभावित होते हुए भी पूर्ण मौलिक और निज की विशेषताओं से युक्त है।

---

१ सोमनाथ पृ ७४। २ सोमनाथ पृ ७४।

असाधारण रमणी वैशाली की नगरवधू—अम्बपाली

चरित्र से सम्बन्धित घटना-चक्र—

आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत चरित्र का निर्माण कल्पना एवं रोमांस के सूक्ष्म तंतुओं द्वारा किया है। वह एक निरीह बालिका के रूप में उपन्यास में पदार्पण करती है किन्तु शीघ्र ही अपने अप्रतिम सौन्दर्य के कारण सम्पूर्ण वैशाली गणतन्त्र का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। अपने इस अद्वितीय रूप के कारण ही उसे बलात् वैशाली गणतन्त्र के धिक्कृत कानून के कारण 'नगरवधू' बनना पड़ता है। नगरवधू बनने के लिए वह वैशाली गणतन्त्र से मुँहमाँगा मूल्य तो लेती ही है किन्तु तो भी इसके हृदय से वैशाली गणतन्त्र के प्रति प्रतिशोध की ज्वाला शांत नहीं होती। और शांत हो भी कैसे? नगरवधू बनने के पूर्व वह संथागार में स्पष्ट घोषणा करती हुई कहती है "वज्जी संघ का यह धिक्कृत-कानून वैशाली जनपद के यशस्वी गणतन्त्र का कलंक है। भन्ते मेरा अपराध केवल यही है कि विधाता ने मुझे यह अथाह रूप दिया है। इसी अपराध के लिए आज मैं अपने जीवन के गौरव को छोड़ना और अपमान के पंक में डूबो देने को विवश की जा रही हूँ। इसी से मुझे स्त्रीत्व के उन सब अधिकारों से वंचित किया जा रहा है जिस पर प्रत्येक कुलवधू का अधिकार है। अब मैं अपनी रुचि और पसन्द से किसी व्यक्ति को प्रेम नहीं कर सकती। उसे अपनी देह और अपना हृदय अर्पण नहीं कर सकती। अपना स्नेह से भरा हृदय और रूप से लथपथ यह अधम देह लेकर मैं वैशाली की हाट में ऊँचे-नीचे दाम में इसे बेचने बैठूँगी। आप जिस कानून के बल पर मुझे ऐसा करने को विवश कर रहे हैं वह एक बार नहीं—लाख बार धिक्कृत होने योग्य है जिसे आज ये स्त्रैण तरुण सामन्तपुत्र अपने खड्ग की तीखी धार और भालों की नोक के बल पर अक्षुण्ण और सुरक्षित रखना चाहते हैं"[1]

इस स्पष्ट घोषणा के फलस्वरूप भी उसे बलात् नगरवधू बनना पड़ा फिर उसके हृदय की प्रतिशोध की ज्वाला शान्त कैसे हो सकती थी। उसने वैशाली गणतन्त्र से प्रतिशोध के लिए ही अपने प्रेमी हर्षदेव को गणतन्त्र के विरुद्ध उत्तेजित किया[2] महाराज उदयन को भी इस धिक्कृत कानून के विपरीत में उकसाने की चेष्टा की सोमप्रभ को भी अपने पक्ष में मिलाने का पूर्ण प्रयत्न किया और इन सभी के द्वारा अपने कार्य को पूर्ण होता न देख मगधपति

---

१ वैशाली की नगरवधू, पृ २०। २ वैशाली की नगरवधू, पृ ४०-४१।

महाराज बिम्बसार से अपने सौन्दर्य का सौदा कर बैठी।[1] महाराज बिम्बसार इसी के कारण वैशाली पर आक्रमण करते हैं[2] किन्तु अपने सेनापति सोमप्रभ के कारण उन्हें अन्त में सन्धि करनी पड़ती है।[3] उपन्यास के अन्त में अम्बपाली के जन्म का रहस्य ज्ञात होता है। उसके पिता आर्य वर्षकार एवं माता आर्या मातंगी हैं। सोमप्रभ उसका भ्राता है। अन्त में वह अपने जीवन से निराश होकर बौद्ध धर्म ग्रहण कर भगवान् बुद्ध की शरण में चली जाती है।

चरित्र-निर्माण का प्रेरणा स्रोत—

प्रस्तुत चरित्र का निर्माण केवल कल्पना पर ही आधारित नहीं है वरन् इस चरित्र से उपन्यासकार कई बार स्वप्न में साक्षात्कार कर चुका था। इस चरित्र के निर्माण की प्रेरणा उपन्यासकार को सर्वप्रथम एलोरा और अजन्ता की गुफाओं व उनके चित्रों से प्राप्त हुई थी। इस विषय में उसका कथन उल्लेखनीय है'——"अम्बपाली की एक स्थिर मूर्ति का एक चित्र भी मेरे मस्तिष्क में अंकित होता गया। बहुत दिन पूर्व एलोरा और अजन्ता की गुफाएँ देखी थीं। अब उनके रंगीन-चित्रों का मैं घण्टों देखकर अम्बपाली की उनमें व्याप्ति करने लगा। धीरे-धीरे अम्बपाली की एक लोकोत्तर मूर्ति मेरे मानस पर अंकित हो गई। तथाकथित उस प्राचीन कानून ने मुझे अम्बपाली का हिमायती बना दिया। मैंने साहित्य और शृंगार के रस में उस मूर्ति का पुटक्रिया दे देकर उसे अपने साथ इस प्रकार घनीभूत कर लिया कि एक दिन जब मैं शीतल-स्निग्ध चाँदनी में सोया हुआ था तो मैंने आकाश में वह उज्ज्वल सजीव मूर्ति स्पष्ट देखी। उसके होंठ हिलते हुए, आँचल हवा में फरफराता हुआ, नेत्र आवाहन करते हुए स्पष्ट मैंने देखे। मेरे शरीर के सम्पूर्ण जीव रोम कल्पना के वशीभूत हो गए और मैंने कहा 'आओ अम्बपाली।' और अम्बपाली ने माना। मैंने इन्हीं आँखों से उसे स्वच्छ नील गगन में चन्द्रमा के उज्ज्वल आलोक में उसे नाचते देखा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी आकाश में ही उसके निकट पहुँच गया हूँ। मैं उसके चरणों से निकलते हुए सौरभ और नृत्य में झंकृत पैंजनियों की ध्वनि प्रत्यक्ष अनुभव करता रहा। एकाएक मुझे प्रतीत हुआ कि वह मूर्ति गायब हो गई और मैं वेग से नीचे आ गिरा।

---

१ वैशाली की नगरवधू पृ २२६ से २२८ तक।
२ वैशाली की नगरवधू, पृ ७११ से ७१४ तक।
३ वैशाली की नगरवधू पृ ७१४ से ७४६ तक।

सम्भवतः मेरे मुँह से चीख या शब्द निकला था, और पत्नी ने उठकर मुझे सावधान किया था। मैंने तुरंत उठकर उस नृत्य का वर्णन किया जिसका संशोधित रूप इस उपन्यास में कलमबन्द है।[1] यही स्वप्न में देखा अम्बपाली का रूप और सौन्दर्य ही प्रस्तुत चरित्र के निर्माण का प्रेरणा स्रोत है।

शारीरिक रूप रंग और व्यक्तित्व—

अम्बपाली की जिस मूर्ति की आचार्य चतुरसेन जी ने स्थापना की है वह देवी न होकर देवी और मानवी न होकर मानवी है। उस मूर्ति को वे जितना शुद्ध संस्कृत और उच्च भावनायुक्त बना सकते थे बनाया है। वह ढोंगी भी नहीं है पत्थर भी नहीं है मिथ्याचार भी नहीं है। हाड़-मांस की रमी है। दया उदारता स्नेह के साथ आत्म-सम्मान गर्व और त्याग की चरम शक्ति अपने व्यक्तित्व में समेटे हुए है।[2] किन्तु इतना सब होते हुए भी वह 'नगरवधू' है साधारण कुल वधुओं के अधिकारों से वंचित। अम्बपाली के अप्रतिम शारीरिक सौन्दर्य का प्रथम परिचय उपन्यासकार ने इस प्रकार दिया है 'अम्बपाली ने शुभ्र कौशेय धारण किया था। उसके घुंघराले केश-कुन्तल ताजे फूलों से गूँथे हुए थे। ऊपरी वक्ष खुला हुआ था। देहयष्टि जैसे किसी दिव्य कारीगर ने हीरे के समूचे अखण्ड टुकड़े से यत्नपूर्वक खोदकर गढ़ी थी। उससे तेज आभा प्रकाश माधुर्य कोमलता और सौरभ का अटूट झरना झर रहा था। इतना रूप इतना सौष्ठव इतनी अपूर्वता कभी किसी ने एक स्थान पर देखी नहीं थी। उसने कंठ में बड़े-बड़े सिंहल के मोतियों की माला धारण की थी। कटिप्रदेश की हीरे-जड़ी करधनी उसकी क्षीण कटि को पुष्ट नितम्बों से विभाजित सी कर रही थी। उसके सुडौल गुल्फ मणिखचित उपानत से जिनके ऊपर स्वर्ण पैंजनिया चमक रही थी अपूर्व शोभा का विस्तार कर रही थी। मानों वह संथागार में रूप यौवन और सौरभ को बखेरती चली आई थी।[3] उसके इस रूप के प्रभाव को भी देखिए जनपद लुटा-सा मूर्छित-सा स्तम्भ सा खड़ा था। 'आज वैशाली का जनपद देख रहा था कि विश्व की यौवन श्री अम्बपाली की देहयष्टि में एकीभूत हो गई थी। जिसे देख जनपद स्तम्भित चकित और जड़ हो गया था। वह अपने को जीवन को और जगत् को भी भूल गया

---

१ वैशाली की नगरवधू भूमि पृ ७७९ से ७८० तक।
२ वातायन-आचार्य चतुरसेन पृ ५६।
३ वैशाली की नगरवधू पृ १८ से १९ तक।

था।[१] इस रूप चित्रण द्वारा अम्बपाली के शारीरिक लावण्य एवं अप्रतिम सौंदर्य को उभारने में तो उपन्यासकार सफल हुआ ही है साथ ही उसने अपनी कोमल कल्पना के द्वारा सौन्दर्य के प्रभाव को भी उभार कर रख दिया है।

प्रकृति, शील स्वभाव, योग्यता एवं क्षमता

अम्बपाली प्रकृति से कोमल किंतु स्वभाव से निर्भीक समन की पक्की दृढ़ महत्वाकांक्षी स्वाभिमानी कला एवं साहित्य की प्रेमी नृत्य निपुण संयमी प्रयत्न तेजयुक्त आशावादी बुद्धिमती एवं प्रेरक शक्ति से पूर्ण असाधारण रमणी है।[२] असाधारण इस कारण से कि उसका चरित्र अन्य नारी पात्रों से भिन्न है। वह नगरवधू होते हुए भी नगरवधू नहीं है तभी तो वह मगध सम्राट बिम्बसार के समक्ष आत्मसमर्पण करते हुए कहती है आपकी चिरकिंकरी अम्बपाली इस समय तक विशुद्ध कुमारी है और वह आपकी आमरण प्रतीक्षा करेगी।[३] उसकी दृढ़ता एवं निर्भीकता का प्रथम परिचय उपन्यास के प्रारम्भ में ही संथागार में की गई उसकी स्पष्ट घोषणा से प्राप्त होता है।[४] उसके स्वाभिमान का परिचय तो उपन्यास में कितने ही स्थलों पर प्राप्त होता है। अपने संयम और स्वाभिमान के कारण ही वह नगरवधू होते हुए भी अपने सतीत्व की रक्षा धन एवं काम लोलुप सामन्त एवं सेट्ठि पुत्रों से कर सकी थी। उसका असाधारण बुद्धि बल अद्भुत तेज एवं आशावादी दृष्टिकोण भी सराहनीय है। बलात् नगरवधू बना दिये जाने पर भी वह अपने जीवन से निराश नहीं हुई। उसकी तीव्र बुद्धि ने ऐसे कठिन अवसर पर भी उसका साथ नहीं छोड़ा। उसने अपनी इसी बुद्धि का उपयोग करके नगरवधू बनने के पूर्व ही गणतंत्र से अपनी समस्त शर्तों को स्वीकार कराया[५] और अपनी

---

१ वैशाली की नगरवधू पृ १९।

२ वैशाली की नगरवधू एक असाधारण रमणी है। उसका प्रेम भी असाधारण है। हर्ष देव को प्रेम करती है, वह उदयन से पराजित होती है, सोमप्रभ को शरीर दान करती है और बिम्बसार के लिये पुत्र उत्पन्न करती है। तिस पर भी उसके प्रेम को लेखक ऊँचा बताता है असाधारण रूप देता है। ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार डा० गोपीनाथ तिवारी पृ १६६।

३ वैशाली की नगरवधू पृ २६१।

४ वैशाली की नगरवधू, पृ २०।

५ वैशाली की नगरवधू, पृ २० से २७।

इसी बुद्धि के द्वारा ही वह कामी पुरुषों को मूर्ख बनाती रही।[1] उसने अपने को बलात् नगरवधू बनाने का प्रतिशोध लेने के लिए इसी बुद्धि का उपयोग वैशाली गणतंत्र को विनष्ट करने के लिए भी किया था।[2] वह महत्वाकांक्षिणी भी कम न थी। अपने हित साधन के लिए उसने मगध सम्राट बिम्बसार का केवल आश्रय ही नहीं लिया वरन् उनसे यह प्रतिज्ञा भी करा ली 'आपके औरस से मेरे गर्भ में जो संतान हो वही मगध का भावी सम्राट हो।'[3]

अम्बपाली संगीत की अनन्य प्रेमिका होने के साथ-साथ नृत्य कला में पूर्ण दक्ष थी। वास्तव में सत्य तो यह है कि केवल एक इसी व्यक्तित्व में उपन्यासकार ने काम और रति के सभी आभूषणों को एक साथ ला रखा है। उसके अबाध नृत्य पर मुग्ध होकर कौशाम्बीपति महाराज उदयन के मुख से अनायास ही निकल जाता है 'और न त्रिलोकी में कोई जीवधारी वैशाली की जनपद कल्याणी अम्बपाली के समान तीन ग्रामों की ताल पर नृत्य कर सकता है।'[4] सोमप्रभ के समक्ष किया गया उसका अपार्थिव नृत्य तो और भी असाधारण है। इसमें उसके पादक्षेप के साथ वीणा आप ही ध्वनित हो उठी थी। वास्तव में यह नृत्य उसकी नृत्य-कला की चरम-परिणति है।[5]

उपन्यास में प्रस्तुत चरित्र का महत्व और अन्य चरित्रों पर इसका प्रभाव—

जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि अम्बपाली 'नगरवधू' उपन्यास की नायिका है। उसी के नाम पर प्रस्तुत उपन्यास का नामकरण किया गया है। उपन्यास का सम्पूर्ण घटना-चक्र इसके एवं इसके भ्राता सोमप्रभ के व्यक्तित्व पर ही आधारित है। उपन्यास की सम्पूर्ण घटनाओं का केन्द्र प्रस्तुत चरित्र ही है। उपन्यास का प्रारंभ इसके बलात् नगरवधू बनाए जानेवाली घटना को लेकर हुआ है और अन्त इसके भिक्षुणी बनने वाली घटना से। उपन्यास के लगभग समस्त पुरुष-पात्र इसके व्यक्तित्व से प्रभावित हैं। वैशाली और मगध का युद्ध केवल इसी चरित्र के कारण हुआ है अतः स्पष्ट है प्रस्तुत चरित्र का उपन्यास की कथा से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

---

१ वैशाली की नगरवधू, पृ १९ से १७।
२ वैशाली की नगरवधू, पृ ४२ से ४८, २५० से २६१ तक।
३ वैशाली की नगरवधू, पृ २९०।
४ वैशाली की नगरवधू, पृ ११६।
५ वैशाली की नगरवधू, पृ ५०१ से ५०२ तक।

इतिहास से साम्य और भिन्नता—

जैसा कि हम तृतीय अध्याय में अम्बपाली की कथा का विवेचन करते समय दिखला आये हैं कि इतिहास में उसके विषय में केवल इतना ही उल्लेख प्राप्त होता है 'अम्बपाली वैशाली के राज्योद्यान में सहसा अवतरित हुई और सौंदर्य की प्रतिमा के रूप में विकसित हुई। आगे चलकर इसका सम्बंध केवल सामन्तों तक ही परिमित नहीं रहा वरन् इसके संरक्षक और प्रेमीरूप में सम्राट बिम्बसार तक का उल्लेख प्राप्त है।[1] विशेषरूप में यह वैशाली के राजकुमारों की प्रेमिका बनी रही। अन्त में बुद्ध के द्वारा सद्धर्म में दीक्षित हुई थी। बुद्ध को वैशाली के समीप कोटिग्राम में आया सुनकर यह अपनी परिचारिकाओं के साथ स्वयं वहाँ गई थी। और भगवान को भोजन के लिए निमंत्रित कर आई दूसरे दिन बुद्ध उसके यहाँ गये और भोजन किया था। उसी विदाई में इसने अपना उद्यान अम्बपालिवन संघ को समर्पित कर दिया था। अंत में इसने अर्हत पद प्राप्त किया था।[2] प्रस्तुत उपन्यास की अम्बपाली के चरित्र की स्थूल रेखायें इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों से ली गई हैं। उसके जन्म की कथा सोमप्रभ, हर्षदेव आदि से उसके सम्बन्ध की कथा आदि काल्पनिक हैं और उसके चरित्र में पूर्णता लाने के लिए इन कथाओं का समावेश किया गया है

निष्कर्ष—

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि अम्बपाली के चरित्र का निर्माण आचार्य चतुरसेन जी ने बड़ी ही सूक्ष्म भावना से किया है। उसका व्यक्तित्व एक ओर जहाँ दैवी आलोक से प्रकाशित है वहीं दूसरी ओर उसमें नारी सुलभ भावनाएँ भी भरी हुई हैं। जिससे उसका व्यक्तित्व पूर्ण सजीव विस्मय मतिशील एवं स्वाभाविक है। उसके चरित्र का प्रस्फुटन भी कथा के अनुकूल ही शनैः शनैः उपन्यासकार ने किया है। उपन्यासकार ने उसका चित्रण प्रायः अभिनयात्मक या नाटकीय विधि से किया है। किन्तु उसके रूप एवं सौन्दर्य का वर्णन करते समय अधिकांशतः उसने विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग किया है।[3] वास्तव में हम अम्बपाली के सहज सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होते हैं, उसकी चतुरता चातुरी एवं लगन से आनन्दित होते हैं उसकी अनुभूतियों की

---

१ मेरी भाषा प्रथम भाग पृ १४६।

२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ ११ से १२ साथ ही देखिए महावग्ग ६।४।७ नगरवधू भूमि पृ ७७८।

३ वैशाली की नगरवधू, पृ १८ १९।

तीव्रता में हम अपने हर्ष विषाद को भूल जाते हैं उसके नृत्य की तन्मयता में तन्मयता संगीत की सुधा में मधुरता खिन्नता में दुःख चिंता में चिंता एवं उसके क्षोभ और क्लेश में क्षोभ और पीड़ा का हमें अनुभव होने लगता है। इसी कारण उपन्यास समाप्त होने के पश्चात् अम्बपाली हमारे मानस पटल पर एक अविस्मरणीय चित्र अंकित कर जाती है।

आदर्श रमणी शोभना

शोभना (सोमनाथ) एक ब्राह्मण विधवा कुमारी है। उसके चरित्र का निर्माण उपन्यासकार ने यथार्थ और आदर्श के ताने-बाने बुनकर किया है। उसके जीवन का प्रारंभ यथार्थ के कलुषित वातावरण से होता है और अंत तक पहुँचते पहुँचते उसका जीवन त्याग बलिदान एवं अभूतपूर्व साहस का अप्रतिम उदाहरण बनकर रह जाता है। उपन्यासकार ने अपने इस नारी-चरित्र पर प्रकाश डालते हुए स्वयं लिखा है 'दूसरी जिस अलौकिक मूर्ति की रचना मुझे करनी पड़ी—वह थी 'शोभना' एक बाल विधवा ब्राह्मण कुमारी। इस मूर्ति में मानवीय कोमलतम प्रेम की पराकाष्ठा की स्थापना करने की मैंने चेष्टा की। सत्साहस एवं प्रत्युत्पन्नमति सेवा क्षमा धर्म कर्तव्य औदार्य और आत्मार्पण की प्रतिष्ठा करने में मैंने अपनी पुंसत्वी दृष्टि को न जाने कितनी बार एक बारगी ही अंधा बना दिया। एक ही शब्द में उस प्रियतमा युवती को मैंने अपनी सहृदयता के सम्पूर्ण आँसुओं में आप्लुत स्नान कराकर ही अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है। जो स्त्री अपने एकांत प्रेमी का सिर काट सकती है, और धर्म और मानवता के शत्रु को अपना निश्छल प्यार अर्पण कर सकती है उसके मैं निर्भय दृढ़ता से आगे बढ़ती ही जाती है, उसको कितना प्यार किया जाय और कितनी उसकी पूजा की जाय इसका निर्णय मैं नहीं कर सकता हूँ आप ही वह निर्णय करें। मैंने तो चुपचाप यवनी के दुर्दांत महमूद को उसकी आँचल की छाँह में यवनी की राह में भेज दिया है।'[१]

शारीरिक रूप रंग और व्यक्तित्व—

उपन्यासकार ने कल्पना और रोमांस का पुट देकर शोभना के व्यक्तित्व का निर्माण किया है। उसके व्यक्तित्व का प्रारंभिक परिचय उपन्यासकार ने इस प्रकार दिया है 'कृष्ण स्वामी की एक बाल विधवा पुत्री थी उसका नाम था शोभना। शोभना शोभा की धाम थी। आयु अभी उसकी केवल पंद्रह वर्ष की ही थी। उसका रंग चम्पे के ताज़े फूल के समान अथवा आम के पत्र और

---

१ सोमनाथ आधार पृ १।

के समान अथवा केले के नवीन पत्ते के समान था । आठ वर्ष की आयु पूरी होने से प्रथम ही वह विधवा हो गई । विधवा होने पर भी वैधव्य की बात वह मानती न थी । वह हर समय खूब ठाट-बाट का शृंगार किए रहती । विधि निषेध करने पर, समझाने-बुझाने पर वह सबकी सुनी अनसुनी करके नृत्य करने और हँसने लगती थी ।" "सब मिला कर वह एक 'कनक छुरी सी कामिनी' थी अथवा फूलों से लदी-फंदी एक डाल ।"[1] इस प्रारंभिक परिचय के पश्चात् ही उपन्यासकार उसके और दासी पुत्र देवा के प्रणय की कहानी प्रारम्भ कर देता है । एक है विधवा ब्राह्मण कुमारी और दूसरा है अज्ञात कुल नाम दासी पुत्र । इन दोनों के प्रारंभिक प्रेम का विकास बाल सुलभ अठखेलियों से होता है और शनैः शनैः यह प्रेम मांसलता का अतिक्रमण करता हुआ नित्य निखरता जाता है ।

महमूद के सोमनाथ महालय के अभियान का समाचार सुनकर महालय के सम्पूर्ण वातावरण में हलचल मच जाती है । इसका अपरोक्ष प्रभाव शोभना पर भी पड़ता है । उसका प्रेमी देवा उससे प्रथम ही दूर हो चुका था । वह सामाजिक बन्धनों से तंग आकर अपने धर्म को भी त्याग चुका था । वह धर्म द्रोही देशद्रोही बनकर देश के शत्रु महमूद का सिपहसालार बन चुका था । प्रेमी की उन्नति देखकर शोभना प्रसन्न हुई थी । देवा ने महमूद के कहने से शोभना पर चौला के निरीक्षण का भार सौंपा था और उसने अपने प्रेमी की इस आज्ञा को सहर्ष स्वीकार भी कर लिया था ।[2] अभी शोभना के चरित्र में छिछलापन है । किन्तु चौला के दिव्य सान्निध्य में आते ही उसके चारित्रिक गुणों में आमूल परिवर्तन होता है । वह चौला के सद्गुणों पर रीझ जाती है । यहीं से उसके चारित्रिक गुण उभरना प्रारम्भ हो जाते हैं ।

प्रकृति शील स्वभाव एवं क्षमता—

सोमनाथ महालय एवं खम्भात का पतन हो जाता है । महमूद विजयी होता है । अभी तक वह युद्ध में व्यस्त था अतः चौला देवी को प्राप्त करने की पिपासा उसकी शान्त थी किन्तु महासंग्राम को जय करने के पश्चात् उसको सर्वप्रथम चौला का ही स्मरण आया ।[3] शोभना के प्रेमी मुहम्मद(देवा)पर चौला के निरीक्षण का भार था अतः उसी को चौला को लाने भेजा गया । देवा का प्रथम साक्षात्कार शोभना से ही होता है । शोभना अब स्वर्ग की लालसाओं आकांक्षाओं और स्वाधीन

१ सोमनाथ पृ ५४-५५ ।
२ सोमनाथ पृ २८१-२८४ ।
३ सोमनाथ, पृ ४९५-९६ ।

स्वप्नमार्गों में विचरण करनेवाली छिछले चरित्र की युवती नहीं रही है वह अब चौलारूपी पारस के समीप रहने के कारण अनेक गुणों से सम्पन्न हो चुकी है। अपने प्राथमिक प्रेमी के द्वारा चौला की मांग होने पर प्रथम एक क्षण के लिए तो वह विचलित होती है किंतु शीघ्र ही वह अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती है। देवा द्वारा चौला के बदले में प्राप्त होने वाली बादशाहत की बात सुनकर वह उस पर तीक्ष्ण व्यंग करती हुई कहती है 'परन्तु देवा एक दिन न शोभना न रहेगी, न यह भीख में मिली बादशाहत। केवल तुम्हारे यह काले कारनामे रह जायेंगे।'[1] उसे केवल शर्म है तो इस बात की कि यह विश्वासघात देश और धर्म के द्रोह के सिले में मिली बादशाहत उसका प्रेमी केवल उसके लिए प्राप्त करना चाहता है।[2] वह अपनी लज्जा को धोने के लिए अपने प्रेमी से प्रायश्चित कराना चाहती है। वह अपनी सौगन्ध देकर उससे कहती है 'उस दैत्य अमीर का सिर काटकर मुझे ला दो।'[3] देवा के अचकचा कर पीछे हटने पर शोभना उसे पुनः उत्तेजित करती हुई कहती है क्यों नहीं कर सकते ? जिसका पेशा लूट हत्या धर्मद्रोह अत्याचार और अन्याय है, जो लाखों मनुष्यों की तबाही का कारण है, जो भूतपूर्व की भाँति सत्रह बार भारत को तलवार और आग की भेंट कर चुका वह इस क्षण तुम्हारे हाथ में है चंगुल में है जाओ अभी उसका सिर काट लाओ—शोभना देवी की यही तुमसे आरजू है।'[4] देवा के अस्वीकार करने पर शोभना प्रेयसी से चंडी का रूप धारण कर लेती है। वह प्रेमी के प्रेम को उसके सुहावने स्वप्नों को भूल जाती है। अब देवा उसका प्रेमी देवा नहीं रहा वह मर चुका है। उसकी बात को अस्वीकार करनेवाला देवी चौला को मांगनेवाला मूर्ख देशद्रोही धर्मद्रोही अमीर का दास फतेहमुहम्मद है। उसके साथ वह वही व्यवहार करती है जो जाति धर्म और देश के शत्रुओं के साथ भारतीय वीर रमणियां करती आई हैं। अन्त में वह एक एकांत अलिंद में बन्द करके अपने प्रेमी की देश के स्वार्थ के लिए हत्या कर देती है। शोभना त्याग एवं स्वधर्म का वह एक अनुपम उदाहरण है।

उपन्यासकार ने शोभना द्वारा प्रेमी की हत्या करा कर भी उसके प्रेम को जीवित रखा है। शोभना को अपने प्रेमी से नहीं उसके विचारों से, उसके कार्यों से घृणा हो गई थी। प्रेमी की हत्या उसने आवेश में कर अवश्य दी

---

१ सोमनाथ, पृ ४११। २ सोमनाथ, पृ ४११।
३ सोमनाथ पृ ४११। ४ सोमनाथ पृ ४११-१२।

किंतु चौला को सुरक्षित स्थान पर भेजने और महमूद पर विजय पाने के पश्चात् उसका प्रेमी हृदय कुछ क्षण के लिए पुनः सजीव हो उठा है। यह प्रियतम के शव के समीप एकांत में पुनः पहुँचकर अपने हृदय के प्रत्येक उद्‌गार को व्यक्त कर देती है। इन उद्‌गारों में उसके आहत प्रेमी हृदय का हाहाकार है।[1] इन भावुक उद्‌गारों के पश्चात् वह शीघ्र ही प्रकृतिस्थ होकर पुनः अपने कर्तव्य के प्रति सजग हो जाती है।

दुर्दान्त महमूद के समक्ष चौला के रूप में अभिनय करने में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। शोभना के इस साहसिक एवं त्यागपूर्ण कार्य ने उसके चरित्र को और भी निखार दिया है। उसके इस कार्य को पढ़कर अनायास ही डा॰ वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी' नामक उपन्यास की 'झलकारी कोरिन' स्मरण हो जाती है। जिस प्रकार वह रानी के स्थान पर रानी बन कर वास्तविक रानी की रक्षा करती है उसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी की शोभना चौला के स्थान पर वास्तविक भारतीय रमणी बन कर उसकी बड़ी कुशलता से रक्षा करती है। झलकारी अँग्रेजों द्वारा ही पहचान ली गई थी किंतु शोभना को अन्त तक कोई भी पहचान नहीं पाता। अन्त में वह स्वयं ही अपना परिचय महमूद को देती है।

उसने यह महान् त्याग चौला की ओर चौला के साथ-साथ गुजरात की रक्षा के लिए किया था। चौला ने जब गुप्त रूप से दरबार गढ़ में शोभना से मिलने पर उससे इस खतरनाक खेल के विषय में प्रश्न किया था तो उसने निर्भय उत्तर दिया था 'जब लोग प्राणों की होली खेल रहे हैं। तो यह भी उसी का एक भाग है। अब इस नाटक को अन्त तक चलने दो और देखो अन्त में क्या परिणाम होता है।'[2] इससे उसकी कर्तव्यनिष्ठा उत्सर्ग की भावना निर्भयता एवं सजगता स्वयं स्पष्ट हो जाती है।

कच्छ के महारण में पहुँचकर तो उसकी प्रेम की उदात्त भावना और भी भव्य रूप धारण कर लेती है। प्रेम की भावना जो प्रेमी की हत्या के पश्चात् सुप्तावस्था में पड़ी थी, धर्नैः शनैः अँगड़ाई लेकर उठने लगी थी। दुर्दान्त महमूद के कुछ गुणों की ओर उसका प्रेमी हृदय अनायास ही आकर्षित होता चला जा रहा था। वह महमूद को अनजाने और अनचाहे ही प्यार करने लगी गुर-सागर पर' पहुँचकर तो उसका यह गुप्त प्रेम प्रकट हो जाता है। प्रतापी एवं विजयी महमूद और उसका विशाल लश्कर सभी मरुभूमि के भीम बन पर

---

१ सोमनाथ, पृ ४२१ २२।   २ सोमनाथ पृ ३०१।

थे। इस भाव के आते ही शोभना का हृदय मलिन हो उठा। न जाने किस अवर्णित आकर्षण से अभिभूत हो वह मन में अमीर के लिए एक वैकल्य अनुभव करने लगी। उसने महमूद के हृदय का प्यार देखा था। और उसके आँसू भी। उन आँसुओं ने उसे द्रवित कर दिया था। इस समय वह अपनी सम्पूर्ण चेतना से अमीर की कल्याण कामना करने लगी।[1] और उसकी कल्याण कामना का ही परिणाम था कि महमूद उस महारण में भी जीवित बच गया। वास्तव में सत्य यह है कि महमूद को प्राणदान शोभना ने ही दिया।[2] अन्त में उसने महमूद से स्पष्ट कह दिया था कि "मैं शोभना हूँ चौला नहीं। मैंने अमीर के वफादार सिपहसालार को कत्ल किया और अमीर को धोखा दिया है अब सारे मजनी जो सजा मुनासिब समझें, मुझे दें।[3] यह सत्य सुनकर भी महमूद ने शोभना से कहा था। जिसने महमूद को जिन्दगी चाहत और खुशी दी अब जिन्दगी तेरे सदके।"[4] इसके उत्तर में जो शोभना के हृदय से उद्गार निकलते हैं वह उसके सम्पूर्ण जीवन की करुण कहानी कहने में पूर्ण सफल हुए हैं। वह महमूद से कहती है 'ऐ शहन्शाह' मैं एक बदनसीब औरत हूं। लुटी हुई बर्बाद। और अब इतनी दूर आगे बढ़ आई हूँ कि लौटने की सब राह बंद हो गई हैं। अब मेरे सामने एक बेबस और गरीब शहन्शाह है। जिसने जिन्दगी में लिया ही लिया दिया कुछ नहीं। और अब देखती हूँ कि जो कुछ उसने लिया है—उसके बोझ से वह दबा जा रहा है। उसके दर्द को मैंने देखा है। जिसने दर्द सहा है वह पराए दर्द को देख नहीं सकता। शहन्शाह इसलिए अपनी इस जिन्दगी की सजा कुछ नर्म कर सकें और गजनी के किसी कोने में पनाह दे सकें तो यह बदनसीब शोभना इस तूफा के बन्दे मर्द के दर्द को मिटाना और जैसे बन पड़े कुछ कम करने में अपनी जिंदगी की बची हुई घड़ियाँ बिताए।"[5] और इसके पश्चात् 'वह दिग्विजयी महमूद उस शुभ परिणामयी ब्राह्मण कुमारी के आंचल की छांह में काबुल की दुर्गम राह पर, दुरूह चीवर के दर्रे में खो गया।[6]

निष्कर्ष—

शोभना का चरित्र उपन्यास की कथा के अनुकूल ही चित्रित हुआ है। उपन्यासकार ने उसका चित्रण प्राय नाटकीय या परोक्ष रीति से ही किया है। उपन्यास में इस चरित्र का अपना स्वयं का महत्व है। कथा के विधायक पात्र

१ सोमनाथ-पृष्ठ ५१२,
२ सोमनाथ-पृष्ठ ५११ १६,
३ सोमनाथ-पृष्ठ ५४१,
४ सोमनाथ-पृष्ठ ५४२,
५ सोमनाथ-पृष्ठ ५४५,
६ सोमनाथ-पृष्ठ ५४२,

महमूद एवं पार्श्व चौला दोनों को ही यह प्राण दान देती है। इसी के व्यक्तित्व के कारण कथा दो स्थानों पर अवरुद्ध होते-होते पुन गतिशील एवं प्रवाहपूर्ण हो उठी है। यह चरित्र स्वयं परिस्थितियों को दास बनाकर उनका स्वामी एवं नियन्ता बन कर सामने आता है। इसी कारण चरित्र आदि से अंत तक गति-शील है।

प्रस्तुत चरित्र आदि से अंत तक सजीव एवं स्वाभाविक है। कथाकार ने अपनी प्रतिभा का पूर्ण सहयोग इस चरित्र को दिया है। चरित्र की प्रत्येक रेखा उभरी हुई, प्रत्येक रंग निखरा हुआ है। देवा की हत्या करने के पश्चात् उसके करुण विलाप ने उसके चरित्र को और भी अधिक स्वाभाविक सजीव एवं मनो वैज्ञानिक बना दिया है। चरित्र के जिस अंश को भी उपन्यासकार ने स्पर्श किया है उसमें पूर्णता एवं सजीवता है।

वैसे 'सोमनाथ' के अधिकांश चरित्र मां मुन्शी के 'जय सोमनाथ' के चरित्रों से प्रभावित हैं किन्तु शोभना का चरित्र उपन्यासकार की स्वयं की सृष्टि है। उसकी प्रतिभा का स्पर्श प्रस्तुत उपन्यास में यदि किसी को प्राप्त हो सका है तो केवल शोभना एवं उसके प्रेमी देवा को ही। तभी ये चरित्र सबसे अधिक प्राण-वान् एवं मौलिक रह सके हैं।

आचार्य जी की पात्र-निर्माण एवं चरित्र-चित्रण विषयक कुछ मौलिक विशेषताएँ—

कतिपय प्रमुख पात्रों के चरित्र और उनके चित्रण का विश्लेषण करने के उपरांत आचार्य चतुरसेन जी की पात्र निर्माण एवं चित्रण की कला के विषय में कुछ मौलिक विशेषताएं प्राप्त की जा सकती हैं।

पात्र कथानक के अभिन्न अंग—

आचार्य जी के उपन्यासों में कथा के संगठन में उनके पात्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता है। यह उचित है कि उनके अधिकांश उपन्यासों की कथाएं पूर्वनियोजित होती हैं किन्तु तो भी उनके पात्रों के क्रियाकलाप से ही घटनाओं को जन्म मिलता है और वही घटनाएं उनके पूर्व नियोजित कथानक को गति प्रदान करती चली हैं। इस प्रकार उनके पात्र कथा की परिधि में बंधे होने के साथ-साथ स्वाभाविक एवं सजीव होते हैं। इसके लिए उन्होंने पात्र निर्माण की एक विशेष विधि का प्रयोग किया है। वे अधिकांशत एक विशेष वातावरण एवं परिस्थिति में कुछ विशिष्ट मन स्थिति वाले पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण करके कथा का सूत्रपात करते हैं। इसके उपरांत व्यक्ति या परिस्थिति की प्रतिक्रिया से कथानक

अग्रसर होता है। व्यक्ति के क्रिया कलाप नई-नई परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। और परिस्थितियों के अनुसार ही चरित्र का विकास होता है। यद्यपि चरित्र विवशतापूर्वक घटनाओं के साथ आबद्ध है फिर भी उसका मनोबल इतना प्रबल है कि घटनाओं को साथ लिए चलता है। परिस्थितियों का मानव पर क्या प्रभाव पड़ता है। तथा मानव किस तरह स्वयं नई परिस्थितियों की सृष्टि करता है इसका आचार्य चतुरसेन जी ने अत्यन्त सुन्दर आभास दिया है।

अब आगे हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आचार्य चतुरसेन जी के पात्रों में वे कौन सी ऐसी विशेषताएं हैं जिनके कारण आदि से अंत तक वे आकर्षक सजीव एवं जीवन्त बने रहे हैं।

पूर्णता —

आचार्य जी के पात्रों में व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त होती है। ऐतिहासिक उपन्यास के पात्रों में इस गुण का होना नितांत आवश्यक है। पूर्णता से हमारा तात्पर्य पात्रों के जीवन के पूर्ण चित्र से है। ऐतिहासिक पात्रों के जो हमें अंकित मिलते हैं वे अपूर्ण एवं सांकेतिक होते हैं। उन पात्रों के जीवन से सम्बन्धित कुछ ही घटनाएं हमें ज्ञात होती हैं किन्तु इन कुछ ही घटनाओं का संबल लेकर उपन्यासकार उपन्यास की कथा का पूर्ण ढांचा खड़ा कर देता है। कथा घटनाओं पर आश्रित अवश्य रहती है किन्तु पात्रों का चरित्र चित्रण पूर्ण रहता है। अपूर्ण सांकेतिक चित्र को पूर्णता प्रदान करना ही ऐतिहासिक उपन्यासकार की सबसे बड़ी कुशलता है। जीवन के जिस भाग को भी लेखक उठाये उसमें विशृंखलता न हो वरन् वह पूर्ण ज्ञात हो। सामाजिक उपन्यासों में यह पूर्णता तो सहज आ जाती है। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों में इसको लाना कठिन कार्य होता है। कारण उसमें काल्पनिक चित्र नहीं वरन् ऐतिहासिक चित्र—एक ऐसे चित्र का जो कभी इस संसार में रह चुका है और जिसके चरण-चिन्ह कुछ शेष हैं—चित्रण करना होता है। उसके चरण चिन्हों की उपेक्षा करके हम उसके चित्र को साकार नहीं कर सकते। ऐसे पात्रों के चरण-चिन्ह भी कुछ ही प्राप्त होते हैं पूर्ण नहीं। इन्हीं प्राप्त चिन्हों का आश्रय लेकर चरित्र को पूर्ण करना पड़ता है और साथ ही ध्यान रखना पड़ता है कि चरित्र उसी काल का एवं तत्कालीन वातावरण के अनुरूप ज्ञात हो। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब किसी चरित्र में निम्न विविध तत्वों का समावेश होगा —

१ चरित्र का व्यक्तित्व
२ उसके बौद्धिक गुण
३ उसके चारित्रिक गुण।

१ व्यक्तित्व के भीतर पात्र का आकार, रूप रंग वेश-भूषा आदि सम्मिलित रहती है जिसके द्वारा हम उसे पहचानते हैं। यदि उपन्यास के भीतर इन बातों का विवरण नहीं होता तो हम अपनी कल्पना और अनुभव के आधार पर उसके व्यक्तित्व का एक रूप बना लेते हैं। यह व्यक्तित्व जितना ही प्रभावशाली हो तथा अन्य समाजीय पात्रों से भिन्न जान पड़े उतना ही अच्छा होता है।

२ बौद्धिक गुणों के भीतर उसका अध्ययन चतुरता संकट में बुद्धि वैभव आदि की विशेषताएँ आती हैं। इसके लिए उसके गुण यदि लोक कल्याणकारी हुए तो हम सम्मान और प्रशंसा करते हैं और यदि अकल्याणकारी हैं तो हम निन्दा करते हैं। इन गुणों का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है।

३ चारित्रिक गुणों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। उसके भीतर दूसरों के सुख में सुखी और दुख में दुखी होने की कितनी शक्ति है वह कितना संवेदनशील और भावुक है परिस्थितियों का घात प्रतिघात सहकर भी उसमें कितनी करुणा और सहृदयता है इन बातों पर हमारा ध्यान उसके प्रति प्रेम या घृणा का भाव जाग्रत होता है चारित्रिक विशेषताओं में उसके आचरण और दूसरों के प्रति व्यवहार को परखा जाता है। अतः इन विशेषताओं का प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण उपन्यासकार की कुशलता का अंग है।[1]

पीछे हमने आचार्य चतुरसेन जी के पांच प्रमुख चरित्रों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उसमें हम चरित्र के इन तीनों ही गुणों पर प्रकाश डाल चुके हैं। आचार्य जी के अधिकांश पात्रों में चरित्र चित्रण की उपर्युक्त तीनों ही विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। जैसा कि हम उनके पात्रों की शारीरिक विशेषताओं एवं रूप रंग पर प्रकाश डालते हुए दिखला चुके हैं कि उन्होंने चरित्र के व्यक्तित्व को पूर्णरूप से उभारने के लिए पात्रों की आकृतियाँ उनके रूप रंग एवं चाल-ढाल को बड़े ही संतुलित एवं सधे हाथों से चित्रित किया है। जिससे प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व समानरूप से उभरा हुआ दीख पड़ता है। उनका प्रत्येक पात्र अपनी कुछ मौलिक विशेषताओं के कारण वर्गगत होते हुए भी सम्पूर्ण समाज में सहज ही पहचाना जा सकता है। जैसे समाज के प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न होता है उसी प्रकार से उनके उपन्यासों के प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व उसके कार्यकलाप उसके विचार, व्यवहार, आदर्श एवं सिद्धान्त भिन्न हैं वे अपनी स्वयं की कुछ विशेषताओं के कारण मौलिक हैं। उनके ऐतिहासिक पात्रों के व्यक्तित्व भी कम उभरे हुए नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व में

---

१ काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र पृ० ८६।

भी पूर्णता है। यद्यपि इतिहास में उस पात्र के व्यक्तित्व के कुछ संकेत मात्र ही प्राप्त होते हैं। किंतु इन संकेतों के आधार पर ही आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक पात्रों के स्पष्ट पुष्ट एवं पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण किया है। पात्रों के व्यक्तित्व को निखारने के साथ-साथ उन्होंने चरित्रों को अधिक सजीव स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक मौलिक एवं कथा के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है।

सजीवता—

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों के पात्रों का सबसे प्रधान गुण है कि वे सजीव हैं। वे काल्पनिक होते हुए भी काल्पनिक से न लगकर हमारे जीवन म देखे सुने और सम्पर्क में आये व्यक्तियों के समान लगते हैं। उनके दुख से हम अपने को दुखी और सुख से अपने को सुखी अनुभव करते हैं। उनके साथ हमारे हृदय म भी ममता घृणा सौहार्द करुणा प्रेम आदि के भाव स्वतः जागने लगते हैं। ये पात्र हमारे चारों ओर चलने-फिरने उठने-बैठने वाले प्राणी ही ज्ञात होते हैं। ये कहीं बेगाने देश के वासी नहीं हमारे ही दुख संतापपूरित संसार के निवासी लगते हैं। मानव की दुर्बलता असंबलता सभी की इन कल्पना चित्रों में प्राण-प्रतिष्ठा करके आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी इस काल्पनिक सृष्टि को हमारे सामने ला खड़ा किया है। 'इनके रूप-रंग बोल-चाल कार्यप्रणाली मनोदशा रहन-सहन सबका इतना जीवन्त वर्णन किया गया है कि हमें वास्तविकता का भ्रम हो जाता है। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में उमे हुए इनके चरित्र मानव-सौंदर्य एवं सीमा के प्रतीक हैं। इसी कारण चरित्र चित्रण कला में आचार्य जी एक सीमा तक सफल कहे जा सकते हैं। यदि पात्र हमें काल्पनिक देश के लगें उनके आचरण साधारण मानवों से भिन्न हों वे मानव से भिन्न हों वे मानव-सृष्टि के प्राणी न ज्ञात होकर काल्पनिक सृष्टि के प्राणी ज्ञात हों तो निश्चित ही वे हमारी सहानुभूति न प्राप्त कर सकेंगे। ऐसे पात्र सजीव न होकर निर्जीव कठपुतली के समान आचरण करते से ज्ञात होंगे। ऐसे निर्जीव पात्र न कथा को गतिवान् करने में समर्थ होंगे और न ही हमारे स्मृति-कोष में सुरक्षित रह सकेंगे। 'अलौकिकता तथा निर्जीवता पात्रों के व्यक्तित्व का साधारणीकरण नहीं होने देती। वे हमारे राग-विराग के पात्र नहीं बन पाते। पात्र निर्माण में लेखक की कल्पना-शक्ति की परीक्षा होती है। इसी शक्ति के द्वारा पात्रों का व्यक्तित्व ऐसा बन जाता है कि वे हमें आकर्षित करते"। थैकरे कहता था कि मैं अपने पात्रों का अनुशासन करने में असमर्थ हो जाता हूँ। वे

मुझे जहाँ चाहते हैं ले जाते हैं। इसमें तथ्य इतना ही है कि पात्रों को लेखक ने स्वतंत्र संकल्प-शक्ति से सम्पन्न कर दिया है। स्वतंत्र मनोवेगों से प्रेरित होकर कभी-कभी वे ऐसे कार्य कर जाते हैं कि जिसका लेखक को अनुमान भी नहीं होता यह कल्पना शक्ति की चरम सीमा है। ऐसे ही पात्र हमारे जीवन में प्रेरक बन जाते हैं। परन्तु जो पात्र लेखक के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं उनके व्यक्तित्व की गरिमा नहीं रह जाती। मानवता की सामान्य भूमि पर लेखक कल्पना की कूँची से जो रंग भरता है वह अव्याप्ति व अतिरंजना से बचकर सजीव पात्रों को जन्म देता है। सजीव पात्र हमारे वास्तविक जगत की प्रतिकृति होते हैं जिनके चरित्र के विकास को उपन्यासकार कल्पना के द्वारा साक्षात्कार कर लेता है और उसे औपन्यासिक योजना के द्वारा प्रस्तुत कर देता है।[1] अतः सफल चरित्र-चित्रण के लिए सजीवता प्रधान गुण है। और यह सजीवता तभी आ सकती है जब उपन्यासकार मानवता की सामान्य पीठिका पर अपनी कल्पना की कूँची से उन उरेहे रंग भरे जिसमें न तो अतिरंजना ही हो और न अव्याप्ति ही।[2]

पीछे हमने चरित्रों के दो प्रमुख प्रकार दिये हैं। इनमें वर्गगत चरित्र-चित्रण में सजीवता लाना तो सरल है किन्तु व्यक्तित्व प्रधान पात्रों को सजीवता प्रदान करना निश्चित रूप से कठिन है। आचार्य चतुरसेन जी के दोनों ही प्रकार के पात्र सजीव हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के अधिकांश उपन्यास ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक पात्रों में सजीवता भरना और भी आवश्यक है, कारण इतिहास हमें शुष्क नरकंकालों एवं घटनाओं की ओर इंगित मात्र कर देता है उसमें मांस और रक्त का संचार करके प्राण फूँककर सजीवता भर देना ही ऐतिहासिक कथाकार की वास्तविक कला है। और इस कला में आचार्य जी को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इतिहास से हमें केवल इतना ही ज्ञात होता है कि 'सन् १०२६ में महमूद गजनी ने सोमनाथ महालय को भंग किया था। हिन्दू राजा पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष के कारण उससे पराजित हुए थे।' इससे आगे अधिक और विवरण देना इतिहासकार अपना कर्तव्य नहीं समझता। महमूद भी साधारण मनुष्यों की भाँति एक प्रेमी था उसके भी एक मांसल हृदय धड़क रहा था चौला ने उसके इस प्रेम को उत्तेजित किया और शोभना ने उसे घायल किया। उसम

---

१ समीक्षा के सिद्धांत—डा० सत्येन्द्र पृ ११६ ११७।

२ हिन्दी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ ४४८।

महालय भंग अवश्य किया किन्तु रमाबाई की फटकार के समक्ष उसे लज्जित होना पड़ा। राजा भीमदेव का पवित्र प्रेम चौला का अलौकिक नृत्य महमूद का अभिमान दंभ सर्वज्ञ की सर्वज्ञता रामदत्त की धृष्टता एवं दामो मेहता की चातुरी के द्वारा तत्कालीन भारत की सम्पूर्ण परिस्थितियों को उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में सजीव कर दिया है। यह सजीवता इतिहास में नहीं वरन् उपन्यास में ही प्राप्त हो सकती है। इस दृष्टि से आचार्य जी के ऐतिहासिक पात्र पूर्ण सजीव हैं।

स्वाभाविकता —

सजीव पात्र स्वाभाविक भी हों यह आवश्यक नहीं विशेषकर पौराणिक पात्रों में स्वाभाविकता का सर्वत्र निर्वाह और भी कठिन होता है। पौराणिक कथाएँ अलौकिक चमत्कारों से इतनी अधिक बोझिल हो चुकी हैं कि उनका वर्णन करते समय कथा को उनसे सर्वथा अछूता रखना असम्भव तो नहीं किन्तु कठिन अवश्य है। आचार्य जी ने इन पौराणिक कथाओं को बहुत कुछ सम्भावना एवं स्वाभाविकता की सीमा में बाँधने का प्रयत्न किया है किन्तु 'वयं रक्षामः' एवं 'वैशाली की नगरवधू' में तो कुछ अलौकिकता का भी समावेश हो गया है। जहाँ भी मानव को छोड़कर अतिमानव महामानव अपौरुषेय आदि का चित्रण अतिरंजित कल्पनाओं के संयोजन द्वारा किया जायेगा वहाँ निश्चित रूप से अस्वाभाविकता एवं अवास्तविकता आ जायगी। इससे चरित्र-चित्रण में कृत्रिमता तथा अस्वाभाविकता आ जाने से मानवीय भावनाओं की ग्रहणीयता न्यून पड़ जाती है जिससे पात्रों के व्यक्तित्व निर्जीव से ज्ञात होने लगते हैं और यह निर्जीवता एवं अस्वाभाविकता उनका साधारणीकरण होने में व्यवधान डालती है। किन्तु आचार्य जी के समस्त उपन्यासों में ऐसे स्थल कम ही हैं जहाँ उनका चरित्र-चित्रण अलौकिक एवं चमत्कारिक हो जाने के कारण अस्वाभाविक हो गया है। उन्होंने राम रावण मेघनाद आदि के पौराणिक चरित्रों को भी यथासम्भव अलौकिकता से बचाया है। उनके लगभग सभी पात्रों के चरित्र कारण कार्य की शृंखला में बंधे हैं। कुछ पात्र असाधारण अवश्य हैं किन्तु युग विशेष का प्रतिबिम्ब दिखलाने के लिए उपन्यासकार ने कुछ पात्रों पर बलात् अलौकिकता का आरोपण किया है। उन्होंने 'वयं रक्षामः' में कितनी ही पौराणिक असाधारण एवं अलौकिक घटनाओं की बुद्धिसम्मत तार्किक व्याख्या की है किन्तु तो भी कुछ पौराणिकता रह गई है।

उन्होंने हनुमान को उड़ने एवं मच्छर बनकर लंका में जाने से तो बचा

किया किन्तु मारीच को स्वर्णमृग बनने से न रोक सके।[1] आचार्य चतुरसेन जी के रावण और राम के चरित्रों में अलौकिकता नहीं असाधारणता है किन्तु उनके मेघनाद के चरित्र में अलौकिकता का भी समावेश है। उसने बांस काट कर जल में डाला और वह दिव्य धनुष बन गया। इसके अतिरिक्त भी कई स्थानों पर अलौकिकता रह गई है। उदाहरणतः सर्प के पेट में यक्ष किन्नर, देव नर, पशु पक्षी सभी समा गए, सुपर्ण वैनतेय के स्पर्श करते ही राम लक्ष्मण के नाग भर गए[2] इन्द्रजीत रथ से कूद कर अंतर्धान हो गया और वह अदृश्य रहकर रावण पर बाण वर्षा करने लगा[3] आदि स्थल सर्वथा अलौकिक ही हैं। इसी प्रकार 'वैशाली की नगरवधू' में भी कुछ अलौकिक एवं अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश बलात् किया गया है। यद्यपि आचार्य चतुरसेन जी को छाया पुरुष के अदृष्ट होने पर विश्वास नहीं है तो भी उन्होंने उसका चित्रण किया है।[4] इस छाया पुरुष के पैर पृथ्वी पर नहीं पड़ते थे और वह धुम्र सत्त्व की भांति अनूचा ही श्रेष्ठी पुत्र के मुंह में प्रविष्ट हो गया।[5] इसी प्रकार उदयन अदृष्ट होकर अम्बपाली के निकट पहुँच गए और नृत्य देखकर देखते ही देखते अन्तर्धान भी हो गए।[6] कलिंग सेना दिव्य औषध खाकर अक्षय यौवना बन गई।[7] इसी प्रकार कुण्डनी का चरित्र एवं शम्बर असुर का चरित्र भी कुछ अस्वाभाविक एवं अलौकिक हो गया है। इस प्रकार अलौकिकता के प्रवेश के कारण कई चरित्र अस्वाभाविक हो गए हैं। किन्तु इन कुछ पात्रों के चरित्रों को छोड़कर आचार्य जी के शेष पात्रों के चरित्र का चित्रण स्वाभाविक धरातल पर ही हुआ है।

मनोविज्ञान—

आचार्य चतुरसेन जी इस तथ्य से भली भांति परिचित थे कि पात्र सजीव और स्वाभाविक तभी हो सकेगा जब उसके चरित्र चित्रण में मनोविज्ञान की सहायता ली जाय। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में उन्होंने चरित्र-चित्रण करते समय पात्र के व्यक्तित्व एवं उसके बाह्य गुणों तथा बाह्य परिस्थितियों पर ही अधिक ध्यान दिया है। किन्तु अपने प्रौढ़ उपन्यासों में मनोविज्ञान का आश्रय लेने के कारण ही उनके पात्रों के अन्तस्तल का उद्घाटन सम्भव हो सका

१ वयं रक्षामः पृष्ठ ४२७। २ वयं रक्षामः पृष्ठ ६१९।
३ वयं रक्षामः पृष्ठ ६१५। ४ वैशाली की नगरवधू पूर्व-पृष्ठ ८११।
५ वैशाली की नगरवधू, पृष्ठ ११०।
६ वैशाली की नगरवधू पृष्ठ ११९ एवं १२०।
७ वैशाली की नगरवधू, पृष्ठ ११८ ११९।

है। मनोविज्ञान का आश्रय लेने के कारण ही उनके पात्रों के बौद्धिक एवं चारित्रिक दोनों ही प्रकार के गुण स्वयं ही प्रस्फुटित हुए हैं। वे उपन्यासकार के करों में कठपुतली न रहकर पूर्ण विकसित एवं पूर्ण मानव होकर सामने आए हैं। उनके हृदय और मस्तिष्क में द्वन्द्व सामने जीवन की समस्यायें और संघर्ष और इन सबके परिपार्श्व में मानव सुलभ भावनाओं से परिपूर्ण हृदय। अर्थात् उनके पात्र सत् असत् से संघर्ष करते हुए अथ से इति तक विकासमान रहते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने पात्रों के व्यक्तित्व के विकास में मनोविज्ञान का आश्रय तो लिया है। किंतु उन्होंने मानव मनोविज्ञान का सहज आश्रय ही लिया है किसी मनोविज्ञानाचार्य (फ्रायड युंग आदि) के सिद्धांतों का बलात् आरोपण नहीं किया है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक पात्रों में भी यत्र तत्र मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व दिखाते हुए भी उनके चरित्र को आधुनिक पात्रों की भाँति अधिक उलझने नहीं दिया है। उन्होंने पौराणिक पात्रों के व्यक्तित्व निर्माण में भी मनोविज्ञान को कहीं भी नहीं त्यागा है, जहाँ कहीं उन्होंने मनोविज्ञान का अंचल त्यागकर पौराणिकता या अलौकिकता को बलात् लादना चाहा है, वहीं उनका चरित्र चित्रण अस्वाभाविक हो गया है। आचार्य जी अपने अधिकांश ऐतिहासिक और सामाजिक पात्रों की जटिलताओं से भली-भाँति परिचित हैं इसीलिए वे उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में पूर्ण समर्थ रहे हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने पात्रों के मानसिक संघर्षों और हृदय की गुम्फित ग्रंथियों को बड़े ही कौशल से सुलझाया है। 'वैशाली की नगरवधू' की अम्बपाली और सोमप्रभ 'सोमनाथ' की घोघना चौला भीमदेव महमूद गंग सर्वज्ञ सभी के व्यक्तित्व का निर्माण मनोवैज्ञानिक धरातल पर ही हुआ है।

अनुकूलता—

आचार्य जी के पात्रों की एक विशेषता और है कि वे कथानक के अनुकूल हैं। यदि ऐतिहासिक उपन्यासों में आधुनिक युग की वेषभूषा एवं विचारधारा वाले पात्र भर दिए जायेंगे तो निश्चित ही वे कथानक के प्रतिकूल ज्ञात होने लगेंगे जिससे विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न होने का भय रहेगा। कथानक के अनुकूल पात्र न होने से वातावरण सृष्टि में भी व्यवधान पड़ जायेगा। इसी तरह से आचार्य जी ने कथानक के अनुकूल ही पात्रों का सृजन किया है। 'काल विशेष के परिचायक व्यक्तित्व प्रधान पात्र' कथानक के अनुकूल वातावरण की सृष्टि के लिए ही उपन्यास में लाए गए हैं। जैसे सुमाली प्रहस्त कुबेर,

मकम्पन कुम्भकरण मकराक्ष मय मार्तण्ड देवेन्द्र नहुष, इन्द्र सूर्पनखा यमजिह्वा मकरा बालि सुग्रीव आदि (वयं रक्षाम:) महाराज उदयन वर्षकार, योगरायण अम्बष्ठ काश्यप प्रातिपुत्र सिंह, आचार्य बहुलाश्व कलिंगसेना, मार्गमार्तण्ड जीवक कौमारभृत्य हर्षदेव बादरायण व्यास शालिभद्र सर्वजित् महावीर गौतमबुद्ध अजित केसकम्बली राजनन्दनी चन्द्रप्रभा जयराज चण्ड भद्रिक (वैशाली की नगरवधू) धरमत्र कामा महता कृष्णा स्वामी रमाबाई, अल्पतिन उस्मान अमजूनबीसी नन्दिदत्त चामुण्डराय चामुण्डराय विमलदेव शाह मसऊदबेग दुर्लभदेव अलबरूनी चौला चौलुक्य फतह मुहम्मद शोभना कंचनडडा देवचन्द (सोमनाथ) आदि पात्र इसी प्रकार के हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासों के चरित्रों में एक विशेषता और उल्लेखनीय है। उनके इन उपन्यासों में हमें चार प्रकार के चरित्र देख पड़ते हैं। प्रथम तो जो पूर्णत ऐतिहासिक हैं जैसे पृथ्वीराज गोरी (पूर्णाहुति) भीमदेव महमूद (सोमनाथ) शाहजहाँ औरंगजेब दारा आदि (आलमगीर) दूसरे जिनके नाम तो ऐतिहासिक हैं किंतु उनके कार्य *अधिकांशत* कल्पना प्रसूत हैं जैसे *बिम्बसार, प्रसेनजित उदयन दधिवाहन* वर्षकार (नगरवधू) तीसरे जो ऐतिहासिक नहीं हैं किंतु उनका निर्माण किसी जनश्रुति अथवा किंवदन्ती के आधार पर हुआ है। कभी-कभी किसी पुस्तक को प्रामाण्य मान लेने के कारण भी आचार्य जी ने ऐसे पात्रों का निर्माण किया है। जैसे 'सोमनाथ' उपन्यास में मुंशी के 'जय सोमनाथ' को प्रामाण्य मानने के कारण ही उन्होंने उसके ही कुछ कल्पित पात्रों के नामों को अपने उपन्यास में स्थान दिया है जैसे गंग सर्वज्ञ गगमराशि आदि। अम्बपाली (नगरवधू) का चरित्र एक किंवदन्ती पर आधारित है। चौथे प्रकार के वे चरित्र हैं जो पूर्णत काल्पनिक हैं और उपन्यासकार ने उन्हें ऐतिहासिक चरित्रों के मध्य ही स्वतन्त्र विकसित होने को छोड़ दिया है। जिससे वे ऐतिहासिक पात्रों में ही पूर्ण रूप से घुल मिल गए हैं। वास्तव में आचार्य जी ने इस वर्ग के पात्रों के निर्माण में सबसे अधिक परिश्रम किया है। इस प्रकार के पात्रों में हम सोमप्रभ एवं कुण्डनी (नगरवधू) देवस्वामी (फतहमुहम्मद) एवं शोभना (सोमनाथ) आदि को रख सकते हैं। आचार्य जी के यह चारों ही प्रकार चरित्र पूर्ण सजीव स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने पात्रों को अधिक से अधिक स्वाभाविक एवं सजीव बनाने के लिए ही यथार्थवादी शैली का उपयोग किया है। उन्होंने

टेढ़ी-आड़ी रेखाओं के द्वारा ही नहीं वरन् कार्य-कलापों कथोपकथनों एवं उनके बाह्य एवं अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करके उनके सजीव व्यक्तित्व को मूर्तता एवं वास्तविकता प्रदान की है। यही कारण है उनके पात्र अत्यधिक जीवन्त एवं विश्वसनीय हैं। उनमें क्रियाशीलता एवं गति आदि से अंत तक बनी रहती है।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि आचार्य जी के पात्रों में जितनी विविधता है उतनी सम्भवतः हिन्दी के किसी भी उपन्यासकार के पात्रों में नहीं है। उन्होंने जहाँ एक ओर पीड़ित पग-पग पर प्रताड़ित शोषित और दलित वर्ग की मूकता को मुखर किया है वहीं दूसरी ओर स्वार्थी अभिमानी सौजन्यविहीन आरामतलब विलासी राजाओं एवं नवाबों के चरित्रों को भी उरेहा है। उन्होंने कुछ आदर्शवादी पात्रों को भी सृष्टि की है। यह पात्र भी क्रियाशील एवं गतिवान् हैं। इनमें अपने आदर्शों के लिए प्राण दे देने की क्षमता है। ये वीर, साहसी और निर्भीक हैं अपने जातीय गौरव पर उन्हें अभिमान भी कम नहीं है और अपने इन्हीं गुणों के कारण ये पात्र अपने युग की प्रवृत्तियों को चरितार्थ करते हैं। वास्तव में ये पात्र सामन्तीय युग की सारी प्रवृत्तियों उसकी दुर्बलताओं और सबलताओं के प्रतिबिम्ब हैं। जैसा कि हम 'वर्गगत पात्रों' का विवेचन करते समय दिखलाते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने अधिकांश उपन्यासों में व्यक्तियों का चित्रण न करके वर्गों का चित्रण किया है जिससे हमारा आशय केवल मात्र इतना ही है कि उनके यह पात्र वर्ग विशेष की मनोवृत्ति के परिचायक हैं। उन्होंने राजा नवाब सामंत जमींदार, बोंदी विधवा अछूत आदि विभिन्न वर्गों में से जहाँ तक व्यक्ति का चित्रण किया है वहाँ उस वर्ग की सभी विशेषताएँ उसमें एकत्र कर दी गई हैं और उस एक व्यक्ति के रूप में आचार्य चतुरसेन जी को काफी सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए 'बोंदी' उपन्यास के बिसुन और अम्मा को हम ले सकते हैं।

चरित्र चित्रण के लिए आचार्य जी ने वर्णन एवं कथोपकथन दोनों का ही बड़ी कुशलता से उपयोग किया है। इन दोनों के समन्वय से उनके पात्रों का चित्रण बड़ा ही स्वाभाविक एवं सजीव बन पड़ा है। जिस प्रकार कुशल चित्रकार कतिपय रेखाओं से चित्र में सजीवता तथा व्यंजकता ला देता है उसी प्रकार आचार्य जी कुछ चुने हुए व्यंजक शब्दों के द्वारा पात्र विशेष को हमारे सामने खड़ा कर देते हैं। 'वैशाली के नगर' के कुमार और 'धर्मपुत्र' के नवाब

जहांगीर अली खाँ 'उदयास्त' के राजा साहब, 'मोती' की चौहुरा और नवाब साहब 'अपराजिता' का माधव आदि के चरित्रों के निर्माण में यदि आचार्य जी ने हास्य व्यंग्यमिश्रित शब्द चित्रों का आश्रय लिया है तो दूसरी ओर 'धर्मपुत्र' की हुस्नबानू 'अपराजिता' की राज 'बगुला के पंख' की पद्मा 'सोमनाथ', की चौला और शोभना 'वैशाली की नगरवधू' की अम्बपाली आदि के चरित्रों का निर्माण उन्होंने कोमलता कमनीयता एवं यथार्थता व्यंजक शब्दों के द्वारा किया है। जैसा कि हम पीछे चरित्रों का विश्लेषण करते समय दिखला चुके हैं। प्रथम आचार्य जी अपने पात्रों की आकृति एवं रूप रंग का परिचय वर्णन द्वारा विश्लेषणात्मक शैली में देते हैं, तत्पश्चात् अभिनयात्मक शैली के द्वारा उनके क्रियाकलापों एवं वार्तालापों के द्वारा उस पात्र की स्थूल रेखाओं में रूप रंग और प्राण की प्रतिष्ठा करके उसकी चरित्रगत विशेषताओं को शनै शनै स्पष्ट करते चलते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी की पात्र निर्माण-कला के मूल प्रेरणा-स्रोत—

आचार्य चतुरसेन जी की पात्र-निर्माण कला की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने अपने अधिकांश पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण केवल कल्पना के धरातल पर ही नहीं वरन् अपने अनुभव के आधार पर ही किया है। जैसा कि हम प्रथम अध्याय में कह चुके हैं कि प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से उन्होंने एक बार स्वयं कहा था कि 'आत्मदाह' के सुधीन्द्र का चरित्र बहुत कुछ उनके स्वयं के चरित्र से प्रभावित है। सुधीन्द्र के माता पिता के रूप में उन्होंने अपने ही माता पिता का चित्रण किया है। उन्होंने 'मोती' की नायिका चम्पा की चर्चा चलाते हुए स्वयं कहा था कि वह मेरे अनुभव की ही देन है। एक वैद्य के नाते उससे मेरा वर्षों सम्बन्ध रह चुका है। वैद्यक व्यवसाय में रहने के कारण आचार्य जी के अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। एक वैद्य के रूप में राजस्थान से उनका निकट का सम्बन्ध था। 'सोमनाथ' 'मोती' 'उदयास्त' आदि उपन्यासों के कितने ही पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण उन्होंने वहीं के कुछ व्यक्तियों से प्रभावित होकर किया है। कई स्थानों पर उन्होंने स्वयं अपने कुछ पात्रों के मूल प्रेरणा स्रोतों की ओर संकेत भी किया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि 'वैशाली की नगरवधू' की अम्बपाली का निर्माण बम्बई प्रवास में देखी मिसेज मिश्रा के आधार पर हुआ है।[१] 'अपराजिता' की नायिका राज के दर्शन उन्हें बनारस में हुए थे।[२]

---

१ वातायन-आचार्य चतुरसेन पृ ९१।
२ अपराजिता-लेखक वक्तव्य।

टेढ़ी-बाड़ी रेखाओं के द्वारा ही नहीं वरन् कार्य-कलापों के उनके बाह्य एवं अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करके उनके सजीव व्यक्ति एवं वास्तविकता प्रदान की है। यही कारण है उनके पात्र अत्य एवं विश्वसनीय हैं। उनमें क्रियाशीलता एवं गति आदि से भ रहती है।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि आचार्य जी के पात्रों में जितनी है उतनी सम्भवतः हिंदी के किसी भी उपन्यासकार के पात्रों में उन्होंने जहाँ एक ओर पीड़ित पग-पग पर प्रताड़ित शोषित और वर्ग की मूकता को मुखर किया है वहीं दूसरी ओर स्वार्थी अ सौजन्यविहीन आरामतलब विलासी राजाओं एवं नवाबों के चरित्रों क उकेरा है। उन्होंने कुछ आदर्शवादी पात्रों की भी सृष्टि की है। यह पा क्रियाशील एवं गतिमान् हैं। इनमें अपने आदर्शों के लिए प्राण दे देने की हैं। ये वीर, साहसी और निर्भीक हैं अपने जातीय गौरव पर उन्हें अभि भी कम नहीं है और अपने इन्हीं गुणों के कारण ये पात्र अपने युग की प्रवृ को चरितार्थ करते हैं। वास्तव में ये पात्र सामन्तीय युग की सारी प्रवृत्ति, उसकी दुर्बलताओं और सबलताओं के प्रतिबिम्ब हैं। जैसा कि हम 'वर्ग पात्रों' का विवेचन करते समय दिखलाते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अप अधिकांश उपन्यासों में व्यक्तियों का चित्रण न करके वर्गों का चित्रण किया है जिससे हमारा आशय केवल मात्र इतना ही है कि उनके यह पात्र वर्ग विशेष की मनोवृत्ति के परिचायक हैं। उन्होंने राजा नवाब सामंत जमींदार, गोली विधवा अछूत आदि विभिन्न वर्गों में से जहाँ तक व्यक्ति का चित्रण किया है वहाँ उस वर्ग की सभी विशेषताएँ उसमें प्रकट कर दी गई हैं और इस एक व्यक्ति के रूप में आचार्य चतुरसेन जी को काफी सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए 'गोली' उपन्यास के किसुन और चम्पा को ले सकते हैं।

चरित्र चित्रण के लिए आचार्य जी ने वर्णन एवं कथोपकथन दोनों का ही बड़ी कुशलता से उपयोग किया है। इन दोनों के समन्वय से उनके पात्रों का चित्रण बड़ा ही स्वाभाविक एवं सजीव हुआ है। जिस प्रकार कुशल चित्रकार कतिपय रेखाओं से चित्र में सजीवता तथा व्यंजकता ला देता है उसी प्रकार आचार्य जी कुछ चुने हुए व्यंजक शब्दों के द्वारा पात्र विशेष को हमारे सामने खड़ा कर देते हैं। 'बगुला के पंख' के जुगनू और 'धर्मपुत्र' के नवाब

जहाँगीर मदी का 'उदयास्त' के राजा साहब 'मोती' की जोहरा और नवाब साहब 'अपराजिता' का मामा आदि के चरित्रों के निर्माण में यदि आचार्य जी ने हास्य व्यंग्यगर्भित रंग चित्रों का आश्रय लिया है तो दूसरी ओर 'धर्मपुत्र' की हुस्नबानू 'अपराजिता' की राज 'अमुला के पंख' की पद्मा, 'सोमनाथ' की चौला और शोभना 'वैशाली की नगरवधू' की अम्बपाली आदि के चरित्रों का निर्माण उन्होंने कोमलता करुणता एवं यथार्थता व्यंजक शब्दों के द्वारा किया है। जैसा कि हम पीछे चरित्रों का विश्लेषण करते समय दिखला चुके हैं। प्रथम आचार्य जी अपने पात्रों की आकृति एवं रूप रंग का परिचय वर्णन द्वारा विश्लेषणात्मक शैली में देते हैं, तत्पश्चात् अभिनयात्मक शैली के द्वारा उनके क्रियाकलापों एवं वार्तालापों के द्वारा उस पात्र की स्थूल रेखाओं में रूप रंग और प्राण की प्रतिष्ठा करके उसकी चारित्रगत विशेषताओं को धीरे धीरे स्पष्ट करते चलते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी की पात्र निर्माण-कला के मूल प्रेरणा-स्रोत—

आचार्य चतुरसेन जी की पात्र-निर्माण कला की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने अपने अधिकांश पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण केवल कल्पना के धरातल पर ही नहीं वरन् अपने अनुभव के आधार पर ही किया है। जैसा कि हम प्रथम अध्याय में कह चुके हैं कि प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक से उन्होंने एक बार स्वयं कहा था कि 'आत्मदाह' के सुधीन्द्र का चरित्र बहुत कुछ उनके स्वयं के चरित्र से प्रभावित है। सुधीन्द्र के माता-पिता के रूप में उन्होंने अपने ही माता-पिता का चित्रण किया है। उन्होंने 'मोती' की नायिका चम्पा की चर्चा चलाते हुए स्वयं कहा था कि यह मेरे अनुभव की ही देन है। एक वैद्य के नाते उससे मेरा वर्षों सम्बन्ध रह चुका है। वैद्यक व्यवसाय में रहने के कारण आचार्य जी का अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त विशाल था। एक वैद्य के रूप में राजस्थान से उनका निकट का सम्बन्ध था। 'सोमनाथ' 'मोती' 'उदयास्त' आदि उपन्यासों के कितने ही पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण उन्होंने यहीं के कुछ व्यक्तियों से प्रभावित होकर किया है। कई स्थानों पर उन्होंने स्वयं अपने कुछ पात्रों के मूल प्रेरणा स्रोतों की ओर संकेत भी किया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि 'वैशाली की नगरवधू' की अम्बपाली का निर्माण बम्बई प्रवास में देखी मिस्त्र दिव्या के आधार पर हुआ है।[1] 'अपराजिता' की नायिका राज के दर्शन उन्हें बनारस में हुए थे।[2]

---

१ मन्तव्य-आचार्य चतुरसेन प० ११।
२ अपराजिता-लेखक का कथन।

आचार्य जी की एक और विशेषता भी उल्लेखनीय है। वे अपने पात्रों के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेते थे। उन्होंने अपने पैंसठवें जन्म दिवस के अवसर पर इस विषय पर प्रकाश डालते हुए स्वयं कहा था कल्पना कीजिए 'वैशाली की नगरवधू' के उस सान्निध्य की जब उसकी पाण्डुलिपि पूरी की गई थी और दो साल तक मैं जीवित ही अपनी आग में जलता रहा था तब सुश्री अम्बपाली ने जैसे मेरे कानों के पीछे से फुसफुसा कर मेरे कान में कहा था—लिखो-लिखो और उसका वह देव दानव दुर्लभ अपार्थिव नृत्य तो मैंने अपनी इन्हीं आँखों से देखा था। मगध के सम्राट् बिम्बसार के रूप में मैं ही तो अलस भाव से उसके शयनागार में रूप और यौवन की मदिरा पीता और बखेरता रहा हूँ। मैंने ही तो अम्बपाली के समक्ष उस दिन एक ही साथ तीन ग्रामों की वीणा बजाकर नील गगन में टिमटिमाते नक्षत्रों की साक्षी में कला को मूर्तिमयी किया था और हम-अम्बपाली और मैं—जैसे पृथ्वी का प्रलय हो जाने पर, समुद्रों के लय लीन हो जाने पर, वायु की लहरों पर तैरते हुए, ऊपर आकाश में उठते ही चले गये थे—जहाँ भू नहीं भुव नहीं स्व नहीं पृथ्वी नहीं आकाश नहीं दृष्टि नहीं सृष्टि का बन्धन नहीं जन्म नहीं,—मरण नहीं एक नहीं अनेक नहीं कुछ नहीं कुछ नहीं।

और इसके बाद मैं जब सोमनाथ की भूमिका में उतरा—तो अप्रतिरथ महारथी महमूद एक निरीह बालक की भाँति मेरे अनुग्रह का शरणापन्न हुआ और मैंने इस दुर्दान्त योद्धा को किस प्रकार एक विधवा स्त्री के आँचल की छाँह में गजनी भेज दिया है यह तो आप देख ही चुके हैं। अपराजिता की राज और 'धर्मपुत्र' की महामहिमामयी हुस्नबानू जिसने आठ साल मुर्दे के साथ और २४ साल चिता की ठण्डी राख में बैठकर बिताये मेरी अनुगता रही। उनके हास्य और आँसुओं का लेखा-जोखा तो मैंने ही रखा है।[1] और 'वयं रक्षामः' का रावण जगदीश्वर वह मर गया तो क्या। उसका यौवन तेज-दर्प साहस शौर्य ऐश्वर्य जो मैं निरंतर इन ग्यारह मासों में रात दिन देख रहा हूँ उसके प्रभाव से कुछ-कुछ दीप्तिमान होते हुए मेरे रक्त बिन्दु अभी भी नृत्य उठते हैं। गर्म राख की भाँति उसमें गर्मी है आग न सही गर्म राख तो है।[2] इससे स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी अपने पात्रों का चित्रण करते समय इतने तन्मय हो जाते थे कि बहुधा वे यह भी भूल बैठते थे कि उन पात्रों का वे

१ वातायन—पैंसठवाँ जन्म नक्षत्र पृ १७६ १७७।
२ वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ १।

कल्पना में साक्षात्कार कर रहे हैं या प्रत्यक्ष । यही कारण है कि उनके पात्र भी पूर्ण सजीव स्वाभाविक एवं आकर्षक हैं और वे पाठक की अनुभूतियों का एक अंग बनकर रह जाते हैं । आचार्य जी की पात्र (विशेषकर ऐतिहासिक पात्र) निर्माणकला बहुत कुछ डा० वृन्दावनलाल वर्मा एवं वाल्टर स्काट की भाँति ही है । इन तीनों के ही अधिकांश पात्रों का स्वरूप प्रथम से ही निश्चित रहने के कारण उपन्यास में पदार्पण करते ही वे पात्र तुरन्त अपनी स्थूल रूप रेखा प्रस्तुत कर देते हैं । इस रूप रेखा के आधार पर उनका सम्पूर्ण चरित्र विकसित होता है।[1] यह तीनों ही पात्र को जीवन प्रदान करने के उपरांत उन्हें मौलिक गुणों के आधार पर विकसित होने के लिए छोड़ देते हैं । वे पात्र अन्त तक प्राय अवस्थे नहीं हैं अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं जाते ।[2] आचार्य जी के कई पात्र परिवर्तनशील भी हैं जैसे देवस्वामी सोमनाथ आदि । उनके कुछ ऐतिहासिक पात्रों पर ड्यूमा की पात्र निर्माण कला का प्रभाव भी दीख पड़ता है । उनका सोमप्रभ (नमरवत्) ड्यूमा के 'थ्री मस्केटियर्स' नामक उपन्यास के आर्तग्नान का स्मरण दिला देता है ।

---

१ उपन्यासकार डा० वृन्दावनलाल वर्मा, पृ २०० ।

२ ए हिस्ट्री आफ इंगलिश लिट्रेचर एमिली लिग्वे एण्ड लुई कैजामियां पृ १०२५ ।

आचार्य जी की एक और विशेषता भी उल्लेखनीय है। वे अपने पात्रों के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेते थे। उन्होंने अपने पैंसठवें जन्म दिवस के अवसर पर इस विषय पर प्रकाश डालते हुए स्वयं कहा था कल्पना कीजिए 'वैशाली की नगरवधू' के उस सान्निध्य की जब उसकी पाण्डुलिपि पूरा की गई थी और दो साल तक मैं जीवित ही अपनी आग में जलता रहा था तब सुश्री अम्बपाली ने जैसे मेरे कन्धों के पीछे से फुसफुसा कर मेरे कान में कहा था—छिओ-छिओ और उसका वह देव दानव दुर्लभ अपार्थिव नृत्य तो मैंने अपनी इन्हीं आँखों से देखा था। मगध के सम्राट बिम्बसार के रूप में मैं ही तो अबन्ध भाव से उसके पानागार में रूप और वैभव की मदिरा पीता और बखेरता रहा हूँ। मैंने ही तो अम्बपाली के समक्ष उस दिन एक ही साथ तीन ग्रामों की वीणा बजाकर नील गगन में टिमटिमाते नक्षत्रों की साक्षी में कक्ष को पूर्तिमयी किया था और हम-अम्बपाली और मैं—जैसे पृथ्वी का प्रलय हो जाने पर, समुद्रों के शेष क्षीण हो जाने पर, वायु की लहरों पर तैरते हुए, अमर आकाश में उड़ते ही चले गये थे—जहाँ भू नहीं भुव नहीं स्व नहीं पृथ्वी नहीं आकाश नहीं सृष्टि नहीं सृष्टि का बन्धन नहीं जन्म नहीं —मरण नहीं एक नहीं अनेक नहीं कुछ नहीं कुछ नहीं।

और इसके बाद मैं जब सोमनाथ की भूमिका में उतरा—तो अमितरथ महारथी महमूद एक निरीह बालक की भांति मेरे अनुग्रह का शरणागत हुआ और मैंने इस दुर्दान्त योद्धा को किस प्रकार एक विधवा स्त्री के आंचल की छाँह में बकनी भेज दिया है यह तो आप देख ही चुके हैं। अपराजिता की राज और 'धर्मपुत्र' की महामहिमामयी हुस्नबानू जिसने आठ साल मुर्दे के साथ और २४ साल पिता की ठण्डी राख में बैठकर बिताये सती अनुगता रही। उनके हास्य और आँसुओं का लेखा-जोखा तो मैंने ही रखा है।[1] और 'वयं रक्षाम:' का रावण जगदीश्वर वह मर गया तो क्या। उसका यौवन तेज-दर्प साहस-ओज ऐश्वर्य जो मैं निरंतर इन ग्यारह मासों में रात दिन देख रहा हूँ उसके प्रभाव से कुछ-कुछ शीतल होते हुए मेरे रक्त बिन्दु अभी भी नृत्य उठते हैं। गर्म राख की भाँति उसमें गर्मी है आग न सही गर्म राख तो है।[2] इससे स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी अपने पात्रों का चित्रण करते समय इतने तन्मय हो जाते थे कि बहुधा वे यह भी भूल बैठते थे कि उन पात्रों का वे

१ वातायन—पैंसठवां जन्म-दिवस पृ० १७६ १७७।

२ वयं रक्षाम: पूर्व निवेदन पृ० १।

कल्पना में साक्षात्कार कर रहे हैं या प्रत्यक्ष । यही कारण है कि उनके पात्र भी पूर्ण सजीव स्वाभाविक एवं आकर्षक हैं और वे पाठक की अनुभूतियों का एक अंग बनकर रह जाते हैं। आचार्य जी की पात्र (विशेषकर ऐतिहासिक पात्र) निर्माणकला बहुत कुछ डा० वृन्दावनलाल वर्मा एवं वाल्टर स्काट की भाँति ही है। इन तीनों के ही अधिकांश पात्रों का स्वरूप प्रथम से ही निश्चित रहने के कारण उपन्यास में पदार्पण करते ही वे पात्र तुरन्त अपनी स्थूल रूप रेखा प्रस्तुत कर देते हैं। इस रूप रेखा के आधार पर उनका सम्पूर्ण चरित्र विकसित होता है।[1] यह तीनों ही पात्र को जीवन प्रदान करने के उपरांत उसे मौलिक गुणों के आधार पर विकसित होने के लिए छोड़ देते हैं। वे पात्र अन्त तक प्राय बदलते नहीं हैं अपने स्वभाव के विरुद्ध नहीं जाते ।[2] आचार्य जी के कई पात्र परिवर्तनशील भी हैं जैसे देवस्वामी शोभना आदि। उनके कुछ ऐतिहासिक पात्रों पर ड्यूमा की पात्र निर्माण कला का प्रभाव भी दीख पड़ता है। उनका सोमप्रभ (नमरवाह्) ड्यूमा के 'थ्री मस्केटियर्स' नामक उपन्यास के आर्टगान का स्मरण दिला देता है।

---

१ उपन्यासकार डा० वृन्दावनलाल वर्मा, पृ २०० ।

२ ए हिस्ट्री आफ इंगलिश लिट्रेचर एमिली लिगे एण्ड लुई कैजामियाँ पृ १०२५।

अध्याय—५

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों के कथोपकथन

कथोपकथन

कथोपकथन की परिभाषा—

पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप को कथोपकथन अथवा संवाद कहते हैं। कभी-कभी पात्र आत्म तल्लीनता में अथवा किसी अन्य मानसिक अवस्था में अपने आपसे ही वार्तालाप करने लगता है, इसे स्वगत कथन कहते हैं। एक अंग्रेज विद्वान ने कथोपकथन की परिभाषा करते हुए लिखा है—

Composition which produces the impact of human talk as nearly as possible the impact of conversation over heard.'[1]

कथोपकथन का महत्व एवं उद्देश्य—

कथोपकथन का उपयोग कथानक में क्यों होता है? एवं इसका क्या महत्व है? वास्तव में एक ओर यह कथा को गति प्रदान करता है तो दूसरी ओर पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करता है। यदि कथा में से कथोपकथन के तत्व को निकाल दिया जाय तो कथा में जो सबसे बड़ा दोष आ जायेगा वह होगा कथा पात्रों का अव्यक्त हो जाना। इससे निश्चित रूप से कथा की कलात्मकता उसकी प्रभविष्णुता एवं संवेदनशीलता समाप्त प्राय हो जायेगी।

अतः हम कह सकते हैं कि कथा साहित्य में अन्य तत्वों की अपेक्षाकृत इस तत्व का महत्व कहीं अधिक प्रत्यक्ष रहता है। कथानक के विन्यास में कहाँ—क्या सौन्दर्य होता है, इसका उद्घाटन तर्क-वितर्क और प्रतिपादन से किया जाता है अथवा चरित्रांकन में किसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में किस प्रकार की वृत्ति का आयोग सिद्ध होता है, इसको हमें कल्पनाजन्य अनुभूति से समझने की

---

१ मार्जोविटस "टाक्स आन राइटिंग आफ द नॉविल" सीरीज २ पृ २१०।

चेष्टा करनी पड़ती है परन्तु संवाद अपने प्रकृतस्थ औचित्य और व्यावहारिक रचना से ही अपने सौंदर्य और आकर्षण को समझा देते हैं, इसमें तर्क-वितर्क चिंतन-मनन की उतनी अपेक्षा नहीं होती। यदि देश काल और संस्कृति विशेष का कोई प्राणी किसी से भी किसी प्रकार की बातचीत करता है तो बातचीत की प्रांजलता और विदग्धता शब्द और वाक्य के प्रयोग भाषा और पदावली से हमें प्रत्यक्ष मालूम होता है कि व्यक्ति किस कोटि वर्ग देश और काल का है। संवाद से अन्य सभी तत्वों का सीधा सम्बंध होता है।[1] इससे कथानक में तत्व का महत्व स्पष्ट हो जाता है। अब प्रश्न हो सकता है कि कथानक में कथोपकथन का समावेश किन उद्देश्यों के लिए होता है। वास्तव में कथोपकथन का प्रयोग कथानक में निम्न उद्देश्यों से किया जाता है—

१ कथानक को गति प्रदान करना
२ पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करना
३ कथाकार के उद्देश्य को स्पष्ट करना
४ कथोपकथन के व्याज से पूर्व संकेत देना
५ कथोपकथन के माध्यम से वातावरण-सृष्टि करना आदि।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों में उपर्युक्त सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कथोपकथनों का प्रयोग किया है। अगले पृष्ठों में हम यही देखने का प्रयत्न करेंगे कि उपन्यासों में उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कथोपकथनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है उसका क्या महत्व और उपयोगिता है तथा आचार्य जी अपने उपन्यासों में उसकी उपयोगिता एवं महत्व की रक्षा कहां तक कर सके हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यास में कथानक को गति प्रदान करनेवाले कथोपकथन—

कथोपकथन कथा के प्रसार का प्रधान साधन है। इसके समावेश से जहां एक ओर कथा-सूत्र को गति मिलती है, वहीं दूसरी ओर नवीन कथासूत्रों की सृष्टि भी होती है। नवीन कथा सूत्र का जन्म कथा में तभी होता है जब दो विरोधी विचारों में संघर्ष होता है। इस संघर्ष एवं नवीन कथा सूत्र के उद्गम का स्पष्टीकरण कथोपकथन द्वारा ही सम्भव हो सकता है। कथा गतिशील रहे, केवल यही आवश्यक नहीं है। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि कथा क्षिप्रगति

१ कहानी की रचना-विधान डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा पृ० १२१।

स मानने के साथ-साथ सजीवता, चित्रमयता एवं कलात्मकता की भी सृष्टि करने में पूर्ण समर्थ हो। यह कार्य भी कथोपकथन द्वारा ही सम्भव हो सकता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि एक ओर जहाँ इस तत्व का क्षिप्र, पुष्ट एवं सुगठित प्रयोग कथा मार्ग को उत्कर्षोन्मुख करेगा, वहीं दूसरी ओर स्वच्छंद, अनियंत्रित, अनावश्यक, अनपेक्षित रूप में विस्तृत एवं कथा को अवरुद्ध कर देने वाले अरोचक कथोपकथनों का उपयोग कथा को बोझिल एवं अकलात्मक बना देगा। अतः यह आवश्यक है कि कथोपकथन का कथासूत्र से प्रत्यक्ष संबंध हो अन्यथा कथानक की शृंखला नष्ट हो जायगी। एवं कथा बिखर जायगी। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने कथोपकथनों में इस बात का सदैव ध्यान रखा है। उनके कथोपकथन एक ओर जहाँ कथानक को गति प्रदान करते हैं वहीं दूसरी ओर अनियंत्रित एवं अनावश्यक भी नहीं होने पाये हैं। आचार्य जी के उपन्यासों में यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। उन्होंने कई स्थानों पर कथोपकथन के द्वारा ही कथा को दूसरी दिशा में मोड़ दिया है कथा के यह मोड़ स्वाभाविक कथोपकथन के कारण अस्वाभाविक भी नहीं होने पाये हैं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए हम 'वैशाली की नगरवधू' का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

महाराज प्रसेनजित एवं उनके पुत्र राजकुमार विदूडभ का वार्तालाप देखिए। महाराज अपने पुत्र के कार्यों पर बुरी तरह से क्षुब्ध हैं। वे राजकुमार को अपने सामने उपस्थित होने की आज्ञा देते हैं। राजकुमार महाराज के सम्मान की उपेक्षा करते हुए उन्हें उनके मुख पर ही खरी-खोटी सुनाने लगता है। उसकी वाचालता, अक्खड़पन, निर्भीकता, महाराज की उपेक्षा की प्रवृत्ति तथा महाराज के दब्बूपन एवं रुक-रुककर पीछे धमकी देने की प्रवृत्ति के कारण संवाद बढ़ता जाता है और साथ ही कथा भी एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर होती जाती है—

"विदूडभ ने बिना ही प्रणाम किए, आते ही पूछा"—महाराज ने मुझे स्मरण किया था ?

"किया था।"

"किसलिए।"

"परामर्श के लिए।

'इसके लिये महाराज के सचिव और आचार्य और अमात्य क्या यथेष्ट नहीं हैं।"

"किन्तु मैं तुम्हें कुछ परामर्श दिया चाहता हूँ विदूडभ।"

"किन्तु महाराज के परामर्श की मुझे आवश्यकता ही नहीं है।" राजपुत्र ने घृणा व्यक्त करते हुए कहा।

महाराज प्रसेनजित गम्भीर बने रहे। उन्होंने कहा—"किन्तु रोगी की इच्छा से औषधि नहीं दी जाती राजपुत्र।

"तो मैं रोगी और आप वैद्य हैं महाराज ?"

"ऐसा ही है। यौवन अधिकार और अविवेक ने तुम्हें भ्रष्ट कर दिया है विदूडभ।"

"परंतु महाराज को उचित है, कि वे धृष्टता का अवसर न दें।

"तुम कोसलपति से बात कर रहे हो विदूडभ।"

"आप कोसल के भावी अधिपति से बात कर रहे हैं महाराज ! क्षण भर स्तब्ध रहकर महाराज ने मृदु कण्ठ से कहा—तुम विचार करके देखो तुम्हें क्या ऐसा अविवेकी होना चाहिये ? मैं कहता हूँ—तुमने मेरी आज्ञा बिना शाक्यों पर सैन्य क्यों भेजी है।

"मैं कपिलवस्तु को निःशाक्य करूँगा यह मेरा प्रण है।"

"किसलिए ? सुनूँ तो।"

"आपके पाप के लिए महाराज।

"मेरा पाप धृष्ट लड़के ! तू सावधानी से बोल।"

"मुझे सावधान करने की कोई आवश्यकता नहीं है महाराज मैं आपके पाप के कलंक को शाक्यों के गर्म रक्त से धोऊँगा।

"मेरा पाप कह तो।"

"कहता हूँ सुनिए, परन्तु आपके पापों का अन्त नहीं है एक ही कहता हूँ कि आपने मुझे दासी से क्यों उत्पन्न किया ? क्या मुझे यौवन नहीं प्राप्त हुआ क्या मैं समाज में पद प्रतिष्ठा के योग्य नहीं !

"किसने तेरा मान भंग किया ?

"आपने शाक्यों के यहाँ मुझे किसलिए भेजा था।"

"शाक्य अपने स्वजन हैं। तू मेरा प्रिय पुत्र है और शाक्यों का दौहित्र।"

विदूडभ ने अवज्ञा की हंसी हंसकर कहा—"शाक्यों का दौहित्र या दासी का पुत्र ? आप जानते हैं वहाँ क्या हुआ ?"

"क्या हुआ ?

"सुनेंगे आप ? घमण्डी और नीच शाक्यों ने संथागार में विमन होकर

मेरा स्वागत किया अथवा उन्हें स्वागत करना पड़ा। पर पीछे संथागार को और आसनों को उन्होंने दूध से धोया।"

प्रसेनजित का मुँह कोप से लाल हो गया। उन्होंने चिल्लाकर कहा—क्षुद्र शाक्यों ने यह किया। १

प्रस्तुत कथोपकथन के प्रारम्भ से ऐसा आभास होने लगता है कि अब पिता पुत्र में संघर्ष निकट है। पुत्र असंयत है, पिता कोधित। एक कोशल का सम्राट है तो दूसरा राजकुमार। दोनों दोनों की उपेक्षा कर रहे हैं। पुत्र पिता के पापों का स्मरण दिलाता है पिता उसकी धृष्टता पर अंतिम बार चेतावनी देता है। संघर्ष चरम-सीमा पर पहुँचकर अकस्मात् मुड़ जाता है। शाक्यों द्वारा पुत्र के अपमान की बात सुनकर पिता का कोध पुत्र से हटकर शाक्यों पर पहुँच जाता है। उसके मुख से अनायास ही निकल जाता है 'क्षुद्र शाक्यों ने यह किया। इसके पश्चात् ही कथा दूसरी दिशा की ओर मुड़ जाती है। अब महाराज स्वयं शाक्यों के वंश नाश करने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। वे पुत्र के मुख से खरी-खोटी बातें सुनकर भी मुँह नीचा कर लेते हैं। किन्तु पुत्र द्वारा छलबल से गद्दी पर अधिकार करने की बात सुनकर वे पुनः कोधित हो उठते हैं। संघर्ष बढ़ जाता है वाद विवाद के साथ-साथ कथा भी अग्रसर होती जाती है और अंत में राजकुमार विदूडभ अपने पिता पर तलवार खींच लेता है। इसी समय बन्धुमल्ल का कथा में आकस्मिक प्रवेश होता है। इस कथोपकथन में कथा ने एक साथ तीन मोड़ लिए हैं। इसी कथोपकथन के द्वारा कथा चरम-सीमा पर पहुँच रही है।

इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं। 'वयरक्षामः' 'सोमनाथ' 'गोली' आदि प्रमुख उपन्यासों में कथा को प्रवाहपूर्ण बनाने रखने के लिए उपन्यासकार ने कथोपकथनों का ही आश्रय लिया है। जहाँ कहीं भी कथा अवरुद्ध होने लगी है अथवा उसका प्रवाह मंद होने लगा है, आचार्य चतुरसेन जी ने सरस कथोपकथनों की सृष्टि कर कथा को पुनः गतिशील एवं रोचक बना दिया है।

कथा को गति प्रदान करने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने 'कथोद्घातक' कथोपकथनों का भी प्रयोग किया है। 'पहले जो प्रसंग चल रहे हैं उसी के कुछ शब्दों को दुहराते हुए जब कोई पात्र सहसा सम्मुख आ जाता है तब कथोद्घातक होता है। इस प्रकार के कथोपकथन विशेष चमत्कारपूर्ण होने के साथ-साथ कथा-प्रवाह में त्वरा उत्पन्न करने वाले होते हैं। ऐसे कितने ही प्रयोग आचार्य

१ वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन-पृ १२०-१२१।

चतुरसेन जी के उपन्यासों में हुए हैं। 'सोमनाथ' का एक उदाहरण देखिए-छद्म वेश में महमूद सोमनाथ महालय में प्रवेश करता है। उसी समय 'निर्माल्य' के लिए लाई गई चौला उसकी दृष्टि में पड़ जाती है। वह प्रथम दृष्टि में ही उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। चौला को लाने वाले अश्वारोही से वह चौला के लिए ही भिड़ जाता है, उसी समय युवराज भीमदेव का यह कहते हुए प्रवेश होता है 'मूर्खो देवस्थान में लड़ते हो। इस पर युवक ने इस आगन्तुक को देखकर तलवार नीची कर ली। परन्तु साधु ने (महमूद ने) लाल लाल आँखें करके निर्मम स्वर से कहा—'दो आदमियों के झगड़ों में बिना बुलाए बीच में पड़कर मूर्ख कहने वाला ही मूर्ख है।

आगन्तुक योद्धा ने अचल गम्भीर स्वर से पूछा—'तुम कौन हो ?

'यही मैं तुमसे पूछता हूँ' साधु ने उद्दण्डता से कहा।

'इस झगड़े का कारण ?

'तुम्हारे पंचायत में पड़ने का कारण ?

'तब देख कारण। आगन्तुक योद्धा ने तलवार का भरपूर हाथ साधु पर फेंका। साधु भी असावधान न था। क्षण भर में ही दोनों योद्धा असाधारण दक्षता से युद्ध करने लगे।

लोगों ने एक ध्वनि सुनी 'शान्तं पापं' शांत पापं। पहिलें बीच फिर स्पष्ट।"

प्रस्तुत उदाहरण में कितने नाटकीय ढंग से कथोपकथन के द्वारा कथा को गतिशील बनाया गया है। आचार्य चतुरसेन जी ने कथा को गतिशील एवं प्रभाव शाली बनाने के लिए अपने उपन्यासों में इस प्रकार के कथोपकथनों का खुलकर प्रयोग किया है।

कथोपकथन द्वारा पात्रों के चरित्र का विश्लेषण—

कथानक को गति प्रदान करने के साथ-साथ कथोपकथन का दूसरा कार्य है पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालना उसे स्पष्ट करना। कोई भी कथानक पात्रों के व्यक्तित्व एवं चरित्र पर ही आधारित होता है। अतः कथोपकथन का सीधा सम्बंध पात्रों से ही है। कथोपकथन के अभाव में न पात्रों के व्यक्तित्व की रेखा उभर सकेगी और न ही उनके चरित्र का ही विश्लेषण सम्भव हो सकेगा। कथाकार किसी भी चरित्र के विषय में भले ही सब कुछ कह डाले किन्तु पाठक तब तक उस चरित्र के प्रति नैकट्य का अनुभव नहीं कर सकेगा जब तक पात्र स्वयं मुँह नहीं खोलता। पाठक की सहज जिज्ञासा यह जान लेने की सदैव

उत्सुक रहती है कि अमुक पात्र के विषय में उपन्यास के अन्य पात्रों के क्या विचार हैं उसके शत्रु एवं मित्र उसके विषय में क्या विचारते हैं अथवा उस पात्र के अपने विषय में स्वयं के क्या विचार हैं अथवा किसी समस्या पर किंवा घटना पर किस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व विभिन्न पात्रों के हृदय में होता है।[१] इन सभी की जानकारी उपन्यासकार पाठकों को कथोपकथन के माध्यम से ही दे सकता है। आचार्य चतुरसेन जी ने भी अपने उपन्यासों में पात्रों के चरित्र को उभारने एवं निखारने के लिए कथोपकथनों का आश्रय लिया है। उनके कथोपकथन एवं स्वगत कथन पात्रों के हृदय के प्रत्येक पट को पूर्णरूपेण खोलकर सामने ला रखते हैं जिससे पात्रों के चरित्र का विश्लेषण होने के साथ-साथ कथा भी अग्रसर होती है।

'सोमनाथ' उपन्यास का एक उदाहरण देखिए। देवा शोभना से प्रेम करता है। शोभना भी देवा को चाहती है। किंतु दोनों एक-दूसरे के हो नहीं पाते धर्म की दीवार दोनों के मध्य में है। इस धर्म की दीवार को ढहाने और शोभना को हस्तगत करने के लिए ही देवा यवन धर्म स्वीकार कर महमूद का सिपहसालार बन जाता है। सोमनाथ महालय को नष्ट करने में वह सहायता देता है धर्म की दीवार को वह अपने साहसिक प्रयत्नों द्वारा चूर चूर कर डालता है किंतु शोभना तो भी उससे प्रेम करती रहती है। देवा के धर्म विरोधी क्रिया कलापों का क्या शोभना पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा? क्या वह अमीर के दास हो जाने पर देवा से प्यार करती रही? आदि प्रश्न स्वभावतः उठते हैं। उपन्यासकार को कथा को अग्रसर तो करना ही है साथ ही पाठकों के मस्तिष्क में उठी हुई शंकाओं का समाधान भी। अतः वह शोभना के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए कथोपकथन का आश्रय लेता है। देखिए—

'देवा यह तुम अमीर के दास के समान बोल रहे हो।

दास क्यों? मैं अमीर का सबसे बड़ा सिपहसालार हूँ। आज की यह कठिन मुहिम मैंने सर की है। सोमनाथ मैंने सर किया और अमीर जिसे सबसे बड़ी दौलत समझता है वह क्या है जानती हो?

'क्या है?

'चौला! वह दौलत उसकी गोद में डालकर मैं आज आधी दुनियां की बादशाहत अमीर से लूँगा। शोभना अब तुम अपने को महारानी से कम न समझना।

---

१ 'चरित्र चित्रण' वाले अध्याय में इस विषय में विस्तार से लिखा जा चुका है।

'देवा, तुम तो बड़े-बड़े सौदे करने लगे।

'यह इस तलवार की बदौलत शोभना और तेरी इन आँखों के जादू की बदौलत। जिसमें मुझे मारने और जिन्दा करने की ताकत है।'

'लेकिन देवा देखती हूँ तुमने सबसे बड़ा सौदा भी कर लिया।'

कैसा?

'तुम अपने को भी बेच चुके।

'तो इससे क्या उसकी कीमत कितनी मिली जानती हो? शोभना मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी चीज और एक बादशाहत।

'परन्तु देवा, एक दिन न शोभना रहेगी न यह भीख में मिली बादशाहत। केवल तुम्हारे यह काले कारनामे रह जायेंगे।

'क्या कहा—भीख में।

'नहीं महारो विश्वासघात देश और धर्म के द्रोह के सिलसिले में मिली बादशाहत।

'शोभना यह तुम क्या कह रही हो जानती हो—यह सब तुम्हारे ही लिए।

इसी से तो मैं शर्म से मरी जाती हूँ।

'तुम्हारी स्त्री-बुद्धि है न।

'स्त्री हूँ तो मर्द की बुद्धि कहाँ से लाऊँ।

'और, अब देर हो रही है बाहर मेरे सिपाही खड़े हैं, मेरी चीज मेरे हवाले करो।

'कौन चीज?

'वही चौला देवी।

'किसलिए?

'उसे मैं अमीर नामदार की भेंट करूँगा।

'अमीर कहाँ है?

'पास ही है इसी किले में।

'मेरी बात मानो देवा तुम इतने बड़े बहादुर हो मेरी खुशी का एक काम करो।

'शोभना की खुशी के लिए तो मैं अपना दाहिना हाथ भी काटकर दे सकता हूँ। कहो क्या चाहती हो।

'उस दैत्य अमीर का सिर काटकर मुझे ला दो।

'फतह मुहम्मद चमक कर दो कदम पीछे हट गया। उसने कहा—"यह कैसी बात !

'क्या नहीं कर सकते ? जिसका पेशा लूट-हत्या-धर्मद्रोह अत्याचार और अन्याय है जो लाखों मनुष्यों की तबाही का कारण है जो मूरखुदा की भाँति सत्रह बार भारत को तलवार और आग की भेंट कर चुका वह इस समय तुम्हारे हाथ में है चंगुल में है जाओ अभी उसका सिर काट लाओ शोभना देवी को यही तुमसे मांगना है।

"नहीं नहीं शोभना यह नहीं हो सकता मैं दास, अनाथ अपमानित बहिष्कृत देवा उसकी कृपा से आज इस रुतबे पर पहुँचा हूँ भला मैं उसके साथ दगा कर सकता हूँ।"

"क्या शोभना के लिए भी नहीं।

'भगवान के लिए भी नहीं किसी तरह नहीं। ~ [1]

शोभना के हृदय में महमूद के प्रति घृणा है, अपने प्रेमी के प्रति नहीं। वह उसे अब भी सच्चे हृदय से चाहती है। इसी कारण वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति देवा को सुधारने सँभालने और एक नवीन मार्ग पर मोड़ने में लगा देती है। किन्तु वह असफल होती है। देवा के नकारात्मक उत्तर के पश्चात् वह प्रेमिका से रणचंडी हो जाती है। परिस्थितियों और आंतरिक भावों के परिवर्तन के साथ-साथ उसकी वाणी एवं आचरणों में भी परिवर्तन आ जाता है। वह देवा को छल से एक शून्य कक्ष में बन्द कर देती है। दोनों ओर के प्रेम के भावों का लोप हो जाता है। दोनों एक दूसरे से प्रतिशोध लेना चाहते हैं। एक असहाय है विवश है अतः प्रेम की दुहाई दे रहा है और दूसरा सबल है अतः उसे दुत्कार रहा है। देखिए—

"अब क्रोध और अधैर्य से पागल होकर उसने जोर-जोर से चिल्लाकर कहा— 'क्षमा-क्षमा तुमने मुझसे दगा की शोभना।" एक छोटा-सा झोंका खुला। उसमें से थोड़ा प्रकाश उस कक्ष में आया। शोभना ने झोंके से झाँककर कहा 'निस्संदेह देवा मैंने तुमसे दगा की। क्योंकि मैं औरत हूँ। मेरे पास और उपाय नहीं था।"

"लेकिन शोभना मैंने तुझे प्यार किया था।"

'प्यार तो मैंने भी तुझे किया था। देवा।

"पर तेरा प्यार मेरे जैसा नहीं था।

---

१ सोमनाथ पृ ४१३-४१४।

"शायद, प्यार कभी किसी ने तराजू पर तो तोला नहीं। तेरा कैसा प्यार था यह तू जान मैं तो अपने प्यार को जानती हूँ।

'उसी प्यार का यह नतीजा ? विश्वासघात।"

'इसलिए प्यार तूने भी किया—और मैंने भी। पर प्यार होता है अन्धा। यह यह न देख सका—कि तू गीता दासी का दास बेटा है और मैं ब्राह्मण की बेटी हूँ।

"इससे क्या शोभना हम दोनों एक दूसरे को प्यार करते थे।"

"पर दास और ब्राह्मण के रक्त में तो अन्तर है न दास के रक्त ने प्यार को दासता के दाँव पर लगाया। धर्म ईमान मनुष्यता सब पर लात मारकर उसने स्वार्थ लिप्सा ही को देखा। पर ब्राह्मण के रक्त ने मनुष्यता पर प्यार को न्योछावर कर दिया। आज मेरी आँखें खुल गईं। मैंने तुम्हारा असली रूप देख लिया।"

'क्या देखा ?

'कि तुम मनुष्य नहीं कुत्ते हो। तुम्हारे प्यार का मूल्य एक सूखी रोटी का टुकड़ा है।

"शोभना ! फतह मुहम्मद क्रोध से उन्मत्त होकर चिल्लाया। उसने कहा शोभना जैसा मेरा प्यार अन्धा है वैसा ही गुस्सा भी है।"

'बहुत कुत्तों का गुस्से में गुर्राना देखा है मैंने।"[1]

इस वार्तालाप के पश्चात् ही शोभना अपने मदांध प्रेमी का तलवार से शिरोच्छेद कर देती है।

उद्धरण कुछ लम्बा अवश्य हो गया है किन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी ने कथोपकथन पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करने उभारने और निखारने में पूर्ण समर्थ हैं। उपर्युक्त उदाहरण से एक तथ्य और भी द्रष्टव्य है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों एवं आन्तरिक भावों के अनुरूप एक ही पात्र की वाणी एवं उसके क्रिया कलाप में परिवर्तन लाया गया है। प्रथम संवाद में शोभना का हृदय पक्ष उभरा हुआ है—वह अपने प्रेमी को पुचकार कर, दुलारकर, रिझाकर, रूठकर, मनाकर अपना बनाना चाहती है। किन्तु दूसरे संवाद में उसका मस्तिष्क पक्ष उभरा हुआ है। इस सबके फलस्वरूप भी देवा के नकारात्मक उत्तर को सुनकर उसका रणचंडी रूप उभर आता है। प्रथम संवाद में उसकी आन्तरिक वेदना व्यंजित है तो दूसरे में उसका मानसिक क्षोभ एवं

---

१ सोमनाथ, पृ ४१६ ४१७।

उदात्तता। इस प्रकार प्रस्तुत कथोपकथन शोभना के चरित्र के दोनों ही पक्षों को उभारने में पूर्ण सफल रहा है। साथ ही शोभना को विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के संवादों एवं क्रियाकलापों को करते हुए भी अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखती है और साथ ही अपनी आन्तरिक और मानसिक दशा के प्रत्येक उतार-चढ़ाव का पूर्ण परिचय देती जाती है। चरित्र प्रकाशक कथोपकथन की यही सबसे बड़ी सफलता है।

आर्यमातंगी-सोमप्रभ संवाद[1] मणिकी कलिंग सेना संवाद[2] राजकुमारी चन्द्रप्रभा-सोमप्रभ संवाद[3] (नगरवधू) भीमदेव-महमूद एवं गंग सर्वज्ञ संवाद[4] अली बिन उस्मान-महमूद संवाद[5] घोघाबापा मणिभद्र संवाद[6] घोघाबापा मद्दी संवाद[7] दामो महता मस्तोकदेव संवाद[8] धर्मगजदेव-अभयपाल संवाद[9] महमूद उपसेनापति संवाद[10] कृष्णा स्वामी-रमा संवाद[11] महमूद-दामो महता संवाद[12] दामो महता-फतह मुहम्मद संवाद[13], फतह मुहम्मद-शोभना संवाद[14] महमूद शोभना संवाद[15] (सोमनाथ) ठाकुर-महाराजा संवाद[16] चम्पा-कुंवरी

---

१ वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन, पृ १०४ १०८ तक।
२ वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन, पृ २८८-२९४ तक।
३ वैशाली की नगरवधू—आचार्य चतुरसेन, पृ ४६८ ४७१ तक।
४ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ ९ से ११ तक।
५ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ ७२ से ७५ तक।
६ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ १०९ से ११२ तक।
७ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ ११८ से १२० तक।
८ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ १२५ से १२७ तक।
९ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ १७९ से १८२ तक।
१० सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ २०५ से २०८ तक।
११ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ २८४ से २८६ तक।
१२ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ ३०४ से ३०६ तक।
१३ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ ३१६ से ३१९ तक।
१४ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन पृ ४३२ से ४३५ तक।
१५ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन, पृ ४४५ से ४४८ तक।
१६ मोती-आचार्य चतुरसेन, पृ १०१ से १०२ तक।

संवाद[1] चम्पा वासुदेव महाराज संवाद[2] रानी चन्द्रमहल-चम्पा संवाद[3] (गोली) देवबाला संपरण संवाद[4] मायावती रावण संवाद[5] धम्मर-रावण संवाद[6] शूर्पनखा-रावण संवाद[7] (वयं रक्षाम:) आदि संवाद इसी प्रकार के चरित्र प्रकाशक संवाद हैं। वास्तव में इसी प्रकार के कथोपकथनों के माध्यम से आचार्य चतुरसेन जी ने पात्रों के चरित्र को उभारा है।

कथोपकथन के माध्यम से अपने उद्देश्य को स्पष्ट करना —

कई स्थलों पर कथाकार कथोपकथन द्वारा अपने उद्देश्य को भी स्पष्ट एवं प्रकट करता है। अपने विचार वह स्वतन्त्ररूप से कथा में ठूंस नहीं सकता अतः उसे पात्रों के कथोपकथन का ही संबल ग्रहण करना पड़ता है। किसी भी पात्र पर अपने व्यक्तित्व को आरोपित करके उसके माध्यम से वह अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उपन्यास में कथोपकथन द्वारा अपने विचारों सिद्धान्तों कल्पनाओं ज्ञान भण्डार आदि के प्रदर्शन करने को अधिकार का दुरुपयोग बतलाया है, किन्तु यदि एक सीमा तक कथा और चरित्र के साथ अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए इस अधिकार का उपयोग किया जाय तो मैं समझता हूं कि यह अधिकार का दुरुपयोग नहीं है। आचार्य चतुरसेन जी ने तो अपने उपन्यासों में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए कथोपकथन का खुलकर प्रयोग किया है। कहीं-कहीं पर तो उन्होंने कथोपकथनों को अपने विचारों के प्रचार का साधन ही बना लिया है। उनकी यह प्रवृत्ति "बहते आंसू"[8] अमर अभिलाषा' 'अदल बदल'[9] 'अमरपथू' 'उदयास्त'[11] 'वयंरक्षाम'[12]

---

१ गोली-आचार्य चतुरसेन पृ १०६ से १११ तक।
२ गोली-आचार्य चतुरसेन पृ २३९ से २४१ तक।
३ गोली-आचार्य चतुरसेन पृ ११८ से १२१ एवं १३९ से १४५ तक।
४ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ ६ से ८ तक।
५ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ १०९ से १५२।
६ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ १८७ से १८९ तक।
७ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन—पृ २०३ से २८३ तक।
८ बहते आंसू पृ ४९ से ५६ तक।
९ अदल-बदल पृ १५ से १७ तक ४५ से ५८ तक आदि।
१० अमरपथू पृ ११ ५० ५१ १५८ १६१ १६५, ४८१।
११ उदयास्त पृ ६९—७० तक ९१ से ९३ तक ७८ से ८२ तक ८८ से ९९ तक १०० से १०४ तक आदि।
१ वयं रक्षाम: पृ ११६ से ११८ तक आदि।

'बगुला के पंख'[1] 'खग्रास'[2] एवं 'पत्थर युग के दो बुत'[3] 'सोना और खून'[4] आदि उपन्यासों में विशेष रूप से उभर ी हुई है इसका कारण उनकी अपनी स्वयं की यह धारणा भी कि "मैं उपन्यासों को कथानक पर आधारित नहीं रखता विचारों पर आधारित करता हू।"[5] कथानक के अन्य उद्देश्यों की दृष्टि से आचार्य चतुरसेन जी के ऐसे कथोपकथन अधिकांशतः लम्बे एवं विचार प्रधान होने के कारण दुरुह हो गये हैं किन्तु जहाँ पर उन्होंने विद्वता प्रदर्शन के मोह में अधिक न पड़कर स्वाभाविक कथोपकथनों के ब्याज से अपने उद्देश्य को स्पष्ट करना चाहा है वहां वे अधिक सफल रहे हैं। इस दृष्टि से 'अपराजिता" "सोमनाथ' 'गोली" आदि उपन्यासों के कथोपकथन अधिक स्वाभाविक हैं। सोमनाथ' का एक उदाहरण देखिए —

महमूद सोमनाथ महात्म्य को नष्ट कर चुका है देवमूर्ति के साथ मूर्ति पूजक कितने ही निरीह प्राणियों को वह मृत्यु के घाट उतार चुका है। इसी समय महात्म्य के अधिकारी कृष्णस्वामी की पत्नी रमाबाई से उसका सामना होता है। रमाबाई उसके अमानवता पूर्ण कार्यों पर उसे फटकारती है।

'महमूद बड़ी देर तक उस औरत की ओर ताकता रहा एक हल्की मुस्कान और करुणा की झलक उसके नेत्रों में आई। उसने अत्यन्त गम्भीर स्वर में कहा औरत तलवार के विजेता महमूद के सामने तूने जो सच कहा वह बादशाहों के लिए इज्जत की चीज है। दुनिया में दो चीजें लोगों को जिन्दगी बख्शती हैं। एक सूरज की किरणें और दूसरा माँ का दूध। तूने जिन्दगी से प्यार करने की ओर मेरा ध्यान दिलाया है। ठीक कहा तूने औरत। और तू माँ है माँ के बिना महमूद पैदा ही न हो सकता था। फिरदौसी अलबरूनी, अरस्तू सिकन्दर ये सब माँ के बच्चे हैं। ऐ माँ आगे बढ़ और इस बच्चे के सिर पर हाथ रख कर इसे दुआ बख्श जिसने तीस वर्ष तक धरती को अपने पैरों से कुचलकर उसे लोहू से लाल किया है।"

– दो कदम आगे बढ़कर महमूद सिर झुका कर एक बालक की भांति रमा बाई के आगे आ खड़ा हुआ।"

१ बगुला के पंख प २२८–२०५।

२ खग्रास पृ ८९ से ९२ तक, २७१–२७७ तक, २८३ से २९० २९२–२९८।

३ पत्थर युग के दो बुत ९४–९६, १०० से १०२ आदि।

४ सोना और खून पूर्वार्द्ध १०२ से १०३ तक

५ आजकल जनवरी १९२९ पृ ४९।

रमाबाई का सब भाव एकबारगी ही जाता रहा। उसने हाथ की लकड़ी फेंक आगे बढ़कर महमूद के मस्तक पर हाथ रखकर और आँखों में आंसू भर कर कहा—"कैसे तू बिना आदमी को मार सकता है उनका घर बार लूट सकता है अरे महमूद उनकी भी तेरी सी जान है उन्हें कितना दुख होता होगा बोल तो।" रमाबाई की आँखों से झर-झर आँसू बह चले।

महमूद ने सिर ऊँचा किया। उसने कहा 'बहुत लोग मुझसे अपने राज्य और दौलत के लिए लड़े। लेकिन इंसान के लिए आज तक मुझसे कोई नहीं लड़ा। मैं खुदा का बन्दा महमूद नहीं कहूंगा जो मुझे कहना चाहिए। यह औरत जो मेरे सामने खड़ी है, उसने मुझे एक नई बात बताई है, जिसे मैं नहीं जानता था। इसके हाथ में तलवार नहीं है तलवार का डर भी इसे नहीं है। यह रोती और गिड़गिड़ाती नहीं। बादशाहों के बादशाह महमूद को फटकारती है इंसान के प्यार ने इसे इस कदर मजबूत बनाया है। "[1]

महमूद रमाबाई से कुछ माँगने को कहता है, रमा उससे भविष्य में विनाश न करने का वरदान माँगती है। महमूद उसकी बात स्वीकार करके उसी क्षण देव पट्टन से सेना को वापस लौटने का आदेश दे देता है।

प्रस्तुत उदाहरण में उपन्यासकार ने अपरोक्षरूप से अपने अहिंसा के संदेश एवं मानव पूजा की भावना को रमाबाई के मुख से महमूद के समक्ष कहला दिया है। किंतु यह कथोपकथन लम्बा होने पर भी कहीं से भी अस्वाभाविक नहीं होने पाया है। इसका कारण है कि इसमें उपन्यासकार ने कथोपकथन के तीनों उद्देश्यों को—कथानक को गति प्रदान करना चरित्र को उभारना एवं उद्देश्य को स्पष्ट करना—एक साथ प्रस्तुत किया है। रमा की स्नेह सिक्त फटकार में अहिंसावाद का संदेश है तो महमूद के पट्टन प्रस्थान करने एवं भविष्य में विनाश न करने की प्रतिज्ञा से कथानक को गति मिलती है। रमाबाई की निर्भीकता साहस अक्खड़पन प्रगल्भता एवं सबसे ऊपर पतिभक्ति आदि उसके चारित्रिक गुण उपर्युक्त कथोपकथन से स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं। मेरे विचार से कथाकार के उद्देश्य को स्पष्ट करने वाले ऐसे ही कथोपकथन उपन्यास में प्रयुक्त होने चाहिए।

कथोपकथन के व्याज से पूर्व संकेत —

कभी-कभी कथाकार कथोपकथन के माध्यम से पूर्व संकेतों की भी योजना करता है जिससे कथानक की कलात्मक महत्ता बढ़ जाती है। आचार्य चतुरसेन

१ सोमनाथ–पृ. १७६–८० ।

पी के उपन्यासों में इस प्रकार का कथोपकथन भी प्राप्त है। 'वैशाली की नगर वधू' का एक उदाहरण देखिए —

भगवान वादरायण व्यास के आश्रम पर अकस्मात् मगध सम्राट् और अम्बपाली की भेंट हो जाती है। वहीं दोनों में परस्पर 'सौदा' हो जाता है। इस सौदे पर भविष्यवाणी करते हुए भगवान् कहते हैं।

भगवान् ने हँसकर कहा 'अब कहो शुभे अम्बपाली मैं तुम्हारा क्या प्रिय कर सकता हूँ ?

अम्बपाली मौन रही। संकेत पाकर माधव चले गए। उनके जाने पर अम्बपाली ने कहा 'भगवन् इस समय क्या किसी गुरुतर कार्य में संलग्न है ?

'नहीं नहीं मैं तुम्हारी ही गणना कर रहा था।

'इस भाग्यहीन के भाग्य में अब और क्या है ?

'बहुत कुछ कल्याणी। तुम्हारा सौदा सफल है तुम मगध के सम्राट की माता होगी। किन्तु — ।

अम्बपाली ने विस्मित होकर कहा—

'भगवान् सर्वदर्शी है पर 'किन्तु' क्या ?

'किन्तु साम्राज्ञी नहीं।

अम्बपाली के होंठ कांपे पर वह बोली नहीं। भगवान् ने फिर कहा 'और एक बात है शुभे।

'वह क्या भगवन् ?

'तुम वैशाली जनपद की जन हो वैशाली का अनिष्ट न करना।[१]

यहाँ पर आचार्य चतुरसेन जी ने प्रस्तुत कथोपकथन के माध्यम से भविष्य में घटित होनेवाली जिन घटनाओं की ओर संकेत किया है, वस्तुतः उपन्यास के अंत में वही घटनाएँ घटित होती हुई दीख पड़ती हैं।

वातावरण सृष्टि—

कथोपकथन का एक उद्देश्य वातावरण सृष्टि एवं देश काल का बोध कराना भी है। किसी भी संस्कृति अथवा समाज को प्रत्यक्ष करने के लिए कथाकार के समीप कथोपकथन एक सुन्दर माध्यम है। वो पात्रों के कथोपकथन द्वारा वह तत्कालीन समाज अथवा संस्कृति को साकार कर सकता है।

---

१ वैशाली की नगर वधू, पृ २६१।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण निर्माण के लिए इसी प्रकार के कथोपकथनों की सृष्टि की है। इससे एक ओर जहाँ कथोपकथनों में स्वाभाविकता आ गई है वहीं दूसरी ओर वर्णित युग भी साकार हो उठा है। यहाँ हम बौद्ध काल से सम्बन्धित आचार्य जी के उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

कोशल नरेश महासेन का विवाह कलिंग सेना से होने जा रहा है। इस उपलक्ष्य में उन्हें कितनी ही दासियाँ भेंट की जाने वाली हैं। उन दासियों में चम्पा की राजनन्दनी चन्द्रप्रभा भी एक है। यह समाचार प्रसेनजित के पुत्र विदूडभ को महावीर स्वामी के द्वारा ज्ञात होता है। महावीर स्वामी की आज्ञा से ही वह राजकुमारी की रक्षा करना चाहता है। इसी उद्देश्य से वह अपनी नवीन होने वाली माता कलिंगसेना के समीप अपनी माता के साथ प्रार्थना लेकर जाता है। देखिए—

विदूडभ ने अभिवादन किया। कलिंगसेना ने हँसकर दोनों से कहा 'स्वागत बहिन स्वागत तात इस अनवकाश में अवकाश कैसे मिला ?

'निमित्त से अम्मे' विदूडभ ने बात न बढ़ाकर कहा।

'तो निमित्त कहो तात ? गांधारी रानी ने आशंकित होकर कहा।

'एक दुष्कर्म रोकना होगा अम्मे।

'दुष्कर्म ?

हाँ अम्मे।

'कह तात ?

'राजमहिषी ने विवाहोपलक्ष में महाराज को भेंट देने के लिए एक दासी मोल ली है।

गांधारी कलिंगसेना ने मुस्कुराकर कहा 'तो पुत्र इसमें नवीन क्या है असाधारण क्या है, दुष्कर्म क्या है।

'अम्मे वह दासी चम्पा की राजनन्दिनी—कुमारी चन्द्रप्रभा शील चन्दना है।

'अम्मु में अम्मु मैं। यह तो अति भयानक बात है पुत्र।

'इसका निराकरण करना होगा अम्मे।

'तुमसे किसने कहा ?

'श्रमण भगवान् महावीर ने।

'कुमारी कहाँ है भद्र ?

'दक्षिण हर्म्य के मध्यप्रकोष्ठ में।

'तब चलो हञ्जे, राजकुमारी को आश्वासन दें।

'किन्तु करणीय क्या है बहिन ?

कुमारी से कोशल के राजकुमार को क्षमा माँगनी होगी।

'परन्तु उसकी रक्षा ?

'क्या महिषी देवी मल्लिका सब जान-सुनकर भी राजनन्दिनी को दासी भाव से मुक्त न करेंगी ?

'हो सकता है, पर पिता जी से आशा नहीं है। इसलिए अभी उन्हें तुरंत श्रावस्ती से बाहर गोपनीय रीति से भेजना होगा। पीछे और बातों पर विचार होगा।

'तो भाव तू व्यवस्था कर। तब तक हम राजनन्दिनी को आश्वासन देंगी।'[1]

प्रस्तुत उदाहरण में पाली एवं प्राकृत के कुछ शब्दों का प्रयोग केवल वातावरण निर्माण के लिए ही किया गया। 'अम्मे' 'भात' 'भन्ते' 'शुभे' 'हञ्जे' आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। इनके प्रयोग मात्र से तत्कालीन वातावरण पूर्णरूप से उभर आया है। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों में वातावरण-निर्माण के लिए इसी प्रकार के कितने ही संवादों की सृष्टि की है।

आचार्य चतुरसेन जी के कथोपकथनों की प्रमुख विशेषताएँ —

ऊपर हमने दिखलाया कि उपन्यास के कथोपकथन की रचना आचार्य चतुरसेन जी ने किन उद्देश्यों को लेकर की है। केवल कथोपकथन का उद्देश्यपूर्ण होना ही आवश्यक नहीं है वरन् कथोपकथन की सफलता के लिए कुछ अन्य गुणों का होना भी आवश्यक है। उद्देश्यपूर्ण कथोपकथन की सफलता भी उसकी सार्थकता अनुकूलता सरसता रोचकता सम्बद्धता स्वाभाविकता वैदग्ध्यपूर्णता एवं संक्षिप्तता आदि गुणों के कारण ही सम्भव है। इन गुणों के अभाव में एक उद्देश्यपूर्ण कथोपकथन भी शिथिल अस्वाभाविक एवं नीरस हो जाता है। आचार्य चतुरसेन जी के कथोपकथन उद्देश्यपूर्ण होने के साथ-साथ उपर्युक्त गुणों से भी पूर्ण हैं। यहाँ हम आचार्य जी के कथोपकथनों में प्राप्त उपर्युक्त गुणों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सार्थकता एवं अनुकूलता —

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों के अधिकांश कथोपकथन सार्थक एवं

---

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ ११८-११९।

कथानक के अनुकूल है। यदि कथानक में निरर्थक कथोपकथन को स्थान दिया गया तो यह निश्चित है कि अन्य समस्त गुणों से युक्त होने हुए भी वह कथोपकथन कथानक को मारात्मक कर देगा। कथोपकथन वही सार्थक होगा जो घटना अवसर एवं वातावरण के उपयुक्त होगा। आचार्य चतुरसेनजी ने अपने कथोपकथनों में इस बात का सदैव ध्यान रखा है। उनके कथोपकथन सार्थक होने के साथ साथ विषयानुकूल भी होते हैं। जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं कि उनके कथोपकथनों में कथानक को गति प्रदान करने के साथ-साथ चारित्रिक-विश्लेषण का गुण भी समाविष्ट रहता है।

शृंखलता—

आचार्य चतुरसेन जी के अधिकांश कथोपकथन आदि से अन्त तक कथानक में ही अनुस्यूत रहे हैं। उन्होंने ऐसे ही कथोपकथनों का उपयोग किया है जो कथा में जिज्ञासा एवं कौतूहल उत्पन्न करने मे समर्थ हो सके हैं। उन्होने इस बात का ध्यान रखा है कि कथोपकथन का तारतम्य ऐसा हो जैसे नदी मे लहरों की गति और उस पर वायु का सहज संगीत जिसके सहारे पाठक के हृदय में उत्तरोत्तर कथा पढ़ने की आकांक्षा और जिज्ञासा दोनों बनी रहें।[1] यदि किसी कारण से कथोपकथनों की शृंखला टूट जाती है तो निश्चित रूप से कथन भी विशृंखल हो जावेगा। अतः यह आवश्यक है कि कथोपकथन कथानक अथवा पात्रों से किसी न किसी प्रकार से प्रत्यक्ष रूप से सम्बंधित हो। स्वतंत्ररूप से विकसित हुए कथोपकथन कितने भी सुन्दर एवं कलात्मक क्यों न हों किन्तु कथा पर वह भारवत् ही रहेंगे। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने अधिकांश कथोपकथनों मे इस बात का ध्यान अवश्य रखा है किन्तु कभी-कभी उन्होंने कथोपकथनो के ब्याज से अपने सिद्धांतों निष्कर्षों एवं आचार्यत्व का प्रदर्शन भी किया है। इस प्रकार के मोह ने उनके कथानक की कलात्मक सुषमा को तो गहरा आघात पहुँचाया ही है साथ ही ऐसे कथोपकथनों ने कथानक की शृंखलता को भी भंग किया है। पीछे "कथोपकथन के उद्देश्य" में हम इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। 'वैशाली की नगरवधू' एवं 'वयं रक्षाम' में उनका आचार्यत्व 'उदयास्त' 'अदल बदल' एवं 'आभास' में उनके सामाजिक एवं राजनीतिक सिद्धांत कथोपकथन के ब्याज से कथानक पर बलात् लादे गये हैं जिससे कथानक की शृंखला स्थान-स्थान पर टूटी हुई स्पष्ट ज्ञात होती है। कुछ स्थलों पर भाषण के समान के लम्बे कथोपकथन भी आचार्य चतुरसेन जी

---

१ हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास डा० लाल, पृ ३११।

के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं। 'वैशाली की नगरवधू' के अम्बपाली-हर्षदेव संवाद[1] विदूडभ-प्रसेनजित संवाद[2] विदूडभ-जीवक संवाद[3] आदि। 'उदयास्त' के मानस्वामी एवं गुरुदत्त आदि के संवाद[4] 'खग्रास' के ओरोरोमस्की-लिजा एवं गुरु पुरुष प्रतिमा एवं तिवारी[5] आदि के संवाद इसी प्रकार के अन्य संवाद हैं। 'अदल बदल' में डाक्टर, सेठ एवं विमला के संवाद मास्टर-विमला संवाद आदि[6] के माध्यम से उपन्यासकार ने अनेक नारी-स्वतंत्रता सम्बंधी सिद्धांतों का 'आभा' में आभा-अनिल संवाद द्वारा नारी मनोविज्ञान का उसमें उद्घाटन करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार के कथोपकथनों के कितने ही उदाहरण आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में भरे पड़े हैं। ऐसे लम्बे एवं प्रचारात्मक कथोपकथनों से जहाँ एक ओर कथा अवरुद्ध एवं कथानक विशृंखल हुआ है वहीं दूसरी ओर ऐसे कथोपकथन भी अस्वाभाविक एवं नीरस हो गए हैं। 'उदयास्त' एवं 'खग्रास' में कुछ संवाद तो संवाद न रहकर 'इन्टरव्यू' से ज्ञात होने लगे हैं। 'बहते आँसू' (अमर अभिलाषा) के रामचन्द्र जयनारायण संवाद में आर्य समाज के सिद्धांतों के प्रचार की गंध स्पष्ट ज्ञात होने लगी है। किन्तु यहाँ इन सब बातों से दूर रहते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने कथोपकथनों का प्रयोग किया है वह वे उपन्यास की गति में बाधक न होकर साधक ही रहे हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के संवादों में नाटकीयता—

आचार्य चतुरसेन जी के कथोपकथन प्रायः रोचक प्रवाहपूर्ण होने के साथ साथ नाटकीय[7] तत्व से पूर्ण होते हैं। यदि कथोपकथन के द्वारा पात्र की आंगिक

---

१ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन पृ ४२ ४३।

२ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ १२२ २१।

३ वैशाली की नगरवधू, पृ १६२-६५।

४ उदयास्त पृ ५३ से ५७ तक, ६१ से ६३ तक ८९ से ९१ तक।

५ खग्रास पृ ८५ से ९५, २८३ से २९०, २९२ से २९८।

६ अदल-बदल पृ १५ से २७ ४८ से ५८ तक आदि।

७ उपन्यास के कथोपकथनों की नाटकीयता नाटक से भिन्न होगी कारण 'नाटक' में कथोपकथन के साथ उसके अभिनयात्मक तत्व उसमें छिपे रहते हैं जो अभिनेता की भाव भंगिमा और उसके व्यापारों में अपनी अभिव्यक्ति पाते रहते हैं किन्तु उपन्यास एवं कहानी तो विशुद्ध रूप से पठन-पाठन की वस्तु

चेष्टाओं एवं मुद्राओं की भी सफल अभिव्यक्ति करने में कथाकार समर्थ रहा है तो निश्चित ही वह कथोपकथन नाटकीय कहा जा सकता है। इस नाटकीयता की अभिव्यक्ति के लिए कथाकार ने अपने उपन्यासों में कितनी ही शैलियों एवं विधाओं का अवलम्बन किया है।

आचार्य चतुरसेन जी के संवादों को पढ़ने मात्र से ही अमूर्त घटना मूर्तिमान होकर हमारे मानस नेत्रों के समक्ष घटित होती हुई स्पष्ट ज्ञात होने लगती है। यही उनके नाटकीय संवादों की सबसे बड़ी सफलता है। इस दृष्टि से रमाबाई की अपने पति कृष्णस्वामी से हुई वार्ता (सोमनाथ में) उल्लेखनीय है। महासेनापति की आज्ञा से कृष्णस्वामी अपनी पत्नी रमाबाई से महालय छोड़कर अन्यत्र जाने को कहते हैं। 'महालय में सैनिक व्यवस्था के कारण स्त्रियों को अन्यत्र में रहने एवं रक्षा की व्यवस्था की जा चुकी है इस तथ्य को कृष्णस्वामी अपनी पत्नी को बार-बार समझाना चाहते हैं किन्तु वह उनके इस कथन का दूसरा ही अर्थ लेती है। वह अपने जीते जी पति चरणों को नहीं त्यागना चाहती। अपनी इसी बात को वह अपनी विभिन्न भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन करके पति को बतला रही है। देखिए—वह गुस्से से मुंह फुलाकर अपनी गोल-गोल आँखें घुमाती हुई बेलन लेकर कृष्ण स्वामी के सामने तनकर खड़ी हो गई और सर्पिणी की भांति फुफकार मारकर बोली—"देखती हूँ तुम मुझ जीती जागती को कैसे घर से निकालते हो—चार फेरे डाल अग्नि की साक्षी करके लाये हो—नापकर बाप के घर से नहीं निकली हूँ। अब इस घर की देहली से बाहर मेरी लाश ही निकलेगी—समझे।" किन्तु कृष्ण स्वामी ने नर्म होकर समझाते हुए कहा—'यह बात नहीं है सोमना की माँ यह गजनी का राक्षस आ रहा है। उसी के भय से सब लोग घर बार छोड़कर भाग रहे हैं। तुम्हें घर से निकालता कौन है। घर बार तो सब तुम्हारा ही है। तुम्हीं न घर की मालकिन हो। 'इस पर जिद करके रमा ने कहा"—तो जिसे डर हो वह भागे। आए वह गजनी का राक्षस इसी बेलन से उसका सिर न फोड़ूं तो मेरा नाम रमा नहीं। वह गेंद की तरह भुनकती हुई सारे घर में घूम गई। अब फफक-फफककर रोने लगी। रोते-रोते बड़बड़ाने लगी—तुमने जन्म भर बालाया है, और अब डर के मारे औरत को घर से बाहर भेज रहे हो बड़े बाँके बहादुर

हैं। इसके कथोपकथन में अतएव पात्रों की मुद्राओं स्थितियों की व्यंजना और इसके साथ ही साथ कार्य-व्यापारों की विवेचना करते रहना आधुनिक कथा साहित्य की परम विशेषता है।

हो। नामर्द औरत की रक्षा नहीं कर सकते थे तो उसका हाथ चार पर्वों में क्यों पकड़ा था। फिर डर है तो तुम भी चलो तुम यहाँ कहाँ से चोर-उचक्के बचाओगे। देखी है तुम्हारी जवांमर्दी बस अधिक न कहलाओ।"

कृष्णस्वामी ने फिर साहस किया। समझाते हुए बोले 'शोभना की माँ महाराज महासेनापति की आज्ञा है। वह तो माननी ही पड़ेगी।

रमा ने खीझकर कहा 'क्यों माननी पड़ेगी मैंने महासेनापति से ब्याह नहीं किया न उनकी दासी हूँ। महासेनापति मेरे सामने तो आएँ। कौन से शास्त्र वचन से वह पत्नी को पति चरणों से दूर करते हैं पत्नी को घर से निकालते हैं सुनूँ तो। बड़े आये सिपहसालार।"

कृष्ण स्वामी ने खीझकर कहा 'तो तुम नहीं जाओगी।

'नहीं नहीं जाऊँगी नहीं जाऊँगी नहीं जाऊँगी जहाँ तुम वहाँ मैं। वह रोती रोती कृष्णस्वामी के पैरों से लिपट गई। रोती-रोती बोली—'इस बुढ़ापे में अधर्म में मत धकेलो इन चरणों से दूर न करो दया करो दया करो।[1]

उक्त संवाद की सबसे प्रमुख विशेषता है इसकी चित्रोपमता एवं नाटकीयता। 'रमाबाई का बेलन लेकर ओठ-ओठ आँखें घुमाना' उसका रुद्र रूप देखते ही पति का सकपका जाना पति के पुनः कहने पर उसका अपशब्दों से स्वागत करना उनकी जवांमर्दी को ललकारना और अन्त में पति चरणों को पकड़कर बिलख-बिलख कर रो उठना आदि चित्र उसके अन्तर के अनेक मनोभावों को एक साथ उभारने में पूर्ण सफल हुए हैं। आचार्य चतुरसेन जी के इस प्रकार के कथोपकथनों में अभिनय की स्पष्टता तथा चरित्र के साथ ही साथ स्वाभाविकता एवं सजीवता भी प्रत्यक्ष आ विराजी है।

इसी प्रकार का 'वैशाली की नगरवधू' का भी एक उदाहरण देखिए—सोमप्रभ कुण्डनी के साथ चम्पा के लिए प्रस्थान करता है। किन्तु मार्ग में शम्बर असुर की नगरी में फँस जाता है। कुंडनी अपने कौशल से असुर के पाश से मुक्त होना चाहती है। सोम को आसुरी भाषा का कुछ ज्ञान है। वह असुर की बात कुण्डनी तक और कुण्डनी की बात असुर तक पहुँचा रहा है। देखिये—

"अवसर पाकर उसने सोम से कहा—क्या कह रहा है यह असुर? प्रणय निवेदन कर रहा है कुण्डनी तुझे असुर राजमहिषी बनाया चाहता है।"

1 सोमनाथ आचार्य चतुरसेन, पृ० २९९-३००।

कुन्दनी ने हँसकर कहा 'कुछ-कुछ समझ रही हूँ सोम। यह असुरराज मेरे सुपुर्द रहा। उन सब असुरों को तुम आकण्ठ पिला दो। एक भी सावधान रहने न पावे। भांडों में एक भी बूंद मद्य न रहे।

'उन असुरों से निश्चिन्त रह कुन्दनी वे तेरे हास्य ही से अधमरे हो गए हैं।"

"मरें वे सब।" कुन्दनी ने हँसकर कहा।

शम्बर ने कुन्दनी की कमर में हाथ डालकर कहा—'मानुषी मेरे और निकट आ।"

कुन्दनी ने कहा—"अभागे असुर, तू मृत्यु को आलिंगन करने जा रहा है।

शम्बर ने सोम से कहा—"यह क्या कहती है रे मानुष।

सोम ने कहा 'यह कहती है, आज आनन्दोत्सव में सब योद्धाओं को महाशक्तिशाली शम्बर के नाम पर छक कर मद्य पीने की आज्ञा होनी चाहिए।

'पिएं वे सब। शम्बर ने हँसते-हँसते कहा। और कुन्दनी ने एक चषक शम्बर के मुंह से लगा दिया। उसे पीने पर शम्बर के पाँव डगमगाने लगे।

कुछ असुरों ने आकर कहा—"भोज भोज अब भोज होगा। शम्बर ने मदासंमत होकर हिचकियां लेते हुए कहा—मेरी इस मानुषी-हिक-सुंदरी के सम्मान में सब कुछ खूब खाओ पियो हिक-अनुमति देता हूं-हिक खूब खाओ पियो। मुझे सहारा दे मानुषी हिक-और मागध मानव तू भी स्वच्छन्द-हो पी हिक। वह कुन्दनी पर झुक गया।[१]

प्रस्तुत कथोपकथन द्वारा उपन्यासकार ने कुन्दनी की सतर्कता सोम की चातुरी एवं शम्बर की कामुकता का चित्र एक साथ चित्रित कर दिया। मदिरा से मस्त असुर की वाणी चाल एवं क्रिया कलाप सभी में पूर्ण अभिनयात्मकता है।

इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी के अधिकांश संवादों में नाटकीयता के गुण प्राप्त होते हैं। जहाँ उन्होंने दो से अधिक व्यक्तियों के पारस्परिक संवाद दिए हैं, वहाँ भी उनके संवाद पूर्ण नाटकीय एवं स्वाभाविक हैं। इस दृष्टि से 'उदयास्त' की ए. बी. सी. डी पार्टी के संवाद उल्लेखनीय हैं।[२] इसमें वार्तालाप के द्वारा ही विभिन्न वक्ताओं की चारित्रिक विशेषताएँ दर्शायी गई हैं। प्रत्येक पात्र की सम्य उच्चारण पद्धति विचारों को प्रस्तुत करने की प्रणाली मुख

१ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन, पृ १९६ १९७।

२ उदयास्त, पृ १८०-१९०।

र आनेवाली विभिन्न भाव भंगिमाओं, नेत्रों की संचालन क्रिया आदि को ही पढ़कर पाठक वक्ता का एक काल्पनिक चित्र बनाने में सफल हो जाता है। रामकृष्ण सोमनाथ संवाद[1] (सोमनाथ) सुरेश-आनंद स्वामी संवाद[2] राज भैया कल्याण संवाद[3] (उदयास्त) ठाकुर राज संवाद[4] (अपराजिता) आदि संवाद इसी प्रकार के हैं। इनमें उपन्यासकार ने अपनी ओर से पात्रों की विभिन्न भाव भंगिमाओं और मुद्राओं का संकेत देकर संवादों को और भी नाटकीय बना दिया है।

नाटकीय संवादों के अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी ने अपने प्रारंभिक उपन्यासों में नाटक की भाँति के संवादों का भी प्रयोग किया है। नाटक की भाँति के संवादों से हमारा तात्पर्य उन संवादों से है जिनमें पात्र की भावभंगिमा एवं मुख मुद्रा को उसके कथन के पूर्व ही ब्रैकेट में रख दिया जाता है। जैसे 'खूब याद रक्खी भाई, यह स्वांग की बात तो। (हाथ पकड़कर) अब बचो'[5]

'मुझसे तो न रहा जायगा। (आँसू पोंछकर) जरा-सी लड़की मेरे सुहाग को कोसेगी'[6]

'जी हाँ महाराज ने कहा है कि—(कान में झुककर) महाराज तो आचार्य की कृपा पर निर्भर हैं।'[7]

आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रयोग उपन्यासकार की भावाभिव्यक्ति की शक्ति की असमर्थता प्रकट करते हैं। अतः त्याज्य हैं। आचार्य जी के प्रौढ़ उपन्यासों में ऐसे दोषपूर्ण प्रयोगों का सर्वथा अभाव है। हाँ 'वयं रक्षाम' में उन्होंने एक-दो स्थलों पर ऐसे प्रयोग पुनः किए हैं।

स्वाभाविकता, सरसता एवं रमणीयता—

आचार्य चतुरसेन जी के संवादों की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे स्वाभाविक सरस एवं रमणीय होते हैं। इससे तात्पर्य है कि उनके कथोपकथन बोलने

१ सोमनाथ, पृ ११४।
२ उदयास्त पृ ५१ से ५४।
३ उदयास्त पृ ८५-८६।
४ अपराजिता पृ ११२-११३।
५ बहते आँसू पृ ४४।
६ बहते आँसू पृ ४५।
७ वैशाली की नगरवधू पृ ४७।

भाषा पात्र के उपयुक्त एवं परिस्थिति विशेष में सहज तथा संगत प्रतीत होते हैं। कथोपकथन तभी स्वाभाविक हो सकता है जब वह रचना पर बलात् संजोया हुआ न हो। यदि उसमें कृत्रिमता आ गई तो यह निश्चय है कि वह रचना पर भारवत् हो जायेगा जिससे वह प्रभाव शून्य होने के साथ-साथ नीरस भी ज्ञात होने लगेगा। कथोपकथन स्वाभाविक तभी हो सकते हैं जब वे पात्रानुकूल एवं भावानुकूल हों। वे पात्रों के विविध भावों प्रवृत्तियों मनोवेगों की पूर्ण अभिव्यक्ति करने के साथ-साथ पात्रों की वैयक्तिकता की रक्षा में भी पूर्ण सफल हों।

इस दृष्टि से आचार्य चतुरसेन जी के संवाद पूर्ण स्वाभाविक हैं और पात्रानुकूल भी। अध्ययन की सुविधा के लिए हम आचार्य जी के स्वाभाविक संवादों को निम्न दो वर्गों में रख सकते हैं —

१ पात्रानुकूल संवाद
२ भावानुकूल संवाद

सरसता रमणीयता एवं रसात्मकता इन दोनों ही प्रकार के कथोपकथनों की प्राण है। स्वाभाविकता के अर्थ दैनिक जीवन के वार्तालापों को ज्यों का त्यों अंकित कर देना नहीं है। ऐसे वार्तालाप स्वाभाविक होते हुए भी नीरस एवं प्रभाव शून्य होंगे। अतः स्वाभाविकता के साथ-साथ संवाद का रसात्मक एवं रमणीय होना आवश्यक है।

पात्रानुकूल संवाद—

आचार्य चतुरसेन जी के पात्रानुकूल संवादों की सर्वप्रधान विशेषता है कि—वे पात्रों की वैयक्तिकता की रक्षा में पूर्ण सफल हुए हैं अर्थात् उनका प्रत्येक पात्र अपनी चारित्रगत विशेषताओं के कारण अन्य पात्रों से पृथक ज्ञात होता है। पात्र विशेष की भाषा शब्दों एवं वाक्यावली के चयन उसकी वाणी एवं कथोपकथन भंगिमा में भी उसके स्वयं के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट ज्ञात होती है। किस अवसर पर कौन से पात्र को किस प्रकार की भाषा और वाक्यावली का प्रयोग करना चाहिए, यह आचार्य चतुरसेन जी को पूर्णरूप से ज्ञात था। इसी कारण से विदेशी अथवा वर्ग-विशेष के (विशिष्ट भाषा भाषी) पात्रों के कथोपकथनों को खड़ी बोली में लिखते समय उपन्यासकार ने उसमें स्वाभाविकता का पुट देने के लिए उन पात्रों की वास्तविक भाषा के कुछ शब्दों प्रचलित वाक्यों एवं मुहावरों को भी आ रखा है। इससे उनके संवादों में स्वाभाविकता तो आ ही गई है साथ ही वातावरण में स्थानीय स्पर्श देने में भी कलाकार को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

आचार्य चतुरसेन जी के पात्रों का संसार विस्तृत है। विभिन्न प्रांतों देशों एवं संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र उनके उपन्यासों में आए हैं। एक सीमा तक उनके सभी पात्र अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने में पूर्ण सफल रहे हैं। उनके राजस्थान के पात्रों के मुख से राजस्थानी के शब्द निकले हैं तो ब्रजभाषा भाषी प्रदेश के पात्रों के मुख से ब्रजभाषा के शब्द। उसका मुसलमान पात्र अपने संवादों में अरबी-फारसी के शब्दों से पूर्ण भाषा का प्रयोग करता है तो अंग्रेज पात्र अंग्रेजी शब्दों से मिश्रित टूटी-फूटी हिंदी भाषा का। उनके पौराणिक तथा हिंदू एवं बौद्ध युग के ऐतिहासिक पात्र संस्कृत के तत्सम शब्दों से पूर्ण भाषा का प्रयोग अपने कथोपकथनों में करते हैं। 'वयं रक्षामः' में तो उनके कुछ अनार्य पात्र संस्कृत में भी परस्पर वार्तालाप करते हुए देखे जा सकते हैं। यहाँ हम उनके संवादों के कुछ उदाहरण देकर यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आचार्य चतुरसेन जी अपने पात्रानुकूल संवादों में कहाँ तक सफल हो सके हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने पात्रानुकूल कथोपकथनों में पात्रों के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक स्तर का सदैव ध्यान रखा है। तभी उनके अशिक्षित एवं अल्पशिक्षित पात्रों के संवादों में तद्भव एवं देशज शब्दों का बाहुल्य रहा है। 'बहते आँसू' (अमर अभिलाषा) नामक उपन्यास का एक लोक भाषा का संवाद देखिए। कट्टिवादी जयनारायण आर्य समाजी रामचन्द्र के अथक प्रयत्न के फलस्वरूप अपनी द्वितीय पुत्री नारायणी (विधवा) का द्वितीय विवाह करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। इस विवाह का आयोजन उन्होंने अत्यंत सरल ढंग से किया था। अशिक्षित ब्राह्मण-समाज उनके इस सद् प्रयास का विरोध करता है किंतु भोज एवं दक्षिणा मिलने पर वह उसे मान्य-पत्र देने को प्रस्तुत है। भोज की प्रतीक्षा में ही ब्राह्मण समाज एकत्र है किंतु जयनारायण के यहाँ से उनके समीप कोई निमंत्रण नहीं आया। सभी क्षुधा से व्याकुल हैं। उस समय का उनका वार्तालाप दृष्टव्य है।" उनमें कुछ पढ़-पत्तर थे। वे अटक-अटककर कुछ अक्षर उच्चार किया करते थे। संकल्प समूचा याद था और कहा वे कथा के सत्य नारायण की कथा भी कह लिया करते थे। सबने उन्हीं को घेरा। सब बोले "अब और कौन बोले पंडित जी हैं ही जो है करें सो होय। पंडित जी एकदम गम्भीरता की कीचड़ में लथपथ हो गये--मानों कोई घर का मर गया हो। इस तरह धीरे-धीरे बोले "शास्तर की जो है सो, आज्ञा ऐसी है इस पापी के घर भोजन नहीं करना चाहिए जो है सो।

सब चुपचाप सुनते रहे। पंडित जी फिर बोले 'इसमें हम जो हैं सो अपना स्वार्थ नहीं देखते मर्यादा की बात है।

कुछ देर पीछे एक महाराज बोले 'इनके दो चार आगे के निकल गए थे उनमें से हवा निकल जाती थी। आप कहने लगे—पर मुसकल ना ये है जो कोई उधर से बुलाने आया पंडजी हम जो हैं सो नहीं जायेंगे।

महाराज ने कहा 'हाँ इस बात पर सब सोच लो। ऐसा न हो सब चले जायं और हम रह जाय।

सबने कहा हम तो साहब, सबके साथ हैं। सब जायेंगे तो हम भी जायेंगे नहीं तो नहीं।

इतने में एक बोले 'क्यों गुरू। इसका पराछत कुछ नहीं ?पंडित जी बोले पराछत तो है। जो है सो सासतर में है क्या नहीं। गया स्नान—और सौ बाह्मन—भोजन और दछिना।

'चाँदी की दच्छना में तो क्या सन्देह है—विट्ठलव्यास जी क्या ऐसे-वैसे आदमी हैं। और गया स्नान में भी कुछ बाधा नहीं। रही सौ ब्राह्मणों की सो इतने तो हम हैं ही बाकी क्या नहीं मिल सकते।

मिल क्यों नहीं सकते पर वे लोग चाहें तभी तो हो सकता है। इस पर महाराज बोले तो एक काम न करें उधर खबर भेज दें कि तुम यह सब पराछत करो तो हम भेज सकते हैं।

मौंदू शर्मा फौरन् उठ खड़े हुए। बोले—'इसमें क्या देर लगती है? हम अभी कहे जाते हैं। देखते भी जायेंगे कि भोजन में क्या देर है?

पंडित जी कहने लगे 'नहीं नहीं ऐसा जो है सो नहीं वे हमें खूब बुलायें तो जाना चाहिए।

'जैसी पंचों की राय। कहकर देवता बैठ गये। [1]

कथाकार का उपर्युक्त कथोपकथन पात्रानुकूल एवं स्वाभाविक है। प्रत्येक पात्र के कथन को स्पष्ट करने के लिए उसकी शब्द उच्चारण-पद्धति वाक्यों के उतार-चढ़ाव में स्थान-स्थान पर पड़ने वाले स्वराघातों को उसने बड़ी कुशलता के साथ उभारा है। पात्र अर्ध-शिक्षित एवं अशिक्षित हैं अतः उनके द्वारा उच्चारित शब्द भी अपना वास्तविक रूप त्याग चुके हैं। सासतर (शास्त्र) स्वार्थ (स्वार्थ) पराछत (प्रायश्चित्त) दच्छना (दक्षिणा) ऐसा (ऐसा) आदि शब्द ऐसे

---

१ अछूते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ २४२ २६।

ही है। प्रस्तुत कथोपकथन का शब्द चयन एवं उभरते हुए विचार पात्रों के मानसिक धरातल को भी व्यक्त करने में पूर्ण सफल है।

इसी प्रकार लोक भाषा में संवाद का एक और उदाहरण देखिए। दो दखन अशिक्षित स्त्रियां अपनी नई बेगम के विषय में चर्चा कर रही हैं।

और नई बेगम जो कासिम अली शाह की मुरीद है?

'कौन कासिम अली शाह।

'कोई शाह साहब हैं पहुंचे हुए।

'शाह साहब हैं या कोई औलिए हैं।

'कासिम अली शाह का नहीं जानतीं सातों विलायत में उनकी धूम है। बड़े करामाती हैं।

'अल्ला रे अल्ला ये कौन औलिया लखनऊ में पैदा हुए, कहीं छुट्टन का लौंडा कासिम तो नहीं। जो मिर्ज़ा के यहाँ चार आना माहवार और खाने पर नौकर था।

हाँ हाँ वही है। अब तो गैबी ताकतें और जिन्नात उसके बस में हैं। चाहे तो फूंक से पहाड़ को उड़ा दे।

'मुंह झोंस दूं उस मुए चोट्टे का। जिसे उसकी असलियत नामालूम हो उसे कहो। मैं तो उसकी सात पुश्तों को जानती हूं।

लेकिन लखनऊ में उसके बहुत मौतकिद हैं। सबकी मुरादें वह पूरी करता है।

'झाड़-पत्थर करता है। कोई उनसे यह नहीं कहता कि यह मुआ उठाई गीर है।'[1]

एक धर्म भीरु युवती है तो दूसरी घाट-घाट का पानी पिए हुए धर्म के नाम पर होने वाले ढकोसलों से भिज्ञ प्रौढ़ा। 'कासिम अली शाह' का नाम सुनते ही वह श्रद्धालु हो उठती है। उसके मुख से अनायास ही निकल जाता है 'शाह साहब हैं या कोई औलिए'। 'सातों विलायत' शब्द युवती की सरलता भोलेपन एवं धर्मभीरुता को प्रकट करता है। 'करामाती' शब्द की प्रतिक्रिया प्रौढ़ा पर स्वाभाविक ही है। 'अल्ला रे अल्ला' 'लखनऊ' 'छुट्टन का लौंडा' 'मुंह झोंस दूं उस मुए चोट्टे का' 'मुआ उठाईगीर' आदि के प्रयोगों के कारण ही उपर्युक्त कथोपकथन पूर्णरूप से स्वाभाविक एवं पात्रानुकूल ज्ञात होता है। एक के

---

१ सोना और खून प्रथम भाग पूर्वार्द्ध, पृ २४० २४१।

कथनों में यदि कूपमंडूकता सरलता एवं अंध विश्वास के दर्शन होते हैं तो दूसरी के कथनों में मुहफटपन एवं ढीठता है।

मुसलमानों के संवादों को स्वाभाविक एवं पात्रानुकूल बनाने के लिए उसने उनके द्वारा ठेठ अरबी फारसी शब्दों का व्यवहार कराया है। हिंदू पात्रों को भी जब मुसलमान पात्रों से वार्तालाप करना होता है तो वे भी संस्कृत के लोकप्रिय शब्दों के स्थान पर बहुधा अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग ऐसे अवसरों पर करते हैं। शाहजादी रोशनआरा एवं मनसबदार आलमगीर का कथोपकथन प्रथम उदाहरण की पुष्टि के लिए हम ले सकते हैं। दोनों मुसलमान पात्र हैं अतः इनके संवाद को स्वाभाविक बनाने के लिये कथाकार ने अरबी फारसी के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। देखिए—

– "फिर भी एक मनसबदार से हिंदुस्तान के बादशाह की लड़की की शादी गैर मुमकिन है।

'तो फिर गुनाह से फायदा।

'क्या तमाम हिंदुस्तान के बादशाह की शाहजादी भी गुनाह कर सकती है।

'शाहजादी हिंदुस्तान के बादशाह के ऊपर एक दीनोदुनिया का बादशाह है।

'यह आप लोगों के लिए है क्या यह कभी मुमकिन है कि मुगल शाहजादी एक अदना मनसबदार की ताउम्र बीबी बनकर रहे।

'लेकिन शाहजादी   ।

'बस खामोश हम ऐसी बातें सुनने की आदी नहीं। बस हम अपनी खुशी से जिस कदर इनायत तुम पर करें उसमें ही में आसूदा रहो।

'मगर मेरी भी तो कुछ ख्वाहिशात हैं।

'दोनों हम फिलहाल इस अम्र पर गौर नहीं कर सकतीं। तुम्हारी इल्तजा से हमने आज यहाँ बारहदरी में मुकाम किया और तुमसे मुलाकात की। हम चाहती हैं कि आइन्दा अपने इरादों को काबू में रखो।' [१]

अरबी फारसी के तत्सम शब्दों को रखकर उपन्यासकार ने उपर्युक्त संवाद को पूर्णरूप से स्वाभाविक बना दिया है। इस प्रकार के संवादों को तो आचार्य जी

---

१ आलमगीर, पृ ८८-८९।

के साहित्य में भरमार है। 'सोमनाथ' में इस प्रकार के संवादों की संख्या ५० के ऊपर, 'आलमगीर' में ८० के लगभग 'सोना और खून' में सौ से ऊपर, 'बगुला के पंख' में बीस के लगभग एवं 'उदयास्त' 'रक्त की प्यास' 'बिना चिराग का शहर' आदि उपन्यासों में साठ के ऊपर हैं। इन संवादों में कुछ संवाद ऐसे भी हैं जो मुसलमान और हिंदू पात्रों के मध्य हुए हैं। ऐसे संवादों में मुसलमान पात्र तो अरबी फारसी शब्दों से मिश्रित भाषा का प्रयोग अपने कथनों में करते ही हैं साथ ही हिंदू पात्र भी अपनी स्वाभाविक भाषा को त्याग कर अरबी फारसी शब्दों से लदी हुई भाषा का प्रयोग उनसे वार्तालाप करते समय करते हैं।

इसी प्रकार अंग्रेज पात्रों के संवादों को भी पात्रानुकूल एवं स्वाभाविक बनाने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने अंग्रेजी भाषा के तद्भव शब्दों का उसमें प्रयोग कराया है। साथ ही जहाँ उनका अंग्रेज पात्र हिंदी के शब्दों का भी उच्चारण करता है, तो वह अपने ढंग से शब्दों को तोड़ मोड़कर। लोलुप कामी एवं शराबी अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर एवं चलते-पुर्जे का सिद्धहस्त धूर्त एवं चतुर तहसीलदार सोना और खून का पारस्परिक वार्तालाप देखिए। यदि डिप्टी कमिश्नर के वाक्यों में लड़खड़ाहट कुछ अक्खड़पन एवं शब्दों से अधिकार की गंध स्पष्ट मिल रही है तो दूसरी ओर तहसीलदार का एक-एक शब्द सधा हुआ उसकी धूर्तता एवं चालाकी की बातों से पूर्ण दयनीयता प्रदर्शित करने वाले संक्षिप्त किन्तु चुभते [redacted] वाक्य दृष्टव्य हैं देखिए—

'वेल टैसीलडार, आओ-आओ।

'हुजूर हाजिर करता हूँ।'

'फ़स एकडम फ़ैंस। ओरेट स्टाक मेर्र।

'हुजूर अर्ज करता हूँ।

'टुम क्या बोलना मांगटा? टसीलडार। अम टुम कू सिरमिस करना माँगटा।

'सरकार, माई-बाप एकदम फ़ैंस बहुत बढ़िया।

'आओ आओ टैसीलडार, अम टुम कू डिप्टी कलक्टर बनाएगा।

'हुजूर का बोलबाला। हुजूर माई-बाप।

'अच्छी, टैसीलडार, आओ आओ।

'हुजूर को जरा बलना होगा।'

'टू ऐच्छी टैसीलडार, अम नई जायगा।

'हुजूर गुर नहीं है एकदम फ्रैश म्यू मास सर।

'क्या ?'

'इस बाब में सर पुनकी—एकदम फ्रैश हजारों में एक। म्हाइट थर मंग। बहुत बढ़िया माल।

'लाओ लाओ—टेसीलदार—टुम हरामजादा अबी लाओ।

'सरकार सांवलसिंह के कब्जे में है।

'म्हाट सांवलसिंह ? बम उसकू शूट करेगा।'[1]

प्रस्तुत संवाद पात्रानुकूल संवाद का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व उसकी वाणी से ही स्पष्ट हो जाता है। शब्दों की उच्चारण पद्धति 'फ्रैश माल' के लिए डिप्टी कमिश्नर की व्याकुलता मदमस्त होने के कारण उसकी लड़खड़ाती हुई जिह्वा आदि उसके अन्तर्जगत् का प्रत्यक्ष चित्र खींचने के साथ-साथ उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना की अभिव्यक्ति के द्वारा उसके सजीव व्यक्तित्व को मूर्तिमान करने में पूर्ण सफल रही है। आचार्य जी के उपन्यासों से इस प्रकार के संवादों के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। किंतु इन संवादों में एक बात ध्यान देने योग्य है चतुरसेन जी ने इस प्रकार के वाक्य अंग्रेज पात्रों के मुख से तभी कहलवाये हैं जब वे किसी भारतीय पात्र से वार्तालाप करते हैं। दो अंग्रेजों के मध्य में हुए कथोपकथनों में किसी प्रकार की कृत्रिम भाषा का आचार्य जी ने प्रयोग नहीं किया है। ऐसे कथोपकथनों में अधिक से अधिक वातावरण-निर्माण के लिए उन्होंने अंग्रेजी के कुछ पारिभाषिक शब्दों एवं भावाभिव्यक्ति की रीति के कुछ स्पर्श देने के लिए डियर, डार्लिङ्ग आदि शब्दों का प्रयोग उन पात्रों के मुख से करा दिया है। 'सोना और खून' 'बगास' आदि उपन्यासों के अधिकांश अंग्रेज पात्रों के पारस्परिक संवाद इसी प्रकार के हैं। यह उचित भी है। अंग्रेज पात्रों के संवादों को अंग्रेजी में रूसी पात्रों के संवादों को रूसी भाषा में और इसी प्रकार अन्य विदेशी भाषा भाषी पात्रों के संवादों को उनकी भाषा में लिखना न सम्भव ही है और न व्यावहारिक ही। ऐसा करने पर उपन्यास उपन्यास न रहकर विभिन्न भाषाओं के उदाहरणों की प्रदर्शनी मात्र रह जायेगा। अतः पात्रानुकूल भाषा-परिवर्तन सदैव एक निश्चित सीमा के अन्दर ही ग्राह्य है। आचार्य चतुरसेन जी ने अपने अधिकांश उपन्यासों में इस बात का सदैव ध्यान रखा है। किंतु अपने कुछ उपन्यासों जैसे 'आलमगीर' 'वयं रक्षाम' में उन्होंने भाषा की

१ सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ० २१।

निश्चित सीमा का अतिक्रमण भी कर दिया है। 'आलमगीर' के संवाद तो अरबी फारसी के तत्सम शब्दों से पूर्ण हिंदी भाषा में ही हैं किंतु 'वयं रक्षामः' के लगभग सात संवाद पूर्णरूप से संस्कृत भाषा में ही दिए गए हैं। इस प्रकार के संवाद न कथानक को गति प्रदान करते हैं न तो चरित्र-चित्रण को ही उभारते हैं। और न ही स्वाभाविक एवं व्यावहारिक ही हैं। वास्तव में उपन्यास में इस प्रकार के संवादों की सृष्टि करना कथाकार के वास्तविक अधिकार का दुरुपयोग करना ही है। उदाहरण के लिए हम एक रावण संवाद (वयं रक्षामः) को ले सकते हैं

'प्रोवाच—'किमिदं भद्रे विमलेऽप्यात्मनि पश्यसि ?

'यदीदं भगवन् साध्वलंकृत सुवसन परिष्कृतस्य एवमेव।

'एष आत्मेत्येतदमृतम्।

एष आत्मेत्येतदमृतम्।

'एष आत्मेत्येतदमृतम्।

'आत्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेहमहयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोति।

'उभौलोकाववाप्नोति स्वामुञ्चेति।

'तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानं शरीरे वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वा मह्यमुंलोकं जेष्याम इति।

'असत्यमप्रतिष्ठमनीश्वरमिदं जगत्।

'ईश्वरोऽहम्।

'एतद्गुह्यं गुह्यतमम्।

'कामापचरावेति भगव। ~ ~~ ~।[1]

आचार्य चतुरसेन जी के 'वयं रक्षामः' उपन्यास में ही केवल इस प्रकार के संवाद प्राप्त हैं।

पात्रानुकूल संवादों को लिखते समय यद्यपि आचार्य चतुरसेनजी पूर्ण सतर्क रहे हैं तो भी कहीं-कहीं असावधानी के कारण कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। यवनी के महमूद (सोमनाथ) के मुख से उन्होंने आवश्यकता[2] स्वीकार[3] प्रत्येक[4]

१ वयं रक्षामः, पृ २२७।
२ सोमनाथ पृ २८१।
३ सोमनाथ पृ ४४६।
४ सोमनाथ पृ ४४९।

आदि हिंदी शब्दों को कहलाया है तो कट्टर धर्मसंघी दिलीप (धर्मपुत्र) के मुख से 'कुर्बानी'[1] दरख्वास्त[2] आदि अरबी फारसी के शब्दों को यद्यपि इतने विशाल साहित्य में ऐसी भूलें इनी-गिनी ही हैं किन्तु यदि किंचित मात्र उपन्यास कार और सतर्कता एवं सावधानी से कार्य लेता तो इनका सुधार असम्भव न था। यह सरलता के साथ शब्दों का प्रयोग संतुलित एवं कथन को स्वाभाविक बनाने के लिए क्रमशः 'जरूरत' 'मंजूर' 'हर' 'बलिदान' प्रार्थना' आदि शब्दों को रख सकता था।

इसी प्रकार उनके आत्मदाह' नामक उपन्यास में किसानों के वार्तालाप भी पात्रानुकूल नहीं हो पाए हैं[3]।

भावानुकूल संवाद—

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने संवादों को अधिक से अधिक स्वाभाविक एवं सरस बनाए रखने के लिए उन्हें पात्रानुकूल रखने के साथ-साथ भावानुकूल भी रखा है। एक ही पात्र विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर यदि एक ही प्रकार का आचरण करता रहे एक ही प्रकार के भावों को व्यक्त करता रहे, तो निश्चित ही संवाद पात्रानुकूल होने पर भी अस्वाभाविक हो जायेंगे। प्रत्येक पात्र के संवाद स्वभावतः परिस्थिति एवं आन्तरिक भावों के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं। आचार्य चतुरसेन जी ने इस बात का भी अपने संवादों में विशेष ध्यान रखा है। पात्र के भावों के अनुसार ही उसकी वाणी में उतार चढ़ाव कथनों में रुक्षता अथवा कोमलता सरसता अथवा तीव्रता लाने का प्रयास किया गया है। विभिन्न भावों के संवाद विभिन्न प्रकार के हैं। उनके समस्त भावानुकूल संवादों को हम अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न वर्गों में रख सकते हैं—

१ प्रेमावेश
२ स्नेहावेश
३ क्रोधावेश एवं ओजपूर्ण
४ दुःखावेश

प्रेमावेश—

आचार्य चतुरसेन जी के अधिकांश उपन्यासों में शृंगार की ही प्रधानता

---

१ धर्मपुत्र पृ २०५।
२ धर्मपुत्र पृ २०५।
३ आत्मदाह पृ १४०-४१।

है अतः प्रणय प्रसंगों की उनके उपन्यासों में न्यूनता नहीं है। यहाँ पर आचार्य चतुरसेन जी ने प्रेमी और प्रेमिका के प्रेमपूर्ण उद्गारों को संवादों के माध्यम से प्रकट किया है यहाँ के संवाद सरस कोमल प्रवाहपूर्ण मार्मिक एवं हृदय स्पर्शी होते हैं। 'हृदय की परख' 'हृदय की प्यास' 'आत्मदाह' 'बहते आँसू' (अमर अभिलाषा) आदि प्रारम्भिक उपन्यासों के प्रणयावेग के संवाद सीधे सरल निष्कपट किन्तु कहीं-कहीं वासनाजन्य भावनाओं से पूर्ण है। किन्तु उनके प्रौढ़ उपन्यासों जैसे 'वैशाली की नगरवधू' 'धर्मपुत्र' 'सोमनाथ' 'गोली' 'आभा' आदि में प्रणय प्रसंगों के संवाद चुटीले चढ़े हुए प्रवाहपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी हैं।

'नगरवधू' में कई प्रेम प्रसंगों की सृष्टि की गई है। अम्बपाली एवं हर्ष देव के संवादों में प्रेम का प्रस्फुटन एवं प्रेमिका की दमित इच्छाओं का गर्जन है। अम्बपाली एवं बिम्बसार के प्रेम के संवादों में वासना का पुट है किन्तु सोमप्रभ एवं अम्बपाली के प्रणय संवादों में वासना का पुट नहीं आने पाया है।

'नगरवधू' का सबसे अधिक मार्मिक सोमप्रभ एवं राजकुमारी चन्द्रप्रभा का प्रणय प्रसंग है। दोनों का प्रेम निष्कपट एवं वासना विहीन है। सोम चन्द्रप्रभा से प्रेम करता है किन्तु उसके प्रेम में स्वार्थ नहीं है। उसे ज्ञात है कि राजकुमारी की उसी के कारण पतित दशा हुई है। उसके हृदय में इसी बात की ग्लानि है। वह अपने कार्यों का प्रायश्चित्त करना चाहता है। किन्तु कैसे करे? उसे एक सुअवसर प्राप्त होता है। राजकुमार विदूडभ ऐसा सुयोग्य पात्र उसे मिलता है। वह अपने प्रेम का त्याग कर, बलिदान कर राजकुमारी को पुनः पट्टरानी बना देता है। विदा के अवसर पर दो प्रेमियों का वार्तालाप देखिए —

'राजकुमारी ने बड़ी-बड़ी भारी पलकें उठाकर सोम को देखा और असंयत भाव से कहा' सोम प्रिय सोम तुम आहत हो बैठ जाओ बैठ जाओ।

'तो तुमने मुझे क्षमा कर दिया शील? यह मैं जानता था। मैं जानता था तुम मुझे अवश्य क्षमा कर दोगी। परन्तु शील प्रिये अपने को मैं कभी नहीं क्षमा करूँगा कभी नहीं।

'यह सब तुम्हें करना पड़ा सोमभद्र।

'किन्तु प्रिये मैंने जिस दिन प्रथम तुम्हें देखा था अपना हृदय तुम्हें दे दिया था। मैंने प्राणों से भी अधिक तुम्हें प्यार किया। तुम मेरे दुर्भाग्य को नहीं जानती। मेरा निश्चय था कि विदूडभ राजकुमार को बन्दीगृह में मरने दिया

बाद कोशल राजवंश का अन्त हो और अज्ञात कुलशील सोम कोशलपति बन कर तुम्हें कोशलपट्ट राजमहिषी पद पर अभिषिक्त करे, सब कुछ अनुकूल था एक भी बाधा नहीं थी।'

'मैं जानती हूँ प्रियदर्शन। पर तुमने वही किया जो तुम्हें करना योग्य था। किन्तु अब ?

अब मुझे जाना होगा प्रिये ?

'तो मैं भी तुम्हारे साथ हूँ प्रिय।

'नहीं शील ऐसा नहीं हो सकता। मुझे जाना होगा और तुम्हें रहना होगा! मैं कोशल का अधिपति न बन सका किन्तु तुम कोशल की पट्टराजमहिषी रहोगी यह ध्रुव है।

मैं सोम प्रियदर्शन तुम्हारी चिर किंकरी पत्नी होने में गर्व अनुभव करूँगी।

'कोई नहीं एक अज्ञात-कुल-शील ममव्य वंचक की पत्नी महामहिमामयी चम्पा-राजनन्दिनी नहीं हो सकती।

'किन्तु सोमभद्र मैं तुम्हारी चिरदासी शील हूँ। मैं तुम्हें आप्यायित करूँगी अपनी सेवा से सान्निध्य से निष्ठा से। और तुम अपना प्रेम प्रसाद देकर मुझे आपूर्यमाण करना।

'मेरे प्रत्येक रोम-कूप का सम्पूर्ण प्रेम मेरे शरीर का प्रत्येक रक्त-बिन्दु, मेरे जीवन का प्रत्येक श्वास आसमाप्ति तुम्हारा ही है शील पर यह नहीं हो सकता तुम्हें कोशल की पट्टराजमहिषी बनना होगा।

'किन्तु मैं तुम्हें प्यार करती हूँ सोम केवल तुम्हें।

'और मैं भी तुम्हें प्राणाधिक शील। किन्तु पृथ्वी पर प्यार ही सब कुछ नहीं है। सोचो तो यदि प्यार ही की बात होती तो मैं विदूडभ का क्यों उद्धार करता ? प्रिये चार शीले निष्ठा और कर्तव्य मानव-जीवन का चरम उत्कर्ष है। मैंने उसी को निबाहा। अब तुम मुझे सहारा दो।

सोम ने कुमारी के चरण-तल में बैठकर उसके दोनों हाथ अपने नेत्रों से लगा लिए ---[1]

प्रस्तुत संवाद में सिप्रता है। दोनों प्रेमियों का प्रत्येक शब्द उनके हार्दिक भावों को व्यक्त करने की पूर्ण शक्ति रखता है। सोम की निष्कपटता उसकी

---

[1] वैशाली की नगरवधू-पृष्ठ ४६९ ४७०।

प्रणयीसुलभ व्याकुलता और साथ ही त्याग एवं कर्तव्य की महती भावना उसने उपर्युक्त वार्तालाप में स्पष्ट उभरी हुई है। सोम के प्रेम में विस्तार है और राजकुमारी के प्रेम में संकोच। संवाद सामु और करुण होने के कारण विदा के अवसर का प्रत्यक्ष चित्र खींचने में पूर्ण सफल रहा है।

धूर्त औरंगजेब (आलमगीर) के पाषाण हृदय में भी आचार्य चतुरसेन जी ने प्रेम के पुष्पों को पल्लवित किया है। वह कपट का पुतला होकर भी अपनी प्रेयसी के समक्ष अत्यन्त दीन-हीन है लाचार है। एकान्त में अपनी प्रेयसी से प्रेम चर्चा करते समय वह भावुक हो उठता है। उसके संक्षिप्त किन्तु पैने कथनों में कसक है, उसके प्रत्येक भाव में प्रणयीसुलभ आतुरता है, वह अपनी 'दिलबर' को अपने हृदय में समेट लेना चाहता है दूसरी ओर हीरा के प्रेम में छिछलापन एवं कृत्रिमता है। वह कपटी प्रेमी के साथ कपट का ही व्यवहार करती है। धूर्त को उत्तेजित करने के लिए वह धूर्तता की चाल चलती है। उसका कुछ कहने के व्याज से चुम्बन लेना प्रेमी के उत्तेजित होने पर हट जाना उसे इंगित देकर पुनः झुककर आने आदि की उसकी आंगिक चेष्टाओं में क्या कुछ नहीं है। उदाहरण दृष्टव्य है

'क्या कर रही थी दिलबर।'
'मैं कुछ सोच रही थी।
'क्या सोच रही थी।
'एक बात।
'कौन बात।'
"हुजूर के सुनने की नहीं है।"
'सुनूं तो।
'न कहूँगी।'
'कहो प्यारी।
'अच्छा कान में।

सुन्दरी चुपचाप औरंगजेब के कान के पास मुख ले गई और चट से चमककर मुँह चूम लिया।

'आह, बात कहो जानेमन।'
यही तो बात थी हुजूर।
'इसी बात को सोच रही थीं तुम।
जी हाँ।

'दिलबर, तुम मुझे इतना प्यार करती हो ?

'जाइए, मैं क्यों प्यार करती ?

'क्रूर औरंगजेब का स्वर कांपा—वह कूटनीति और कपट का पुतला इस चंचल बालिका के सम्मुख प्रेम में विभोर होकर अपने को भूल गया। उसने कसकर उसे छाती से लगा लिया।[1]

राज और ठाकुर (अपराजिता) के प्रेमावेश संवाद भी अपनी कुछ विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय हैं। राज और ठाकुर दोनों ही विवाहित पति पत्नी होने पर भी दोनों एक दूसरे से बहुत दूर हैं। दोनों के मध्य में अहं की दीवार है दोनों आत्मसम्मान के इच्छुक हैं। अपने अहं का बलिदान कोई नहीं करना चाहता भले ही घुट-घुट कर क्यों न जीना पड़े। निश्चित भविष्य में भी अनिश्चितता है। अन्त में पति की दयनीय दशा का समाचार सुनकर पत्नी का सम्पूर्ण अहं नष्ट जाता है। वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को बिसार कर अपने रूठे पति को मनाने पहुँच जाती है। उस स्थल के दोनों के प्रेमावेश के संवादों में एक हिचकिचाहट मिश्रित आश्चर्य आन्तरिक भावों की कसक और भावों की तीव्रता है। उदाहरण दर्शनीय है—

'ठाकुर ने दोनों हाथों में राज का हाथ थामकर कहा 'तो तुम राज हो।
'हां।
'मेरी राज ?
'तुम्हारी ही। राज की आंखें डबडबा आईं।
'मेरी राज ? ठाकुर अत्यन्त असंयत हो गए।
'हां हां' उसने अत्यंत स्निग्ध स्वर में कहा।
'यह ठकुरानी तो नहीं तेज और दर्प की मूर्ति कर्तव्य की कठोर प्रतिमा।
'मैं तुम्हारी राज हूँ।
'और मैं ?
'तुम मेरे राजा हो।
'क्या कहा—जोर से कहो कान भी तो बूढ़े हो गए।
'मेरे राजा।
'फिर कहो।
'मेरे राजा।
फिर कहो।

---

१ आलमगीर, पृ १११।

राम ठाकुर के वक्ष पर गिर कर सिसकने लगी। युग-युग के पाप ताप अमर्ष-अमर्ष धुल गए। प्रेम की मन्दाकिनी कल-कल बहने लगी।'[1]

ठाकुर का लपककर राम का हाथ थाम लेना आश्चर्य से उनके कंठ का अवरुद्ध हो जाना केवल 'तुम राम हो' का उनके अवरुद्ध कंठ से निस्सृत हो जाना और फिर वेश और दर्द की मूर्ति ठकुरानी का स्मरण आते ही पुराने मोह का जागृत हो जाना किन्तु टूटे हुए हृदय के बाँधों के मध्य उसका न टिक पाना और अंत में प्रेम की मन्दाकिनी में दोनों का घुल-मिल जाना आदि कितने ही भाव उपर्युक्त संवाद में एक साथ अनुस्यूत हैं। संक्षिप्त वाक्यों के गागर में भावों का सागर भरा गया है। दोनों के अवरुद्ध कंठों से शब्द कम ही निःसृत होते हैं किन्तु भावों का उमड़ आना स्वर का असंयत होना अधरों का काँपना और उनमें से केवल यह शब्द निकल पाना आदि में कितनी आत्मीयता कितनी तड़पन कितनी पीड़ा कितना समर्पण का भाव है यह स्वयं उपर्युक्त भावों से ध्वनित हो जाता है।

इसी प्रकार प्रेमावेश के संवादों को और अधिक सरस एवं रमणीय बनाने के के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने कभी-कभी उनमें हास्य का पुट दिया है। प्रमिला एवं सुरेश (उदयास्त) के संवादों में हमें यह पुट स्पष्ट उभरता हुआ मिलता है। दोनों विवाहित पति-पत्नी हैं। उनके प्रेम में किसी प्रकार का व्यवधान भी नहीं है। दोनों एक दूसरे को हृदय से प्रेम करते हैं। किन्तु इसमें भी एक रस है। सुरेश एकान्त में पत्नी के समीप पहुँच जाते हैं। पत्नी का प्रश्न है—

'चोर की तरह यों चुपचाप आ खड़े होने की तुम्हें क्या जरूरत थी।'

'चोर से तुम यह आशा करती हो कि वह ढोल पीट कर आवे।'

'बड़े वो हो तुम। मैं जाती हूँ'—वह मुँह फेर कर जाने लगी। उसका रास्ता रोककर सुरेश ने कहा 'चोर जिस काम से आया था वह तो सुनती जाओ।'

'कुछ जरूरत नहीं है चोर को चाहे पुलिस के हाथ। मैं शोर मचाकर उसे गिरफ्तार नहीं कराना चाहती।'

'लेकिन उसका इरादा तुम्हें गिरफ्तार कर ले जाने का है।'

'कहाँ?'

'दिल्ली।'

---

१ अपराजिता, पृ १३३ १३४।

'किसलिए ।'[1]

पति का चोर की भांति पत्नी के कक्ष में आ जाना इस पर हृदय से पत्नी का प्रसन्न होना किन्तु ऊपर से भभक जाना आदि । 'बड़े वो हो तुम' कहकर उसका मुंह फेर कर खड़े हो जाना, ओठों में मुस्काना आदि भाव उसके प्रेम को उभारते हैं 'तो चोर जो चाहे चुरा ले जाय ।' आदि वाक्य उसकी प्रणयी सुलभ चपलता को स्पष्ट करते हैं । आदि से अन्त तक संवाद में प्रेमावेश के साथ-साथ हास्य का पुट है । संवाद में प्रत्युत्पन्नमति एवं संगति का गुण सराहनीय है ।

इसी प्रकार के प्रेमावेश के कितने ही संवाद आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में भरे पड़े हैं । ऐसे संवाद जहां संक्षिप्त हैं वहीं पात्र बोलते कम हैं किन्तु अपने इंगितों द्वारा भाव व्यंजित अधिक करते हैं । दिवोदास और मंजुघोषा (देवांगना) के प्रथम संवादों में सरलता निष्कपटता एवं मार्मिकता है ।[2] सरला और सत्य (हृदय की परख) के संवादों में निस्पृहता सरलता एवं निष्कपटता है ।[3] सत्य के हृदय में सरला के प्रति अपार श्रद्धा है, वह उससे प्रेम करता है किन्तु हृदय के अन्दर ही अधरों पर वह अपने भावों को नहीं लाता । वह सरला को पूजा की सामग्री समझता है, फिर भावों को व्यक्त करे भी तो कैसे । वह अधरों से सरला को अपनी प्रेमिका नहीं कुछ भी कह पाता है । किन्तु विवाहवर द्वारा अपमानित होने के पश्चात् सरला टूट जाती है । वह अन्त में सत्य के प्रेम की महत्ता ज्ञात कर पाती है । सत्य और सरला का अन्तिम वार्तालाप निस्सन्देह अत्यन्त मार्मिक एवं हृदय स्पर्शी है ।[4] उसी प्रकार दिलीप एवं माया (धर्मपुत्र) के प्रथम संवादों में भी तीव्रता है । उसमें प्रेम का प्रारंभ दो दूर भटकते हुए हृदयों में है, जो एक बार मिलकर सर्वदा के लिए विलग हो चुके हैं । दोनों का भविष्य अनिश्चित है किन्तु अंत में दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं । दीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात् दो प्रेमियों का सामना होना और दोनों का नयनों द्वारा ही परस्पर भरे भवन में एक दूसरे के भावों को समझ लेना आदि कम मार्मिक नहीं है ।[5] किसुन और चम्पा (गोली) का प्रेम तो एकदम पाक साफ एवं

---

१ परवास्त पृ ६४ ६५ ।
२ देवांगना (मंदिर की नर्तकी पृ ७४-७५ ।
३ हृदय की परख पृ १०-१५ ।
४ हृदय की परख पृ १५४ ५५ ।
५ धर्मपुत्र पृ १९ २१ ।

वासना से अछूता है । दोनों पति पत्नी होते हुए भी पति-पत्नी नहीं हैं । उनके प्रेमावेश के संवादों में सांकेतिकता ही अधिक है किन्तु जहाँ उनमें परस्पर वार्तालाप हुआ है वहाँ वे वासना से सर्वथा अछूते हैं ।[१] मामा और भतीजा भाभा जोरोवरसी एवं किशा (कलाप) के प्रेमावेश के संवादों में बौद्धिकता की प्रधानता है । रावण मन्दोदरी संवादों[२] (वयं रक्षामः) में प्रणयी मुख! कातरता एवं व्याकुलता है ।

स्नेहावेश के संवादों में हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त वात्सल्य रस से पूर्ण संवादों को ले सकते हैं । ऐसे संवादों में दोनों पक्षों में स्नेह का अतिरेक है । सोमप्रभ एवं आर्यामातंगी (नगरवधू) के स्नेहसिक्त संवादों में एक ओर माँ की ममता उभरी हुई है तो दूसरी ओर पुत्र का असमंजस एवं प्यार । देखिए—

सोमप्रभ हतप्रभ होकर विमूढ़ हो गये । एक अनिर्वचनीय आनन्द ने उनके नेत्रों को भी प्लावित कर दिया । उन्होंने प्रकृतिस्थ होकर कहा—

'आर्या मातंगी अकिंचन सोम आपका अभिवादन करता है ।

'नहीं नहीं आर्या मातंगी नहीं माँ कहो वत्स ।

'सोमप्रभ ने अटकते हुए कहा 'किन्तु आर्ये '

'माँ कहो वत्स माँ कहो ।

आर्ये हतभाग्य सोम अज्ञात कुलशील अज्ञात कुलगोत्र है । भगवती उसे इतना गौरव क्यों दे रही हैं ।'

'माँ कहो प्रिय, माँ कहो, जीवन के इस छोर से उस छोर तक मैं यह शब्द सुनने को तरस रही हूँ । मातंगी के स्वर, भावभंगी और करुण वाणी से विवश हो अनायास ही तरुण सोम के मुँह से निकल गया— —माँ——

आप्यायित हो गई हूँ भर कर जी गई मैं वत्स सोम अभी और कुछ देर हृदय से लगे रहो ।— —[३]

प्रस्तुत वार्तालाप में कथाकार माँ मातंगी के प्रत्येक भाव को उभारने में पूर्ण सफल रहा है । पुत्र को सामने देखकर स्नेहावेश के कारण आर्या मातंगी अपने ब्रह्मचारिणी के पद पर और प्रतिष्ठा को भूलकर अनायास ही कह उठी है । । 'माँ कहो वत्स । और वत्स' के संबोधन से अभिभूत होकर अनायास

१ गोली पृ २८९ २९० ।

२ वयं रक्षामः, पृ ९९ १०० ।

३ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन पृ १०१ ।

दुग्धपीत सोम के मुख से भी 'माँ' शब्द अनायास ही निकल जाता है। माँ पुत्र के उपर्युक्त कथनों में केवल स्नेह का पुट ही नहीं है वरन् आन्तरिक भावों की घुमड़न भी है। मातंगी के अन्तिम वाक्य में कितनी तड़पन कितनी विवशता कितना हर्ष एवं कितना आह्लाद एक साथ भरा हुआ है।

स्नेहावेश के संवादों में हम सखियों के स्नेहसिक्त संवादों को भी रख सकते हैं। जहाँ पर दो समान सखियाँ परस्पर छेड़छाड़ करती हुई एक दूसरे पर छींटाकशी करती हुई सामने आती हैं वहाँ उनके कथनों में अल्हड़ता मुस्कुराहट एवं सरसता रहती है। कहीं वे सखी के किसी प्रेम सम्बन्ध पर मीठा कटाक्ष करती हैं तो कहीं उसकी रूप माधुरी पर व्यंग्य। कहीं किसी की विवाह चर्चा पर छेड़छाड़ प्रारंभ हो जाती है तो कहीं अपनी बाल-सुलभ स्मृतियों पर ही ठिठोली करने लगती हैं। राधा-रुक्मिणी-संवाद[1] (अपराजिता) प्रेम की छेड़छाड़ से प्रारंभ होता है और अन्त में विवाह सम्बन्ध तक पहुँच जाता है। छेड़ ही छेड़ में राधा रुक्मिणी का विवाह माधव से निश्चित कर देती है। भगवती-चम्पा-संवाद[2] (बहते आँसू) में यौवन की अल्हड़ता एवं चंचलता है। एक बाल विधवा है तो दूसरी अभी कुंवारी। दोनों की नटखटता एवं वाकपटुता के कारण संवाद बड़ा सजीव बन पड़ता है। शारदा मालती संवाद[3] (बगुला के पंख) में एक सखी दूसरी की रूप माधुरी पर चुहल करती हुई सामने आती है तो अरुणा और बानू[4] (धर्मपुत्र) के वार्तालापों में उनकी मधु स्मृतियाँ ही उभेड़ी गई हैं।

इस प्रकार के स्नेहावेश के संवादों के द्वारा उपन्यासकार अल्हड़ चंचल एवं नटखट युवतियों के निष्कपट सरल एवं अटूट स्नेह को व्यक्त करने में सफल रहा है।

क्रोधावेश एवं ओजपूर्ण संवाद—

क्रोधावेश में किए गये कथोपकथन आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में अपेक्षाकृत कम हैं। किन्तु जहाँ भी उन्होंने ऐसे संवादों की सृष्टि की है वहाँ उनके संवादों में भिन्नता तीव्रता के साथ-साथ ओज एवं उत्तेजना भी आ गई है

---

१ अपराजिता, पृ ११०-११।
२ बहते आँसू पृ २५ २६।
३ बगुला के पंख १७२-७१।
४ धर्मपुत्र पृ १६१ ६२।

जिससे संवाद तदनुरूप भावों को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुआ है। क्रोधावेश के संवाद आचार्य-जी के साहित्य में दो प्रकार के प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम-एक पक्ष क्रोधावेश में और दूसरा शान्त स्वर में वार्तालाप करता है। दूसरे प्रकार में दोनों पक्ष ही क्रोधावेश में वार्तालाप करते हैं। आचार्य जी के उपन्यासों में प्रथम प्रकार के संवादों का आधिक्य है। सरला विद्याधर संवाद (हृदय की परख)[1] प्रवीण भगवती-संवाद (हृदय की प्यास)[2] भगवती-सुलदा-संवाद (हृदय की प्यास)[3] जयनारायण का अपनी पत्नी से वार्तालाप[4] हरनारायण भगवती संवाद[5] (बहते आँसू) भीमदेव-लक्ष्मी-कुमारी-संवाद[6] (रक्त की प्यास) सूर्यसिंह-महाराजाधिराज-संवाद[7] महाराजा-चम्पा-संवाद[8] मोती-ठाकुर एवं राव के संवाद[9] अपराजिता-शम्बर रावण-संवाद[10] विद्युज्जिह्व विद्युत्का-संवाद[11] (वयं रक्षामः) घोघाबापा मसऊद संवाद[12] महाराज चामुण्डराय विमलदेव शाह संवाद[13] भीमदेव चामुण्ड संवाद[14] (सोमनाथ) आदि कितने ही संवाद इसी प्रकार के हैं। इन संवादों की प्रमुख विशेषताएँ यही हैं कि एक प क्रोधावेश में आकर उन्मत्त सा हो जाता है तो दूसरा शान्त रहकर प्रथम पक्ष के समक्ष मस्तक नत कर देता है अथवा यदि कुछ उत्तर भी देता है तो उससे आधीनता ही प्रकट होती है। इसमें कुछ संवाद ऐसे भी हैं जिनमें प्रथम पक्ष के असह्य क्रोध को देखकर दूसरे पक्ष की वाणी में भी कठोरता आने लगी है।

---

१ हृदय की परख, पृ १२७-२९।
२ हृदय की प्यास पृ १११।
३ हृदय की प्यास पृ ११६ १७।
४ बहते आँसू, पृ ६०।
५ बहते आँसू पृ ११६ १७।
६ रक्त की की प्यास पृ ११४ १५।
७ मोती, पृ १०२ ३।
८ मोती पृ १५२।
९ अपराजिता, पृ ९५ ९६।
१० वयं रक्षामः, पृ १८६-८७।
११ वयं रक्षामः, पृ ३०३ ३०४।
१२ सोमनाथ, पृ १११
१३ सोमनाथ, पृ १६४ ६५।
१४ सोमनाथ, पृ ३२०-२१।

आचार्य चतुरसेन जी के क्रोधावेश के संवाद बड़ी अधिक सजीव हैं जिनमें उभयपक्ष के कथनों में उग्रता एवं तीव्रता है।

जहाँ आचार्य जी ने क्रोधावेश के संवादों में ओज का पुट दिया है वे और भी सजीव हो उठे हैं। उदाहरण के लिए हम महमूद रमाबाई (सोमनाथ) के संवाद को ले सकते हैं। इसमें रमाबाई के कथनों को और अधिक तीव्र एवं प्रवाह युक्त बनाने के लिए आचार्य जी ने ओज का पुट दिया है। इस संवाद की सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि इसमें सबल पक्ष मौन है और निर्बल पक्ष असंयमित एवं असंतुलित होकर सब कुछ कह डालने को प्रस्तुत है देखिए—

सिपाहियों ने रमाबाई को छोड़ दिया। छूटते ही उसने कृष्ण स्वामी के बंधन खोल दिये। और फिर वह अपने हाथ की लकड़ी मजबूती से पकड़कर अमीर की ओर फिरी। उसने अपनी गोल-गोल आँखें घुमाते हुए कहा—'तू ही वह अमीर है ?

'हाँ औरत मैं ही अमीर महमूद हूँ ?

'तूने सर्वज्ञ को मारा देवलिंग भंग किया ?

'हाँ मैं विजयी मूर्तिभंजक महमूद हूँ ? लेकिन औरत तू क्या चाहती है ?

'मैं तुझसे यह पूछती हूँ ? कि क्या तुझसे किसी ने यह नहीं कहा कि तू मृत्यु का दूत जीवन का शत्रु और मनुष्यों में कलंक रूप है।

'अब औरत मैं तेरी सब बात सुनूँगा कहती जा।

'तूने विजय प्राप्त की पर किसी की भलाई नहीं की।

'मैं खुदा का बन्दा खुदा के हुक्म से कुफ्र तोड़ता हूँ।

'तू भगवान के पुत्रों को मारता है, जिन्होंने तेरा कुछ नहीं बिगाड़ा। उन्हें लूटता और उनके घर-बार जलाता है। तू कंकड़ पत्थरों का जासूसी है और आदमी का दुश्मन तेरा खुदा यदि तेरी इन काली करतूतों से खुश है तो वह खुदा नहीं शैतान है।'

महमूद की भवों में बल पड़ गए। ।[1]

इसी प्रकार अम्बपाली हर्षदेव नमस्कार के संवाद में ओज की ही अधिक प्रधानता है। इसमें उभयपक्ष उत्तेजित एवं क्षुब्ध है।

'अम्बपाली ने पूछा' रात भर सोए नहीं हर्षदेव ?

'तुम भी तो कदाचित् जगती ही रहीं देवी अम्बपाली।

'मेरी बात छोड़ो परंतु तुम क्या रात भर भटकते रहे हो ?'

---

१ सोमनाथ पृ १८२।

कहीं चैन नहीं मिला यह हृदय जल रहा है। यह ज्वाला सही नहीं ती अब।

'एक तुम्हारा ही हृदय जल रहा है हर्षदेव। परन्तु यदि यह सत्य है तो ही ज्वाला से वैशाली के जनपद को फूंक दो। यह भस्म हो जाय। तुम बेचारे रि अकेले जलकर नष्ट हो जाओगे तो उससे क्या लाभ होगा।

'परन्तु अम्बपाली तुम क्या एकबारगी ही ऐसी निष्ठुर हो जाओगी? ना इस आवास में तुम मुझे आने की अनुमति नहीं दोगी। मैं तुम्हारे बिना ऊंगा कैसे? जीऊंगा कैसे?

'आओगे तुम इस आवास में? यदि तुममें इतना साहस हो तो आओ और देखो कि तुम्हारी वाग्दत्ता पत्नी से वैशाली के तरुण सेट्ठिपुत्र और सामन्त त्र किस प्रकार प्रेम प्रदर्शन करते हैं। और वह किस कौशल से हृदय के एक क खण्ड का क्रय-विक्रय करती है। देखोगे तुम? देख सकोगे? तुम्हें मनाही स बात की है। यह तो सार्वजनिक आवास है। यहां सभी आवेंगे तुम भी ाना। परंतु इस प्रकार दीन-हीन याचक की भांति नहीं। दीन-हीन पुरुष का स आवास में प्रवेश निषिद्ध है तुम्हें यह न भूल जाना चाहिए कि यह वैशाली की नगरवधू देवी अम्बपाली का आवास है। जैसे और सब आते हैं उसी भांति आओ तुम सजधज कर हीरे-मोती स्वर्ण बखेरते हुए। होठों पर हास्य और लकों पर विलास का नृत्य करते हुए। सबको देवी अम्बपाली से प्रेमाभिनय करते देखो। तुम भी वैसा ही प्रेमाभिनय करो हंसो बोलो मुस्करा दो और फिर खे हाथ, शून्य हृदय अपने घर चले जाओ। फिर आओ और फिर जाओ। जब तक पद-मर्यादा शेष रहे जब तक हाथ में स्वर्णरत्न भरपूर हों आते रहो, जाते रहो लुटाते जाओ लुटते जाओ, यह नगरवधू का घर है यह नगरवधू का जीवन है, यह मत भूलो।

अम्बपाली कहती ही चली गई। उसका चेहरा हिम के समान श्वेत हो रहा था। हर्षदेव पागल की भांति मुंह फाड़कर देखते रह गए। उनसे कुछ भी कहते न बन पड़ा। कुछ क्षण स्तब्ध रहकर अम्बपाली ने कहा 'क्यों कर सकोगे ऐसा?

'नहीं नहीं मैं नहीं कर सकूंगा।

'तब जाओ तुम। इधर भूलकर भी पैर न देना। इस नगरवधू के आवास में कभी आने का साहस न करना। तुम्हारी वाग्दत्ता स्त्री अम्बपाली मर गई। यह देवी अम्बपाली का सार्वजनिक आवास है। और वह वैशाली की नगरवधू

है। यदि तुममें कुछ मनुष्यत्व है तो तुम जिस ज्वाला से मर रहे हो उसी से जनपद को जला दो। भस्म कर दो।

हर्षदेव घायल की भाँति चीत्कार कर उठा। उसने कहा ऐसा ही होगा। देवी अम्बपाली मैं इसे भस्म करूँगा। वैशाली के इस जनपद की राख तुम देखोगी सप्तभूमि प्रासाद की इन वैभवपूर्ण अट्टालिकाओं में अष्टकुल के वज्जी संघ की चिता धधकेगी। और वह गणतन्त्र का घिनौना कानून उसमें इस आवास के वैभव के साथ ही भस्म होगा।

'तब जाओ तुम अभी चले जाओ। मैं तुम्हारी जलाई हुई उस ज्वाला को उत्सुक नेत्रों से देखने की प्रतीक्षा करूँगी।'

हर्षदेव फिर ठहरे नहीं। उसी भाँति उन्मत्त की भाँति वे आवास से चले गए।[1]

प्रस्तुत संवाद मे क्रोध के साथ ओज का ही पुट दिया गया है। प्रेमिका के चुटीले व्यंग्य हर्षदेव के सम्पूर्ण शरीर में आग लगा देते हैं। आहत प्रेमी चोट खाकर सम्पूर्ण वैशाली को भस्म कर देने की प्रतिज्ञा कर लेता है।

पति पत्नी के संवाद यदि प्रेमावेग के हैं तो क्रोधावेग के भी आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त हो जाते हैं। इन संवादों की विशेषता है कि इनका प्रारम्भ एक पक्ष से ही होता है और दूसरा पक्ष स्नेहमिश्रित उत्तर ही देता जाता है, किन्तु शीघ्र ही व्यंग्य बाणों से आहत होकर उभयपक्ष के कथनों में तीक्ष्णता आवेश एवं उत्तेजना आ जाती है। अन्त में पत्नी अपने अन्तिम ब्रह्मास्त्र अश्रुओं का प्रयोग करती है और पति को विवश होकर मैदान त्यागना पड़ता है। हरनारायण-सुरदेई संवाद[2] *(बहते आँसू)* रामदास भगवती संवाद[3] *(आत्मदाह)* आदि ठीक इसी प्रकार के हैं। इनमें उग्रता के अन्तर में स्नेह तीव्रता के साथ साथ अपनत्व कटुता के साथ-साथ आत्मीयता एक साथ उभरी हुई दीख पड़ती है। रामदास भगवती संवाद में अधिक तीव्रता है इसमें कटु कथनों के पश्चात् आत्मीयता के स्थान पर हाथा-पाई तक की नौबत आ गई है।

जहाँ पर दो स्त्रियाँ क्रोधावेश में परस्पर वार्तालाप करती हैं वहाँ उनके कथनों में स्वाभाविकता का पुट देने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने उग्रता के

---

१ वैशाली की नगरवधू पृ ४२-४३

२ बहते आँसू पृ ४४ ४७

३ आत्मदाह पृ ६१ ६२

साथ साथ कुछ बरेलू गालियों को भी स्थान दिया है।[१] किन्तु ऐसे संवाद उनके उपन्यासों में कम ही हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के साहित्य में करुणवेदना या दुखावेग के संवादों की भी न्यूनता नहीं है। एसे संवाद अत्यन्त प्रभावशाली एवं पाठक को तुरन्त विचलित करने की शक्ति से परिपूर्ण हैं। उन्होंने करुण दृश्य स्थलों एवं दुःखपूर्ण स्थलों को स्पष्ट करने के लिए ऐसे संवादों का आश्रय लिया है। ऐसे संवादों को और अधिक सजीव करने के लिए उन्होंने उनके परिपार्श्व में रुदन विलाप माथा या सिर को कोसना वैवर्ण्य आदि आंगिक क्रियाओं को नाटकीय ढंग से संजोया है। जिससे एसे संवाद और भी सजीव एवं भावपूर्ण हो गए हैं। माया की मृत्यु के पश्चात् सुधीन्द्र की माता का अपने पुत्र (आत्मदाह) से वार्तालाप[२] इसी प्रकार का है। इसमें उपन्यासकार ने करुण रस के विभिन्न संचारी भावों चिन्ता ग्लानि विषाद स्मृति निर्वेद आदि का आश्रय लेकर संवाद को और भी सजीवता प्रदान की है। मधुसूदन की मृत्यु पर हुए सुधा सुधीन्द्र संवाद[३] राय साहब सुधीन्द्र संवाद (आत्मदाह) आदि कितने ही इसी प्रकार के संवाद आचार्य चतुरसेन जी के साहित्य में प्राप्त होते हैं।

भावानुकूल संवादों को और अधिक स्वाभाविक एवं सजीव बनाने के लिए आचार्य जी ने स्वगत कथनों की भी योजना की है।[४]

संवाद पात्रानुकूल एवं भावानुकूल होते हुए भी तब तक सरस रसात्मक एवं रमणीय न होगा जब तक उसमें रोचकता न हो। संवादों में रोचकता लाने के लिए तीन तत्वों प्रत्युत्पन्नमति हाजिरजवाबी सौजन्य etiquette और संगति का उसमें होना अनिवार्य माना गया है।[५] आचार्य जी के संवादों में विशेषताएँ सर्वत्र देखी जा सकती हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के अधिकांश पात्र प्रत्युत्पन्नमति हैं। आचार्य जी ने अपने संवादों में शब्दों द्वारा वाक्यों द्वारा यह चमत्कार उत्पन्न किया है। जहाँ उन्होंने शब्दों या वाक्यों द्वारा यह चमत्कार उत्पन्न किया है वहाँ उन्होंने उत्तर

---

१ बहते आँसू पृ १४-१५, ११७-११८, १२८ १२९

२ आत्मदाह पृ १६

३ आत्मदाह पृ १००-१०२।

४ सोमनाथ प ४५०-५१।

५ साकेत एक अध्ययन डा० नगेन्द्र, प ११६।

प्रत्युत्तर करने वाले किसी एक पात्र को अपनी प्रतिभा प्रदान कर दी है। प्रत्युत्तर देते समय वह पात्र अपने विपक्षी को निरुत्तर करने के लिए उसी के द्वारा प्रयुक्त शब्द या वाक्य को कुछ ऐसा नवीन मोड़ दे देता है कि श्रोता को विवश होकर मूक रह जाना पड़ता है। सुशीला और राजकुमारी[1] (आलमशाह) मस्तोफबेग और दामोमेहता[2] दामो महता और महमूद[3] शोभना और देवा[4] (सोमनाथ), गुलाबजान और नवाब जबर्दस्त खाँ (सोना और खून) आदि के वार्तालापों में प्रत्युत्पन्नमति का गुण सर्वत्र देखा जा सकता है। अन्तिम वार्तालाप को हम उदाहरण के लिए यहाँ प्रस्तुत करते हैं एक घुटे घुटाए जमाना देखे खाम नवाब हैं तो दूसरी घाट-घाट का पानी पिए मुँहफट एवं हाजिर जवाब वेश्या। गुलाब जान नवाब को अपने हाथ का बना पान पेश करती है। देखिए—

'नवाब ने कहा' दाँत कहाँ से लाऊँ जो पान खाऊँ?

'हुजूर खाइए तो आप ही के लायक मैंने बनाया है।

नवाब जबर्दस्त खाँ ने मुस्करा कर कहा 'वल्लाह बनाने में तो तुम एक ही हो।'

गुलाबजान ने तपाक से जवाब दिया 'लेकिन हुजूर बनाती ही हूँ बिगाड़ती किसी को नहीं।

बूढ़े नवाब ने धुएँ के बादल बनाते हुए एक ठंडी सांस भरी और कहा—शुक्र है खुदा का।'[5]

ऐसा ही एक प्रसंग और देखिए नवाब गुलाबजान की नौची से मनोरंजन कर रहे हैं।

'क्या नाम है तुम्हारा बीबी जान?'

'हुजूर, मुझे धनिया कहते हैं।

'वाह क्या मुफीद नाम है। दीवान साहब की तरफ मुखातिब होकर 'दीवान साहब धनिये की क्या तासीर है।

---

१ आलमशाह, पृ० १६८।

२ सोमनाथ पृ० १५५-५६।

३ सोमनाथ-पृष्ठ ३०९।

४ सोमनाथ-पृष्ठ ४११।

५. सोना और खून-उत्तरार्द्ध प्रथम भाग-पृष्ठ १८-१९।

दीवान साहब पूरे बाघ। झट से हाथ बांधे बोले 'सरकार, दिल को ठंडक पहुंचाता है।'[१]

मंजे हुए बाघ दीवान की हाजिर जवाबी देखकर पाठक प्रसन्न हो उठता है।

प्रत्युत्पत्ति के साथ-साथ संवाद का संगत होना भी अनिवार्य है। यदि प्रत्युत्तर को सुनकर विपक्षी पात्र निरुत्तर होने पर भी असन्तुष्ट रहता है तो वह संवाद सफल नहीं कहा जा सकता। 'आश्वासन के लिए युक्ति और संगति की आवश्यकता होती है। जिनके बिना दूसरा व्यक्ति निरुत्तर होने पर भी संतुष्ट नहीं होता।'[२] आचार्य जी के उपर्युक्त संवादों में यह विशेषता भी प्राप्त होती है। पीछे हम पात्रानुकूल एवं भावानुकूल संवादों का विश्लेषण करते समय संगति के गुण को देख चुके हैं।

उपर्युक्त दोनों गुणों के साथ-साथ आचार्य जी ने अपने संवादों में शिष्टाचार एवं सौजन्य का भी ध्यान रखा है। वातावरण निर्माण के लिए उन्होंने जिन संवादों की रचना की है, उनमें इन गुणों की विशेष प्रचुरता है।

संक्षिप्तता एवं पैनापन—

संक्षिप्त पैने एवं प्रवाहपूर्ण कथोपकथनों से रचना का सौंदर्य निखर जाता है। वास्तव में एक ओर जहां लघु प्रसारी वैदग्ध्यपूर्ण तीखे तीव्र एवं संक्षिप्त कथोपकथनों से कथा की कलात्मक महत्ता बढ़ती है, वहीं दूसरी ओर दीर्घ विश्लेषणात्मक एवं विवेचनात्मक कथोपकथनों से कथा अवरुद्ध हो जाती है जिससे वह अस्वाभाविक एवं अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में संक्षिप्त और दीर्घ विश्लेषणात्मक दोनों ही प्रकार के संवाद प्राप्त होते हैं उनके दीर्घ संवाद तो कहीं-कहीं नीरस भी हो उठे हैं किन्तु उनके संक्षिप्त संवाद पैनापन लिए हुए रसात्मक हैं। नाटकीय भावानुकूल एवं पात्रानुकूल सभी प्रकार के कथोपकथन जहां पर संक्षिप्त हैं वहां वे अधिक सजीव एवं हृदय-स्पर्शी हैं। उन छोटे छोटे संवादों में कहीं-कहीं उन्होंने गागर में सागर भी भर दिया है। ऐसे संवादों में वे पात्र बोलते कम हैं किन्तु व्यंजित अधिक करते हैं। इन संवादों में आचार्य जी ने प्रत्युत्पन्नमति एवं संगति का विशेष ध्यान रखा है। उदाहरण के लिए हम माया और दिलीप (पर्णपुत्र) के वार्तालाप को ले सकते हैं। माई के मुख से 'राट साहब' शब्द सुनकर वहम हवेली में माई के समीप उसकी प्रेमिका

---

१ सोना और खून-उत्तरार्द्ध प्रथम भाग-पृष्ठ १८-१९।

२ साकेत एक अध्ययन-डा० नगेन्द्र-पृष्ठ १३८।

को साथ लेकर भग देती है। उस समय एकान्त में हो रहा उनका रसमय वार्ता लाप सुनिए—

'उसने कहा—'करुणा साथ भगा रही थी उसे भगा क्यों दिया।

'मैंने कहां भगाया।

'मुझे क्यों बुलाया।

'किसने कहा।

'करुणा ने।

क्या।

'कहा तुम्हें बुलाते हैं।

दिलीप के होठों पर मुस्कान फैल गई। उसने कहा—'समझा लाट साहेब आपही का नाम है।

'लाट साहेब।

'वह कह गई थी लाट साहेब को भेजती हूँ।'[१]

प्रस्तुत संवाद में वाक्य छोटे-छोटे एवं संक्षिप्त हैं किन्तु पैने एवं अधिक अर्थव्यंजित करने वाले हैं। 'लाट साहब' शब्द के प्रयोग ने ही संवाद को अधिक रसात्मक बना दिया है। संवाद चुस्त गठा हुआ पश्च सधे हुए एवं चुटीले छेड़छाड़ एवं मान मनौवल से पूर्ण है। उत्तर प्रत्युत्तरों में हाजिर जवाबी है जिससे सम्पूर्ण संवाद में स्फूर्ति एवं त्वरा आ गई है। ऐसे संवादों की भी आचार्य जी के उपन्यासों में न्यूनता नहीं है। अकोविस उस्ताद अलअलबेरूनी महमूद संवाद[२] महमूद संवाद[३] शोभना महमूद संवाद[४] (सोमनाथ) वैरगवाला रावण संवाद[५] (वयं रक्षाम) आदि संवाद इसी प्रकार के हैं।

निष्कर्ष—

इस सम्पूर्ण विवरण के पश्चात् अन्त में आचार्य जी की कथोपकथन मिलन कला सम्बन्धी निम्न निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं।

आचार्य जी के संवादों की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे सरस स्वाभाविक एवं रोचक होते हैं। अभिव्यंजित उन्होंने अपने उपन्यासों में ऐसे ही

---

१ धर्मपुत्र पृष्ठ १९१।
२ सोमनाथ पृ ७४-७५।
३ सोमनाथ पृ २९० से २९१ तक।
४ सोमनाथ पृ ४१२ से ४१३ तक।
५ वयं रक्षाम पृ-२ से ३ तक।

संवादों को स्थान दिया है जो कथानक के अनुकूल एवं सार्थक हों। ऐसे संवाद प्राय कथानक के अविभाज्य अंग बनकर आए हैं जिससे कथा में आदि से अंत तक प्रवाह रहा है। किंतु वे कथोपकथन जिनके व्याज से उपन्यासकार ने अपने सिद्धांतों निष्कर्षों एवं आचार्यत्व का प्रदर्शन करना चाहा है, कथा पर भारस्वत् हो गए हैं। ऐसे कथोपकथनों के प्रयोग से कथा विशृंखल हो गई है। जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं कि ऐसे कथोपकथन न कथानक को गति ही प्रदान करते हैं, न चरित्र को ही उभारते हैं। इनसे केवल लेखक का उद्देश्य अवश्य स्पष्ट होता है। किंतु इस प्रकार के अनियंत्रित कथोपकथनों का प्रयोग उपन्यास में सर्वथा वर्जित समझा जाता है।

आचार्य जी के संवादों की दूसरी प्रमुख विशेषता है पात्रों के अनुभवों की सूक्ष्म पकड़। उनके संवादों के पठन मात्र से ही अमूर्त घटना पाठक के कल्पना चक्षुओं के समक्ष प्रत्यक्ष घटित हुई स्पष्ट ज्ञात होने लगती है। संवादों को और अधिक स्वाभाविक एवं नाटकीय बनाने के लिए उपन्यासकार ने अपनी ओर से पात्रों की विभिन्न भावभंगिमाओं और मुद्राओं का भी संकेत किया है। ऐसे स्थलों पर पात्र बोलते कम हैं किंतु अपने हाव भावों के द्वारा व्यक्त अधिक करते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने संवादों को अधिक से अधिक स्वाभाविक सरल एवं रमणीक बनाने के लिए पात्रानुकूल एवं भावानुकूल संवादों की रचना की है। आचार्य जी अपने संवादों में पात्रों की वैयक्तिकता की रक्षा में भी पूर्ण सफल रहे हैं। उनका प्रत्येक पात्र अपनी चारित्रगत विशेषताओं के कारण अन्य पात्रों से पृथक ज्ञात होता है। उन्होंने संवादों की रचना करते समय इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि किस अवसर पर, कौन सा पात्र किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करेगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने पात्र के व्यक्तित्व को अधिक से अधिक उभाड़ने के लिए वाक्यों के उतार-चढ़ाव पर, उसके विभिन्न अंशों पर पड़नेवाले स्वराघातों पर, उसकी स्वयं की उच्चारण पद्धति पर वक्ता की पूर्ण छाप लगा दी है। इतना ही नहीं उनके पात्र की वाणी का उतार चढ़ाव परिस्थिति एवं आंतरिक भावों के अनुरूप ही परिवर्तित होता रहा है। इस प्रकार के परिवर्तनों में परिवर्तनशीलता के रहते हुए भी आचार्य जी ने अपने संवादों में इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि कहीं पात्र का अथवा स्वयं का व्यक्तित्व लुप्त न हो जावे। उन्होंने संवादों में इस प्रकार के प्रयोग वस्तुतः किसी पात्र विशेष के व्यक्तित्व को अधिक से अधिक प्रखर बनाने के लिए ही किए हैं।

आचार्य जी के यदि प्रणय संवादों में सरलता मार्मिकता एवं सजीवता है तो स्नेहावेश के संवादों में भी इन गुणों की न्यूनता नहीं है। स्नेहावेश के संवादों में जहाँ एक ओर वात्सल्य रस हिलोरें ले रहा है तो दूसरी ओर मस्तक युवतियों की ठिठोली में छेड़छाड़ घुलमुलाहट एवं मान मनौवल सब एक साथ आ विराजे हैं। क्रोधावेश के संवाद बड़े ही सजीव एवं स्वाभाविक हैं। क्रोधावेश में निःसृत वाक्यों में जहाँ एक ओर तीव्रता क्षिप्रता एवं वेग है वहीं दूसरी ओर वे उत्तेजना एवं आतंक से पूर्ण हैं। क्रोध के साथ-साथ ओज का पुट ऐसे संवादों की प्रधान विशेषता है। आचार्य जी ने कथा को अधिक मर्मस्पर्शी बनाने के लिए करुणावेश अथवा दुःखावेश के संवादों की भी सृष्टि की है। ऐसे संवाद प्रभावशाली होने के साथ-साथ हृदय को तुरन्त स्पर्श करने वाले हैं। ऐसे संवाद अधिकांशतः छोटे हैं।

आचार्य जी के संवादों में प्रत्युत्पन्नमति सौजन्य एवं संगति तीनों ही गुणों का योग प्राप्त होता है। जिससे संवाद पैने प्रवाहपूर्ण एवं तुरन्त चोट करने वाले होते हैं। उत्तर प्रत्युत्तरों में एक गति है प्रवाह है। आदि से अन्त तक उनका एक-एक शब्द गठा हुआ एवं चुस्त है। उनके संक्षिप्त संवाद सधे हुए, त्वरा से पूर्ण एवं रसात्मक हैं। ऐसे संवादों में पात्र कम बोलते हुए भी हाव भावों द्वारा इंगित अधिक कर जाते हैं।

अध्याय ६

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों में देशकाल अथवा वातावरण सृष्टि

देश-काल (वातावरण सृष्टि)

'उपन्यास के देश और काल' से हमारा तात्पर्य उसमें वर्णित आचार चार, रीति-रिवाज रहन-सहन और परिस्थिति आदि से है।[1] कथानक में श्वसनीयता लाने के लिए कथाकार इस तत्व का उपयोग करता है। कथानक पात्र भी वास्तविक पात्र की भाँति देश-काल के बन्धन में रहते हैं। .... स प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शोभा नहीं देता उसी प्रकार बिना देशकाल पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है और घटना क्रम के समझने के ए भी उसकी आवश्यकता होती है।[2] वास्तव में वातावरण ही पात्रों का णसंचार होता है, उससे विहीन उनका उनके क्रिया कलापों का कोई पना निज का अस्तित्व नहीं रह जाता। अतः 'जितनी ही वास्तविक पृष्ठभूमि ं चरित्रों को प्रकट किया जायेगा उतनी ही गहरी विश्वसनीयता का भाव गाया जा सकता है। इस पृष्ठभूमि के बिना हमारी कल्पना को ठहरने को ोई भूमि नहीं मिलती और न हमारी भावना ही रमती और विश्वास करती है।[3] स्पष्ट है कि उपन्यास में इस तत्व का अपना विशिष्ट स्थान है।

वातावरण सृष्टि को हम सुविधा की दृष्टि से निम्न रूपों में रख सकते हैं—

१ पौराणिक।
२ ऐतिहासिक।
३ सामाजिक।
४ प्राकृतिक (उपर्युक्त तीनों प्रकार के उपन्यासों में प्राप्त)।

१. पौराणिक उपन्यासों में वातावरण सृष्टि:—

इनमें कथाकार इतिहास की अपेक्षाकृत पुराण एवं अन्य प्राचीन साधनों

---

१ साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दर दास, पृ २१०।
२ काव्य के रूप, डा० गुलाबराय, पृ १८२।
३ काव्य शास्त्र डा० भगीरथ मिश्र, पृ ८०।

का आश्रय अधिक लेता है। इसमें लेखक के लिए कल्पना की विशेष अपेक्षा रहती है जिससे वह पौराणिक काल की समस्त विशेषताओं को अपने वर्णन में उतार सके। नगर, नदी पर्वत आदि के नाम व्यक्तियों के नाम, वस्त्र वेशभूषा रहन-सहन विश्वास रीतिरिवाज आदि के द्वारा पौराणिक वातावरण की सृष्टि की जाती है।

२ ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण सृष्टि —

ऐतिहासिक उपन्यास में वातावरण का सबसे अधिक महत्व रहता है। उसमें लेखक को उस युग विशेष की पृष्ठभूमि का चित्रण करना पड़ता है जिसके चरित्रों का वह वर्णन करना चाहता है। अतः उसके वर्णनों में उस युग के विशिष्ट रीति-रिवाज चाल-ढाल वातावरण के प्रमाणिक चित्रण द्वारा यह आभास देना पड़ता है कि यह वही युग है। उस युग के विपरीत कोई बात उसमें न आनी चाहिए। इसके साथ ही उपन्यास में संगठित एवं संयोजित घटनायें भी उस युग के इतिहास में वर्णित घटनाओं के मेल में होनी चाहिए, उनके विरुद्ध नहीं। इसके लिए ऐतिहासिक उपन्यासकार को उस युग के इतिहास का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। लेखक जिन घटनाओं पात्रों एवं परिस्थितियों की कल्पना करे, वे भी वैसी हों जैसी वास्तविक घटनायें हुई हों।[१] डा० श्यामसुन्दर दास का ठीक कथन है "ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले का काम ही यह है कि पुरातत्व और इतिहास के जानकारों ने जिन रूखी-सूखी बातों का संग्रह किया हो उनको वह सरस और सजीव रूप देकर अपने पाठकों के सामने उपस्थित करे और उसे इधर-उधर बिखरी हुई जो सामग्री भिन्न-भिन्न साधनों से मिले, उसकी सहायता से वह अपने कौशल के द्वारा एक सर्वांगपूर्ण चित्र प्रस्तुत करे। ऐतिहासिक उपन्यासों के पाठक तो उसी लेखक का सबसे अधिक आदर करते हैं जो किसी विशिष्ट अतीत काल का बिल्कुल सच्चा जीता-जागता और साथ ही मनोरंजक वर्णन कर सके। इससे उसके पांडित्य और पुरातत्व-ज्ञान का भी आदर होता है पर उतना अधिक नहीं जितना उसकी वर्णन शक्ति का।[२]

वास्तव में सत्य यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासों में घटनाओं और नामों की अपेक्षा वातावरण का महत्व कहीं अधिक है, क्योंकि इतिहास की आत्मा नामों और घटनाओं में न रहकर वातावरण में ही निहित रहती है। अतः हम कह सकते हैं जिन उपन्यासों में कल्पना वातावरण वर्णन शक्ति एवं ऐतिहासिक सत्य

---

१ काव्य शास्त्र-डा० भगीरथ मिश्र-पृष्ठ ८८।

२ साहित्यालोचन-डा० श्यामसुन्दरदास-पृ० २१२।

का सानुपातिक समन्वय होता है, वही उपन्यास वास्तव में सफल ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।

सामाजिक उपन्यासों में वातावरण-सृष्टि—

सामाजिक उपन्यासों में भी इस तत्व का महत्व रहता है। इस तत्व के अभाव में रचना की कलात्मक महत्ता क्षीण हो जाती है। डा० भगीरथ मिश्र ने इसी कारण से सामाजिक उपन्यासों में वातावरण सृष्टि की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है 'सामाजिक उपन्यासों में तो लेखक प्रायः अपने युग की देखी सुनी और अनुभूत पृष्ठभूमि लेता है और पाठक के समसामयिक होने के कारण उसको जानने और विश्वास करने का अवसर रहता है। आगामी युगों के लिए तो सामाजिक उपन्यासकार सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री प्रदान करता है। अतः मेरा तो विश्वास यह है कि यदि उपन्यासकार, अपने समाज का अत्यंत यथार्थ—यहाँ तक कि ऐतिहासिक यथार्थता को ध्यान में रखकर वास्तविक जीवन का चित्रण करता है तो वह न केवल साहित्य की सृष्टि करता है वरन् सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास के लिए भी सामग्री तैयार करता है या पृष्ठ भूमि बनाता है।[1]

वास्तव में सामाजिक उपन्यासों में वातावरण चित्रण एक साथ दो कार्य सिद्ध करता है। प्रथम उपन्यास को विश्वसनीय बनाता है और दूसरे बाद का उपन्यास काल के लिए एक सजीव इतिहास का कार्य भी कर सकता है।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पौराणिक ऐतिहासिक और सामाजिक तीनों ही प्रकार के उपन्यासों में देशकाल एवं वातावरण के चित्रण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

देशकाल और स्थानीय रंग—

स्थानीय रंग से हमारा तात्पर्य 'लोकल कलर' से है। इस प्रकार इसमें उपन्यासकार किसी विशेष स्थान के देशकाल वातावरण एवं व्यावहारिक जीवन का एक सच्चा खाका उपस्थित करता है। उदाहरण के लिए हम लखनऊ नगर को ले सकते हैं। यदि हम इस नगर का चित्रण करते समय यमुना काशी विश्वनाथ का मन्दिर, लाल किला आदि का वर्णन करेंगे तो निश्चित ही वह लखनऊ नगर का वास्तविक चित्रण न होगा और यदि इसके स्थान पर गोमती इमामबाड़ा छतरमंजिल आदि का वर्णन करेंगे तो पाठक स्वयं ही

---

१ काव्यशास्त्र-डा० भगीरथ मिश्र-पृष्ठ ८८।

लखनऊ की सड़कों पर अपने को भ्रमण करते हुए देखने लगेगा। इस प्रकार स्थानीय रंग के उपयोग से एक ओर कथानक की विश्वसनीयता बढ़ती है तो दूसरी ओर उसकी बहुलता से कथानक के बोझिल होने की भी सम्भावना रहती है। अतः इसका प्रयोग आनुपातिक दृष्टि से ही करना श्रेयस्कर होता है। वास्तव में स्थानीय रंग का महत्व दो कारणों से बढ़ जाता है। एक तो यह कि इसके होने से उपन्यास में प्रभावात्मकता आ जाती है तथा दूसरे यह कि उसकी कृत्रिमता नष्ट हो जाती है और स्वाभाविकता बढ़ जाती है। ये ही कुछ कारण हैं जिनके लिए उपन्यासों में स्थानीय रंग देना आवश्यक समझा जाता है। स्थानीय रंग ऐतिहासिक राजनैतिक तथा सामाजिक उपन्यासों में समान रूप से महत्व रखता है।[1]

देशकाल और विविध वर्णनों की सीमाएँ—

जैसा कि हमने स्थानीय रंग के विषय में कहा है कि उसके वर्णन में सदैव अनुपात का ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा रचना बोझिल हो जाती है। उसी प्रकार देश काल के वर्णन के सम्बन्ध में भी अनुपात और संतुलन का ध्यान रखना अनिवार्य है। उपन्यासकार को ऐसे वर्णन देते समय भी यह न भूल जाना चाहिए कि वह एक कथाकार है। उसका प्रधान कर्तव्य रचना को रोचक एवं सप्राण बनाना है अतः उसे देशकाल के विषय में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे स्वयं साध्य न बन जाय। जहाँ देश काल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वहाँ उससे जी ऊबने लगता है लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलटकर कथा सूत्र को ढूँढने लग जाते हैं। देश काल का वर्णन कथानक को स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए।[2] इसके लिए उपन्यास कार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे वर्णनों को जो कथा प्रवाह के विस्तार अथवा चरित्र विकास में साधक न होकर बाधक हों उनको सदैव अपनी रचना से दूर ही रखना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्णनों की योजना की ही न जाय प्रत्युत उचित स्थान पर उचित रीति से वर्णनों की भी अपेक्षा होती है। किसी स्थिति विशेष का समुचित अंकन न हो सकने के कारण कभी-कभी भावों की पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती और कोई अभाव-सा

१ हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास डा० प्रताप नारायण टंडन पृ ९९।

२ काव्य के रूप डा० गुलाब राय पृ १८१। द्वितीय संस्करण

खटकता रहता है। सूक्ष्म निरीक्षण के छोटे-छोटे चमत्कार द्वारा ही इतना शीघ्रता और पूर्णता के साथ वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न कराया जा सकता है। वातावरण के सफल तथा मनोरम चित्रण का कहानी के लिए बहुत मूल्य होता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संतुलित मर्यादित सीमित एवं उपयोगी देशकाल के चित्रण से एक ओर जहाँ उपन्यास की विश्वसनीयता बढ़ती है वहीं दूसरी ओर उपन्यास का कलात्मक सौन्दर्य भी बढ़ जाता है।

देशकाल (वातावरण सृष्टि) को हम निम्न दो भागों में रखकर प्रस्तुत अध्याय में उसका विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

१ वस्तु वर्णन एवं प्रकृति वर्णन
२ समाज वर्णन

वस्तु वर्णन-एवं प्रकृति-वर्णन—वस्तु वर्णन के अन्तर्गत हम भौतिक वर्णन गृह-किस वाटिका, बाजार, नदी पर्वत तीर्थ प्रासाद महालय नगर, ग्राम आस पास के भू-भाग आदि के वर्णनों को लेंगे। प्रकृति वर्णन पर हम वस्तु वर्णन से पृथक विचार भी करेंगे।

समाज वर्णन—समाज वर्णन में हम तत्कालीन समाज की सामाजिक राजनीतिक सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों को लेंगे।

आचार्य जी के पौराणिक उपन्यासों में देश काल का चित्रण—

पौराणिक उपन्यासों में हम केवल आचार्य चतुरसेन जी के वयं रक्षाम' नामक उपन्यास को ही रख सकते हैं। उसमें वर्णित देश काल के चित्रण को हम यहाँ संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करते हैं।

वस्तु वर्णन—

भौगोलिक—'वयं रक्षाम' के भौगोलिक चित्रण बड़े सजीव हैं। कहीं-कहीं तो विस्तृत भौगोलिक वर्णन होने के कारण कथा अवरुद्ध भी हो गई है। तत्कालीन भौगोलिक स्थिति के सन्दर्भ में उपन्यासकार ने स्वयं लिखा है 'उन दिनों भारत की भौगोलिक सीमाएं भी भी आज के जैसी न थीं। आ प्राच्य से लेकर अम्ब द्वीप तक—जोनी यवद्वीप स्वर्ण द्वीप लंका सुमात्रा आदि द्वीप-समूह स्थल-संश्लिष्ट थे और इन द्वीपों में नर, नाग देव दैत्य दानव असुर, मानुष आर्य व्रात्य सभी वंशों के जन एक साथ ही रहते थे। कुशद्वीप भी तब तक

१ हिन्दी उपन्यास श्री शिवनारायण श्रीवास्तव पृ ४२४। नवीन संस्करण

भारतवर्ष से भूमि-संश्लिष्ट था। उस समय तक विन्ध्य के उस पार भारतवर्ष के उत्तरापथ में आर्यावर्त था जिसमें सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल नाम से दो आर्य राज्यसमूह थे। सूर्यमण्डल में मानव कुल और चन्द्रमण्डल नाम में एल कुल राज्य करता था।[१] इसके अतिरिक्त भी उसने प्रस्तुत उपन्यास में स्थान-स्थान पर भौगोलिक विभाजन पाषाण युग[२] धातु युग[३] प्रलय[४] नदी[५] पर्वत[६] आदि के विवरण भरे पड़े हैं। लगभग पच्चीस पृष्ठों[७] के इन विवरणों के कारण उपन्यास का मुख्य कथानक खण्डित हो गया है। किन्तु इस विवरण के द्वारा उपन्यासकार ने तत्कालीन देशकाल का सफल चित्रण किया है।

राहुल जी ने अपनी पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' के प्रारंभिक पृष्ठों में इसी युग का चित्रण किया है। किन्तु उसमें लेखक ने भौगोलिक वर्णन पर कहीं भी प्रकाश नहीं डाला है। डा० रांगेय राघव ने अवश्य अपने उपन्यास 'मुर्दों का टीला' में इस ओर किंचित मात्र संकेत किया है।

निर्माण स्थिति—आचार्य चतुरसेन जी ने वातावरण सृष्टि के लिए किले आदि के जो वर्णन दिए हैं वे भी बिल्कुल सजीव हैं। उदाहरण के लिए 'वयं रक्षामः' में प्राप्त लंका नगर का वर्णन देखिए।

'प्रहस्त ने लंका में प्रवेश किया। जब वह विशाल नगरद्वार पर पहुँचा तो उसने देखा—द्वार पर दृढ़ लौह कपाट लगे हैं। कपाटों में मोटी-मोटी शंखलाएँ लगी हैं। शंखलाओं पर विराट उपल यन्त्र चढ़े हुए हैं। ऊपर की बुर्जियों पर अग्नि मुसुण्डिकाएँ रखी हैं। नगर के परकोटे के भीतरी भाग में स्वर्णखचित शिल्प कारीगरी चित्रित है। बीच बीच में मणि-मूँगा जड़े हैं। परकोटे के बाहर विशाल खाई जल से परिपूर्ण है। खाई पर द्वार तक विशाल फलक मार्ग हैं—जिनमें दुर्भेद्य सुदृढ़ संक्रम यन्त्र बने हैं। संक्रम स्वर्ण के खम्भों और स्वर्ण-वेदियों पर

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १३ साथ ही देखिए हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकुर्जी—अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल पृ १२६ १२७।
२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १२।
३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ १२।
४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १० से ३२।
५ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ३३ से ३४।
६ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १११।
७ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १३ ४९।

मायाविनी है। प्राचीरों पर दुर्दम सुभट चौकसी कर रहे हैं।[1] प्रस्तुत उद्धरण द्वारा लंका नगर एवं उसके परकोटे की एक झाँकी मिल जाती है। वर्णन तत्कालीन युग के ही अनुरूप है। इसके अतिरिक्त 'वयं रक्षाम' में तत्कालीन नगर एवं किले[2] आदि की निर्माण-स्थिति के कितने ही वर्णन प्राप्त होते हैं। तत्कालीन युद्धों के भी जितने वर्णन आए हैं, वे भी यथार्थ ज्ञात होते हैं। कूट युद्ध चक्र व्यूह द्वन्द्व युद्ध आदि के वर्णन भी इसमें सविस्तार प्राप्त है। सेना के साथ जो आवश्यक सामग्री रहती थी उसका भी इसमें संकेत मिलता है।

'वयं रक्षाम' में समाज चित्रण—

'वयं रक्षाम' में उपन्यासकार ने तत्कालीन देश की सामाजिक राजनीतिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का सफल अंकन किया है। इसका कथा क्रम भारत भूमि मध्य एशिया अरब अफ्रीका और पूर्वी द्वीपसमूह तक फैला हुआ है। इन सभी का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत ग्रंथ में उपन्यासकार ने किया है यद्यपि इसके विवरण के आधिक्य से कथा तत्व बाधित ही हुआ है। यहाँ हम तत्कालीन युग की विभिन्न परिस्थितियों पर भिन्न-भिन्न विचार करेंगे—

सामाजिक स्थिति—उस युग में आर्यों और देवों को छोड़कर इतर जातियों की सामाजिक-स्थिति सुगठित न थी। सुरा और सुन्दरी का इनमें आवश्यकता से अधिक प्रचलन था।[3] मुक्त सहवास[4] विवसन विचरण[5], हरण[6] और पलायन[7] आदि उनमें प्रचलित था। नर मांस की खुले बाजार बिक्री

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ २४ वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ३, ४ में भी इसी प्रकार का लंका के दुर्ग दुर्ग और खाई का वर्णन प्राप्त है।

२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ९८१।

३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ८९।

४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ९।

५ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ८।

६ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ २६१।

७ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ९७१।

होती थी।[1] विवाह बन्धन केवल आर्यों में था।[2] रावण ने विवाह बन्धन की मर्यादा अनार्यों में भी स्थापित की थी।[3] यद्यपि दैत्य और असुर देवों तथा आर्यों के भाई बन्धु ही थे परन्तु रहन-सहन और विचार व्यवहार में दोनों में बहुत अन्तर पड़ गया था। उस युग की सामाजिक स्थिति अस्त-व्यस्त थी। शक्तिशाली शासक होता था। आर्यों और देवों में केवल राज्य की परम्परा चल रही थी। देव दैत्यों के युद्ध से जनता संत्रस्त थी। देव दैत्य, दानव असुर, आर्य व्रात्य नाग गन्धर्व किन्नर, यक्ष रक्ष आदि अनेक नृवंश उस युग में विस्तार पा रहे थे जो परस्पर रक्तगत सम्बन्ध थे किन्तु परस्पर विग्रह करते थे। बारह दारुण देवासुर संग्राम हो चुके थे। आचारों की भिन्नता ही नृवंश में इस विग्रह भावना का मूल कारण थी।[4] यद्यपि उस समय पृथ्वी का विस्तृत भू भाग रिक्त पड़ा था फिर भी भूमि के लिए युद्ध होते थे। जो भूमि स्वच्छन्द थी वहां कोई बसना नहीं चाहते थे वरन् वे दूसरों की अधिकृत भूमि छीनना चाहते थे।[5] केवल आर्य और देवता ही अपने को पुरुष समझते थे 'आर्य लोग अपने को मनु की सन्तान अथवा मानव कहते थे और यहां के मूल निवासियों को आत्मसात् करने के बदले उन्हें दनु की सन्तान अथवा दानव कह कर दूर दूर रखते थे। यहां तक कि जिन मूल निवासियों से उन्होंने आर्य संस्कृति के कई तत्व स्वीकार करके उनसे मैत्री भी स्थापित कर ली थी उन्हें भी वे पूरा मानव न समझकर वानर (मनुष्य कोटि में संदिग्ध जीव) समझते थे।[6] आर्यों में विवाह मर्यादा दृढ़मूल हो चुकी थी और स्त्रियों के लिए पुरुष 'पति' या 'स्वामी' हो गए थे उनके शरीर और जीवन की सम्पूर्ण सत्ता पर उनका अखण्ड एवं सर्वतन्त्र अधिकार हो गया था। यहां तक इस मर्यादा का रूप बना कि यदि वीर्य किसी अन्य पुरुष का भी अनुदान किया हो तो भी सन्तान का पिता उस स्त्री का वह 'पति' ही माना जायगा, जिससे उसका

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ९९६।

२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ४१४।

३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ- ११।

४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १४९।

५ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ १४९-५०।

६ तुलसी दर्शन—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र पृ १६१, वयं रक्षामः में भी इसी प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं १५०-५१।

विवाह हो चुका हो।[1] बहुत से ऋषियों ने तो वीर्यदान अपना एक पेशा ही बना लिया था।[2] इस प्रथा से आर्य जाति को यह लाभ तो अवश्य हुआ कि वह एक संगठित जाति हो गई थी परन्तु इससे एक नई और महत्वपूर्ण बात यह उत्पन्न हो गई थी कि उनके राज्य सम्पत्ति आदि सब वैयक्तिक होते गए और केवल ही बड़े मानवों और पुरुषों के महाराज्यों का विस्तार हो गया था।[3] परन्तु इसमें स्त्रियों के अधिकारों का खात्मा हो गया था। पत्नी का अपना कुल गोत्र कुछ भी न रहा। पितृ मूलक वंश परम्परा में पिता का कुल गोत्र केवल पुत्र को ही मिलता था पुत्री को नहीं।[4] आर्यों की जाति में स्त्री की सत्ता न थी। वह मात्र पुरुष की पूरक थी।[5] पिता की सारी राज्य-सम्पत्ति का निश्चित रूप से पुत्रों को ही उत्तराधिकार मिलता था-पुत्रियों को नहीं।[6] स्वयंवरों की प्रथा बड़े-बड़े आर्य कुलों में प्रचलित थी परन्तु उसमें भी कन्या को अपनी पसन्द का पुरुष चुनने का अधिकार न था। पिता ही उस चुनाव की कोई शर्त रख देता था। और उस शर्त को पूरा करने पर वह कन्या उसी को दे दी जाती थी। ऐसे स्वयंवरों में कन्या को 'वीर्यशुल्का' कहा जाता था। इसका अर्थ था-पराक्रम के मूल्य पर कन्या की खरीद।[7] कुछ कुछ कन्या के कुल के धन भी लेते थे।[8] राजा लोग अपनी कन्याएँ पुरोहितों को धन दक्षिणा की भाँति भी दे देते थे। जैसे दशरथ ने ऋषि शृङ्ग को अपनी कन्या शान्ता दे दी थी।[9] बहुपत्नी की प्रथा थी। पति को अनेक स्त्रियों से विवाह करने के अधिकार प्राप्त थे किन्तु पत्नी को नहीं। विवाह के अतिरिक्त आर्य लोग दासियाँ भी रखते थे। आर्य राजाओं के अन्तःपुर में चार प्रकार

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ५२१ साथ ही देखिए हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ १६२।

२ वयं रक्षामः पृ ५२१।

३ वयं रक्षामः पृ. ५२४।

४ वयं रक्षामः पृ ५२४।

५ वयं रक्षामः पृ ५२५।

६ वयं रक्षामः पृ ५२६।

७ वयं रक्षामः पृ ५१५।

८ वयं रक्षामः पृ ५२५।

९ वयं रक्षामः पृ ५२५।

१० वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ५२६।

की पत्नियाँ राक्षसी थीं।[1] दाय भाग और उत्तराधिकार के संबंध में भी आर्यों में प्रथम यही विधि प्रचलित थी कि राज्य सब पुत्रों में बाँट दिया जाता था।[2] किन्तु आगे अभिषिक्त ज्येष्ठ ही छत्रपति होता था शेष उसके अनुजीवी होते थे।[3]

रावण के राज्य स्थापन के पश्चात् लंका में भोग विलास की मात्रा बढ़ी थी। वहाँ यौवन के नये नवीन तरुण किशोरी के मन और प्राणों को हरने वाली दो वस्तुओं का प्राबल्य था-एक वेश्यालय दूसरा द्यूतालय। इसलिए लंका के श्रेष्ठ, चतुर नागरिक राक्षस वेद-विद्या शस्त्र-विद्या अस्त्र-विद्या और रत्न विद्या और मोहिनी-विद्याएँ भी सीखते थे।[4]

इसके अतिरिक्त भी आचार्य चतुरसेन जी के इस उपन्यास से सामाजिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन करानेवाले कितने ही उद्धरण उद्धृत किए जा सकते हैं।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ—

'वयं रक्षामः' में तत्कालीन सांस्कृतिक हलचल तो बिल्कुल ही स्पष्ट है। राम रावण कालीन धार्मिक परिस्थितियों के विषय पर उपन्यासकार ने इसमें पर्याप्त ध्यान दिया है। वह काल आर्यों और अनार्यों के संघर्ष का काल था।[5] आर्य और देव परस्पर संगठित थे और उनका संगठन अतुलनीय था। रावण ने आर्यों के इस संगठन को जड़ मूल से उखाड़ फेंकने की योजना बनाई थी। इसीलिए उसने सांस्कृतिक विप्लव का सूत्रपात किया था। रावण के रक्त में शुद्ध और बहिष्कृत दोनों ही आर्यों का रक्त था। उसका पिता आर्य विश्रवा था। और माता दैत्य राजपुत्री थी। वेद का उस समय जो स्वरूप था उसे उसने अपने पिता से बाल्यकाल ही में अध्ययन कर लिया था। तब तक वेद ही

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ४९६।

२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ४९६।

३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ४९७।

४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ११४।

५. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ११ साथ ही देखिए—

१ वैदिक साहित्य और संस्कृति बलदेव उपाध्याय पृ ४६८।
हिन्दू सभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल पृ १८९ १९१।

आर्यों का एक मात्र साहित्य और धर्मवचन था जो केवल मौखिक था लेखबद्ध न था। रावण के मन में क्षोभ तत्व काम कर रहे थे। उसका पिता शुद्ध आर्य और विद्वान ऋषि था। उसकी माता शुद्ध दैत्य वंश की थी। उसके बन्धु बान्धव बहिष्कृत आर्य वंशी थे।[1] उन्हें क्रिया कर्म से च्युत कर दिया गया था। बहिष्कार का सबसे कष्ट रूप ब्राह्मणों पुरोहितों द्वारा संस्कार-क्रिया से उन्हें वंचित रखना तथा यज्ञों से बहिष्कृत समझना था। यज्ञ और वेद का उस समय पर्याप्त मान था उससे वंचित कर देना एक ऐसी अपमानजनक बात थी जिसने इन जातियों में आर्यों के विरुद्ध दैत्यों तथा असुरों से भी अधिक, जो आर्यों के दायाद बान्धव थे द्वेष और विरोध की ज्वाला सुलगा दी थी।[2] रावण ने सबसे प्रथम वेद का सम्पादन किया था। ऋचाओं पर उसने टिप्पणियाँ तैयार कीं। मूल मंत्रों की व्याख्या की। व्यवहार अध्याय को बीच-बीच में ग्रथित किया। इस प्रकार मूल वेद और रावण कृत टिप्पणियाँ और व्याख्याएं सब मिल कर वेद का एक ऐसा संस्करण हो गया जो जम्बूद्वीप के सब आर्यों तथा आर्येतरों के लिए मान्य हो गया कुछ तो वेद के नाम से और कुछ रावण के प्रभाव से। आगे चलकर यही रावण भाष्य टिप्पणी सहित 'कृष्णयजुर्वेद' के नाम से विख्यात हुआ। कृष्णयजुर्वेद में पशुवध मद्यपान स्त्री समर्पण शिश्न पूजन गोवध नरवध ब्राह्मण वध कुमारी वध आदि का विधान सम्मिलित हो गया जो वास्तव में बहिष्कृत आर्यों एवं असुरों की परिपाटी थी।[3] रावण ने आर्यों का समूल नाश करने के लिए 'रक्ष संस्कृति' की स्थापना की थी। उसका नारा था 'वयं रक्षामः' हम रक्षा करेंगे। उसने सहस्रों समर्थ राक्षसों को विविध छद्म वेष धारण करके भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भेज दिया था, जो सब जातियों में रावण द्वारा स्थापित राक्षस धर्म का प्रचार करते तथा लोगों को राक्षस बनाते थे।[4] यह राक्षस शिश्न-पूजक थे। उनमें अधिकांश आर्य धर्म

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ १६१।

२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ. १६१।

३ भारतीय संस्कृति का इतिहास आचार्य चतुरसेन पृ २४२ इसके साथ ही देखिये तैत्तिरीयापस्तंब हिरण्यकेशी कांड ६ प्र० १ अ० ८।

४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ १६२।

विरोधी थे। उनमें हिंसामय यज्ञ[1], सुरापान[2] मांस भक्षण[3] स्त्री सहवास[4], नरबलि[5] गोवध आदि प्रथायें प्रचलित थीं। रावण ने बल पूर्वक वैदिक यज्ञानुष्ठानों को आसुरी ढंग पर करने के अनेक उपाय किए—उसने सहस्त्रों राक्षसों को यह आदेश दिया कि जहाँ कहीं आर्य ऋषि रावण विरोधी विधि से यज्ञ कर रहे हों वहाँ बलपूर्वक अस्थि-मांस और मद्य की आहुति दो। इतना ही नहीं उसने राक्षसों द्वारा यज्ञकर्ता ऋषियों ही को मार कर बलि देना प्रारम्भ कर दिया।[6] नर भक्षण भी उसका एक व्यापार हो गया।[7] इस समय असुरों नागों एवं आर्यों में विभिन्न धार्मिक पद्धतियाँ प्रचलित थीं।[8] आर्यों ने वशिष्ठ के नेतृत्व में वैदिक विधि-परम्परा दूसरी ही स्थापित की थी। उधर नारद की साम-परम्परा देवों में और दैत्यों में भी प्रचलित थी।[9] भृगु पृथक ही आथर्वणी परम्परा प्रचलित कर रहे थे। इस पर भी आर्यों को बड़ा गर्व था। वे तनिक *विधि भंग होने पर ही आर्यजनों को बहिष्कृत कर देते थे।*[10] रावण ने इस

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ १६१।
२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १६१।
३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १६१।
४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ १६१।
५ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १६१।
६ विश्वामित्र सम्भवतः इसी कारण से यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को दशरथ जी से माँग ले गए थे। 'निसिचर निकर सकल मुनि खाए' से भी यही भास होता है। आदि कवि ने भी लिखा है—

भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नर मांसोपजीविभिः।
ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः॥

७ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १४९ साथ ही देखिए—
 १ भारतीय संस्कृति का इतिहास, आचार्य चतुरसेन पृ २१०।
 २ हिन्दू सभ्यता डा० राधा कुमुद मुकर्जी, अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ११०।
 ३ अध्यात्म रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग २, पृ ४६ ४७।
८ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १४९।
९ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १५०।
१० वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १५०।

ग्रस्त व्यस्त स्थिति से भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा की।[1] उसने रक्ष संस्कृति की स्थापना करके समूचे भूखंड को समान वैदिक संस्कृति में दीक्षित करना प्रारंभ कर दिया था। वैदिक धर्म में उसने समूचे भूखंड का समन्वय किया।[2]

उधर राम भी एक महान् सांस्कृतिक पुरुष थे। उन्होंने रावण की महत्त्वाकांक्षा को पहचान लिया था। उन्होंने आर्य संस्कृति को संकुचित घेरे से बाहर निकाला। उनका महत्सांस्कृतिक कार्य रावण वध और राक्षस वंश की समाप्ति थी।[3]

इनके अतिरिक्त उस काल में अन्य कितने ही धार्मिक अनुष्ठान प्रचलित थे।[4] विभिन्न रीति-रिवाजों[5] नृत्य वाद्य[6] अन्त्येष्टि[7] आदि के भी वर्णन इसमें प्राप्त हैं।

---

१ ....ब्राह्मण लोगों ने तो आर्य संस्कृति के प्रसार और ज्ञान-विज्ञान के विचार और प्रचार के लिये तपोवनों में विश्वविद्यालय खोलकर शासन के कार्य से उदासीनता सी धारण कर ली थी। उधर क्षत्रियों को इसीलिये उनकी उपेक्षा का निर्बाध अवसर मिल गया। फलतः वे कभी किसी ऋषि की गायें चुरा लेते तो कभी किसी का सिर ही काट डालते थे। .... भारत की ऐसी अस्त-व्यस्त स्थिति से भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा यदि किसी ने की तो उपनिवेशाकांक्षी लंकाधिपति रावण ने की। वह भौतिक विज्ञान का महापंडित था। ....उसने देखा कि यहाँ आर्य लोग अपने को मनु की सन्तान अथवा मानव कहते हैं और यहाँ के मूल निवासियों को आत्मसात् करने के बदले उन्हें मनु की संतान अथवा दानव कह कर दूर रखते हैं।..................आदि। तुलसी दर्शन डा० बलदेव प्रसाद मिश्र पृ १६१।

२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १२० साथ ही देखिए, हिन्दू सभ्यता, डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल पृ ११०-१११।

३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ४२५ ४३० तक एवं भारतीय संस्कृति का इतिहास पृ २४७।

४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ४१५ ४१६, ४८९ ४९०।

५ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ४९५।

६ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ४९६।

७ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ५११।

राजनीतिक परिस्थिति—'वयं रक्षाम' में तत्कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जैसा कि प्रथम ही कहा जा चुका है कि आर्यों का और देवों का संगठन उस काल में अत्युत्तम था। उन्होंने लोकपालों दिग्पालों की स्थापना की थी जो आर्यों के प्रांत भाग की रक्षा करते थे। देवों की प्रबल जातियों में तब मरुत वसु, आदित्य प्रभावशालिनी थीं। चोटी के पुरुषों में इन्द्र यम वरुण की वंश परम्पराओं के पुरुष थे। यम वरुण इंद्र और कुबेर चार लोकपाल थे।[1] अनार्यों की भारत और भारत की सीमाओं पर उन दिनों अनेक जातियाँ थीं। इनमें महिष कपि नाग मृग ऋक्ष वात्य आर्जिक राक्षस दैत्य दानव कीकट महावृष वाल्हीक मूंजवन आदि प्रमुख थीं। इन सबका संयुक्त नाम अनार्य ही था।[2] इन सबके अपने छोटे छोटे राज्य थे। रावण ने प्रथम इन छोटे-छोटे अनार्य राजाओं को ही अपने अधिकार में किया। मय दानव की पुत्री मंदोदरी से विवाह करके उसने एक प्रबल जाति को सम्बंधी बना लिया था। स्थान स्थान पर राजा लोग अपने उपनिवेश स्थापित कर रखते थे। रावण ने भी देवों के चारों लोकपालों को पराजित करके स्थान-स्थान पर अपने उपनिवेश स्थापित कर दिए थे। रावण ने राक्षसों तथा दक्षिण के बहिरंग भारतीयो की एक संयुक्त सेना बनाई थी उसी से उसने प्रथम अपने भाई कुबेर को दलित किया उसके बाद यम और वरुण के उत्तराधिकारियो को। इंद्र को बन्दी बनाकर वह लंका ले आया था। मार्ग मे उसने कितने ही छोटे-छोटे राजाओं को पराजित किया। केवल दो वीरों से उसे मुँह की खानी पड़ी थी—एक हैहय पति कार्तवीर्य अर्जुन से माहिष्मती में दूसरे किष्किन्धा के कपिराज बाली से। इन दोनों से पराजित होकर उसने मैत्री संबंध स्थापित कर लिया था।[3] उस काल में यदि पराजित राजा अधीनता स्वीकार कर ले तो उसे नष्ट न करके मित्र बना लिया जाता था। रावण ने इसी नीति के अनुसार अनेक राजाओं को अपना मित्र बना लिया था। इस काल में सर्वत्र राजतंत्र ही था। सम्पूर्ण सत्ता राजा के हाथ मे ही रहती थी। आर्यों के यहाँ ब्राह्मणों का सम्मान था। और अनार्य उन्हें अपना शत्रु समझते थे। छोटे छोटे

१ भारतीय संस्कृति का इतिहास-आचार्य चतुरसेन-पृ ९४२ एवं वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन-पृ १६२।

२ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन-पृ १५२।

३ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन-पृ ९१९-२१ एवं ३४६-४७ मे वर्णन वाल्मीकि रामायण से मिलती है देखिये वाल्मीकि रामायण उत्तरकांड सर्ग १८-१९।

राज्यों को एक सूत्र में बाँधने के लिए राजसूय यज्ञ करने की प्रथा थी। इसके पश्चात् अश्वमेध यज्ञ किया जाता था। दोनों ही यज्ञों में दिग्विजय यात्रा की जाती थी। कुछ लोग स्वेच्छा से अधीन होते थे कुछ झुककर। फिर वे सब राजा लोग आकर यज्ञ में सेवा कार्य करते थे। तब यज्ञ कर्ता को सम्राट की या महाराज की उपाधि मिल जाती थी। अधिकांश आर्य राजा विलासी हो गए थे। उनकी अधिकांश सैनिक शक्ति देवासुर संग्रामों में क्षीण हो चुकी थी। आर्य राजाओं का संगठन भी टूट चुका था। जिस समय रावण अनार्यों को संगठित कर रहा था उस समय आर्य नरेश छोटी-छोटी बातों के लिए आपस में लड़-भिड़ रहे थे। राष्ट्रीयता की भावना बिल्कुल विलुप्तप्राय थी।[1] किन्तु अनार्यों की इस बढ़ती शक्ति से कुछ ब्राह्मण सजग हो चले थे। परशुराम और विश्वामित्र का कार्य इस दिशा में सराहनीय था।[2] अगस्त्य ऋषि का भी राक्षसों पर आतंक था। उस काल में ऋषिगण भी सशस्त्र रहते और युद्ध में वीरता पूर्वक लड़ते थे। आत्म-रक्षा के बिना समर्थ हुए जनस्थान तथा दण्डकारण्य में वे रह भी नहीं सकते थे। उनके उपनिवेश भी एक प्रकार के छोटे से जनपद ही थे जहाँ प्रमुख ऋषि का शासन राजा ही की भाँति माना जाता था—और उन्हें कुलपति समझा

---

१ 'मर्यादा पुरुषोत्तम राजा रामचन्द्र का जिस समय आविर्भाव हुआ था उस समय क्षत्रिय लोग उत्पाती हो गये थे। ...राष्ट्रीयता तो उस समय विलुप्त प्राय थी। यही देख लीजिये कि पूर्वोत्तर प्रदेश के नरेश (विदेहराज) के यहाँ जब स्वयंवर हुआ तो पश्चिमोत्तर प्रदेश के नरेश (दशरथ) के यहाँ निमन्त्रण तक न गया। (तुलसी दर्शन डा० बलदेवप्रसाद मिश्र पृ १६०-६१)

२ ' ...इधर ब्राह्मण लोग भी इस परिस्थिति से कुछ सजग हो चले थे और उनमें भी परशुराम के समान क्रान्तिकारी योद्धा का आविर्भाव हो गया था। ......(किन्तु) भारत का राष्ट्रीय संगठन उनके द्वारा न हो सका। विश्वामित्र पहिले स्वतः राजा रह चुके थे। उन्हें क्षत्रित्व और ब्राह्मणत्व दोनों का पूर्ण अनुभव था।......यह उन्हीं का प्रयत्न था कि रामचन्द्र जी तपोवनों की रक्षा और दुष्ट दानवों के दमन के लिये प्रवृत्त हुए। यह उन्हीं का प्रयत्न था कि अनिमंत्रित होते हुए भी रामचन्द्र जी सीता स्वयम्वर के अवसर पर मिथिला गये और अपना पराक्रम दिखाकर उत्तरीय भारत के आर्यावर्त के दो दूरस्थ संभ्रान्त राजकुलों को स्नेह सूत्र में बाँधकर आर्य संगठन का प्रथम सूत्रपात किया।' (तुलसी दर्शन पृष्ठ १६२)।

जाता था।[१] प्रस्तुत उपन्यास में इसके अतिरिक्त तत्कालीन राज्य व्यवस्था राजनीति कूट नीति पर राज्य सम्बन्ध सैन्य व्यवस्था आदि पर भी यत्र-तत्र प्रकाश प्राप्त होता है।

आर्थिक परिस्थितियाँ—

'वयं रक्षामः' में जिन राजवंशों का वर्णन किया गया है उनकी आर्थिक स्थिति उत्तम थी। रावण की आर्थिक स्थिति अत्यंत सुदृढ़ थी। समृद्धि की वृद्धि से उसने अपनी लंका को मानो सोने की ही बना डाला था।[२] साधारण जन की आर्थिक स्थिति का इसमें विशेष चित्रण नहीं प्राप्त होता। इस काल में लोभी धोखेबाज ठग व्यापारी वणिक को पाणिक कहते थे। इसका अर्थ 'पण लोभी' होता था। ऐसे लोभी पणिकों को भी आर्य लोग बहिष्कृत करके दक्षिण में निष्कासित करते थे। दक्षिण में आकर भी ये लोग पण्यकर्म करने लगे थे।[३]

समय के बोधन के लिए उपन्यासकार ने कई स्थानों पर प्रकृति का भी आश्रय लिया है। जिसका हम आगे वर्णन करेंगे। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि इस उपन्यास के वर्णनों द्वारा पाठक के सामने तत्कालीन युग और समय प्रत्यक्ष हो उठता है। पात्र उनकी वेश भूषा एवं रहन-सहन भी उस युग के सर्वथा अनुरूप ही है।

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण सृष्टि :—

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासों के कथानकों को पाँच भागों में विभिन्न युगों के अनुसार रख चुके हैं। 'वयं रक्षामः' को निकाल देने के पश्चात् हम उसके समस्त ऐतिहासिक उपन्यासों को चार भागों में रख सकते हैं—

१ बौद्ध काल
२ मध्य काल
३ मुगल काल
४ अंग्रेजी राज्यकाल और आधुनिक काल।

प्रस्तुत अध्याय में हम सभी कालों के उपन्यासों में प्राप्त वातावरण सृष्टि पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन-पृष्ठ ४११।
२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन-पृष्ठ १०६-८।
३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन-पृष्ठ १९०-साथ ही देखिए-भारतीय संस्कृति का इतिहास-पृष्ठ २४१।

बौद्ध कालीन उपन्यासों में दशा चित्रण—

इस काल से सम्बंधित आचार्य चतुरसेन जी का केवल एक उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' है। इसका सम्बन्ध भारतीय इतिहास के एक महत्वपूर्ण काल ६०० ई० पू० से ५० ० ई० पूर्व से है। इसमें गान्धार से लेकर मगध और अंग तक के राजनीतिक धार्मिक सांस्कृतिक, एवं सामाजिक ऊहापोह का कलात्मक अंकन प्राप्त होता है।

वस्तु वर्णन—

नगर वधू में इस प्रकार के कितने ही चित्रण प्राप्त है। 'वैशाली'[1] 'राजगृह'[2] 'चम्पा'[3] श्रावस्ती[4] आदि नगरों के उनके आसपास के भू भागों के बड़े सजीव वर्णन उपन्यासकार ने इसमें प्रस्तुत किए हैं। संथागार[5] दुर्ग[6] बाजार आदि के भी बड़े यथार्थ वर्णन प्रस्तुत उपन्यास में प्राप्त हैं। 'नगरवधू'[7] में प्राप्त संथागार का चित्रण देखिए—

'संथागार का सभा भवन मत्स्य देश के उज्ज्वल श्वेत संगमरमर का बना था। और उसका फर्श चिकने और प्रतिबिम्बित काले पत्थर का बना था। उसकी छत एक सौ आठ खम्भों पर आधारित थी। ये खम्भे भी काले पत्थर के बने थे। सभा भवन के चारों ओर भीतर की तरफ नौ सौ निन्यानबे हाथी दांत की चौकियाँ रखी थी, जिन पर अपनी-अपनी नियुक्ति के अनुसार आठों कुल के सम्मणगण आ-आकर साकार चपचाप बैठ रहे थे। भवन के बीचों बीच सुन्दर चित्रित हरे रंग के पत्थर की एक वेदी थी। जिस पर भी बहुमूल्य स्वर्ण खचित चाँदी की चौकियाँ रखी थीं।— ......'[8]।

संथागार का प्रथम उपर्युक्त वर्णन बड़ा ही चित्रमय है। केवल पढ़कर ही

---

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १ से ४।
२ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ९८-९९।
३ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ २३०।
४ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ २८५।
५ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन, पृ १२ १३, २८ २९।
६ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ- १२ १३, २८ २९।
७. वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ३।
८. वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन पृ १२ १३।

धनकर बलात् में उसकी पुत्री अम्बपाली को बर्बरता से औरस मे दी—मा उपभोग किया था।[१] स्त्री बिल्कुल असहाय थी। अम्बपाली इच्छा न रहते हुए भी विवश नगरवधू बनाई गई।[२] कुण्डनी कोड़े मार-मार कर विषकन्या बना गई।[३] गांधार कुमारी कलिंगसेना की इच्छा का भी कोई मूल्य नहीं समझा गया। उदयन से प्रेम करते हुए भी उन्हें विवश होकर वृद्ध प्रसेनजित से विवाह करने को बाध्य होना पड़ा था।[४] इसी प्रकार चन्द्रप्रभा सोमप्रभ से प्रेम करती थी किंतु उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह करना पड़ा विदूडभ से।[५] इस युग में विलासिता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी।[६] खान पान में किसी प्रकार का परहेज न था। सभी मुख्य अवसरों पर मांस और मदिरा का खुलकर सेवन होता था। पारिवारिक जीवन में भी मांस और मदिरा का प्रयोग होता था। 'मधु गोलक' और 'आसव' का भी उपयोग होता था। वाजेन का प्रचलन था। भुने कुरकुरे मांस खण्डों का प्रयोग प्रचलित था।[७]

इस काल में वर्ण संकर संतानें बढ़ रही थीं। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने इतरवंश की नारियों को अपने उपभोग के लिए तो अपना लिया था किन्तु उनसे उत्पन्न सन्तानों को उन्होंने नहीं अपनाया था।[८] उन सन्तानों को वे अपने कुल और गोत्र से अलग ही रखते थे जिससे वर्णसंकरों की एक नवीन जाति बनती जा रही थी। जो आर्यों से अधिक शक्तिशालिनी एवं प्रतिभा शालिनी थी। मगध का राजकुल स्वयं संकर था। प्रसेनजित के दासी पुत्र विदूडभ ने ही जो संकर था—उसे सिंहासनच्युत कर दिया था। सम्भवतः यही गम्भीर रहस्यपूर्ण संकेत—जैसा कि आचार्य चतुरसेन जी ने 'प्रवचन' में कहा है—प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहते थे।[९]

---

१ वैशाली की नगरवधू पृ ७२१ ७२४ ७२५।
२ वैशाली की नगरवधू पृ १२ से १७ तक।
३ वैशाली की नगरवधू पृ ७० से ८१ तक।
४ वैशाली की नगरवधू पृ २८५ से २९४ तक।
५ वैशाली की नगरवधू पृ ४६९ से ४७१ तक।
६ वैशाली की नगरवधू पृ १५२ से १५४ तक।
७ वैशाली की नगरवधू, पृ १४२ १४३।
८ वैशाली की नगरवधू पृ १५२ १५३।
९ यह सत्य है कि यह उपन्यास है। परन्तु इससे अधिक सत्य यह है कि यह एक गम्भीर रहस्यपूर्ण संकेत है। जो उस काले पर्दे के प्रति है जिसकी ओट

साधारण जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। भूखी-नंगी-जनता अत्याचार सहन करती हुई जीवन-यापन कर रही थी। राजाओं और विशेषकर धन कुबेरों के यहाँ धन सिमिट कर एकत्र हो गया था।[1] भद्रभद्र (सोमप्रभ) द्वारा अम्बपाली के प्रासाद का स्वर्ण वाली घटना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल की साधारण जनता को अन्न प्राप्त न था। और सामन्तों के यहाँ वह आवश्यकता से अधिक भरा हुआ था।[2]

राजनीतिक परिस्थिति —

प्रस्तुत उपन्यास में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ विशेष उभरी हुई हैं। उस युग में भारत में बहुत छोटे-छोटे राज्य थे। कुछ गणतन्त्रात्मक थे और कुछ राज सत्तात्मक। गणराज्यों में वज्जियों मल्लों एवं शाक्यों के राज्य प्रमुख थे। अवन्ती कोशल वत्स्य मगध चम्पा आदि राज्य सत्तात्मक थे। प्रद्योत प्रसेनजित उदयन बिम्बसार एवं दधिवाहन क्रमश इन राज्यों के सम्राट थे। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली थी। इस संघ में विदेह, लिच्छवि ज्ञात्रिक वज्जी उग्र भोज ऐक्ष्वाकु और कौरव ये आठ कुल सम्मिलित थे। यह सब राज्य शक्तिशाली एवं सम्पन्न थे। कोई कोई गण अत्यन्त दुर्बल थे। राजनीतिक हलचलें राजधानी तक ही सीमित थीं। सभी गणों की सरकारें अपनी वैदेशिक नीति में विशेष सतर्क थीं। जयराज की मगध यात्रा वाली घटना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[3] सरकारों के गुप्तचर विभाग पर विशेष बल दिया जाता था। जासूसी कार्यों के लिए विष कन्याओं का उपयोग होता था। मगध राज की कुण्डनी एक ऐसी ही गुप्तचर थी। मगध के महामात्य वर्षकार भी वैशाली में गुप्तभेद ज्ञात करने के ही उद्देश्य से आए थे।[4] प्रसंगवश

में आर्यों के धर्म, साहित्य राजसत्ता और संस्कृति की पराजय और मिश्रित जातियों की प्रगतिशील संस्कृति की विजय सहस्राब्दियों से छिपी हुई है जिसे सम्भवतः किसी इतिहासकार ने आँख उठाकर नहीं देखा है (वैशाली की नगरवधू प्रवचन)।

१ वैशाली की नगरवधू, पृ २८६।

२ वैशाली की नगरवधू, पृ २९९ तथा ३१२ १३।

३ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ ३१३ ३२०।

४ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ ३०९ ३१६ तक।

उनका एक सफल गुप्तचर था। वैशाली का गुप्तचर विभाग भी सक्षम था। जयराज मगध में गुप्तचर बन कर ही गया था।[2]

स्त्रियों के लिए ही उस काल में सम्राट परस्पर झगड़ बैठते थे। वैशाली का महायुद्ध एक स्त्री के लिए ही हुआ था। विलासिता एवं ऐश में आकंठ तक डूबे हुए सामन्त और राजा सुरा और सुन्दरी के अतिरिक्त कुछ सोचते भी न थे। सुन्दर स्त्रियों का युद्ध के अवसर पर उपयोग होता था। कुण्डनी के कारण ही चम्पा का पतन हुआ था।[3] परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के लिये राजा लोग अपनी पुत्री का विवाह निकटस्थ नरेश से कर देते थे जिससे मैत्री भाव बना रहता था।

प्रस्तुत उपन्यास में तत्कालीन राज्यों की व्यवस्था गणराज्यों की व्यवस्था एवं युद्ध आदि की व्यवस्था पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। तत्कालीन गणराज्यों की व्यवस्था आज से भिन्न थी। गणपति का स्थान आज के स्पीकर के समान था। मतदान विभिन्न रंग की शलाकाओं के माध्यम से होता था। गण राज्यों की कार्य पद्धति पर भी उपन्यासकार ने विस्तार से प्रकाश डाला है। व्यवस्था परिषद् में प्रत्येक कुल का समान प्रतिनिधित्व था। प्रतिनिधियों की संख्या कुलों की संख्या के आधार पर निश्चित की जाती थी। इस व्यवस्था मे वही व्यक्ति भाग ले सकता था जो वहां का जन्म से नागरिक होता था। बाहर के व्यक्तियों को राज्य सेवाओं से वंचित रखा जाता था।[4]

सांस्कृतिक—

सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के साथ-साथ प्रस्तुत उपन्यास में तत्कालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के चित्र भी बड़े ही सजीव हैं। उस काल के धार्मिक आन्दोलनों सांस्कृतिक गतिविधियों के चित्रण के कारण ही प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक ज्ञात होता है। उस काल में आर्य धर्म विलासिता के पंक में डूबा हुआ था। ब्राह्मणों ने राजाओं को एवं साधारण जनता को अपने आधीन रखने के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक विधान कर रखे थे। यज्ञ तप और व्रत की प्रधानता थी। यज्ञ का माध्यम बनाकर ब्राह्मण अपनी

---

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ ११८।
२ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन पृ ११९, १२०।
३ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन, पृ २३९ से २४० तक।
४ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन पृ १३ ४१ तक।

वासनाओं को शांत करते थे। मांस एवं मदिरा का प्रचलन था। यज्ञों के अवसर पर राजा द्वारा दास और दासियाँ वितरित की जाती थीं।[१] अतिथि सेवा का बड़ा माहात्म्य था। आर्य धर्म अस्त व्यस्त हो रहा था। ब्राह्मण धर्म का ह्रास और बौद्ध एवं जैन धर्म का अभ्युदय हो रहा था। ब्राह्मण धर्म की निरंकुशता एवं स्वच्छन्दता के कारण उसर वर्ग उनसे द्वेष रखने लगे थे। अधिकांश लोग बौद्ध एवं जैन धर्म की ओर आकर्षित होने लगे थे। सम्राट और धन कुबेर तो बौद्ध धर्म में दीक्षित हो ही रहे थे साथ ही साधारण जन भी उससे कम प्रभावित न थे।[२] काशी ऐसे आर्य संस्कृति के केन्द्र में भी बौद्ध धर्म तेजी से बढ़ रहा था। सारनाथ से ही भगवान् बुद्ध ने अपनी शिष्य परम्परा का प्रारम्भ किया था। उधर धर्म को सामने रखकर ब्राह्मण लोग कितने ही अत्याचार कर रहे थे। आर्य अधिकार मद पर मदप आलसी, घमंडी और अकर्मण्य हो गए थे। अब वे या तो थोथे कर्माडम्बरों की हास्यास्पद विडम्बना में फंसे थे या कोरे कल्पित ब्रह्मवाद में।[३] वैशाली गणराज्य में प्रतिवर्ष उत्साह और उल्लास के साथ मधुपर्व के उत्सव मनाने की परिपाटी थी।[४] उस समय आखेट का भी प्रचलन था। 'नगरवधू' भी सामन्तपुत्रों के साथ आखेट पर जाती थी।[५]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत उपन्यास का अध्ययन करने के पश्चात् हम उस काल की सामाजिक धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों से अवगत हो जाते हैं। उपन्यासकार का उद्देश्य भी यही था। उसने स्वयं लिखा है मैंने यह ठान ली कि इस उपन्यास में मैं एक तरफ जहाँ मसीह से पूर्व पाँचवीं छठी शताब्दी की सम्पूर्ण धर्मनीति और समाज नीति का रेखा चित्र दूँ वहाँ अपने अध्ययन और विचारों को भी प्रकट करता जाऊँ। असली बात का अधिक अंश है कहने के लिए मुझे जैन बौद्ध, हिन्दू-साहित्य तथा संस्कृत-साहित्य के साथ वैदिक-साहित्य दर्शन विज्ञान और मनोविज्ञान का भी अध्ययन करना पड़ा। अनेक अंग्रेजी और दूसरी भाषाओं के लेख और

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ २८६-८७।
२ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ५३-५८ तक, ६८ से ७२ तक, १२८ से १३२ तक।
३ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ १७५, ४०५ से ४०६ तक।
४ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ ४७५ ४८०।
५ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ४८०-४८६।

स्तम्भों पर महालय का रंग मंडप खड़ा था। इस मंडप में दस हजार से भी अधिक दर्शक एक साथ सोमनाथ के पुण्य दर्शन कर सकते थे। मंडप के सामने गम्भीर गर्भगृह में सोमनाथ का अलौकिक ज्योतिर्लिंग था। सोमनाथ का यह ज्योतिर्लिंग आठ हाथ ऊँचा था। महालय के गगनचुम्बी शिखर पर समुद्र की ओर जो भगवे रंग की ध्वजा फहराती थी वह दूर देशों के यात्रियों का मन बराबर अपनी ओर खींच लेती थी। महालय के शिखर के स्वर्ण कलश सूर्य की धूप में जगमगाते सूर्यों की भाँति चमकते थे।[1] इसके अतिरिक्त घोघा गढ़[2] गंदावा दुर्ग[3] खम्भात[4] प्रभास पट्टन[5] गजनी[6] आदि के वर्णन भी विस्तार से प्राप्त होते हैं। सोमनाथ महालय के आस-पास के भूभाग का भी वर्णन उपन्यासकार ने बड़ा सजीव किया है।[7] इतना ही नहीं आचार्य चतुरसेन जी ने वृक्ष और पादपों तक का जीता जागता वर्णन प्रस्तुत किया है जिसे हम 'प्रकृति-वर्णन' में अलग से देंगे। गजनवी ने किस किस स्थान पर अपने डेरे डाले[8] कैसे-कैसे मोर्चे बनाए[9] कैसे युद्ध प्रारम्भ किया[10] खंभटेश्वर की बावड़ी से किस प्रकार महमूद ने लाभ उठाया एवं उसकी बनावट कैसी थी[11] आदि का भी सजीव वर्णन उपन्यासकार ने यहाँ दिया है। 'रक्त की प्यास'[12] हृदय निमंत्रण देवांगना[13] 'लाल पानी' आदि उपन्यासों में भी इसी प्रकार के भौगोलिक चित्रण प्राप्त होते हैं किन्तु इन उपन्यासों में वे सूक्ष्म हैं विस्तृत नहीं। 'देवांगना' में प्राप्त 'संघाराम' का वर्णन बड़ा सजीव और विस्तृत है।[14]

---

१ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ २ से ४ तक।
२ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ १०७।
३ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ १८९ ९१।
४ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ ४०० से ४०२।
५ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ २७४ २७५।
६ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ ९१।
७ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ १ से ४ तक।
८ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ ३१९ से ३२१ तक।
९ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ ३२१ एवं ३६१ ३६३ तक।
१० सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ ३६१।
११ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ ३४२ ३४५।
१२ रक्त की प्यास पृ. ३८।
१३ देवांगना पृ २६-२७।
१४ देवांगना पृ १९।

पुस्तकें भी पढ़नी पड़ी।[1] स्पष्ट है प्रस्तुत उपन्यास का निर्माण वातावरण एवं तत्कालीन समाज व्यवस्था के निरुपण के लिए ही हुआ है। उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपन्यासकार ने प्रस्तुत कथानक के माध्यम से तत्कालीन युग एवं समाज का अंकन तो किया ही है साथ ही उसने ब्राह्मण धर्म के ह्रास और बौद्ध एवं जैन धर्म के उत्पन्न होने और विकसित होने की परिस्थितियों का भी अत्यन्त सजीव एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। कितने ही अध्यायों को उपन्यासकार ने केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रस्तुत उपन्यास में सजाया है।

आचार्य चतुरसेन जी के मध्य काल से सम्बन्धित उपन्यासों में देश काल का चित्रण —

इसमें हम ई० सन् १००० से १५०० ई० तक के समय को रख सकते हैं। इस काल से सम्बन्धित आचार्य चतुरसेन जी के सात उपन्यास हैं। सोमनाथ (दसवीं एवं ग्यारहवीं शताब्दी) रक्त की प्यास हृदय-निमन्त्रण एवं पूर्णाहुति (बवास का ब्याह) (ग्यारहवीं शताब्दी) वैशालिनी बिना चिराग का शहर-बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दी काल धानी (पन्द्रहवीं शताब्दी)।

वस्तु वर्णन

लगभग इन सभी उपन्यासों में भौतिक चित्रण किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त होता है। किसी में गढ़ किले मंदिर, महालय आदि के विस्तृत वर्णन हैं तो किसी में नगर, नगर के आसपास के भूभाग, वाटिका बाजार, नदी पर्वत आदि के सांकेतिक वर्णन। 'सोमनाथ' नामक उपन्यास में सबसे अधिक चित्रण प्राप्त हैं। इसमें नगरों दुर्गों एवं महालयों के वर्णन तो इतने सजीव हैं कि यदि कोई कुशल चित्रकार थोड़ा-सा भी प्रयास करे तो इनके आनुमानिक चित्र सरलता से बना सकता है। सोमनाथ महालय का तो विस्तृत वर्णन पढ़कर पाठक प्रत्यक्ष ही वहाँ विचरण करने लगता है। महालय में कौन-सा स्थान कहाँ पर था उसकी बनावट किस प्रकार की थी ज्योतिर्लिंग का आकार प्रकार कैसा था आदि का बड़ा ब्योरेवार वर्णन इसमें प्राप्त होता है। देखिए—महालय के मण्डप के भारी भारी खम्भों पर हीरा माणिक नीलम आदि रत्नों की ऐसी पच्चीकारी की गई थी कि उसकी शोभा देखने से नेत्र थकते नहीं थे। जगह-जगह सोने चाँदी के पात्र खम्भों पर जड़े थे। ऐसे रेशी

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन भूमि पृ ७८२।

इन उपन्यासों में युद्ध आदि के वर्णन भी उस युग के अनुरूप ही है। इन युद्धों का भी तत्कालीन युग के वातावरण के अनुसार उपन्यासकार ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया है जिससे यह वर्णन भी वातावरण सृष्टि में साधक ही हुए हैं बाधक नहीं।

समाज दर्शन

आचार्य चतुरसेन जी के इन सभी उपन्यासों में तत्कालीन भारत की सामाजिक राजनीतिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सफल चित्रण प्राप्त होता है।

सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ—प्रस्तुत उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित हुई हैं। तत्कालीन भारत की सामाजिक स्थिति के विषय में अलबरूनी जो महमूद गजनवी के समय में भारत में आया था—ने लिखा है हिन्दू लोग अभिमानी हैं, वे विदेशियों को म्लेच्छ कहते हैं और उनसे किसी प्रकार का सम्बंध नहीं रखते। यद्यपि वे एकेश्वरवादी हैं परन्तु मूर्तिपूजा सारे देश में प्रचलित है। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में वह लिखता है कि देश में भिन्न-भिन्न जातियाँ तो हैं परंतु सब लोग एक ही शहर या गांव में रहते हैं। और परस्पर मिलते-जुलते भी हैं। बाल-विवाह की प्रथा है। विवाह बहुधा माता पिता ही करते हैं। दहेज की प्रथा है। एक बार विवाह हो जाने पर पति पत्नी को छोड़ नहीं सकता। विधवा विवाह नहीं है। विधवाएँ या तो अग्नि में जलकर मर जाती हैं या आजन्म वैधव्य व्यतीत करती हैं। प्राय राजवंश की स्त्रियाँ ही सती होती हैं। [1] आदि। अब हमें देखना यह है कि क्या इन उपन्यासों में इसी प्रकार की सामाजिक स्थिति प्राप्त होती है? क्या वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इन उपन्यासों में उस युग विशेष को प्रतिबिम्बित किया है? 'सोमनाथ' में तो अलबरूनी द्वारा वर्णित सभी सामाजिक प्रवृत्तियाँ पूर्णरूपेण उभर कर आई हैं। इसमें तत्कालीन वातावरण में मग्न उन आधुनिक विचारधारा का भी उपन्यासकार ने समावेश किया है। किन्तु वह पूर्णरूपेण तत्कालीन वातावरण में लिपटी हुई है।

उस काल में धर्म की भांति समाज में भी विप्लव मचा हुआ था। बौद्ध जैन शैव ब्राह्मण परस्पर भयानक संघर्षों कुरीतियों और अंधविश्वासों में फंसे थे। ब्राह्मणों ने बौद्धों और जैनियों को नष्टप्राय कर दिया था। शैवों और

---

1 भारतवर्ष का इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद पृ १७७।

वैभवों की प्रबलता हो रही थी। और वे परस्पर उलझ रहे थे।[1] धर्म उस काल में केवल ढकोसला मात्र रह गया था। यद्यपि 'गग सर्वज्ञ' ऐसे कुछ धार्मिक महापुरुष भी थे।

छुआछूत का भूत तत्कालीन समाज को ग्रस चुका था।[2] देव स्वामी इसी छुआछूत का शिकार होकर यवन बन गया था। विधवाओं की दशा शोचनीय थी। बाल विवाह प्रचलित था। विधवा हो जाने के पश्चात् पुनर्विवाह की प्रथा नहीं थी। यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णस्वामी ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति भी अपनी एकमात्र पुत्री शोभना के विधवा होजाने पर पुन विवाह न कर सका।

साम्पत्तिक दृष्टिकोण से यह युग एक सम्पन्न युग था। परन्तु इस सम्पदा के भोक्ता देश के सब लोग न थे। केवल राजा ब्राह्मण और सेठ लोग ही उसे उपभोग करते थे। शेष लोगों की दशा अति दयनीय थी। सम्पत्ति के सबसे बड़े भाग के भोक्ता राजा लोगों के राजमहलों में विलास पूर्ण आहार विहार के अद्भुत साधन उपस्थित रहते थे। उदाहरणस्वरूप हम गुर्जरेश्वर कुमार पाल 'रक्त की प्यास' के भीमदेव और पृथ्वीराज 'पूर्णाहुति' के पृथ्वीराज आदि के राज महलों को ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेकों विलासी सामन्त वीरराजा लोग भोग विलास में तल्लीन थ। दास दासियों की फौज के बिना इनका काम नहीं चलता था। घरों में स्त्रियों की पल्टनें भरी रहती थीं। इनकी नैतिकता और दायित्व का कोई मापदण्ड न था। युद्ध में भी इनका भारी व्यय होता था। राजा लोगों के आलसी और भ्रष्ट होने से साधारण जनता की दशा खराब थी। उसमें एकता न थी। अनेक पन्थ अनेक मत अनेक विचार, अनेक अन्धविश्वासों ने उनके मन में घर कर रखा था। जिन्हें हम सांस्कृतिक स्थिति में दिखलायेंगे। हिन्दुओं के इस अरक्षित जीवन से लाभ उठाकर मुसलमान साधु फकीर सैकड़ों की संख्या

---

१ सोमनाथ पृ ७९ साथ ही देखिए हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड सम्पादक डा० धीरेंद्र वर्मा एवं ब्रजेश्वर वर्मा पृ १९४० ।

२ "......शूद्रों और अन्त्यजों का जीवन सेवा-धर्म के पालन में व्यतीत होता था ऊपर उठने के लिए उनको न तो कोई साधन प्राप्त थे। और न किसी ओर से प्रोत्साहन मिल सकता था।......"हिन्दी साहित्य द्वितीय भाग सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं डा० ब्रजेश्वर वर्मा पृ० ४२ ।

में सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैलकर बस गये थे। वे देश के दीन दरिद्रों को धड़ाधड़ मुसलमान बना रहे थे।[1]

राजनीतिक परिस्थितियाँ—

भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। इन सबको एक सूत्र में बाँधनेवाली कोई प्रबल सत्ता न थी। राजपूतों के छोटे छोटे राज्य पंजाब से दक्षिण तक और बंगाल से अरब सागर तक फैले हुए थे। आये दिन इनमें परस्पर संग्राम होते रहते थे।[2] सबसे महत्वपूर्ण बात इस काल की राजनीतिक परिस्थिति में यह थी राजा शैव हिन्दू और मन्त्री जैन होते थे। इससे राज्य की अर्थ व्यवस्था जैनों के हाथों में होती थी। नागरिक सेठ साहूकार भी जैन होने से राज्य में राजा की अपेक्षा जैन मन्त्री का अधिक प्रभाव रहता था। 'रक्त की प्यास' में शैव राजा और जैन मंत्री के संघर्ष का ही वर्णन है। परंतु यह बात गुजरात में ही थी राजस्थान में नहीं। यद्यपि गुजरात के राजा राजस्थान के भी अंशतः स्वामी तथा सम्बंधी रिश्तेदार थे फिर भी राजस्थान-मालवा सिन्ध और गुजरात के राजाओं में सहयोग के स्थान पर युद्ध और कलह ही का बोलबाला रहता था। जिससे राजनीतिक अवस्था छिन्न-भिन्न थी। प्राचीन राजवंश जर्जर हो चुके थे। मानसिक अन्धता राजवंशियों में भी थी। नित्य नये युद्ध हुआ करते थे। ये युद्ध प्रायः बिना किसी उद्देश्य के निरर्थक विजय या परस्पर की ईर्ष्या या कन्याहरण के लिए किए जाते थे। 'रक्त की प्यास' में भीमदेव और पृथ्वीराज का युद्ध केवल एक कन्या के लिए ही हुआ था। 'पूर्णाहुति' में पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता का हरण भी इसी बात का प्रमाण है।[3]

'सोमनाथ पर जिस समय आक्रमण हुआ उस समय गुजरात की गद्दी पर चामुण्डराय ऐसा आलसी एवं अफीमची राजा था।'[4] किन्तु उस काल में

---

१ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ. ५०।

२ रक्त की प्यास पृ १२५।

३ 'स्त्री का बलपूर्वक अपहरण करना एक साधारण सी बात थी और इस विषय को लेकर भयंकर युद्धों तक की नौबत पहुँच जाती थी। पृथ्वीराज और जयचंद के संघर्ष का कारण संयोगिता ही थी।"
(हिन्दी साहित्य) द्वितीय भाग डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं ब्रजेश्वर वर्मा—सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि पृ ४१।

४ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ १११ ११२।

योगराजा धर्मगजदेव ऐसे प्रतापी राजा भी थे किंतु वास्तव में यह केवल एवं [illegible] की चिन्गारी मात्र थे। परस्पर संगठित न होने के कारण यह केवल मात्र युद्ध युद्ध में कट मरना ही जानते थे।

'सोमनाथ' लुट जाने के पश्चात् भी भारत की राजनीतिक स्थिति में किसी प्रकार का सुधार नहीं हुआ था। इसके बाद ही पृथ्वीराज और भीमदेव से युद्ध हुए[1] और पृथ्वीराज बिना आगा-पीछा देखे कन्नौज पर केवल एक स्त्री के लिए चढ़ गया। उसने संयोगिता का हरण तो कर लिया किंतु उसका बल क्षीण हो चुका था। इसी समय गोरी ने उस पर पुनः आक्रमण किया। इस समय पृथ्वीराज चौदह वर्ष की अबोध कुसुम कलिका संयोगिता के मधुपान में ही मदहोश था। परिणामतः वह पराजित होकर बंदी हुआ। दिल्ली का हिंदू राज समाप्त हो गया।[2]

इसके पश्चात् भी भारत देश सोता ही रहा। सुल्तान अलाउद्दीन के समय भी हिंदू राजा संगठित न हो सके। देवगिरि के राजा की जब यह जिंदा खाल खिंचवा रहा था तो अन्य हिंदू राजा चुपचाप छिपे बैठे थे।[3]

पंद्रहवीं शताब्दी में भी भारत की यही राजनीतिक दशा थी। कच्छ प्रदेश के छोटे-छोटे राजा तो परस्पर सम्बंध से लड़भिड़ रहे थे।[4] मुसलमान सुल्तानों की उनपर दृष्टि थी। उनको प्रसन्न करने के लिए हिंदू राजा अपनी पुत्रियों का विवाह उनके साथ कर देते थे।

सांस्कृतिक चित्रण–

आचार्य चतुरसेन जी के इन उपन्यासों में विशेषकर सोमनाथ में सांस्कृतिक चित्रण तो बड़े ही सजीव हैं। वास्तव में महमूद का 'सोमनाथ अभियान' राजनीतिक व धार्मिक महत्व का अधिक था इसी कारण से उसने गुजरात पर चढ़ाई तो अवश्य की और सोमनाथ को भंग भी किया फिर भी उसने अपनी सत्ता भारत में स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। वास्तव में महमूद एक धर्मांध लुटेरा था। जिस समय उसने 'सोमनाथ' देवालय को

---

१ 'रक्त की प्यास' में इसी युद्ध का वर्णन उपन्यासकार ने किया है।

२ 'पूर्णाहुति' में इन्हीं घटनाओं को विस्तार से उपन्यासकार ने लिया है।

३ 'खिला गिराय का जहर' में इसी काल का वर्णन है।

४ 'लाल पानी' नामक उपन्यास से इस समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

वैभव, अज्ञान धर्मान्धता कट्टरता आदि घर कर चुके थे। खोखलापन था।[१] जनता अंध-विश्वासों की शिकार थी तंत्र आदि पर जनता का अगाध विश्वास था। त्रिपुर सुन्दरी में धर्म के नाम पर कितने अमानुषिक कृत्य होते थे।[२] वाममार्गी धूर्त-साधुओं का बाहुल्य था। सोमनाथ का पतन भी इन्हीं पाखंडी देशद्रोही साधुओं के कारण सम्भव हो सका था।[३] उस काल में त्रिपुर सुन्दरी एवं दुर्गा की मूर्तियों पर, भूखे आम नरबलि दी जाती थी और कापालिक नर मुण्डों की माला पहने घूमा करते थे।[४] ब्राह्मणों के असाध्य अधिकार थे। यज्ञ एवं वेद पाठ का अधिकार केवल उन तक ही सीमित था।

जनता की रुचि उत्सवों एवं धार्मिक कृत्यों में अधिक थी। 'गणगौर' के पर्व आदि के वर्णन तो बड़े ही सजीव हैं।[५] बौद्ध धर्म के धार्मिक उत्सवों के भी कुछ वर्णन 'देवांगना' में प्राप्त हैं। वास्तव में इस काल में हिन्दू धर्म में विप्लव मचा हुआ था। बौद्ध, जैन शैव, शाक्त परस्पर रूढ़ियों कुरीतियों और अन्ध विश्वासों में फंसे थे जिससे धर्म की दशा डावांडोल हो रही थी।[६]

इस विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी, ने अपने, मध्यकालीन उपन्यासों में भी तत्कालीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। वास्तव में सत्य तो यह है कि इन उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन जी ने तत्कालीन इतिहास को जुटाया ही नहीं है वरन् जमाया भी है। इसी कारण से इनके चित्रण तथ्यपरक होने के साथ साथ तत्वपरक भी हैं।

---

१ "......राजपूत काल का धार्मिक संगठन विपरीत दिखाई देता है। ......दसवीं शताब्दी के एक अरब यात्री का कथन है कि भारत में बयालीस मत हैं।...... इस समय के समस्त वातावरण में जैसे विभिन्नता की बिजली दौड़ गई थी।
हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड संपादक डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं ब्रजेश्वर वर्मा पृ १०-११।

२ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ २४ से ३१ तक।

३ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ १४२ से १४६।

४ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ २८, २११ से २१२।

५ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ ४१३ ४१४।

६. सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ ७९ साथ ही देखिए हिन्दी साहित्य द्वितीय खंड डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं डा० ब्रजेश्वर वर्मा पृ १९-४१।

मुगलकालीन—मध्यकालीन राजपूती, शौर्य वैभव, विलासिता एवं मनवहरण के विषय के साथ-साथ आचार्य चतुरसेन जी ने मुगल वैभव एवं विलासिता का भी बड़ा ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। आचार्य चतुरसेन जी के मुगलकालीन केवल दो उपन्यास हैं। १ आलमगीर २ सह्याद्रि की चट्टानें। इनमें १६ वीं एवं १७ वीं शताब्दी के भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हलचलों का अत्यन्त सजीव वर्णन है।

वस्तु वर्णन—मुगलकालीन वास्तुकला संसार प्रसिद्ध है। उनके बनवाये हुए महलों मकबरों किलों मसजिदों तथा अन्य इमारतों से उनकी असाधारण प्रतिभा तथा सुरुचि का पता लगता है। मुगल वास्तुकला में हिन्दू और मुसलमानी कलाओं का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। आचार्य चतुरसेन जी के 'आलमगीर' नामक उपन्यास में मुगलकालीन वास्तुकला की स्पष्ट झलक दीख पड़ती है। जहाँ भी वस्तुवर्णन का अवसर आया है आचार्य चतुरसेन जी ने विस्तार से किया है। 'आलमगीर' नामक उपन्यास के 'आम खास का दरबार'[१] 'तख्ते ताऊस'[२] 'दिल्ली का लाल किला'[३] 'बादशाह'[४] आदि के वर्णनों को एवं विभिन्न युद्धों के रेखा चित्रों को हम वस्तु वर्णन में रख सकते हैं। 'सह्याद्रि की चट्टानें' में वस्तु वर्णनों की न्यूनता है किन्तु तो भी कुछ वर्णन आ ही गए हैं। इनमें हम युद्धों के वर्णनों को ले सकते हैं।

'आलमगीर' में से वस्तु वर्णन का एक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

किले के भीतर एक से बढ़कर एक शोभनीय खास महल थे। उनकी पंक्तियों का धवल प्रतिबिम्ब यमुना की स्निग्ध श्यामलता में यमुना के स्वच्छ जल में असाधारण शोभा विस्तार करता था। इन महलों में जो मुख्य वस्तु थी वह दीवाने आम की इमारत थी। जिस पर देखने वाले की सबसे पहले दृष्टि पड़ती थी। इसके बाद ही दीवाने खास था जिसमें बादशाह खास खास दरबारियों से महत्वपूर्ण विषयों पर गुप्त मन्त्रणा करता था। इसके बाद एक से एक बढ़कर गुम्बजों वाले महलों का तांता बंधा जाता था। ये सब वैभव महल कहाते थे। ....वैभव महल की बनावट ऊपर से संगमरमर की थी। पर भीतर उसकी छत

१ आलमगीर, आचार्य चतुरसेन, पृ ३४।
२ आलमगीर, आचार्य चतुरसेन, पृ ४-७।
३ आलमगीर, आचार्य चतुरसेन, पृ १२ १३।
४ आलमगीर, आचार्य चतुरसेन, पृ २७-२९।

पर सोने का मिहायुक्त मूल्यवान् कारीगरी का कार्य किया गया था। खम्भों और दीवारों पर सच्चे जवाहरात की पच्चीकारी इतनी भव्य और कलापूर्ण थी कि हम उसे उस युग की स्थापत्यकला का एक आदर्श नमूना कह सकते हैं।[१]

इसी प्रकार कितनी ही अन्य वस्तुओं के वर्णन भी प्रस्तुत उपन्यास में प्राप्त होते हैं जिनमें हम चित्रशाला[२] तख्ते ताऊस[३] आम और खास दरबार[४] खासमहल[५] आदि के वर्णनों को ले सकते हैं।

समाज वर्णन

सामाजिक परिस्थिति—इस काल की सामाजिक स्थिति विशेष उत्तम न थी। एक ओर मुगल बादशाह का दरबार ऐश्वर्य, शान शौकत एवं भोग विलास, का आगार था।[६] तो दूसरी ओर जन साधारण दुखी था।[७] हिन्दू मुसलमानों का आपसी भेदभाव दूर न हुआ था। शाहजहाँ कट्टर सुन्नी मुसलमान था। स्वयं कट्टर मुसलमान होने के कारण वह दूसरे धर्मों का आदर नहीं करता था।[८] धर्म का समाज पर पूर्ण प्रभाव था। राज्य की नीति भी धर्म से प्रभावान्वित होती थी। बादशाह और उसके दरबारी विलासी हो गए थे। उनके हरमों में सहस्रों स्त्रियों के रेवड़ भरे रहते थे। केवल बादशाह के हरम में ही दो हजार से ऊपर स्त्रियाँ थीं। उसमें बेगमात के अतिरिक्त पासवानियाँ कंचनियाँ मुगलानियाँ और उस्तानियाँ रहती थीं। हरम का प्रबन्ध अत्यन्त सुव्यवस्थित था। जैसे राज्य के भिन्न-भिन्न शासन-विभागों का अनुशासन होता था वैसे ही हरम का भी होता था। मुगल महिलाओं का समय आनन्द में शराब संगीत और फूलों की महक में व्यतीत होता था। हरम के निवासी रात-दिन देश के करोड़ों दीन-हीन कृषकों की कमाई से निष्ठुरता पूर्वक

१ आलमगीर-पृष्ठ १९, ११।
२ आलमगीर-पृष्ठ ११।
३ आलमगीर-पृष्ठ ४-७।
४ आलमगीर-पृष्ठ ९।
५ आलमगीर-पृष्ठ २७-२८।
६ आलमगीर-आचार्य चतुरसेन पृष्ठ १४, १९ तथा कुछ इसी प्रकार के वर्णन निम्न इतिहास ग्रंथों में भी प्राप्त भारत का मुगल इतिहास-कृपालसिंह नारंग-पृष्ठ ३९८ भारत का इतिहास डा० ईश्वरी प्रसाद पृष्ठ ४१४।
७ आलमगीर-पृ १६, १९।
८ आलमगीर-पृ ११, १९।

उसाड़ धन को पानी की तरह बहाते रहते थ।[१] सम्पूर्ण साम्राज्य में स्वेच्छाचारिता की तूती बोल रही थी। मदिरापान का आधिक्य था। हरम की स्त्रियां तक मदिरापान की अभ्यस्त हो गई थीं।[२] शाहजहां एक कामुक बादशाह था। उसके राज्य में किसी सुन्दर स्त्री का सतीत्व सर्वथ संकट में रहता था। बेगम महल का शाही खर्चा सालाना एक करोड़ रुपए था। इससे बड़े-बड़े खर्च तो भांति भांति के इत्र और सुगंध द्रव्य में होते थे। जिनकी सदैव ही महल में नदी बहती थी। पानों की मद भी बड़ी खर्चीली थी। इनमें मोतियों का चूरा काम में लाया जाता था। एक-एक बेगम हजारों रुपए रोज पान का ही खर्च करती थी।[३] बेगमात और शाहजादियों की पोशाक इत्र में सराबोर रहती थी। वे प्रति दिन कई-कई पोशाकें बदलती थीं।[४]

यद्यपि शाहजहां के हरम में हजारों बेगमात बांदियां और कंचनियां थी फिर भी उसे उन पर संतोष न था। प्रत्येक वर्ष खिराज के तौर पर साम्राज्य भर के सूबेदारों को एक नियत तादाद में रंगमहल के लिए सुन्दर सुकुमारियां भजनी पड़ती थीं। इतने पर भी बादशाह के अनुचित सम्बन्ध अनेक रईस और उमरा की पत्नियों से थे जो गुप्त नहीं थे। प्रकट में ये रईस और उमरा बादशाह क खिलाफ कुछ नहीं कर पाते थे। पर भीतर ही भीतर वे उससे जलते थे।[५]

---

१ आलमगीर-पृ ४४ ४५।
भारतवर्ष का इतिहास पृ ४१४ १५ पर प्राप्त वर्णन से आचार्य चतुरसेन जी के कथन की पुष्टि हो जाती है।

२ आलमगीर पृ १८ १९ आचार्य चतुरसेन जी की पुष्टि के लिए निम्न उद्धरण पर्याप्त होगा '......Excessive addiction to wine and women was a very common vice among the aristocrats We are told by Abul Fazal that the Emperor had a seraglis of 5000 women supervised by a separate staff of Female Offiecrs......' An Advanced History of India by R. C Majumdar (Part II)
H. C. Ray Chaudhari etc. page 566.

३ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ३९ ४०।

४ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४१ साथ ही देखिए An Advanced History of India part II page 566

५. आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४२।

इतना ही नहीं अपनी बड़ी बड़ी कामलिप्सा की पूर्ति के लिए बादशाह ने अपने रंगमहल में मीना बाजार की बुनियाद डाली थी। यह मेला आठ दिन तक रहता था। इसमें स्त्रियों को छोड़कर और किसी का प्रवेश निषिद्ध था। नीच और ऊँच सभी जाति की स्त्रियाँ अपना अपना माल बेचने के बहाने आतीं और माल की आड़ में अपने आपको ऊँचे से ऊँचे मूल्य पर बादशाह तथा शाहजादों के हाथ बेचती थीं। इन्हीं सब कारणों से जन साधारण की दशा नित्यप्रति दयनीय होती जा रही थी। शाहजहाँ दारा रोशनआरा जहाँआरा आदि के चरित्र को सामने रखकर उपन्यासकार ने तत्कालीन वातावरण को प्रत्यक्ष करने का सफल प्रयत्न किया है।

औरंगजेब के काल में भोग विलास की मात्रा कम हो गई थी किन्तु उसकी धार्मिक कट्टरता के कारण समाज की दशा और भी दयनीय हो गई थी। उसके हिन्दू विरोधी कार्यों से हिन्दू समाज में अशान्ति व्याप्त हो गई थी। अपने राज्य के पहले ही वर्ष में उसने नए मन्दिरों के निर्माण का निषेध कर दिया था। इतना ही नहीं उसने अनेक मन्दिरों को भ्रष्ट किया, नष्ट किया और उनके स्थानों पर मस्जिदें बनवाईं। उसने मथुरा शहर का नाम बदल कर इस्लामाबाद रख दिया। और साम्राज्य के सब सूबों परगनों शहरों और महत्वपूर्ण स्थानों में जनता के सदाचार की देखभाल करने के लिये मोहतसिब नियुक्त किये जिनका वास्तविक काम था हिन्दुओं के तीर्थों को विध्वंस करना। उन्होंने हिन्दुओं पर जजिया लगाया। स्त्रियों १४ वर्ष के बच्चों और गुलामों को ही इससे छूट मिलती थी। इससे बचने के लिये बहुत से हिन्दू-मुसलमान हो गये। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं से चुंगी कर लिया जाता था। और मुसलमानों से नहीं।[1] उसने हिन्दुओं के मेलों को भी रोक दिया और त्योहारों पर भी रोक टोक लगाई।

---

१ सह्याद्रि की चट्टानें पृ सं १४०-१४१।

इस विषय में प्रोफेसर एस० आर० शर्मा का कथन उल्लेखनीय है 'हिन्दुओं को कष्ट देना औरंगजेब के राज्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। यदि वह हिन्दुओं पर इतने अत्याचार न करता तो उसके कट्टर सुधारवादी होने के बावजूद भी उसके शासन का काल कुलक्षण और अपमानित होने के स्थान पर अत्यन्त शानदार होता'

Mughal Empire in India Part II page 149

साथ ही देखिए भारत का मुगल इतिहास ३४३ ३४६

भारतवर्ष का इतिहास पृ ३८२

दशा थी ने इसी कारण से औरंगजेब का विरोध किया था उन्होंने उसे एक पत्र भी कविता कर के विरोध में लिखा था।[१]

एक ओर भोग विलास की मात्रा बढ़ रही थी। धर्म पर कुठाराघात हो रहा था। आए दिन नित्य नये युद्ध होते रहते थे दूसरी ओर किसानों की दशा बिगड़ती जा रही थी। बड़े बड़े भूखण्ड पर्वतों और रेतीले मैदानों के रूप में पड़े थे। आबादी कम थी। खेती के तरीके रद्दी थे। फिर भी खेती के योग्य भूमि का बड़ा भाग हाकिमों के अत्याचारों तथा किसानों की दुर्दशा के कारण उजड़ा पड़ा था। करोड़ों किसान असहाय थे जब वे निर्दयी और निरंकुश हाकिमों की जरूरत को पूरा नहीं कर सकते थे तब उन्हें एक प्रकार से लूट लिया जाता था। उनकी दाद फर्याद सुनने वाला कोई न था। अंधेरगर्दी यहाँ तक बढ़ी थी कि इनकी निजी जरूरत की चीजें भी छीन ली जाती थीं तथा इनके बाल-बच्चों को कौड़ी गुलाम बना लिया जाता था। ये बेचारे घर बार छोड़ शहर में भाग जाते वहाँ सिपाही, भिश्ती साईस ऊँट वाले चाकर और खिदमतगार बनकर पेट पालते थे।'[२]

आर्थिक स्थिति —

शाहजहाँ के काल में राज्य की आर्थिक स्थिति उत्तम थी। बादशाह ने अपने राज्यकाल के बत्तीस साल बिना लड़ाई-भिड़ाई किए बिताए थे। इससे बे अन्दाज दौलत उसके खजाने में इकट्ठी हो गई थी। उसके खजाने में बड़े-बड़े कीमती जवाहरात कंकड़ पत्थर की तरह ढेर के ढेर पड़े रहते थे।[३] इस साम्राज्य

---

१ सद्गति की बदुलाने पृ १४२ ४३

२ आलमगीर पृ ३१ ३२ साथ ही बैंकिये बर्नियर का लेख है कि किसी महामारी के कारण नहीं वरन् राज्य की कठोरता के कारण ही किसानों की संख्या में कमी हो गई थी। देहातों में मजदूरों की तथा खेती की अवनति के कारण दरिद्रता फैल रही थी। गरीब किसान जब निर्धनता के कारण, कर चुका नहीं दे सकते थे तब उनके लड़के छीन लिए जाते थे और गुलाम बनाकर बेच दिये जाते थे। कूच के समय बादशाहों के सिपाही, बिना किसी भय के, किसानों की फसल को रौंदते चलते थे। भारतवर्ष का इतिहास डा० ईश्वरीप्रसाद पृ ३८०।

तथा भारत का मुगल इतिहास पृ ३६६ ६७।

३ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४७।

की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि सोना चाँदी संसार भर में घूमघाम कर जब भारतवर्ष में पहुँचता था तो यहीं खप जाता था।[1] शाहजहाँ के काल तक मुगल बादशाहों का यह नियम रहा था कि जब कोई अमीर उमरा मर जाता था तो उसकी सब सम्पत्ति शाही खजाने में दाखिल कर ली जाती थी। इस सब से अटूट धन दौलत शाही खजाने में आती रहती थी।[2] शाहजहाँ ने अपने राज्य काल में बड़े-बड़े धार्मिक काम भी किए थे। अपने राजत्व के प्रारम्भिक बीस वर्षों में शाहजहाँ ने दान तथा पुरस्कार में साढ़े नौ करोड़ की चीजें दीं। आगरा दिल्ली लाहौर, काबुल काश्मीर और कन्धार तथा अजमेर की शाही इमारतों और किलों की तैयारी में लगभग तीन करोड़ रुपया खर्च किया था।[3]

किन्तु इतना होने पर भी भारत की सार्वजनिक साम्पत्तिक अवस्था अच्छी न थी। देश का विस्तार बहुत था और उस पर एक छत्र शासन के साधन उपलब्ध न थे। किसानों एवं जन साधारण की आर्थिक स्थिति दयनीय थी।[4]

'सह्याद्रि की चट्टानें' के काल में भी जन साधारण की आर्थिक स्थिति विशेष उत्तम न थी। औरंगजेब के खजाने का एक बहुत बड़ा भाग युद्धों में व्यय हो रहा था। उसकी धार्मिक कट्टरता के फलस्वरूप हिन्दुओं की दशा और भी दयनीय हो गई थी। उसने हिन्दुओं पर जजिया लगा दिया। जिसके प्रत्यक्ष फल ये हुए सरकार की आय बढ़ गई और नए मुसलमानों की संख्या में वृद्धि होने लगी। बहुत से स्थानों में १ मास के अन्दर ही अन्दर सरकारी खजाने की आय चौगुनी हो गई थी। किन्तु जजिया का बोझ पड़ने से हिन्दू व्यापारी शहरों को छोड़कर भागने लगे क्योंकि शहरों में ही वसूली का जोर था। इससे व्यापार थोड़े ही दिनों में चौपट हो गया। छावनियों में विशेष विप्लव होने लगी। हिन्दू

---

१ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४६।

साथ ही देखिए An Advanced History of India Part II By R C Majumdar—H. C Ray Chaudhari & Datta Page 567 & 570

२ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४८।

३ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४९।

४ आलमगीर पृ ५१ ५२।

साथ ही देखिये An Advanced History of India Part II By R. C Majumdan—H. C. Ray Chaudhari and Datta Page 576-77

व्यापारियों के माग आने से फौजों को अन्न मिलना भी कठिन हो गया था।[1] निरन्तर सैन्य कार्यवाहियों के कारण भारत के अधिकांश प्रदेशों में व्यापार क्रियात्मक रूप से सर्वथा नष्ट भ्रष्ट हो गया था। दक्षिण प्रदेश की दशा और भी खराब थी। कोई व्यापारी इस प्रदेश में आने का साहस नहीं कर सकता था। लूट खसोट का बोलबाला था। ग्रामीण उद्योग कृषि आदि तो समाप्तप्राय ही थे। व्यापार और कृषि की इस अधोगति ने देश को आर्थिक दृष्टि से कंगाल बना दिया था।[2]

राजनीतिक परिस्थितियाँ—

शाहजहाँ के समय में मुगलों के तेज और वैभव का सूर्य मध्याह्न को पहुँच चुका था। किन्तु बादशाह इतना वैभवशाली होने पर भी देश में वैर था। सिर्फ करोड़ों हिन्दू ही नहीं शिया मुसलमान भी जो उसके दरबार में ऊँचे-ऊँचे पदों पर थे उससे धार्मिक द्वेष रखते थे। इसके अतिरिक्त उसके राज्य सरहद पर और भीतर भी अनेक राजा महाराजा सरदार ऐसे थे जो सदा उसके विद्रोही बने रहते थे। कुछ नाम मात्र का कर बहुत दबाने से देते कुछ बिल्कुल ही नहीं देते थे। कुछ ऐसे भी थे जो उल्टा कर लेते थे। बादशाह को सदैव युद्ध के लिए तत्पर रहना पड़ता था उसे शान्तिकाल में भी बहुत भारी सेना रखनी पड़ती थी। बादशाह की इस भारी भरकम सेना पर यद्यपि शाही खजाने से अपार धन व्यय होता था पर उसकी व्यवस्था बहुत ही खराब थी। बादशाह के पास सेना बिल्कुल थी ही नहीं और समुद्र तटों की ओर से यह सोने और हीरों से भरा हुआ साम्राज्य सर्वथा अरक्षित था।[3] तत्कालीन स्थिति को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुगल राजनीति दोषपूर्ण और खोखली थी। सेना अव्यवस्थित और असंगठित थी। जलसेना थी ही नहीं। सम्पूर्ण साम्राज्य में निरंतर कहीं न कहीं विद्रोह होते ही रहते थे। नदियाँ और बन्दरगाह सब विरोधियों के लिए खुले थे।[4]

---

१ सह्याद्रि की चट्टानें पृ १४४।

साथ ही देखिये An Advanced History of India Part II By R C Majumdar—H. C Ray Chaudhari & Datta Page 576 & 577

२ सह्याद्रि की चट्टानें पृ १४३ ४४।

साथ ही देखिए भारत का मुगल इतिहास पृ १६६ ६७।

३ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४२ ४३।

४ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ ४३।

वास्तव में मुगल शासन सैनिक शासन था। प्रबंध दीवानी फौजदारी एवं सैन्य व्यवस्था सब जगह थी। राजधानी से सुदूर प्रांतों के सम्बंध शिथिल थे। समाचार देर से आते जाते थे। मार्ग की असुविधाएँ थी। एक केन्द्र में बैठकर शासन नहीं किया जा सकता था। इस कारण सुदूर प्रान्तों में स्थित सत्ता-कांक्षी शाहजादे स्वतंत्र बादशाह ही बन बैठे थे। लूटमार, अत्याचार से उन्होंने अधिक से अधिक धन संग्रह कर लिया था और अपनी प्रबल स्वतंत्र सेना बना ली थी। वे अपने प्रांतों की आमदनी को स्वेच्छा से खर्च करते थे। कोई भी इस विषय में उनसे पूछने वाला न था। इससे उनकी शक्तियाँ बहुत बढ़ गई थीं।[1] शाहजहाँ के रुग्ण होते ही उत्तराधिकार विषयक जो युद्ध हुए थे वह इसी त्रुटिपूर्ण राजनीति के परिणाम थे।[2]

मुगलकाल में साम्राज्य की सारी व्यवस्था और राजनीति में मुगल हरम का हाथ रहता। शाही हरम एक ऐसा मोरखधन्धा था कि वहाँ बेशुमार उल्टी सीधी बातें अंधेरे में होती रहती थीं। शाहजहाँ के राज्यकाल में उसकी बड़ी बेटी जहाँआरा की तूती बोलती थी। स्वयं बादशाह और दारा उसकी मुट्ठी में थे।[3] शाहजहाँ के चारों पुत्रों के जासूस दरबार और हरम में घुसे बैठे थे।[4]

---

१ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ १३।
साथ ही देखिए An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar—H. C Ray Chaudhari and Datta. Page 564

२ आलमगीर पृ २२० के पश्चात् के पृष्ठों में इसी गृहयुद्ध का वर्णन है।
साथ ही देखिए औरंगजेब नामा प्रथम भाग खंड १ पृ ११ दारा शिकोह का लड़ना और भागना पृ ३३-३८ शाहशुजा से लड़ाई पृ ३९-४०। (दारा शिकोह का पीछा)
An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar—H. C Ray Chaudhari and Datta. Page 481 to 487
इनसे तुलना करने पर आचार्य चतुरसेन जी के वर्णनों की सत्यता प्रमाणित हो जाती है।

३ आलमगीर पृ ३४।

४ आलमगीर पृ ३५।

शाहजहाँ की दूसरी पुत्री रोशनआरा हरम में औरंगजेब की जासूस थी।[1] साम्राज्य के भीतर बाहर सर्वत्र अगणित षड्यन्त्र चल रहे थे। तो भी कामुक शाहजहाँ अपने भोगविलास में तल्लीन था। वह षड्यन्त्रों को जानकर भी चुप्पी साध जाता था। कारण ये षड्यंत्र उसी की संतानों द्वारा चलाये जा रहे थे। अन्त में यह षड्यन्त्र ही मुगल साम्राज्य के पतन और विनाश का कारण सिद्ध हुए।[2]

'सह्याद्रि की चट्टानें' के काल सन् (१६५९ से १६८०) में भारत की राजनीतिक स्थिति और भी दयनीय हो चुकी थी। औरंगजेब अपने भ्राताओं के रक्त से रंगे सिंहासन पर बैठ चुका था किन्तु उसकी कट्टर राजनीति ने सम्पूर्ण देश में एक तहलका मचा दिया था। उसके हिन्दू विरोधी कार्यों ने उसके कितने ही शत्रु उत्पन्न कर दिये थे। मराठे राजपूत सिक्ख जाट आदि सभी हिन्दुओं की वीर जातियों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। परिणामस्वरूप मुगल राज्य दुर्बल हो गया था।[3]

'सह्याद्रि की चट्टानें' में औरंगजेब की दक्षिण विषयक नीति स्पष्ट उभरी हुई दीख पड़ती है। उपन्यासकार ने स्वयं इस विषय में लिखा है 'महाराष्ट्र का उत्थान ऐसी उग्रता से प्रचण्ड अग्निशिखा के समान हुआ कि उसने मुगल साम्राज्य को भस्म ही कर दिया। वास्तव में सह्याद्रि की यह दावाग्नि शताब्दियों से गहराई में दबी हुई थी। मुगल साम्राज्य पर सिक्खों के राजपूतों के बुन्देलों के जाटों के और दूसरी सत्ताओं के जो धक्के लगे थे वे तो मुगल साम्राज्य को केवल हिलाकर ही रह गए, किन्तु सह्याद्रि की ज्वाला ने मुगल तख्त को भस्म ही कर दिया।'[4] दक्षिण में बीजापुर और गोलकुण्डा नाम की दो छोटी रियासतें थीं। शिवाजी ने दक्षिण के इन राज्यों से मित्रता या संगठन करके मुगल साम्राज्य

---

१ आलमगीर पृ १०७-११० ।

२ महाराज छत्रसाल बुंदेला डा० भगवानदास गुप्त पृ २४ से २९ ।

३ An Advanced History of India Part II By R. C Majumdar, H. C. Ray Chaudhari and Datta Page 491 to 508

४ सह्याद्रि की चट्टानें पृ ४५-४६ ।
प्रमाण के लिए देखिए An Advanced History of India Part II By R C. Majumdar—H. C. Ray Chau hari and Datta Page 504 to 507 & 510 to 511

की दक्षिणी सीमाओं पर आघात करना आरम्भ किया और उधर मुगल साम्राज्य मराठों से डरकर बीजापुर और गोलकुण्डा के सामने मैत्री का हाथ फैलाने को बाध्य हुआ। मुगलों के भय से गोलकुंडा का सुल्तान भी शिवाजी से जा मिला, परन्तु बीजापुर ने संदेह के वातावरण में शिवाजी की मित्रता स्वीकार की। किंतु यह मित्रता शीघ्र ही समाप्त हो गई थी क्योंकि शिवाजी ने उसके किलों और प्रदेशों को हड़प कर लिया था।[1] बीजापुर की दशा नित्यप्रति निराशापूर्ण होती जा रही थी। आदिलशाह द्वितीय धीरे-धीरे मर गया और नाबालिग सुल्तान सिकन्दर के गद्दी पर बैठने पर दरबार की मसनद हथियाने को परस्पर झगड़े होने लगे और शासन एक बारगी डगमगा गया। इस अवसर का शिवाजी ने पूर्ण लाभ उठाया। उन्होंने आदिलशाही मंत्रियों से समझौता कर लिया अपनी पूर्ण शक्ति से वे मुगल साम्राज्य के विरोध में जा डटे।[2]

सांस्कृतिक स्थिति—

शाहजहाँ और औरंगजेब दोनों ने ही अपने राज्यकाल में हिंदू धर्म को कुचलने की पूर्ण चेष्टा की थी। किंतु तो भी हिंदुओं में एक न एक धार्मिक महापुरुष सदैव ही रहा था।

मुसलमान फकीरों की शाहजहाँ के काल में सब जगह बड़ी आवभगत होती थी। इन फकीरों में थोड़े से सच्चे फकीर होते थे अधिकतर मुस्टंडे धूर्त ही होते थे। औरंगजेब ने अपने शासन काल में इन धूर्त फकीरों की सम्पूर्ण जमा पूंजी बाकायदी से हस्तगत कर ली।[3]

औरंगजेब के काल में हिंदुओं के त्योहार भी फीके पड़ गए थे। उसने होली के त्योहार पर बाजारों में गंदे गीत गाने बंद करवा दिये थे। इस अवसर

१ सह्याद्रि की चट्टानें पृ ४४-४५।

प्रमाण के लिये देखिए An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar – H C. Ray Chaudhari and Datta Page 512 to 517

२ सह्याद्रि की चट्टानें पृ ४४।

प्रमाण के लिए देखिए An Advanced History of India Part II By R. C Majumdar —H. C. Ray Chaudhari and Datta. Page 514 to 516

३ आलमगीर आचार्य चतुरसेन पृ १८६, ८७।

पर दस्तन्दाजी करने वालों को दंड दिया जाता था। राज्य के हिंदू ज्योतिषियों को पदच्युत कर दिया गया था, किन्तु मुसलमान ज्योतिषियों को अपने पदों पर आसीन रहने दिया गया था। सती प्रथा बंद कर दी गई थी। इतना ही नहीं मुहर्रम के जलूस तथा ताजिये निकालना भी बंद करवा दिया गया था।[1]

सह्याद्रि की चट्टानें में महाराष्ट्र की धार्मिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। महाराष्ट्रीय जाति आर्यों और द्रविड़ों के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी इसलिए उसके मूल में आर्यों की सामाजिकता और द्रविड़ों की उद्दंडता घर कर गई थी। महाराष्ट्रियों के धार्मिक विचारों पर भी सादगी का असर था। उत्तर भारत के हिंदू जात पांत के बन्धन में फंसे थे धर्म पर ब्राह्मणों की ठेकेदारी थी देश की रक्षा करना केवल क्षत्रियों का काम समझा जाता था परन्तु महाराष्ट्र में ऐसा न था। वहां एक राष्ट्रधर्म राष्ट्रीय एकता के बीज पनप रहा था जिसे आगे धर्म और नीति के सुधारक संतों ने पल्लवित किया। उस युग के महाराष्ट्रीय सुधारकों में ज्ञानेश्वर चांगदेव, निवृत्ति मुक्ताबाई, तुकाराम, नामदेव एकनाथ रामदास सेख मुहम्मद वामनी भानुदास केशव स्वामी जनार्दन पन्त आदि प्रमुख थे। इनमें से कुछ ब्राह्मण थे कुछ स्त्रियां थीं कुछ मुसलमान से हिंदू बने हुए थे एवं शेष नीच जाति के लोग थे। इन्होंने हरिनाम की महिमा गा करके भक्ति मार्ग का उपदेश दिया। उस समय लोगों ने यह नहीं देखा कि कौन गा रहा है। जात पांत की उतनी महिमा न रही जितनी हरिनाम और श्रेष्ठ कर्म की। उन्होंने महाराष्ट्र की लोक भाषा में ढंग लिखे कवितायें की गीत सुनाए और उसका यह परिणाम हुआ कि महाराष्ट्र में उदार सार्वजनिक धर्म की बुनियाद पड़ी और महाराष्ट्र में एक सत्ता का उदय हुआ। महाराष्ट्र की एकता को पंढरपुर के देवमन्दिर और उससे सम्बन्धित यात्राओं से भी बड़ा लाभ पहुँचा था। यह पवित्र स्थान उस समय महाराष्ट्र का सबसे बड़ा तीर्थ स्थान माना जाता था।[2]

---

१ आलमगीर, आचार्य चतुरसेन पृ ११५ १४०।

साथ ही देखिए भारत का मुगल इतिहास पृ १४२-४३।

An Advanced History of India Part II By R. C. Majumdar—H. C. Ray Chaudhari and Datta. Page 495 to 497

२ सह्याद्रि की चट्टानें आचार्य चतुरसेन पृ ४६ ४८।

एक भाषा, एक धार्मिक प्रवृत्ति और एक से सामाजिक संस्कारों ने मिलकर महाराष्ट्र में उस राज्य क्रांति का उदय हुआ कि जिसने मुगल तख्त की कब्र खोद दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने इन दो ही मुगल कालीन उपन्यासों में तत्कालीन युग को पूर्ण रूप से मूर्तिमान कर दिया है। जैसा कि प्रथम ही लिख चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने आलमगीर नामक उपन्यास में तत्कालीन युग का इतने विस्तार से वर्णन किया है कि यह उपन्यास उपन्यास की अपेक्षाकृत इतिहास ग्रंथ ही अधिक ज्ञात होता है।

ब्रिटिश शासन कालीन—आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यास 'सोना और खून' में मुगल राज्य काल के पश्चात् के भारत का बड़ा ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

सामाजिक परिस्थितियाँ—

इस काल में सम्पूर्ण भारत में साधारण प्रजा की अवस्था अत्यन्त दयनीय हो गई थी। किसानों का लगभग सर्वनाश हो गया था। और पुराने खानदान गारत हो चुके थे।[1] सम्पूर्ण भारत अराजकता से भरा था। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक पिण्डारी छाए हुए थे। देश के निर्धन और धनी सभी उनके नाम से काँपते थे। वह न किसी राजा की आन मानते थे न बादशाह। झुण्ड के झुण्ड हथियारबंद गिरोह बनाकर घूमते रहते थे। गाँवों को जलाते धनियों को घरों से उठा ले जाते और मनमाना धन मिलने पर उन्हें छोड़ते थे। धन न मिलने पर उन्हें जान से मार डालते थे।[2] वास्तव में मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत में उसके शासन का अन्त हो गया था। और मुगल साम्राज्य जमीन पर पड़ा हुआ था कि कोई आए और उसे उठा ले। इस समय न भारत में कोई साहसी जन साम्राज्य की स्थापना कर रहा था न किसी में राजनीतिक दम था।[3] अंग्रेज धीरे धीरे भारतीय समाज को अपने शिकंजे में कसते जा रहे थे। उन्होंने बड़े-बड़े और महँगे कानून प्रचलित किए, अदालतों की कार्यवाही पेचीदा कर दी और व्यय बढ़ाकर असह्य कर दिए गए। कम्पनी सरकार को जो टैक्स न दे सकते थे उनके लिए अदालतों

१ सोना और खून, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध पृ २०६।
२ सोना और खून प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध पृ १७३।
३ सोना और खून, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध पृ १०९।

के दरवाजे बंद थे। उनके लिए न कानून था न इन्साफ। इस काल की पुलिस अत्याचार का एक नमूना थी। गाँवों की पंचायतों का नाश कर डाला गया था और वहाँ के स्कूल तोड़ डाले गए थे। उनके स्थान पर नए विद्यालयों की भी स्थापना नहीं की गई थी। तत्कालीन कम्पनी सरकार दो करोड़ बीस लाख की आबादी में से सिर्फ डेढ़ सौ विद्यार्थियों को ही शिक्षा देती थी जब कि भारत की टैक्सों की वसूली में से कम्पनी के डायरेक्टर इन दिनों में १०००० पौंड से भी अधिक धन केवल दावतों में व्यय कर देते थे। सब बड़ी-बड़ी नौकरियाँ अब अँग्रेजों के लिए सुरक्षित रख ली गई थीं। और शासन में विश्वास और जिम्मेदारी के काम पर किसी भारतीय को नहीं रखा जाता था। वास्तविकता यह थी कि भारतीय जो उस समय सुसभ्य जीवन के सब अंगों में कुशल थे अयोग्य असहाय और नालायक करार कर सदा के लिये अपने ही देश में नीच बना दिए गए थे। और उन्हें बलात् शराबी और दुराचारी बनाया जा रहा था।[1] भारत के राजा और नवाब भोग-विलास में तल्लीन थे। अवध के नवाब नसीरुद्दीन हैदर के समय तक आते-आते अवध की दशा भी अत्यन्त दयनीय हो गई थी। नवाब अँग्रेजों के हाथ की कठपुतली मात्र रह गया था।[2]

उधर धन नीति से भी अंग्रेज शनै शनै पैठते जा रहे थे। कहीं वे भारतीयों से झगड़ा करके तो कहीं सहायता करके कहीं धोखा देकर उन्हें अपनी मुट्ठी में लेते जा रहे थे।[3]

इस समय भारत में हिन्दू-मुस्लिम एकता बहुत थी, और लोग तत्कालीन मुगल बादशाह के प्रति वफादार थे। १०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक साम्प्रदायिक झगड़े भारत से समाप्तप्राय हो चुके थे।[4] किन्तु अंग्रेज फूट डालकर शासन

---

१ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ २०७।
कुछ इसी प्रकार का वर्णन 'भारत में अंग्रेजी राज' सुन्दरलाल तीसरी जिल्द पृ ११११ से ११४९ में भी प्राप्त होता है।
२ सोना और खून प्रथम भाग पूर्वार्द्ध, पृ २१८-२२२।
३ सोना और खून दूसरा भाग पूर्वार्द्ध के प्रथम खंड में इन्हीं सब बातों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।
४ सोना और खून दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ २२६ २२८।

करने का तरीका उस समय भी काम में आ रहे थे। वे हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों की वफादारी पर कम भरोसा करते थे।[१]

इस काल में छोटे से लेकर बड़े तक सभी रिश्वत लेते थे। बहुत से जिले के कलक्टर या तहसीलदार पुराने इजारेदारों की जमींदारी कल्पित नामों से स्वयं ही खरीद लेते थे और सारी मालगुजारी स्वयं हड़प जाते थे। इससे बहुत सी मालगुजारी बाकी पड़ जाती थी जिसे उनसे वसूल करने की कड़ी आज्ञाएँ ऊपर से जारी होती रहती थीं।[२]

इस काल में भारत में स्त्रियों की दशा भी उत्तम न थी। यूरोप से कम ही स्त्रियां भारत आती थीं जिससे विदेशी व्यभिचार में भयंकर रूप से फंसे थे।[३] बड़े बड़े नगरों में अपहरण बलात्कार के अपराध चरम सीमा को पहुँच रहे थे।[४] ठाकुरसिंह की पुत्री मालती के हरण की घटना के परिपार्श्व में लेखक ने इन्हीं परिस्थितियों का चित्रण किया है।

अपहरण और बलात्कार के साथ-साथ भ्रूण हत्यायें भी खूब हो रही थीं बालिकाओं का वध होता था सती पर निर्मम अधर्म होता था छुआछूत का बोलबाला था विधवा विवाह नहीं हो सकता था। शूद्र और स्त्रियों को मानवीय अधिकार प्राप्त न थे। लोग छिपकर नीच स्त्रियों से व्यभिचार करते थे। स्त्रियों का व्यापार होता था। दास खरीदे जाते थे। नर बलि भी होती थी। अन्य अनेकों प्रकार के पापाचार बढ़ रहे थे।[५] इन सभी बातों का चित्रण

१ भारत में अंग्रेजी राज पं० सुन्दरलाल जिल्द तीसरी पृ ११०१ से ११८६ तक को पढ़ने से भी इसी बात की पुष्टि होती है। यहाँ १८ जनवरी सन् १८४३ को लार्ड एलेनबरा द्वारा ड्यूक आफ वेलिंगटन को लिखे गए पत्र की कुछ पंक्तियां हमारी बात को स्पष्ट करने में सहायक होंगी। देखिए I have no reason to suppose that it has offended the Mussal mans but I can not close my eyes to the belief that that race is fundamentally hostile to us & there fore our true policy is to conciliate the Hindoos,.... Lord Ellenborough to the Duke of Wellington J anuary 18 1843

२ सोना और खून दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ ४१९।

३ सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ४११ २०।

४ सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ. ४१०।

५. सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ४१४।

उपन्यासकार ने कितनी ही कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत उपन्यास में किया है। उदाहरण के लिए सती प्रथा की दुर्दशा का चित्रण उसने सुभद्रा एवं राजाराम मोहनराय की कथा के द्वारा किया है।[1]

देश की आर्थिक स्थिति भी उत्तम न थी। प्रजा पिस रही थी किन्तु कुछ लोग जनता को लूट कर अपना घर भर रहे थे। बड़े-बड़े धनी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करके रुपया बटोरते और अँगरेजों की छत्रछाया में कलकत्ते में जा बसते थे। छोटे नगर टूटने और बड़े नगर बसने लगे। विदेशी वस्त्रों के प्रचार के कारण देश की निर्धनता बढ़ती जा रही थी। देश के कारीगरों की जीविका-निर्वाह के साधन खत्म होते जा रहे थे। देश का धन प्राचीन देशी राज्यों एवं कर्मचारियों के हाथ से निकल कर अँगरेजों के हाथ में एकत्र होता जा रहा था।

सांस्कृतिक—

अभी तक भारत में दो ही जातियाँ प्रधान थीं—हिन्दू और मुसलमान। किन्तु अंग्रेजों के आने के पश्चात् यहाँ ईसाई मत का भी प्रचार होने लगा था। हिन्दू और मुसलमानों में अब साम्प्रदायिकता के भाव न रह गये थे। वे परस्पर दूध और पानी की भाँति मिलते जा रहे थे किन्तु वे दोनों ही ईसाइयों से घृणा करते थे। यद्यपि हिन्दू धर्मावलम्बियों की संख्या देश में सबसे अधिक थी किन्तु उस काल तक हिंदुत्व चारों ओर से रूढ़िवाद और कुरीतियों से जकड़ गया था ईसाइयों के प्रचार के कारण साम्प्रदायिकता की भावनाएँ नित्य-प्रति बढ़ती जा रही थीं। अँग्रेजों ने आधुनिक शिक्षा को अपने प्रचार का माध्यम बनाया था। उन्होंने अँग्रेजी विश्वविद्यालय खोले, इनमें नियुक्त होकर अंग्रेज और जर्मन अध्यापक और महोपाध्याय भारत में आने लगे। भारतीय विद्यार्थी उनकी बताई विद्या को वास्तविक समझते। जो कोई भारतीय ढंग की बात करता उसे तर्क विरुद्ध, शिक्षा विरुद्ध इतिहास विरुद्ध बुद्धि विरुद्ध प्रमाण शून्य कहानी अथवा मिथ्या कथा कहकर उसका उपहास किया जाने लगा।[2] इतना ही नहीं अंग्रेज मेधावी मस्तिष्कों को धन और शक्ति के बल पर खरीदने लगे थे। वे कितने ही श्रेष्ठ विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ दे देकर विदेश भेज रहे थे। वे छात्रवृत्ति पाने वाले छात्र जब विदेश से भारत लौटते तो पूर्णरूपेण विदेशी रंग

---

१ सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध सुभद्रा की कथा पृ ४३५ से ४३८ तक

२ सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ४१२।

में रंगे होते थे। ये नवयुवक अपने धर्म ग्रंथों का निरादर और विदेशी ग्रंथों की श्रेष्ठता का प्रचार करते थे। 'तीर्थों' और मन्दिरों के पीछे कोई आध्यात्मिक भावना है, यह ये नहीं समझ पा रहे थे। न वे हिंदू के अनुष्ठानों को युक्ति से समझ सकते थे। एक तरफ बुद्धिवाद का प्रकट प्रवाह-दूसरे उदारता और प्रगति की भावनाओं का उदय तीसरे मनचले ईसाइयों तथा अंग्रेज और जर्मन अध्यापकों द्वारा निरंतर हिंदू धर्म, संस्कृति और विद्या की निंदा इन सबने मिलकर चारों ओर से हिंदू धर्म और समाज पर तीव्र आक्रमण कर दिया था। जिसका बचाव देने वाला कोई न था। हिंदू धर्म के नेता इस समय वे ब्राह्मण और पुजारी थे जो स्वार्थ घमंड रूढ़िवाद और अन्धविश्वास के केन्द्र थे।

इतना ही नहीं विभिन्न धार्मिक रीति रिवाजों पर भी कुठाराघात होने लगा था। अब अँगरेजी विद्यालयों से निकला हुआ स्नातक बड़ी ही निर्ममता के साथ उसी प्रकार हिन्दुत्व की निन्दा करने लगा—जैसे ईसाई मिशनरी करते थे। ये युवक मूर्तिपूजा के विरोध में धर्म क्रांति कर रहे थे। अपने पूर्वजों के धार्मिक और नैतिक मामलों पर उनकी कोई श्रद्धा न रह गई थी। घर-घर यह विवाद छिड़ा रहता था कि ईश्वर साकार है या निराकार। नास्तिकता की भी भावनाएँ फैलती जा रही थी। पाठ्यक्रम में हिंदू धर्म की तो कोई शिक्षा होती ही न थी—मिशनरियों के विद्यालयों में ईसाई पंथ की शिक्षा दी जाती थी। इसका परिणाम भारतीय नव शिक्षित तरुण पर यह हुआ कि वे धर्म च्युत हो गए। अब वे किसी भी समाज के सदस्य न थे। अब घर से विदेशी और अपने ही ग्राम में बहिष्कृत थे। ये लोग सब सामाजिक सुविधा के लिए धर्म परिवर्तन करने में भी न हिचकते थे। ऐसे धर्म परिवर्तन करनेवालों में माइकेल मधुसूदन दत्त प्रमुख थे।[१] ऐसे नवयुवकों ने क्रिश्चियन बनकर एक नवीन जाति स्थापित करनी प्रारम्भ कर दी थी।

उधर आधुनिक शिक्षित नवयुवकों की यह दशा थी और इधर तीर्थ व्यभिचार के अड्डे बने हुए थे। महंतों के घर पापाचार के गढ़ थे पुजारी पन्डे लालच स्वार्थी और दुराचारी थे। इस प्रकार चारों ओर से भारत की सांस्कृतिक प्रगति एकदम ठप सी हो गई थी।

राजनीतिक परिस्थिति

भारत की—

मुगल साम्राज्य के ह्रास के पश्चात् भारत की राजनीतिक स्थिति

---

१ सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ २१३-१४।

अत्यन्त शिथिल हो गई थी। छोटे छोटे राज्य अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग अलाप रहे थे। इन राज्यों को एक श्रृंखला में बाँधनेवाली कोई भी शक्ति उस समय न रह गई थी। मुगल बादशाह केवल नाम मात्र का बादशाह रह गया था। वास्तव में इस समय मुगल साम्राज्य जमीन पर पड़ा हुआ था। उसकी रक्षा करने वाला भी कोई दृढ़ व्यक्तित्व सामने न था।[1] पुर्तगाली डच फ्रांसीसी एवं अंग्रेज सभी इस अरक्षित साम्राज्य को अपने अधिकार में कर लेना चाहते थे। ये सभी व्यापारी बनकर भारत में आए थे और राजा बनने की इच्छा कर रहे थे। कुछ समय तक अंग्रेजों की पुर्तगाली डच एवं फ्रांसीसियों से प्रतिद्वन्द्विता भी चली किन्तु शीघ्र ही अंग्रेजों की शक्ति के सामने इन सभी के पैर उखड़ गए थे। धीरे धीरे अंग्रेज भारत को अपने अधिकार में लेते गए।

सन् १७५७ के प्लासी युद्ध एवं सन् १७६४ के बक्सर युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों की शक्ति बढ़ गई थी। उनका बंगाल एवं अवध पर पूर्ण अधिकार हो गया था। मराठा संघ टूट चुका था। उनका केन्द्र पूना अंग्रेजों के अधिकार में आ गया था। पेशवा बिठूर में कैदी था। सिंधिया और होल्कर के दम-खम हो चुके थे। पूना का छत्र भंग होते ही पिण्डारी अपने आप ही तितर-बितर हो गए थे। इस प्रकार भारत की प्रायः सब राजनैतिक शक्तियाँ या तो अंग्रेजों की प्रभुता को स्वीकार कर चुकी थीं या उनकी मित्र हो चुकी थीं। रामेश्वरम् से लेकर दिल्ली तक के सभी मुख्य केन्द्रों में अंग्रेजी सेना की छावनियाँ छाई हुई थीं।[2]

अंग्रेजों ने भारतीय राजाओं और नवाबों को पराजित करने के पश्चात् भी कूटनीति से काम लिया। उन्होंने एक ओर इन राजा एवं नवाबों को अन्दर अन्दर समाप्त कर दिया और दूसरी ओर उनका ऊपरी ढाँचा बनाए रखा और इस प्रकार युग के प्रभाव से भारत को आगे बढ़ने से रोक दिया।[3]

सन् १८४८ ई० लार्ड डलहौजी भारत में आये। उनकी कुटिल-नीति से भारतीय राज्यों में अत्यधिक असंतोष व्याप्त हो गया था। सम्पूर्ण परिस्थितियाँ अंग्रेजों के विपक्ष में होती जा रही थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकमात्र ध्येय धन बटोरना मात्र रह गया था जिससे चारों ओर दरिद्रता का साम्राज्य

---

१ ओझा, और पुरी, प्रथम भाग पूर्वोक्त पृ १०९।
२ ओझा और पुरी, प्रथम भाग पूर्वोक्त पृ २०७।
३ ओझा, और पुरी, द्वितीय भाग पूर्वोक्त पृ १०९ २०।

छाया हुआ था। इतना ही नहीं सेना भी असन्तुष्ट थी। सामन्त सरदारों के वंशज स्वभावतः अंग्रेजों की नवीन शक्ति के विरुद्ध थे। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में विद्रोह की भावना दिनों दिन प्रबल होती जा रही थी।[1] इस विद्रोह का स्वरूप शीघ्र ही भारतीय स्वाधीनता का बन गया था—पर यह स्वाधीनता सामन्ती ढरें ही की थी जिसके मुखिया एकतन्त्री राजा और बादशाह थे जन साधारण की आजादी की इसमें कोई चर्चा ही न थी। किन्तु यह अवश्य था कि जनता अंग्रेजी राज्य से दुखी थी—इससे वह बड़े-बड़े जमींदारों के प्रभाव में आकर उनका साथ दे रही थी। इस विद्रोह में राजनीति में किंचित मात्र धार्मिक जोश भी मिला दिया गया था। जिससे यह विद्रोह और भी अधिक शक्तिशाली हो गया था।[2]

सन् १८५७ की क्रान्ति क्यों हुई, इस पर भी आचार्य चतुरसेन जी ने विस्तार से प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिखों के युद्ध डलहौजी की भू पिपासा झांसी दिल्ली कानपुर मेरठ लखनऊ आदि स्थानों पर हुई क्रान्तियों पर भी विभिन्न कथाओं के माध्यम से प्रकाश डाला है। 'सोना और खून' के द्वितीय भाग के दोनों खंडों में इसी क्रान्ति को ही कथा के ब्याज से आचार्य चतुरसेन जी ने स्पष्ट किया है।

भारत के बाहर की—

'सोना और खून' में भारत के बाहर की भी राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों का सफल चित्रण हुआ है। इसमें सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक के संसार के विभिन्न देशों की उन राजनीतिक एवं सामाजिक घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है जो केवल सोना और खून के लिए हुई थीं। इन घटनाओं के माध्यम से उपन्यासकार ने तत्कालीन विश्व की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला है।[3] इंगलैंड[4]

---

१ सोना और खून, दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ ११०।
प्रमाण के लिए देखिए भारत में अंग्रेजी राज पं० सुन्दरलाल तीसरी जिल्द पृ १३२१ से १३५१ तक।
२ सोना और खून, दूसरा भाग पूर्वार्द्ध पृ ११०-११।
३ सोना और खून के दोनों भागों में इन पर विस्तृत प्रकाश प्राप्त होता है।
४ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ १०५, १०६, १११, ११८।
प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ १०९ १९, १५४ १५०, २२८ ४००।
द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध पृ २७१-७७, २९१, ३०१ ३ तक।

चीन[1] फ्रांस[2] आस्ट्रिया[3] जर्मनी[4] जापान[5] रूस[6] पोलैंड[7] स्पेन[8] आदि देशों की विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण इसमें बड़ा यथार्थ है।

सामाजिक उपन्यासों में—

वास्तव में वातावरण का महत्व केवल ऐतिहासिक उपन्यासों में ही अधिक होता है। वैसे आचार्य चतुरसेन जी के सामाजिक उपन्यासों में भी बीसवीं शताब्दी की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सजक अंकन प्राप्त होता है। यहाँ हम संक्षिप्त में इस पर प्रकाश डालेंगे।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ—

बीसवीं शताब्दी के पूर्व ही से मुगल साम्राज्य ध्वस्त एवं अंग्रेजी राज्य दृढ़ हो चुका था। धीरे धीरे यहाँ के जन जीवन पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव प्रबल होता जा रहा था। महारानी विक्टोरिया की घोषणा से देश के नवयुवकों में विचार-स्वातंत्र्य की भावना जागृत हो गई थी। देश में ईसाइयों ने स्थान-स्थान पर प्रचार के अड्डे स्थापित कर लिये थे। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारत में ब्रह्म-समाज प्रार्थना-समाज एवं आर्य-समाज की स्थापना हो चुकी थी। इसके साथ ही श्री रामकृष्ण परमहंस स्वामी विवेकानंद तथा स्वामी रामतीर्थ अपने उपदेशों द्वारा पथ भ्रान्त जनता को पथ प्रदर्शित कर रहे थे। स्वामी दयानन्द अन्ध विश्वास और पाखण्ड त्यागने का उपदेश दे रहे थे। उनके अनुयायी भी वर्ण-व्यवस्था का विनाश करते एवं विभिन्न प्रकार की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे। आचार्य चतुरसेन की

---

१ सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ४०१ एवं द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध २८७-८८।

२ सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ११२ एवं द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध पृ २७६ २८०-२८१।

३ सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ११२।

४ सोना और खून, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ११२।

५ सोना और खून द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध पृ २८९।

६ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ ११३ तथा द्वितीय भाग पूर्वार्द्ध पृ. २९०।

७ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ ११३।

८ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ ११६, ११८।

के उपन्यासों में आर्य-समाजी कार्य कर्ताओं की गति विधियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही साथ उनके उपन्यासों में वर्ण व्यवस्था[1] दासी प्रथा गोली प्रथा[2] धार्मिक अंध विश्वास[3] साम्प्रदायिक संघर्ष[4] दहेज प्रथा[5] वृद्ध विवाह[6] बाल विवाह[7] हिंदू समाज में विधवाओं की करुण स्थिति[8] वेश्याओं की स्थिति[9] आदि पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

राजनीतिक परिस्थितियां—

सन् १८५७ ई० की सशस्त्र क्रान्ति के पश्चात् से ही भारतीय जनता में स्वतन्त्रता की भावना का विकास होने लगा था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में यह भावना और विकसित ही हुई थी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व और पश्चात् की राजनीतिक परिस्थितियों का सफल अंकन आचार्य चतुरसेन जी के 'आत्मदाह' नामक उपन्यास में प्राप्त होता है।[10] प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् घबराती हुई, ब्रिटिश सरकार युद्ध की सांस ले रही थी। किन्तु देश में सार्वजनिक असंतोष फैल रहा था। आये दिन क्रान्तिकारी आन्दोलनों का भंडाफोड़ होता था। विशेषकर पंजाब में असन्तोष की भावना बहुत प्रबल थी।[11] इसी समय 'जलियान वाला बाग' हत्याकांड भी हो गया था[12] जिससे

---

१ आत्मदाह पृ ११७-११८ ।
२ 'गोली' नामक उपन्यास ही इस प्रथा पर लिखा गया है ।
३ लगभग सभी उपन्यासों में इसकी चर्चा प्राप्त होती है । कुछ उदाहरण बहते आँसु २२१, २२५, २२७, धर्म पुत्र पृ ६८, ७१ ।
४ आत्मदाह पृ ११७ ।
५ 'अपराजिता' नामक उपन्यास में विशेष प्रकाश । तथा अदल बदल पृ ५४ ५६
६ गोली पृ १४२ ।
७ बहते आँसु पृ ६० ।
८ बहते आँसु (अमर अभिलाषा) नामक उपन्यास ही आचार्य चतुरसेन जी ने विधवा समस्या पर लिखा है । इसके अतिरिक्त देखिए आत्मदाह १२२ १२७ अदल बदल पृ ५१ ५३, गोली पृ ११८ बगुला के पंख पृ २४०-२४१ ।
९ आत्मदाह १५१ ५३, १५५ ५९ ।
१० आत्मदाह, पृ २७१-८२ २८६-८८, ३०९ ११ ।
११ आत्मदाह, पृ २८१-८२ ।
१२ आत्मदाह, पृ २८७-८८ ।

देश की राजनीतिक दशा और भी खराब हो गई थी।[1] इसके पश्चात् ही गांधी जी के नेतृत्व में अहिंसात्मक आन्दोलन का प्रारम्भ हो गया था।

द्वितीय महायुद्ध के आते-आते असंतोष की यह भावना सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो चुकी थी। गांधी जी का अहिंसात्मक आन्दोलन उभी पर था। उधर यूरोप युद्ध की ज्वाला में जल भुन कर खाक हो रहा था। हिटलर जल थल और वायु में सर्वग्रासी महाकाल बन नर रक्त से स्नान कर रहा था। महाराज्यों और महाराष्ट्रों के गर्वीले राजमुकुट भूलुण्ठित हो रहे थे। ब्रिटिश साम्राज्य महासंकट से गुजर रहा था। और इधर भारत का वातावरण अशान्त था। प्रत्येक वस्तु महंगी होती जा रही थी। आर्डिनेन्सों और घोर जुल्मों की भरमार हो रही थी। कांग्रेस का नेतृत्व बूढ़े और ठण्डे दिल कर रहे थे वे कह रहे थे कि ठहरो और प्रतीक्षा करो।[2] पर देश के नवयुवक प्रतीक्षा करने को तैयार न थे। इस समय दो व्यक्तियों का प्रभाव देश पर था। एक जवाहर और दूसरे सुभाष। जवाहर जेल में थे और सुभाष देश से बाहर। परंतु दोनों ही के कार्य कलाप हवा में तैरते हुए आते और लाखों करोड़ों तरुणों को एक मूक संदेश दे जाते थे।[3] सुभाष की जर्मनी, सिंगापुर एवं बर्मा आदि से निरंतर होने वाली स्पीचों ने देश को हिला डाला था। देश में नेता सक्रिय थे और उधर जर्मन नाजी सेनाएँ एक के पश्चात् दूसरे देश को आक्रान्त करती अबाध गति से बढ़ती जा रही थी। फ्रांस और ब्रिटेन की दशा दयनीय थी। पूर्व में जापान ने भी युद्ध का डंका फूंक दिया था। सुभाष के नेतृत्व में 'जयहिन्द' सेना भी अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध आ डटी थी।[4] देश में भी विद्रोह की भावनाएँ व्याप्त हो चुकी थीं। ७ अगस्त सन् १९४२ से आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उसी दिन गांधी जी सहित सब पार्टी के नेता जेलों में डाल दिये गए। किन्तु तो भी यह आन्दोलन न रुका। लगभग ४ करोड़ व्यक्तियों ने खुले रूप से इस विद्रोह में भाग लिया। यह खुला विद्रोह गोलियों की बौछारों के साए में बढ़ा हुआ। एक हजार से ऊपर जगहों पर गोली चली। विद्यार्थियों ने लाखों की संख्या में इस आन्दोलन में योग दिया। देशी राज्यों तक इस विद्रोह

---

१ आत्मदाह, १०९ ११।
२ धर्मपुत्र पृ ११५ १६।
३ धर्मपुत्र, पृ ११४ १५।
४ धर्मपुत्र, पृ ११५ १७।

की आग फैली ।[1] किन्तु अन्ततः महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् यह आन्दोलन भी दबा दिया गया । इस आन्दोलन की झलक 'धर्मपुत्र' में डा० अमृतराय के परिवार को सामने प्रस्तुत करके उपन्यासकार ने की है ।

सन् १९४७ आते-आते अंग्रेजों ने भारत छोड़ना स्वीकार कर लिया । वे १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत छोड़कर चले तो गए किन्तु उसके दो खंड करते गए । पाकिस्तान पृथक कर दिया गया । उसने स्वच्छन्द आचरण प्रारम्भ कर दिया । जिन्ना ने जिस डायरेक्ट ऐक्शन का संकेत किया था वह तुरन्त अमल में लाया गया और देखते ही देखते पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल में मार-काट लूट आग-बलात्कार-हत्या का बाजार गर्म हो गया । यह आग की भयंकर लपटें कलकत्ता नोआखाली बिहार, इलाहाबाद बम्बई और दिल्ली आदि में होती हुई सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गईं । 'धर्मपुत्र' में इस भयंकर ज्वाला की एक झलक देखने को प्राप्त होती है ।[2]

'उदयास्त' 'बगुला के पंख' एवं 'अपराध' आदि उपन्यासों में आचार्य जी ने स्वतंत्रता के पश्चात् के भारत का चित्रण किया है । इनमें स्वतंत्रता के पश्चात् की परिवर्तित होती हुई भावनाओं स्वार्थी नेताओं की लोलुपताओं एवं अन्य अनेक समस्याओं का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है ।

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन—

प्रकृति एक विशद विवेचन काम्य है । मनुष्यों के परस्पर सम्पर्क के फलस्वरूप जो परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें सामाजिक वातावरण की संज्ञा दी जा सकती है । इसका वर्णन हम पिछले पृष्ठों में पौराणिक ऐतिहासिक सामाजिक तीनों ही प्रकार के उपन्यासों का पृथक-पृथक कर चुके हैं । यहाँ हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त प्रकृति-चित्रण पर संक्षिप्त में प्रकाश डालेंगे ।

मनुष्येतर जगत् है प्रकृति-प्रकृति या प्राकृतिक का अर्थ है स्वाभाविक । अतः प्रकृति के अन्तर्गत वही वस्तुएँ आती हैं जिन्हें सजाने संवारने में मानव का हाथ नहीं लगा है वरन् वे स्वयं ही अपनी नैसर्गिक छटा से हमें आकर्षित करती हैं । ईश्वर या 'उस महान्' की कारीगरी को हम प्रकृति और मनुष्य की

---

१ धर्मपुत्र आचार्य चतुरसेन पृ ११६ ११८ ।
२ धर्मपुत्र , आचार्य चतुरसेन पृ १६६ १८७ ।

कारीगरी को कला कहते हैं। प्रकृति में पशु पक्षी सरिता निर्झर, गिरि, गुहा पृथ्वी वृक्ष लता गुल्म आदि की गणना की जा सकती है। इन सबका अनुभव हम अवलोकन रसा स्वादन श्रवण सुवास-ग्रहण और स्पर्श द्वारा कर सकते हैं।[1] मनुष्य की कारीगरी का वर्णन हम पिछले पृष्ठों म 'वस्तु वर्णन' के अंतर्गत कर चुके हैं यहाँ हम केवल 'उस महान्' की कारीगरी पर प्रकाश डालेंगे।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों में (वयं रक्षामः) को छोड़कर प्रकृति वर्णन कम ही किया है। अधिकांशतः अपने उपन्यासों में प्रकृति का प्रयोग उन्होंने पृष्ठ भूमि के रूप में ही किया है। यत्र-तत्र उन्होंने प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन रूप में भी किया है। इस प्रकार उनके समस्त उपन्यासों में प्रकृति के संक्षिप्त और विस्तृत उल्लेख लगभग १०७ स्थलों पर प्राप्त हैं। 'वयं रक्षामः' में तो प्रकृति अपने उन्मुक्त रूप में दीख पड़ती है। ऐसा लगता है कि उपन्यासकार ने अपना समस्त कौशल इन चित्रों को गढ़ने में लगा दिया है। इसी से ये प्रकृति-चित्र संक्षिप्त होते हुए भी विराट् का दर्शन कराने वाले हैं। सजीवता स्वाभाविकता नवीनता एवं ताजगी के कारण प्रत्येक चित्र अपने में पूर्ण है। 'सुम्बाद्वीप' के प्रभात का एक चित्र देखिए सुंदर प्रभात था। प्रभात के इन क्षणों में समुद्र तट की प्रकृति-शोभा देखते ही बनती थी। सर्वत्र एक माधुर्य पूर्ण आलोक छाया था। सुदूर क्षितिज पर फैले हुए फेनिल सागर की गम्भीर तरंगों पर प्रभातकालीन सूर्य की रक्तिम किरणें थिरक रही थीं। लाल-पीली आभा से उद्भासित आकाश अनन्त की ओर एक धूमिल रेखा बनाता हुआ समुद्र से जा मिला था। इसके नीचे श्वेत पक्षी जहाँ-तहाँ जल क्रीड़ा रत थे। पछवा हवा कुछ वेग से बह रही थी और उसके झोंकों से तटवर्ती वृक्ष झूमते हुए एक चीत्कार-सी कर रहे थे। प्रबल वात के थपेड़ों से आन्दोलित महासागर की रौद्र लहरें गम्भीर गर्जन-तर्जन करती हुई अनवरत गति से तटवर्ती काली और लाल-लाल चट्टानों से टकरा रही थीं। सारा उपकूल श्वेत झागों से भरा था।[2]

केवल वर्णन पढ़ने मात्र से ही उस सुन्दर प्रभात का चित्र पाठक के नेत्रों के समक्ष साकार हो उठता है। प्रस्तुत प्रकृति-वर्णन उद्दीपन और पीठिका दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुआ है। रावण अपनी अभिसारिका दैत्यबाला की

---

१ हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण डा० किरणकुमारी गुप्ता पृ १० से १६।

२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ८७।

की आग फैली।[1] किन्तु अन्ततः महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् यह आन्दोलन भी दबा दिया गया। इस आन्दोलन की झलक 'धर्मपुत्र' में डा० अमृतराय के परिवार को सामने प्रस्तुत करके उपन्यासकार ने की है।

सन् १९४७ आते-आते अंग्रेजों ने भारत छोड़ना स्वीकार कर लिया। वे १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत छोड़कर चले तो गए किन्तु उसके दो खंड करते गए। पाकिस्तान पृथक कर दिया गया। उसने स्वच्छन्द आचरण प्रारम्भ कर दिया। जिन्ना ने जिस डाइरेक्ट ऐक्शन का संकेत किया था वह तुरन्त अमल में लाया गया और देखते ही देखते पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल में मार-काट लूट-पाट-बलात्कार-हत्या का बाजार गर्म हो गया। यह आग की भयंकर लपटें कलकत्ता नौआखाली बिहार, इलाहाबाद बम्बई और दिल्ली आदि में होती हुई सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गई। 'धर्मपुत्र' में इस भयंकर ज्वाला की एक झलक देखने को प्राप्त होती है।[2]

'उदयास्त' 'बगुला के पंख' एवं 'अपराध' आदि उपन्यासों में आचार्य जी ने स्वतंत्रता के पश्चात् के भारत का चित्रण किया है। इनमें स्वतंत्रता के पश्चात् की परिवर्तित होती हुई भावनाओं स्वार्थी नेताओं की लोलुपताओं एवं अन्य अनेक समस्याओं का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है।

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन—

प्रकृति एक विशद चिरंतन काव्य है। मनुष्यों के परस्पर सम्पर्क के फल-स्वरूप जो परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें सामाजिक वातावरण की संज्ञा दी जा सकती है। इसका वर्णन हम पिछले पृष्ठों में पौराणिक ऐतिहासिक, सामाजिक तीनों ही प्रकार के उपन्यासों का पृथक्-पृथक् कर चुके हैं। यहाँ हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त प्रकृति-चित्रण पर संक्षिप्त में प्रकाश डालेंगे।

मनुष्येतर जगत् ही प्रकृति-प्रकृति या प्राकृतिक का अर्थ है स्वाभाविक। अतः प्रकृति के अन्तर्गत वही वस्तुएँ आती हैं जिन्हें सजाने संवारने में मानव का हाथ नहीं लगा है वरन् वे स्वयं ही अपनी नैसर्गिक छटा से हमें आकर्षित करती हैं। ईश्वर या 'उस महान्' की कारीगरी को हम प्रकृति और मनुष्य की

---

१ धर्मपुत्र आचार्य चतुरसेन पृ ११६ ११८।
२ धर्मपुत्र, आचार्य चतुरसेन पृ १६९ १८७।

कारीगरी को कला कहते हैं। प्रकृति में पशु, पक्षी सरिता निर्झर, गिरि, शृंग वृक्ष वन तथा पुष्प आदि की गणना की जा सकती है। इन सबका अनुभव हम अवलोकन तथा स्वाद्य श्रवण सुवास-ग्रहण और स्पर्श द्वारा कर सकते हैं।[1] मनुष्य की कारीगरी का वर्णन हम पिछले पृष्ठों में 'वस्तु वर्णन' के प्रसंग कर चुके हैं यहाँ हम केवल 'उस महान्' की कारीगरी पर प्रकाश डालेंगे।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों में (वयं रक्षाम) को छोड़कर प्रकृति वर्णन कम ही किया है। अधिकांश अपने उपन्यासों में प्रकृति का प्रयोग उन्होंने पृष्ठभूमि के रूप में ही किया है। कहीं-कहीं उन्होंने प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन रूप में भी किया है। इस प्रकार उनके समस्त उपन्यासों में प्रकृति के संक्षिप्त और विस्तृत वर्णन लगभग १०७ स्थलों पर प्राप्त हैं। 'वयं रक्षाम' में तो प्रकृति अपने उन्मुक्त रूप में दीख पड़ती है। ऐसा लगता है कि उपन्यासकार ने अपना सम्पूर्ण कौशल इन चित्रों का अंकन में लगा दिया है। इसी से ये प्रकृति-चित्र संक्षिप्त होते हुए भी विराट का दर्शन कराने वाले हैं। सजीवता स्वाभाविकता नवीनता एवं ताजगी के कारण प्रत्येक चित्र अनन्य में दृश्य है। 'कुम्भाद्वीप' के प्रभात का एक चित्र देखिए सुन्दर प्रभात था। अनन्त के इन क्षणों में मधुर रूप की प्रकृति-शोभा देखते ही बनती थी। एक मधुर धूम आच्छादित छाया था। सुदूर क्षितिज पर फैले हुए धूमिल सागर की गम्भीर तरंगों पर अनन्तगामी सूर्य की रक्तिम किरणें बिखर रही थीं। नीली सारा से उन्मादित आकाश अनन्त की ओर एक धूमिल रेखा खींचता हुआ समुद्र से जा मिला था। उसके बीच ऊपर पक्षी जहाँ-तहाँ उड़ते सफेदी पर झूमते हुए एक चीत्कार-सी कर रहे थे। उधर बालू के ढूहों से अनादि महासागर की रौद्र लहरें गम्भीर गर्जन-तर्जन करती हुई अनवरत ... चट्टानों से टकरा रही थीं। ... ... मस्त था।[2]

केवल वर्णन प्रथम भाग में ही इस सुन्दर प्रभात का चित्र पाठक के नेत्रों के समक्ष साकार हो उठता है। सम्पूर्ण प्रकृति-वर्णन उद्दीपन और दीप्ति रूपों ही में प्रयुक्त हुआ है। ... अपनी अभिसारिका ... की

1 हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण, डा० किरणकुमारी गुप्ता पृ० १० से १६।
2 वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन पृ० ८७।

हत्या अपने नेत्रों के समक्ष ही देख चुका था उसके मस्तिष्क में प्रतिकार लेने का संकल्प उसी प्रकार गूंज रहा था जिस प्रकार प्रबल वात के थपेड़ों से आंदोलित महासागर की ज्वार की रौद्र लहरें गम्भीर गर्जन तर्जन कर रही थी। यद्यपि प्रभाव सुन्दर है रावण के संतप्त विचारों से अभिप्त है। अपनी आभा में सौन्दर्य में वह बेसुध है भूला हुआ है किन्तु सागर! वह अभिप्त कहाँ रह पाया ? क्यों रावण के विचारों के समान उसमें भी जो तूफान छिपा है ! वह उसे निर्विकार कैसे रहने देता ? इस प्रकार प्रस्तुत प्रकृति चित्रण पीठिका और उद्दीपन दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुआ है।

उनके 'सोमनाथ' उपन्यास में प्राप्त संध्या का भी एक चित्र देखिए 'सूर्य अस्त हो चुका था। संध्या का अंधकार चारों ओर फैल गया था। केवल पश्चिम दिशा में एकाध बादल क्षण-क्षण में क्षीण होती अपनी लाल आभा झलका रहा था जिसका स्वर्ण प्रतिबिम्ब सोमनाथ महालय के स्वर्ण शिखरों पर अपनी क्षीणकाय झलक दिखा रहा था।'[1] प्रस्तुत चित्र केवल पीठिका रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। चित्र संक्षिप्त होने के साथ-साथ सजीव एवं उपयुक्त भी है इसी कारण से वह कथा में पूर्णरूप से खप गया है।

अब सूर्यास्त के पश्चात की प्रकृति के उन्मुक्त सौन्दर्य का एक चित्र देखना अनुपयुक्त न होगा" सूरज डूब चुका था। झिलमिलाते तारे यों ही छुटपुट आसमान पर नजर आते थे। बादल के बच्चे कोई सफेद कोई आबी कोई नीलम् जरा जरा से मगर एक दूसरे से मिले हुए फैल रहे थे। जिनमें ग्यारस के चांद की अठखेलियाँ आम पीपल बरगद के पत्ते जब हवा जोर से चलती—खड़खड़ा उठते थे। हवा में जरा-जरा खुनकी थी।[2] ग्यारस के चांद का बादलों के साथ अठखेलियाँ करना बादलों का आपस में आँख मिचौनी करना हवा में मस्त होते हुए भी प्रकृति का उन्मुक्त भाव से गुनगुनाना और मुस्काना क्या कम सजीव है।

दिन रात के विभिन्न भोगों के वर्णनों के साथ-साथ आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों में विभिन्न ऋतुओं का भी सजीव स्वाभाविक सांकेतिक किन्तु कहीं-कहीं विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। यह वर्णन भी उद्दीपन एवं पीठिका दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। 'वयं रक्षाम' में प्राप्त हेमंत का एक चित्र देखिए जो 'वाल्मीकि रामायण' में प्राप्त हेमंत के

---

१ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ ५।

सोना और खून, भाग १ उत्तरार्ध पृ २२-२३।

चित्र का स्मरण दिला देता है। सीता हरण के पूर्व राम सीता से कहते हैं 'सीते यह कैसा सुहावना समय है। शीत के कारण शरीर में स्फूर्ति का अनुभव हो रहा है अब शरीर अधिक जल का प्रयोग नहीं सह सकता सहसा भूमि शस्य श्यामला हो रही है। शरीर को अग्नि और धूप सुहाने लगी है। पूर्णिमा की रात्रि भी अब धूमिल होती है वायु भी अति शीतल हो गई है।[1] प्रस्तुत वर्णन में विस्तार और वाल्मीकि का अनुकरण अधिक होने के कारण सजीवता एवं स्वाभाविकता नहीं रह गई है। किन्तु जहाँ पर आचार्य चतुरसेन जी ने स्वतंत्र संक्षिप्त प्रकृति-चित्र खींचे हैं वे निश्चित ही सजीव एवं प्रभावोत्पादक हैं। 'सोमनाथ' उपन्यास में प्राप्त वसंत की मनोरम ऋतु का सुहावना वर्णन देखिए 'वसंत की मनोरम ऋतु गुजरात पर छा गई। रम्य गुर्जर भूमि विविध लता पुष्पों से भर गई। पुष्पों की भीनी महक से वातावरण सुरभित हो गया। आम के वृक्ष बौर से लद गये। उन पर कोयल कूकने लगी। गुजरात की भूमि एक मनोहर वाटिका की शोभा धारण कर उठी। सघन वनस्थली में गिरिश्रृंग से निकलती हुई स्वच्छ जल की पहाड़ी नदियाँ और निर्झर टेढ़ी-सीधी भूमि पर सर्पाकार बहते अति शोभायमान प्रतीत होने लगे। विविध रंगों के पक्षियों के चहचहाने से ध्वनित-सी गुर्जर भूमि स्वर्ग की सुषमा दिखाने लगी। यह विपत्ति को भूल लोग विविध रंग के वस्त्राभूषण धारणकर फाग का आनंद लेने लगे।"[2] पुष्पों की भीनी महक सुरभित वातावरण गिरिश्रृंग की गोद में किलोलें करती हुई सरिता उन्मुक्त तरलता, स्वरमय एकांतता साथ ही कुक कुक से अलिप्त अपने में मस्त पक्षियों का एकांत कलरव सबने मिलकर वास्तव में सम्पूर्ण चित्र को सजीव स्वाभाविक एवं गतिमय बना दिया है। गुजरात की भाँति मनोरम वसन्त पाठक के मानस में भी छा जाता है। प्रस्तुत वर्णन केवल पीठिका रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। अब एक उद्दीपन रूप में प्रयुक्त वसन्त के वर्णन को देखिए। 'आलमगीर' का सुबीन्द्र अपनी पत्नी सुधा की मृत्यु से संतप्त है। उस समय उसके आकुल-व्याकुल मन को वसन्त कैसा लगता है इसका चित्र भी देखने योग्य है वसन्त आ गया था। होली को अब पाँच दिन रह गये थे। सुबीन्द्र का प्रकृति-निरीक्षण का पुराना शौक था। प्रातःकाल का समय था सुहावनी हवा चल रही थी। वे अपने छोटे से कमरे में कालीन पर मसनद के सहारे पड़े थे। सामने के वृक्ष को देख रहे थे। वृक्ष के

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ४६२।
२ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ ५०४।

सब पत्ते झड़ रहे थे। हवा का झोंका आता था और ढेर के ढेर पत्ते झड़कर उड़ जाते थे। वृक्ष पर नई कोंपलें खिली थीं वे लाल चमक रही थीं उन्होंने कुत्सपूर्ण मुस्कराहट मुझपर फेंककर कहा 'यही बसंत है! सूखे पत्तों को झड़ना और नये पल्लवों को विकसित करना उसका काम है। शायद यही प्राकृत जीवन का रूप है। वाह रे बसंत!"[1] अन्तिम शब्द 'वाहरे बसंत' में कितनी कसक है, कितनी हृदय की तड़पन एवं घुमड़न है। पत्नी बिछोह के कारण सुधीर को प्रकृति का रम्य रूप भी उग्र पीड़क और उपहास करता दीख पड़ता है। पत्तों का झड़ना नवीन कोंपलों का निकलना-बसंत का कार्य कहकर उपन्यासकार ने संसार-चक्र के क्रिया-कलाप की ओर भी अपरोक्ष में संकेत कर दिया है।

अब बंगाल की वर्षा ऋतु के श्रृंगार का भी एक चित्र देखिए 'आषाढ़ का पहला मेह बरस चुका। हवा में गीली मिट्टी की सोंधी महक आम की अमराइयों में होकर तबियत खुश कर रही थी। बंगाल के मौसम का यह वातावरण बड़ा ही सुहावना होता है। ठंडी हवा चल रही थी और आम के सघन पत्तों में गिरते हुए सूरज की सुनहरी धूप छनकर समूचे वातावरण को रंगीन बना रही थी।[2]

मिट्टी की सोंधी महक आम की अमराइयों की भीनी सुगंध छन छनकर आती हुई तिरछी सुनहरी धूप में यों ही मादकता भरी पड़ी है। उसपर वर्षा ऋतु वह भी बंगाल की सबने मिलकर वातावरण को सचमुच रंगीन एवं उन्मादक बना दिया है। चित्र संक्षिप्त होते हुए भी सजीव स्वाभाविक गतिमय एवं पूर्ण है। इसी प्रकार के विभिन्न ऋतुओं के कितने ही सजीव चित्र आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में भरे पड़े हैं।

ये हुए उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत प्रात अपराह्न सन्ध्या रात्रि एवं विभिन्न ऋतुओं के रम्य चित्र। इसके अतिरिक्त उसने सरिता निर्झर, गिरि, गुहा वृक्ष लता सरोवर आदि के भी कितने ही सजीव वर्णन अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किए हैं। यहाँ उपत्यका के मध्य स्थित सरोवर की शोभा का एक चित्र प्रस्तुत है।

---

१ आत्मदाह आचार्य चतुरसेन पृ १८३।
२ सोना और खून आचार्य चतुरसेन प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ २१०।

'उपत्यका का वह प्रांत निर्जन और सघन था। वहाँ निर्मल जल का सरोवर था सरोवर में अगणित कमल खिले थे। ताल तमाल हिंताल की सघन छाया में मध्याह्न की धूप छन-छनकर शीतल होकर सोना-सा बरस रही थी। मंद पवन चल रहा था। सरोवर में चक्रवाक सारस हंस आदि नाना विहग थे। तपस्वी एक विशाल शाल्मली वृक्ष के नीचे सूखे पत्तों पर लेट गई।'[1]

वर्णन पढ़ते समय ही उपत्यका मध्य स्थित सरोवर का चित्र पाठक के मानस में साकार हो उठता है। सरोवर में कमलों का खिला होना जल पर मध्याह्न के सूर्य की सुनहली किरणों का छम्मा छम्माकर नृत्य करना विहगों का कलरव सबने मिलकर निर्जन विजन में स्थित सरोवर के सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है। प्रस्तुत प्रकृति-चित्र उद्दीपन और पीठिका दोनों ही रूप में प्रयुक्त हुआ है।

यह हुआ 'उस महान्' की कारीगरी का वर्णन। अब प्रकृति के सम्मुख वर्णन में लिपटा हुआ मनुष्य की कारीगरी का भी एक चित्र देखिए।

'पानी खूब बरसा है। अब वर्षा थम गई है। आसमान की चीजें धुलकर साफ हो गई हैं। मकानों की दीवारें, बड़ी-बड़ी भव्य अट्टालिकाएँ, कोलतार की काली नागिन सी बल खाती सड़कें मोटरें सब धुलकर निखर गई हैं। हवा में एक खुनकी आ गई है। मौसम खुशगवार हो गया है। रात बहुत बीत गई है। कारों का सड़कों पर आवागमन बन्द हो गया है। पर हजारों बिजली की बत्तियों के प्रतिबिम्ब से सड़कें चमचमा रही हैं। ऐसा लग रहा है जैसे आज नई दिल्ली की सुहागरात है।'[2] मनुष्य निर्मित सम्पूर्ण नगर प्रकृति के अंचल में बड़ा बेखबर विश्राम करता सा दीख पड़ता है। 'सुहागरात' शब्द ने वातावरण को और भी सजीव और उन्मादक बना दिया है। वास्तव में इससे तो यही भास होता है कि कला और प्रकृति के पाणिग्रहण के पश्चात् दोनों की सुहागरात का आज दिन हो। दिल्ली की सुहागरात कला की सुहागरात है। उत्प्रेक्षा के द्वारा उपन्यासकार ने वर्णन को और भी मर्मस्पर्शी एवं गतिमय बना दिया है।

प्रकृति के सौम्य शान्त एवं रम्य चित्र एक ओर यदि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं तो दूसरी ओर विकराल आतंककारी एवं भयंकर रूप भी। प्रथम प्रकार के चित्र यदि हृदय में उत्साह उत्पन्न करते हैं तो

---

१ वयं रक्षामः— आचार्य चतुरसेन पृ ६।
२ उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ ११९।

दूसरे प्रकार के वर्णन हृदय में भय और आतंक का संचार करते हैं। पिछले पृष्ठों में हमने प्रकृति के रम्य रूप का वर्णन किया है। अब प्रकृति के भयंकर पक्ष का भी एक चित्र देखिए।

"धीरे-धीरे सूर्य अस्त होने लगा और सागर में भी तूफान के चिह्न स्पष्ट होने लगे। तरणियों पर सभी पाल चढ़ा दिए गए। बन्दी स्त्रियाँ और धन की मंजूषाएँ बीच में रख ली गईं। सभी तरणियों को एक में बाँध दिया गया। देखते ही देखते वायु का वेग बढ़ गया। बिजली चमकने लगी। प्रचण्ड वायु हल्की वस्तुओं को उड़ाती और भारी वस्तुओं को गिराती प्रलय-गर्जना करने लगी। सागर में चट्टानों की भाँति बड़ी-बड़ी लहरें उठकर उन क्षुद्र तरणियों को आकाश में उछालने और गिराने लगीं। बन्दी अबन्दी सभी जन चीत्कार करने लगे। उनके कोलाहल से वह समुद्र का गर्जन-तर्जन और भी भयावह हो उठा। चर्म रज्जुओं के सुदृढ़ बन्धन टूट-टूटकर तरणियाँ दूर-दूर बहने और उलट-पुलट होने लगीं।"[1] सिन्धु का गरजना तरणियों का डगमगाना रज्जुओं के सुदृढ़ बन्धन का टूट जाना एक ओर हृदय में जहाँ भय का संचार करते हैं वहीं दूसरी ओर ये रेखाएँ पाठक की कल्पना के समक्ष भयंकर तूफान का एक चित्र साकार कर देती हैं।

वैसे तो आचार्य चतुरसेन जी के अधिकांश उपन्यासों में प्रकृति-वर्णन संक्षिप्त ही है किन्तु 'वयं रक्षामः' में वे प्रकृति के मोह में अधिक पड़ गए हैं जिससे कई स्थलों पर प्रकृति का वर्णन इतना विस्तृत हो गया है कि कथा को भी हम साथ कर रुक जाना पड़ता है। दण्डकारण्य की सुषमा वर्णन[2] किष्किन्धापुरी[3] स्वर्ण लंका[4] वारुणी द्वीप[5] सुषा नगरी[6] आदि के भौगोलिक वर्णन विस्तृत होने के साथ-साथ नीरस भी हैं। कथा से असम्बद्ध ऐसे वर्णनों का उपन्यास में प्रयोग वर्जित होना चाहिए। जैसा कि हम प्रथम ही कह चुके हैं कि इस प्रकार के वर्णन केवल आचार्य चतुरसेन जी के 'वयं रक्षामः' उपन्यास में

---

१ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ७३-७४।
२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ. ११८ से १६६ तक।
३ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ २०८ २०९ तक।
४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ९५ ९६ एवं १०१ १०२।
५. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १३-१५।
६ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ ३३ से ३६।

ही प्राप्त है। अन्य उपन्यासों में अधिकांशतः प्रकृति वर्णन संक्षिप्त और सांकेतिक ही हैं।

इतनी सतर्कता से कार्य लेने पर भी आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल सम्बन्धी कुछ भूलें प्राप्त होती हैं। इन भूलों को हम निम्न चार प्रकारों में रख सकते हैं—

१ भाषा सम्बन्धी भूलें।
२ वस्तु सम्बन्धी भूलें।
३ काल-क्रम सम्बन्धी भूलें।
४ विचार सम्बन्धी भूलें।

यहाँ हम चारों प्रकार की भूलों पर संक्षिप्त में विचार प्रस्तुत करेंगे—

१. भाषा सम्बन्धी भूलें —

जैसा कि हम आचार्य चतुरसेन जी की भाषा शैली का वर्णन करते समय दिखला चुके हैं कि आचार्य जी भाषा के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्क रहे हैं। उन्होंने सजीव वातावरण का निर्माण बहुत कुछ उपयुक्त भाषा के माध्यम से ही किया है। फिर भी कहीं-कहीं भाषा सम्बन्धी कुछ दोष रह ही गए हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने अपने 'सोमनाथ' उपन्यास में 'परेड' शब्द का प्रयोग किया है। इसके स्थान पर फारसी का 'कवायद' शब्द अधिक उपयुक्त हो सकता था। इसी प्रकार 'नगरवधू' में विकृत कानून' म कानून का प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त ज्ञात होता है। उस काल में 'कानून' शब्द प्रचलित न रहा होगा। यदि इसके स्थान पर 'विकृत नियम' अथवा 'विकृत अधिनियम' का प्रयोग उपन्यासकार ने किया होता तो अधिक उपयुक्त होता। इसके सम्बन्ध में भाषा शैली वाले अध्याय में विशेष विचार किया जा चुका है।

२ वस्तु सम्बन्धी भूलें—

आचार्य चतुरसेन जी वस्तु वर्णन के समय बड़े सतर्क रहे हैं। यद्यपि उनके उपन्यास विभिन्न कालों से सम्बंधित हैं तो भी उनके विभिन्न उपन्यासों में उसी काल के अनुरूप वस्तु वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु जहाँ पर उन्होंने 'इतिहास रस' के प्रतिपादन की चेष्टा की है, वहाँ वस्तु सबंधी भूलें अनायास ही हो गई हैं। उदाहरण के लिए वैशाली की नगरवधू में प्राप्त उन वैज्ञानिक वर्णनों को ले सकते हैं जिन पर कथानक विश्लेषण करते समय हम चर्चा कर चुके हैं। जैसा कि हम पीछे दिखला चुके हैं कि कुछ आलोचकों को 'वैशाली के

महायुद्ध के वर्णन में आधुनिक रासायनिक एवं कृमि-युद्ध (Chemical germ warfare) और एम-मुक्त-महाविस्फोटक जैसे रथों अस्त्रों विविध प्रकार के टैंकों का आभास' दीख पड़ा है।[1] कुछ आलोचकों को वैज्ञानिक शाम्बव्य काश्यप की अनुसंधानशाला किसी आधुनिक कालेज की प्रयोगशाला-सी दीख पड़ी है। उनका कथन है 'वैज्ञानिक शाम्बव्य काश्यप की अनुसंधानशाला किसी आधुनिक कालेज की प्रयोगशाला है जहाँ 'बहुत से मृतक पशु-पक्षियों के शरीर लटक रहे थे। अनेक जड़ी-बूटियाँ थैलियों में भरी हुई थीं। बहुत से विटक मांस और कांच की शीशियों में रसायन द्रव्य भरे थे' (अ० ११ प्रथम एवं द्वितीय) महायुद्ध में जो रासायनिक द्रव्य प्रयुक्त हुए थे वे भी यहाँ थे और उससे भी भयंकर थे। वैज्ञानिक ने सोम को बताया 'इनमें बहुतों में ऐसे हलाहल विष हैं जिन्हें कूप तालाब और जलाशयों में डाल देने से उसके जल के पीने ही से पक्ष में महामारी फैल जाती है। बहुत से ऐसे रसायन हैं कि शत्रु-सैन्य विविध रोग में ग्रसित हो जाती है वायु विपरीत हो जाती है ऋतु विपर्यय हो जाती है। इनमें कुछ ऐसे द्रव्य हैं कि यदि हवा के रुख पर उड़ा दिया जाय तो शत्रु सैन्य के सम्पूर्ण जन अंधे हो जाएँ। सैनिक मूक बधिर और जड़ हो जाएँ (अ १४) आने वाली बीसवीं शताब्दी के युद्ध में प्रयोग होने वाले विशाल रस यहाँ भरे थे[2] इस प्रकार के वर्णन आधुनिकता का आभास उत्पन्न करते हैं जिससे ऐतिहासिकता को गहरा आघात लगता है। इसी कारण ऐसे वर्णनों को हमने वस्तु संबंधी भूलों में रखा है।

काल क्रम सम्बन्धी दोष—

आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में कालक्रम संबंधी दोषों का आधिक्य है। इसका कारण उनकी 'इतिहास रस' वाली धारणा ही है। किंतु इतना निश्चित है कि उनकी इस धारणा ने ऐतिहासिक उपन्यासों के सौन्दर्य को बढ़ाया नहीं वरन् घटाया ही है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'वयं रक्षाम एवं वैशाली की नगरवधू' में तो इस प्रकार के दोषों की भरमार ही है। उन्होंने इन दोनों ही ऐतिहासिक उपन्यासों में काल परिधि की चिंता किए बिना ही कई कालों के पात्रों को एक स्थान पर ही एकत्र कर लिया है। 'वैशाली की नगरवधू' नामक उपन्यास में के 'पांचालों की परिषद्' नामक

---

१ आलोचना उपन्यास विशेषांक इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार अक्टूबर १९५४ पृ १०९।

२ ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार डा० गोपीनाथ तिवारी पृ १७५।

अध्याय में उन्होंने भारद्वाज[1] कात्यायन शौनक बोधायन गौतम आपस्तम्ब धाम्नाय्य जैमिनि, कणाद औलूक वासिष्ठ सांख्यायन हारीत पाणिनि वैशम्पायन पैल, माण्डव्य उपरिचर अथर्व अंगिरस आदि सभी ऋषि मुनि दार्शनिक स्मृतिकारों को एक ही धाम का बैठाया है। इस प्रकार के प्रयोगों के फलस्वरूप ही कथानक एवं भाषा शैली की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की रचना होने पर भी उनका यह उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से अधिक आदर नहीं प्राप्त कर सका है। डा० नगेन्द्र ने इस ऐतिहासिक उपन्यास को संदेह की ही दृष्टि से देखा है। इन्हीं दोषों के फलस्वरूप व इसे किंचित मात्र भी हृदय में न उतार पाए। डा० प्रभाकर माचवे ने इन्हीं दोषों से खीझकर स्पष्ट घोषणा कर दी 'ऐतिहासिक उपन्यास क्या नहीं होना चाहिए, इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठों का युद्धकालीन इतिहास रस का मौलिक उपन्यास है।'[2] डा० जगदीश गुप्त ऐतिहासिक उपन्यासकार की ऐसी सीमाहीन स्वतंत्रता को असम्य समझते हैं।[3]

इसी प्रकार अपने 'वयं रक्षाम' उपन्यास में भी उन्होंने कई युगों—यथा सतयुग एवं त्रेता युग—की प्रमुख घटनाओं को एक में ही संयुक्त कर दिया है। मनु-भरत[4] मत्स्य[5] वरुण-बाहु[6] देवासुर-संग्राम[7] राजा बलि एवं वामन[8], दाशराज्ञ संग्राम[9] एवं राम रावण संग्राम आदि को एक ही काल में समेट लिया गया है। यद्यपि उन्होंने इसको प्रमाणित करने के लिए एक लम्बा भाष्य भी दिया है किन्तु उससे यह देश काल संबंधी दोष दूर नहीं हुए हैं। कुछ ऐसे ही दोषों के कारण आचार्य चतुरसेन जी के ये श्रेष्ठ उपन्यास भी यत्र-तत्र उपहासास्पद हो गए हैं।

---

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन, पृ ११२ से १४० तक।
२ आलोचना 'ऐतिहासिक उपन्यास' डा० माचवे।
३ आलोचना उपन्यास विशेषांक इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार पृ १८२
४ वयं रक्षाम, आचार्य चतुरसेन, पृ २१ से ३० तक।
५. वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन, पृ ३० से ३३ तक।
६ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन, पृ ३३ से ३७ तक।
७ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन पृ ४५ से ५० तक।
८ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन पृ ४३ से ४५ तक।
९ वयं रक्षाम आचार्य चतुरसेन पृ ११८ से १२४ तक।

विचार संबंधी भूलें—

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में आधुनिक विचारों का खुलकर प्रयोग किया है। किन्तु इन विचारों का प्रयोग करते समय उन्होंने इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि वे तत्कालीन वातावरण के पूर्ण रूप से उपयुक्त हों। इसी कारण से उनके अधिकांश उपन्यासों में प्राचीनता के साथ नवीनता उसी प्रकार से घुली मिली प्राप्त होती है जैसे दूध में पानी। 'सोमनाथ' उपन्यास में जाति की समस्या मानवतावादी दर्शन 'वैशाली की नगरवधू' में नारी समस्या गणतन्त्रात्मक एवं राजसत्तात्मक राज्यों की समस्या आदि पर उपन्यासकार ने अपरोक्षरूप से आधुनिक विचारों को प्राचीन कथानक में बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त किया है। किन्तु इतना होते हुए भी आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में विचार सम्बंधी भूलों की न्यूनता नहीं है। कई स्थानों पर वर्तमान जीवन की विचार प्रक्रिया आचार्य जी को इस प्रकार अभिभूत किए हुए दीख पड़ती है कि वह जाने अनजाने रूप से उनके प्राचीन पात्रों एवं घटनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त हो गई है। इस प्रकार के प्रयोग अनैतिहासिक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक उपन्यासों को निर्बल बनाने वाले भी होते है। आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में ऐसी भूलें उन स्थलों पर भयानक रूप से उभरी हुई हैं जहाँ उन्होंने अपने दृष्टिकोण का प्रचार करना चाहा है। अपने उपन्यास 'नगरवधू' एवं 'वयं रक्षाम' में कई स्थलों पर उन्होंने बलात् साम्यवादी विचारों को खाओ पियो और मौज करो वाले सिद्धांतों को थोपने की चेष्टा की है। किन्तु ये आधुनिक विचार कथानक से पृथक ही भटके हुए स्पष्ट ज्ञात होते हैं। वयं रक्षाम में खाओ पियो और मौज करो वाले सिद्धांत स प्रेरित होकर ही उन्होंने मुक्त सहवास विवसन विचरण द्रूत और पलायन तथा नरमांस की बिक्री आदि का खुलकर चित्रण किया है। सम्भवत इसी सिद्धांत से प्रभावित होकर ही उन्होंने 'नगरवधू' के ऋषियों तक को मांस भक्षी एवं मदिरा पैयी बना दिया है। इसी प्रकार साम्यवाद एवं बौद्धमत से प्रभावित होने के कारण उन्होंने 'नगरवधू' में ब्राह्मण एवं आर्य राजाओं को खुलकर अपशब्द कहे हैं। वे ऐसा कहते समय यह विस्मृत कर बैठे हैं कि जिस काल का वे चित्रण कर रहे हैं उस काल में ब्राह्मण एवं आर्य राजाओं का समाज में अपना निज का स्थान था। उनमें कुछ चारित्रिक दुर्बलताएँ अवश्य रह गईं थीं किन्तु उतनी नहीं जितनी उन्होंने बौद्धमत से प्रभावित होने के कारण उपन्यास में चित्रित कर दी हैं। इस प्रकार के विचार सम्बंधी दोषों के कारण ही उनके 'नगरवधू' उपन्यास का सौंदर्य कई स्थानों पर धूमिल पड़ गया है।

देश काल निर्माण एवं वातावरण-सृष्टि संबंधी आचार्य चतुरसेन जी की मौलिक, विशेषताएँ एवं अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारों से भिन्नता—

इस विवरण के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में देशकाल अथवा वातावरण-सृष्टि अत्यंत सजीव है। उन्होंने पाठकों के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए कि वह भूतकाल की एक सच्ची ऐतिहासिक घटना को पढ़ रहा है उसके पात्रों को उनके क्रिया कलापों को प्रत्यक्ष देख रहा है विभिन्न साधनों का उपयोग किया है। प्रथम उसने उपन्यास से सम्बद्ध इतिहास को विस्तार के साथ दिया है। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने तीन वृहद् उपन्यासों के अंत में लम्बी-लम्बी भूमिकाएँ भी जोड़ी हैं। द्वितीय—उसने उपन्यास के प्रारंभ में कुछ ऐसे वर्णन दिए हैं जिनका अस्तित्व आज भी है जैसे पुराने खंडहर, नगरकोट किले आदि के वर्णन। इन्हीं को सामने प्रथम रखकर वह उसकी प्राचीन कथामा को उसके परिपार्श्व से धनै धनै एक एक करके निकालता जाता है। जैसे 'वैशाली की नगरवधू' के 'प्रवेश' में उसने वर्तमान वैशाली के ध्वंसावशेषों का वर्णन किया है।[1] तृतीय—इसने अपनी बात की पुष्टि के लिए उपन्यास के मध्य में भी कई स्थानों पर प्रसिद्ध इतिहासकारों के मत और उनके नाम दिए हैं। जैसे 'वयं रक्षाम' के अध्याय चार में सिंध प्रदेश की सभ्यता का वर्णन करते हुए उन्होंने डा० कैक फोर्ट डा० टी० टेरा डा० मार्शल डा० फिगम आदि विद्वानों को साक्षी बनाया है। अन्यत्र कई स्थानों पर भी ऐसे ही वर्णन हैं। किन्तु इससे औपन्यासिकता को गहरा आघात लगा है।

इसके अतिरिक्त उसने प्रत्येक उपन्यास के बीच-बीच में ऐतिहासिक विवरण भी दिए हैं। कई स्थानों पर तो इन ऐतिहासिक विवरणों के बाहुल्य के कारण कथा-तत्व बाधित भी हुआ है। जैसे जहाँ ऐतिहासिक अथवा प्रकृति चित्र आदि संक्षिप्त हैं कथा का सौंदर्य बढ़ गया है उसमें गति आ गई है। किन्तु जहाँ वर्णनों में विस्तार है विद्वता प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति है कथा के ऊपर इतिहास हावी है वहाँ कथा अवरुद्ध हो गई है कथाकार विवरणों में पड़ कर कथा को भूल गया है ऐसे स्थलों पर वह कथाकार के पद को त्यागकर इतिहासकार हो गया है।

जैसा कि पिछले विवरण से स्पष्ट है उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों में राम काल से लेकर आधुनिक काल तक को लिया है। इस प्रकार उसके वर्णन

१ वैशाली की नगरवधू, प्रवेश पृ १।

का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। चारों युगों का सामाजिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास उसके उपन्यासों में प्राप्त हो जाता है। वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी ने जिस युग के भी कथानक को उठाया है उस युग को काल के व्यवधान को चीर कर देखने का प्रयत्न किया है। उस युग के जीवन के सर्वांग को देखने का प्रयत्न कहीं-कहीं सफल भी नहीं हुआ है। इसका कारण क्षेत्र का विस्तार है एक साथ कई युगों में डुबकी लगाने की प्रवृत्ति है। वास्तव में वे दम साधकर एक युग में पैठे नहीं हैं और जहां पैठे हैं वहां वह जीवन के चित्रण में सफल हुए हैं—'सोमनाथ' इसका उदाहरण है। किन्तु अधिक व्यापक क्षेत्र लेने के कारण वे प्रत्येक युग में दम साधकर बैठ नहीं पाये हैं। कुछ उपन्यासों में तो उनकी इतिहास की डुबकियाँ स्पष्ट ज्ञात हो जाती हैं। एतिहास अलग है कथा अलग। उनका आनुपातिक समन्वय नहीं हो सका है। इसका कारण है एक ही डुबकी में उपन्यासकार सर्वांग की झांकी देने के मोह में है। बीच-बीच में विस्तृत ऐतिहासिक विवरण उसके द्वारा लगाई गई इतिहास की डुबकियाँ हैं और छोटी छोटी कथाओं द्वारा उस इतिहास की पुष्टि का जो प्रयत्न है, वे हैं डुबकी के फलस्वरूप जल में उठे बुलबुले जो कुछ ही क्षणों के लिए उठकर विलीन हो जाते हैं। अतः इन छोटी-कथाओं का प्रभाव भी उसी प्रकार क्षणिक पड़ता है। किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ है 'सोना और खून' में यह प्रवृत्ति विशेष है। सोमनाथ' इसके एकदम विपरीत है उसमें इतिहास और कथा का समन्वय है। जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं कि ऐसे उपन्यासों के लिखते समय उन्होंने केवल छिलाकों के लिए लिखे पिटे पिटाये इतिहास-ग्रंथों पर निर्भर न रहकर अनेक प्राचीन ग्रंथों एवं पुरातत्व-संबंधी अभिलेखों के अध्ययन मनन द्वारा प्राचीन भारत की आत्मा में प्रवेशकर, उसमें पूर्णरूप से पैठकर, उसके सजीव को देखकर उसका विश्लेषण कर, उसके संस्कारों को अपनी आत्मा में रमाकर तब उन्होंने उस युग का पुनर्निर्माण किया है। तभी ऐसे उपन्यासों में उस युग का वातावरण एकदम सजीव हो उठता है। जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में दिखला चुके हैं कि उनके श्रेष्ठ उपन्यासों तथा वयरक्षाम्, सोमनाथ आदि में उस का सजीव वर्णन प्राचीन नाम-उपाधियाँ तथा रीति-रिवाज उत्सव सामाजिक एवं राजनीतिक हलचलों का यथा तथ्य चित्रण प्राप्त होता है। जिसके कारण उनके इन उपन्यासों में उस युग का वातावरण अत्यंत जीवित एवं स्वाभाविक बन पड़ा है।

उपन्यास पढ़ते समय भी पाठक को उसकी ऐतिहासिकता पर पूर्ण विश्वास बना रहे इसके लिए उसमें ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो तत्कालीन

वातावरण-निर्माण में सहायक हो सके। उसी स्थान में संस्कृत के कथोपकथन 'नगरवधू' में प्राचीन वाङ्‌मय के पारिभाषिक शब्दों से सम्पन्न संस्कृत निष्ठ भाषा 'आलमगीर' में क्लिष्ट फारसी एवं अरबी के शब्दों का बाहुल्य तत्कालीन वातावरण को प्रत्यक्ष करने के लिए ही किया गया है। पिछले भाषा वाले अध्याय में हम इस पर विस्तार से लिख चुके हैं।

जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में दिखला चुके हैं कि उनके वस्तु वर्णन भी तत्कालीन युग-विशेष के अनुरूप ही हैं।

जैसा कि हम 'सांस्कृतिक चित्रण' में स्पष्ट कर चुके हैं कि उन्होंने तत्कालीन वातावरण एवं देश काल को सजीव करने के लिए उन कालों के रीति रिवाजों एवं प्रचलित त्योहारों का बड़ा सजीव वर्णन किया है। वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी ने वातावरण का चित्रण करते समय बाहरी ही नहीं वरन् उसके आंतरिक संदर्भों पर भी ध्यान रखा है उन्हें समाज की द्वन्द्वात्मक गति का वैज्ञानिक ज्ञान था वे मानवीय चेतना के विविध स्तरों की आंतरिक एकता से पूर्ण परिचित थे इसी कारण वे युग विशेष का पुनर्निर्माण करने में सफल रहे हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने वातावरण निर्माण के लिए केवल विभिन्न सामाजिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का चित्रण ही नहीं किया है वरन् उनको व्यक्त करने वाले चरित्रों एवं उनकी तदनुरूप मनोवृत्तियों का भी सफल अंकन किया है।

वास्तव में केवल उपर्युक्त विशेषताओं के सम्पन्न होने मात्र से ही किसी युग के इतिहास को जुटाया भले ही जा सके किन्तु जगाया नहीं जा सकता। इतिहास को जगाने के लिए उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करना आवश्यक है। प्राण प्रतिष्ठा होती है जीवन्त पात्रों के द्वारा। जैसा कि हम 'चरित्र चित्रण' वाले अध्याय में दिखला चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने श्रेष्ठ उपन्यासों में वातावरण को सजीव करने के लिए कुछ ऐसे पात्रों का निर्माण अवश्य किया जिनका इतिहास में भले ही अस्तित्व न रहा हो भले ही वे उस विशेष नाम और रूप में उस समय न रहे हों। किंतु यह निश्चय है कि वे उस युग विशिष्ट की प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। डा० नगेंद्र ने इस प्रकार के पात्रों के विषय में ठीक ही कहा है 'इन पात्रों को भी ऐतिहासिक ही मानना चाहिए क्योंकि इनका अस्तित्व चाहे तथ्य-परक न हो परंतु सत्य-परक अवश्य है—अर्थात् इनका

यह विशेष नाम या रूप न रहा हो, परंतु ये उस युग विशिष्ट की प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं इसमें संदेह नहीं—इससे इतिहास जुटाने में कोई काम न होता हो परंतु युग का इतिहास बनाने के ये अमोघ साधन हैं। ये तथ्य-संकलन में सहायक न होकर वातावरण तैयार करते हैं और ऐतिहासिक कथाओं में घटनाओं और नामों की अपेक्षा वातावरण का महत्व कहीं अधिक है, क्योंकि इतिहास की आत्मा नामों और घटनाओं में न रहकर वातावरण में ही निहित रहती है।[1] 'वैशाली की नगरवधू' के सोमप्रभ कुण्डनी 'सोमनाथ' की शोभना एवं फतहमुहम्मद आदि इसी प्रकार के पात्र हैं।

जैसा कि हम लिख चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्रकृति चित्रण भी अत्यंत सजीव एवं सरस हुआ है। उसका प्रयोग पीठिका एवं उद्दीपन दोनों रूपों में ही हुआ है। किन्तु प्रकृति-चित्र भी जहाँ संक्षिप्त हैं, वहाँ वे सरस सजीव एवं संवेदना उत्पन्न करनेवाले हैं। ऐसे चित्रों को पढ़कर ही पाठक उन चित्रों से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसकी कल्पना के समक्ष ऐसे चित्र साकार हो उठते हैं किन्तु जहाँ प्रकृति चित्र विस्तृत हैं, वर्णन उबा देने वाले हैं। वे कथा से हटे हुए दीख पड़ते हैं।

कई स्थानों पर प्राचीन जन-श्रुतियों एवं विश्वासों का आश्रय लेने के कारण वर्णन अस्वाभाविक भी हो गए हैं, जिससे कथानक का कलात्मक सौन्दर्य अनुकूल नहीं रह सका है। 'वैशाली की नगरवधू' में छाया पुरुष का लोप होना विष कन्या कुण्डनी का चरित्र शम्बर असुर का चरित्र आदि एवं 'वयं रक्षाम' में मारीच का स्वर्ण मृग बनना सर्प के पेट में यक्ष किन्नर, देव, नर का समा जाना मेघनाद द्वारा माया के बल पर दिव्य धनुष का निर्माण आदि प्रसंग जन-विश्वासों प्राचीन परम्पराओं को व्यक्त करने के लिए ही उपन्यासकार ने लिए हैं।

इसके अतिरिक्त उसने कितने ही धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों एवं मूर्खता जन्य परम्पराओं का भी तत्कालीन वातावरण को स्पष्ट करने के लिए चित्रण किया है। चित्रण के साथ ही साथ आचार्य चतुरसेन जी ने व्यंग द्वारा करारी चोट भी की है। 'सोमनाथ' में इसके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

ऊपर हमने आचार्य चतुरसेन जी की देशकाल निर्माण सम्बन्धी मौलिक विशेषताओं पर विचार किया है। अब प्रश्न हो सकता है कि आचार्य चतुरसेन

---

१ विचार और विश्लेषण डा० नगेन्द्र, पृ १२६ १३० ।

की देश काल निर्माण अथवा वातावरण सृष्टि में अन्य प्रमुख उपन्यासकारों से कहाँ तक भिन्नता एवं समता रखते हैं ?

प्रथम हम हिंदी के प्रमुख उपन्यासकारों से इस विषय में आचार्य चतुरसेन जी की तुलना करते हैं। हिंदी के सर्व प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार थे श्री किशोरीलाल वाजपेयी। वाजपेयी जी के उपन्यासों में भी आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों की भाँति विवरणों का आधिक्य है किन्तु आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक विवरण इतिहास सम्मत अधिक हैं जब कि वाजपेयी जी ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। 'इतिहास रस' का दोनों ही के उपन्यासों में प्रयोग मिलता है जिससे इतिहास तत्व को गहरा आघात लगा है। वाजपेयी जी के लगभग सभी उपन्यासों में यह विशेषता प्राप्त है जब कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों यथा—वयरक्षाम् आदि को छोड़कर शेष में इतिहास के तथ्यों पर विशेष ध्यान रखा गया है। रहा वातावरण निर्माण का प्रश्न ! उसमें वाजपेयी जी से आचार्य जी स बहुत आगे हैं।

'प्रसाद' जी ने 'इरावती' में जो वातावरण-सृष्टि की है बहुत कुछ वैसी ही सजीव वातावरण सृष्टि आचार्य चतुरसेन जी के बौद्धकालीन उपन्यासों में प्राप्त है। डा० वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल निर्माण में हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सबसे अधिक प्रवीण माने जाते हैं। ऐतिहासिक सत्य का जहाँ तक प्रश्न है आचार्य चतुरसेन जी से वर्मा जी निश्चित रूप से आगे हैं किन्तु जहाँ तक वातावरण निर्माण का प्रश्न है आचार्य चतुरसेन जी को वर्मा जी नहीं पा पाते हैं। आचार्य चतुरसेन जी सी ओज भाषा वर्मा जी के पास नहीं है। इसी कारण से देशकाल का निरूपण तो वर्मा जी के उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन जी के समान ही हुआ है किन्तु वातावरण-सृष्टि में वे आचार्य जी को स्पर्श नहीं कर पाये हैं।

'राहुल' यशपाल तथा भगवतीचरण वर्मा आदि के ऐतिहासिक उपन्यासों में उसी प्रकार से 'इतिहास रस' की प्रमुखता है। जैसी आचार्य चतुरसेन जी की 'वयरक्षाम्' में। वातावरण सृष्टि में राहुल आचार्य जी की कला को नहीं पहुँच पाये हैं। यशपाल और भगवती बाबू के ऐतिहासिक उपन्यासों (दिव्या, अमिता एवं चित्रलेखा) में वातावरण-सृष्टि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों की ही भाँति है। वातावरण-सृष्टि की दृष्टि से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों से श्रेष्ठ है। नवीन

उपन्यासकारों में रांगेयराघव, अमृतलाल नागर आदि के उपन्यासों में भी देशकाल का निर्माण सुन्दर हुआ है। देश-काल के सटीक वर्णनों में यत्र-तत्र ये आचार्य चतुरसेन जी की कला को भी पीछे छोड़ गए हैं।

अन्य भारतीय भाषाओं के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकारों यथा बंकिम बाबू, राखाल बाबू (बँगला) के० वी० अय्यर (कन्नड़) म० सी फड़के वरेरकर (मराठी) मुंशी और धूमकेतु (गुजराती) आदि से एवं विश्व के महान् ऐतिहासिक उपन्यासकारों यथा—टाल्सटाय ड्यूमा ह्यूगो, वाल्टर स्काट आदि से जब आचार्य चतुरसेन जी की वातावरण निर्माण के विषय में तुलना करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी कुछ विशेषताओं में इन उपन्यासकारों से आगे और कुछ में बहुत पीछे थे। आचार्य चतुरसेन जी राखाल बाबू एवं टाल्सटाय की भाँति सांकेतिक देशकाल चित्रण नहीं कर सके हैं। उन्होंने वाल्टर स्काट की भाँति विवरणात्मक देशकाल चित्रण ही विशेष किया है। ड्यूमा ह्यूगो मुंशी आदि में वातावरण निर्माण सांकेतिक एवं विवरणात्मक दोनों ही प्रकार से हुआ है, आचार्य चतुरसेन जी के श्रेष्ठ उपन्यासों में यथा 'सोमनाथ', 'सह्याद्रि की चट्टानें' आदि में यही प्रवृत्ति दीख पड़ती है।

अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में देशकाल अथवा वातावरण सृष्टि संबंधी कुछ दोषों के रहते हुए भी वे एक सीमा तक अपनी इस कला में सफल रहे हैं।

अध्याय ७

आचार्य चतुरसेन की कहानियाँ

आचार्य चतुरसेन की कहानियाँ

उपन्यास और कहानी—

उपन्यास और कहानी में विषय की दृष्टि से कोई विशेष अंतर नहीं है। यह दोनों एक ही कोटि के हैं। ये सामान्य रूप से कथा-साहित्य की दो भिन्न शैलियाँ हैं। इन दोनों साहित्यांगों के मूल तत्वों में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। पात्र कथानक कथोपकथन, देशकाल तथा शैली—ये पाँच तत्व इन दोनों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं, यद्यपि छठे तत्व—उद्देश्य की उपन्यास में प्रधानता होती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रथम पाँच तत्वों की कहानी में अनिवार्यता बतायी है और छठे की अनिवार्यता तथा प्रधानता उपन्यास में सिद्ध की है।[1] उपन्यास और कहानी के पारस्परिक सम्बंध को स्पष्ट करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है 'कहानी अपने पुराने रूप में उपन्यास की अग्रजा है और नये रूप में उसकी अनुजा। एक ही कथा-साहित्य की संतान होने के कारण कहानी और उपन्यास दोनों में ही कई बातों की समानताएँ हैं।[2] किन्तु 'कहानी की एकतथ्यता ही उसका जीवन-रस है और वही उसे उपन्यास से पृथक करता है।[3] इसी प्रकार आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उपन्यास और कहानी की समानता पर विचार करते हुए लिखा है 'उपन्यास और कहानी रचनात्मक कला कृतियाँ नहीं हैं, उनमें जीवन का स्वरूप दिखाया जाता है। उनमें घटनाओं पात्रों और परिस्थितियों के वास्तविक चित्र उपस्थित किए जाते हैं। विशेषकर उपन्यास तो जीवन की ऐसी झलक दिखाने का उद्देश्य रखता है, जिसमें मूल घटना और उसकी कलात्मक अभिव्यंजना में कोई अंतर

---

१ साहित्य का साथी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ ९९।

२ काव्य के रूप, डा० गुलाबराय पृ २१८।

३ काव्य के रूप, डा० गुलाबराय, पृ २१७।

ही न दिखाई दे। जीवन के या वास्तविक संसार के किसी अंश या खंड को काटकर जैसे उपन्यासों में रख दिया गया है—चलते फिरते पात्रों और सजीव घटनाओं का अंकन जिसमें मूल और प्रतिकृति का अंतर ही न रह गया हो। कहानी में यह बात यद्यपि इतनी स्पष्ट नहीं होती—उसके छोटे आकार और उसकी तीव्र घटना प्रगति के कारण यद्यपि वह किसी वास्तविक जीवन खंड का प्रतिरूप नहीं जान पड़ती—फिर भी कहानी लेखक का यह प्रयास तो रहता ही है कि वह कहानी में भी यथार्थ जीवन चित्र का आभास अधिक से अधिक दा दे। अंग्रेजी का शब्द 'फिक्शन' जो उपन्यास और कथा-साहित्य के लिए काम में लाया जाता है कदाचित् इसी अर्थ को व्यक्त करता है कि उपन्यास तथा कहानी में कल्पना द्वारा रची गई कथा को वास्तविक जीवन-घटना से पृथक करना आसान नहीं है। कथा में वास्तविकता का भ्रम हो जाने की पूरी संभावना है।'[1] डा जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने कहानी और उपन्यास का अन्तर एक उदाहरण के द्वारा बड़ी सरलता से स्पष्ट किया है। उनका कथन है 'यदि बन्द दरवाजे के भीतर से एक छोटे से छिद्र के सहारे बाहर के किसी उपवन में ताका जाय तो गुलाबों का एक राजा अपनी हरी-हरी डाल पर मस्ती से झूमता दिखाई पड़ेगा। वह अपनी उत्सुकता और कोमल रमणीयता में आपूर्ण खिला मिलेगा। इसके उपरांत यदि दर्वाजा पूरा खोल दिया जाय तो विशाल उपवन का मनोहर दृश्य सामने खुल पड़ेगा। अवश्य ही उस उपवन के व्यापक प्रसार में वह गुलाब भी एक तरफ दिखाई पड़ेगा। इस उदाहरण में छिद्र के माध्यम से दिखाई पड़ने वाला गुलाब कहानी के रूप में कहा जायगा और उपवन की दिव्य सामूहिकता उपन्यास की प्रतिनिधि मानी जायगी। दोनों ही अपने दो रूपों में सर्वथा पूर्ण हैं।'[2] अंत में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'कहानी यदि अपने एकोन्मुख समष्टि प्रभाव के माध्यम से हमारे चित्त को पूर्णतया संकुल और आन्दोलित करके हमें अनुमान, कल्पना और और जिज्ञासा के उन्मुक्त द्वार पर ला खड़ा करती है तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रों की झांकी देकर सारे रहस्यों और वस्तु स्थितियों से परिचित कराकर हमारे भीतर एक पूर्णताविधायक संतुष्टि उत्पन्न कर देता है।" सारांश यह है कि उपन्यासकार अपने पाठक से किसी प्रकार की अकांक्षा-याचना नहीं करता। जो कुछ ज्ञातव्य है, उसे स्वयं इस प्रकार उपस्थित कर देता है कि

---

१ नया साहित्य नये प्रश्न आचार्य नंददुलारे वाजपेयी पृ १९०।

२ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ १७।

पाठक को अपनी ओर से कल्पना और अनुमान करने को कुछ बचता ही नहीं इसके ठीक विरुद्ध कहानीकार अपनी ओर से तो देने को देता कम है पर पाठक से प्राप्त करना चाहता है बहुत अधिक।[१] इसी प्रकार प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इस विषय पर विचार करते हुए लिखा है 'कहानी और उपन्यास में तत्वों की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। भेद है घटनाओं की व्यष्टि और समष्टि की योजना की दृष्टि से। कहानी की विस्तार सीमा छोटी ही होती है चाहे उसका कितना ही फैलाव क्यों न किया जाय। उपन्यास की विस्तार सीमा बड़ी होती है चाहे उसका कितना ही संकोच क्यों न किया जाय। कहानी जीवन का एक चित्र रखती है—निरपेक्ष स्वच्छन्द। उपन्यास जीवन के एकाधिक चित्रों का योग संघटित करता है सापेक्ष संबद्ध'[२]। कुछ विद्वान तो उपन्यास और कहानी में शैलीगत वैभिन्य तक स्वीकार नहीं करते।[३] किंतु वास्तव में इन दोनों में भेद अवश्य है। श्री प्रकाशचंद्र गुप्त ने तो स्पष्ट कहा है 'उपन्यास और गल्प भिन्न कला है। यह आवश्यक नहीं कि सफल उपन्यासकार अच्छा गल्प लेखक भी हो। उपन्यास में जीवन का दिग्दर्शन होता है गल्प में केवल झाँकी मात्र होती है। मानव चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को किसी घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी लिखी जाती है।'[४] इसी कारण श्री डब्लू० एच० हडसन ने लिखा है कि 'कहानी और उपन्यास में केवल लघुता-दीर्घता की आकार और मात्रा की ही विभिन्नता नहीं है अपितु प्रकार का भी अन्तर है। डा० भगीरथ मिश्र ने इन दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है—तत्व की दृष्टि से यद्यपि उपन्यास और कहानी में मौलिक भेद नहीं है पर एक की कला पूर्ण विवरण में है और दूसरे की संक्षिप्त में। कहानीकार कथोपकथन वर्णन पात्र आदि में से किसी एक प्रधानता के साधन से संतुष्ट हो सकता है, परंतु उपन्यासकार केवल एक से ही काम नहीं चला सकते। उपन्यास का क्षेत्र प्रायः वस्तु-वर्णन के ही अंतर्गत है जबकि कहानीकार अपनी आंतरिक भावनाओं को गीतिकाव्य की भाँति नितांत व्यक्तिगत ढंग से ही व्यक्त कर सकता है अर्थात् कहानी में स्वानुभूति चित्रण का उपन्यास से अधिक अवसर है।'[५] आचार्य जी ने कहानी और उपन्यास की कला पर विचार करते हुए

---

१ कहानी का रचना विधान डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ २०-२१।

२ हिन्दी का सामयिक साहित्य, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र पृ १४६।

३ उपन्यास सिद्धान्त श्री श्यामू सन्यासी पृ ५।

४ नया हिन्दी साहित्य-एक दृष्टि, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, पृ १०८।

५ काव्यशास्त्र डा० भगीरथ मिश्र, पृ ९९।

लिखा है 'उपन्यास बहुशाखी तरुवर है जिसमें यथेष्ट कथा शाखाएँ, अनगिनत भाव पुष्प गुच्छ और विविध पात्र चरित्र रूपी फलों का समावेश रहता है यह भाव कल्पना और सत्य के सहारे उठाया हुआ एक मनोहर कल्पवृक्ष है। परंतु कहानियाँ मात्र एक लता के समान हैं। जो एक ही शाखा में बढ़ती चली जाती है—ऊपर की ओर एक पतली डोरी के सहारे। और यह डोरी होती वक्तव्य का चरम छोर—जहाँ मोहक पुष्प एवं गुच्छे नजर आते हैं। कहानी लता की भाँति अतिशय कोमल एक भाव उन्मुक्त—मुग्धबालिका की भाँति परायण परायणा है। अतः उसमें बहुत सावधानी से भाव—कल्पना और अभिव्यंजना का आरोप करना पड़ता है।'[1]

अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपन्यास का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, उसमें सम्पूर्ण जीवन का विशद और व्यापक चित्र उपस्थित किया जा सकता है किंतु कहानी की परिधि सीमित है अतः उसमें जीवन की एक झलक मात्र प्रस्तुत की जा सकती है। उपन्यास में मानव-समाज की जितनी गहन व्याख्या सम्भव है, उतनी कहानी में नहीं। उपन्यासकार पूरी परिस्थिति और गतिशील जीवन की विवृत्ति करता है जबकि कहानीकार एक भाव या प्रभाव विषय का चित्रण करता है। उपन्यासकार यदि विश्लेषक है तो कहानीकार संश्लेषक। कहानी में प्रासंगिक कथाओं का अवसर नहीं होता जबकि उपन्यास में आधिकारिक कथा को सहायता देने के लिए प्रासंगिक कथाओं की भी योजना की जाती है। इस प्रकार अपनी संक्षिप्तता प्रभावोत्पादकता अनुभूति की तीव्रता एवं ध्येयता आदि के कारण कहानी उपन्यास से सर्वथा स्वतंत्र सत्ता रखती है।

पिछले पृष्ठों में हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों पर प्रकाश डाल चुके हैं अब यहाँ हम उनकी कहानियों पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

आचार्य जी की प्रथम कहानी 'सच्चा गहना' सन् १९१० में 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित हुई थी।[2] उस समय से मृत्यु समय तक आचार्य जी ने लगभग चार सौ कहानियों की रचना की जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई। जैसा कि हम आचार्य चतुरसेन की रचनाएँ एवं उनके कथा-साहित्य का वर्गीकरण नामक अध्याय में दिखला चुके हैं कि आचार्य जी के अब तक २१ कहानी संग्रह

---

१ वातायन, आचार्य चतुरसेन पृ ११।
२ वातायन, आचार्य चतुरसेन, पृ १।

प्रकाशित हुए हैं। उनमें प्राप्त कहानियों को हमने वर्ण्य-वस्तु के आधार पर चार वर्गों में रखा है—१ प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक २ सामाजिक एवं राजनीतिक ३ मनोवैज्ञानिक ४ विविध।

आगे हम इसी वर्गीकरण के आधार पर आचार्य जी की समस्त कहानियों के कथानकों का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक कहानियाँ—

आचार्य जी ने अपने उपन्यासों की भाँति ही विभिन्न कालों से संबंधित लगभग १२० ऐतिहासिक कहानियों की रचना की है। इन कहानियों को हम निम्न पाँच वर्गों में रख सकते हैं—

१ पौराणिक कहानियाँ—अभिमन्यु उपमन्यु पितृभक्त श्रवण प्रह्लाद चरण की धूल ध्रुव भक्त मोहन पाँच पांडव उत्तंक चंद्रहास आदि।

२ जैन बुद्ध कालीन कहानियाँ—जैसे अम्बपालिका प्रबुद्ध भिक्षुराज कुमार सिद्धार्थ कुणाल आदि।

३ मध्य-युग से संबंधित कहानियाँ—वसंत पूर्णाहुति भाट का वचन दान की आग वीर बालक हठी हम्मीर, राम्ह चौहान बेला का ब्याह बल्लू की चम्पावत आदि

४ मुगल कालीन कहानियाँ—सिंहगढ़ विजय [illegible] दे खुदा की राह पर, नूरजहाँ का कौतुक कला सिसोदिया जैसलमेर की राजकुमारी विश्वासघात सोया हुआ शहर, आलमगीर मेवाड़ का सरदार, वीर बालक हकीकतराय बालक दुर्गादास [illegible] रिहाई [illegible] भील कुम्भा की तलवार, हल्दी घाटी में रणबाँका राठौर, [illegible] की रात आदि।

५ अंगरेजी राज्यकालीन कहानियाँ—टीपू सुल्तान हैदरअली स्कूल के सहपाठी अंग्रेज वीर बालक आदि

अब हम उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर आचार्य चतुरसेन जी की ऐतिहासिक कहानियों का क्रमशः अध्ययन करेंगे।

पौराणिक कहानियाँ

आचार्य चतुरसेन जी की पौराणिक कहानियाँ केवल 'आदर्श बालक' कहानी संग्रह में प्राप्त होती हैं। अपने प्रारंभिक काल में बालकों के मनोरंजन और ज्ञान वर्धन के उद्देश्य से उन्होंने पौराणिक कहानियों की रचना की थी। बाल-साहित्य के अन्तर्गत इन कहानियों का विशिष्ट स्थान है।

कथानक की दृष्टि से यह पौराणिक कहानियाँ अत्यंत साधारण कोटि की हैं। इनका निर्माण पौराणिक घटनाओं और चरित्रों के आधार पर किया गया है। यह पौराणिक कहानियाँ भी दो प्रकार की हैं। १ पौराणिक आदर्श मानव बालकों से संबंधित जैसे अभिमन्यु, उपमन्यु, पितृभक्त श्रवण प्रह्लाद ध्रुव एवं पाँच पांडव आदि और दूसरी कोटि में हम 'गरुड़ जी' जैसी कहानियों को रख सकते हैं। किन्तु इन दोनों ही प्रकार की कहानियों की प्रधान विशेषता यही है कि इन सभी में मानव लोक और देव लोक दोनों से सम्बंधित घटनाएँ घटित होती हैं। बिलकुल पौराणिक ढंग से ही कहानीकार ने कहानी की घटनाओं को चित्रित किया है किस प्रकार गरुड़ को उत्पन्न होने में एक सहस्त्र वर्ष लगे किस प्रकार वे उत्पन्न होते ही आकाश में उड़ गए और किस प्रकार अवसर आने पर वे भगवान् विष्णु के वाहन बने आदि घटनाओं को ज्यों की त्यों कहानीकार ने पुराण की कहानियों से ले लिया है। वास्तव में इन कहानियों में केवल कहानी कहने का ढंग कहानीकार का अपना है और शेष सामग्री उसकी पुराणों से उधार ली हुई ही है। कहानीकार ने इन कहानियों को कलात्मक बनाने का भी प्रयत्न नहीं किया है इसी कारण न उसने इनमें कार्य-कारण के संबंध का ध्यान रखा है और न ही उन्हें बुद्धि संगत बनाने का। इन कहानियों द्वारा वह कुतूहल वृत्ति भी जाग्रत करने में असफल रहा है। इस प्रकार की कहानियों की घटनाएँ वास्तव में देव प्रेरित और देव चालित ही हैं। अतः इनमें कहानी की कलात्मकता खोजना ही व्यर्थ है।

जैन-बौद्ध कालीन कहानियों के कथानक

बुद्ध के मानव-प्रेम से प्रभावित होकर आचार्य चतुरसेन जी ने कई कहानियाँ बौद्ध संस्कारों पर लिखी हैं। इस प्रकार की कहानियों में अम्बपालिका प्रमुख भिक्षुराज वासवदत्ता मृत्यु चुंबन आचार्य उपगुप्त कुमार सिद्धार्थ कुणाल आदि को ले सकते हैं।

कथानक

इस काल से सम्बंधित कहानियों में हम दो प्रकार के कथानक पाते हैं। प्रथम वे जो विस्तृत हैं एवं सम्पूर्ण जीवन की प्रमुख घटनाओं पर आधारित हैं। और दूसरे वे जो किसी एक घटना को लेकर ही अग्रसर हुए हैं। प्रथम वर्ग में हम अम्बपालिका प्रमुख भिक्षुराज आदि कहानियों को रख सकते हैं और द्वितीय में सिद्धार्थ कुणाल आदि को। प्रथम प्रकार के कथानकों में कथा के

कई-कई मोड़ एक साथ प्राप्त होते हैं। प्रत्येक कथानक अपने में एक उपन्यास की सामग्री रखता है। उदाहरण के लिए हम आचार्य चतुरसेन जी की 'अम्बपालिका' नामक कहानी को ले सकते हैं। इसी कहानी के कथानक पर आगे चलकर आचार्य जी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' की रचना की थी।

'अम्बपालिका' के कथानक का प्रारम्भ ऐतिहासिक ढंग से कथाकार ने किया है। वह इसमें एकदम कहानी कहना प्रारम्भ नहीं करता वरन् प्रथम वह कहानी किस स्थान की किस काल की एवं किन इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों से संबंधित है इसका परिचय देने के पश्चात् मुख्य कथा को प्रारम्भ करता है। 'प्रबुद्ध' में बिना किसी भूमिका के ही वह कहानी प्रारम्भ कर देता है। प्रस्तुत कहानी का कथानक भगवान् बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओं को लेकर अग्रसर हुआ है। इस कथानक में भी दो-तीन उपन्यासों की सामग्री प्राप्त की जा सकती है। इस कहानी के कथानक का विस्तार कितने ही मोड़ों को स्पर्श करता हुआ अग्रसर हुआ है। प्रथम मोड़—शुद्धोधन का युवराज सिद्धार्थ की विरक्ति देख कर चिंतित होना। दूसरा मोड़—युवराज के विवाह के लिए सभी देशों की राजकुमारियों को निमंत्रित करना। तीसरा मोड़—युवराज का राजनंदिनी यशोधरा को देख कर आकर्षित होना। चौथा मोड़—यशोधरा के प्रेमपाश में बंधकर कुमार का कुछ काल के लिए अपने को विस्मृत कर बैठना। पाँचवाँ मोड़—युवराज की अन्तर्हित प्रबुद्ध सत्ता का कुछ समय के लिए जाग्रत होना। छठा मोड़—युवराज का गोपा के प्रेमपाश में फँसकर अंतर्हित प्रबुद्ध सत्ता का पुनः मूर्छित हो जाना। सातवाँ मोड़—एक म्लान पुरुष को देखकर कुमार की अंतर्हित प्रबुद्ध सत्ता का पुनः सचेत हो जाना। आठवाँ मोड़—गोपा की व्याकुलता। नवाँ मोड़—कुछ समय के लिए राजकुमार एवं गोपा दोनों में ही मानसिक अंतर्द्वन्द्व का प्रारम्भ। दसवाँ मोड़—युवराज के पुत्र का जन्म। ग्यारहवाँ मोड़—एक श्रमण से राजकुमार का मिलना और उससे पश्चात् उनके हृदय में वैराग्य का जाग्रत होना। बारहवाँ मोड़—सभी बंधनों का अतिक्रमण कर राजकुमार का गृह त्याग कर बाहर निकल जाना। तेरहवाँ मोड़—राजकुमार द्वारा आंतरिक तेज से दीप्त होकर सिद्धि को प्राप्त करना। चौदहवाँ मोड़—राजगृह से सम्राट् बिम्बसार का भगवान् बुद्ध की शरण में आना। पंद्रहवाँ मोड़—भगवान् बुद्ध का ७ वर्ष पश्चात् कपिलवस्तु म सिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् प्रत्यावर्तित होना एवं अपने पिता शुद्धोधन का आतिथ्य

स्वीकार करना और अंतिम मोड़ है अपनी मानिनी पत्नी यशोधरा से मिलने के लिए स्वयं भगवान् बुद्ध का उसके समीप जाना और उसके द्वारा अपने पुत्र राहुल को बुद्ध की शरण में कर देना।

इस प्रकार इतने मोड़ों का समावेश करके उपन्यासकार ने इतने व्यापक और विस्तृत कथानक का निर्माण किया है। आचार्य चतुरसेन जी की कहानी 'भिक्षुराज' का कथानक भी इसी प्रकार विस्तृत है। उसमें प्रियदर्शी सम्राट अशोक के पुत्र और पुत्री महेंद्र एवं संघमित्रा के बौद्ध बनने के पश्चात् के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित किया गया है। इस प्रकार की कहानियों के कथानकों के निर्माण में आचार्य चतुरसेन जी ने उपन्यासों की भाँति ही भूमिका कहानी की समस्या का आरम्भ द्वंद्व आरोह कौतूहल चरम सीमा और उपसंहार—आदि विकास क्रमों का आश्रय लिया है।

इस काल से सम्बन्धित दूसरे प्रकार की कहानियाँ कुमार सिद्धार्थ कुणाल आदि में कथानक अपेक्षाकृत छोटे हैं। इसमें घटनाएँ भी न्यून हैं। इनमें कथाकार ने चरित्र को प्रकट करने वाली कुछ प्रमुख घटनाओं को ही लिया है। यह कहानियाँ बहुत कुछ पौराणिक कहानियों की भाँति ही हैं।

मध्य युग से सम्बन्धित कहानियों के कथानक

इस काल से सम्बंधित आचार्य चतुरसेन जी की कहानियों को भी हमें दो वर्गों में रखना पड़ेगा। प्रथम वर्ग में हम वसंत पूर्णाहुति भाट का वचन काल की आग कान्ह चौहान देवला का ब्याह आदि कहानियों को ले सकते हैं और दूसरे में वीर बादल हठी हम्मीर आदि कहानियों को रख सकते हैं-1 इस काल की प्रथम वर्ग की कहानियों में भी कई-कई मोड़ों का समावेश मिलता है। इसमें भी नाटक की पाँचों अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। वसंत और पूर्णाहुति दोनों ही कहानियों के कथानकों का सम्बंध महाराज पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं से है। 'वसंत' कहानी का कथानक पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता हरण से संबंधित है। एक ब्राह्मण के मुख से संयोगिता के रूप का वर्णन सुनकर ही पृथ्वीराज अपने सामंतों सहित राजकुमारी संयोगिता को उसके स्वयंवर से हरण करने कन्नौज आ पहुँचते हैं। संयोगिता का हरण करने के पश्चात् उनके मार्ग में प्रत्यावर्तन के समय कितने ही अवरोध आ उपस्थित होते हैं। जयचंद की विशाल वाहिनी से पृथ्वीराज का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वे अपने सामन्तों को साथ ले बढ़ते जाते हैं किन्तु जयचंद स्वयं सामने आकर उनका मार्ग

रोक लेता है यहाँ पर बड़े कलात्मक ढंग से कहानीकार कथानक को मोड़ता है। जयचंद अपनी पुत्री संयोगिता के करुण-नैनों को देख कर द्रवित हो जाते हैं। इस मोड़ को किंचित् ध्यान से देखिए। उन्होंने (जयचंद ने) तलवार फेंक पृथ्वीराज की पाँच परिक्रमा करके कहा है कन्नौज के यज्ञ को बिगाड़ने वाले और मेरी प्राण प्रिय पुत्री को हरने वाले पृथ्वीराज दिल्ली का राज्य अपनी इज्जत और लाज तुझे देकर मैं कन्नौज जाता हूँ।

राजा नीचा सिर किए, दूर तक पड़ी लाशों में होकर लौट रहे थे। सूरज छिप रहा था। पृथ्वीराज और उसके तैंतालीस बचे हुए शूर न कमर खोली और उसी जगह में पड़ाव डाला।

इस प्रकार प्रस्तुत कहानी को बड़े ही कलात्मक ढंग से मोड़कर उसे प्रभावशाली एवं स्वाभाविक बना दिया है। निश्चित रूप से जयचंद भी राजा होने के साथ-साथ एक पिता भी था। अपनी लाड़ली पुत्री के नेत्रों में करुण भाव देखकर उसका ममत्व जाग्रत हो जाता है। पिता होकर अपनी पुत्री के सुहाग को वह स्वयं नष्ट करे यह कैसे सम्भव था? जयचंद के चरित्र में इसी कारण कहानीकार ने मानव सुलभ भावनाओं का किंचित् भाव स्पर्श देकर प्रस्तुत कथा को कलात्मक एवं स्वाभाविक बना दिया है।

पूर्णाहुति कहानी के कथानक का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत एवं विशाल है। इस छोटी सी कहानी के अंतर्गत चन्दकृत 'पृथ्वीराज रासो' जैसे बृहद् महाकाव्य के कथानक को समेटने की चेष्टा की गई है। इसमें मुहम्मद गोरी से विभिन्न आक्रमणों पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता का हरण और अंतिम बार गोरी द्वारा पृथ्वीराज के पराजित होने की घटनाओं को कथा सूत्र में अनुस्यूत किया गया है। इसका अंत भी रासो की भाँति ही हुआ है। जिस प्रकार चंद-कवि से प्रेरणा प्राप्त कर पृथ्वीराज गोरी को शब्द भेदी बाण का लक्ष्य बनाकर अंत में स्वयं चंदबरदाई के साथ आत्महत्या करता है। इसी विशाल कथानक पर प्रस्तुत कहानी आधारित है। स्पष्ट ही प्रस्तुत कथानक में एक बृहद् उपन्यास की सामग्री भरी गई है। बाद चलकर कहानीकार ने इसी कथानक पर अपने 'पूर्णाहुति' ([illegible] का ब्याह) नामक उपन्यास की रचना की थी। 'दिल्ली का ब्याह', 'बाह्लू चौहान' नामक कहानियों के कथानक भी पृथ्वीराज के जीवन से[1] लिए हैं।

---

१ दुखवा, विजय (कहानी संग्रह) पृ १०-२१।

'भाट का वचन' कहानी गुजरात के प्रसिद्ध सोलंकी राजा कुमार पाल से सम्बंधित है। इस कहानी में उस काल की सामन्तशाही का एक पहलू प्रदर्शित किया गया है। वास्तव में यह एक भाट के उत्सर्ग की कहानी है। इस कहानी का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है। अपनी ६१ वर्ष की आयु में गुजरात नरेश ने अपने करद मेदपाट के सिसोदिया राजा की कन्या से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। विवश होकर सिसोदिया राजा को अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करना पड़ा। सिसोदिया का इष्टदेव श्री एकलिंग था। और कुमारपाल जैनधर्मी था। अतः उसके राज्य महल में जाने से पूर्व जैन गुरु की चरण वंदना करना अनिवार्य था। किंतु राजकुमारी ने निश्चय कर लिया था कि मैं प्राण रहते ऐसा नहीं करूंगी। राजकुमारी को ब्याह ने राजा का खांडा लेकर जयदेव भाट गए थे। उन्होंने राजकुमारी के हठ को देखकर वचन दे दिया आपको न जैन दीक्षा लेनी होगी और न ही जैन उपाश्रम में जाना पड़ेगा यदि ऐसा करने को विवश किया गया तो प्रथम भाट का सिर कटेगा—फिर कुछ और होगा। 'भाट के इस आश्वासन पर राजकुमारी ने पाटन आना स्वीकार किया। किंतु राजा ने भाट के वचन की उपेक्षा करके रानी को जैन उपाश्रम में जाने की आज्ञा दी। भाट ने बहुत समझाया किंतु राजा न माने। अंत में गुर्जर-सैन्य और भाटों में ठन गई। दोनों दल परस्पर टकराने वाले ही थे कि इसी समय सीसोदिनी रानी ने दोनों दलों के मध्य आत्महत्या कर ली। इसके पश्चात् रानी की चिता के साथ जयदेव और उसके परिवार के दो सौ भाई-बंद सिसोदिनी रानी के साथ जलकर खाक हो गए।

'सात की आग' का कथानक भी इसी काल से सम्बंधित है। इसमें भी कहानीकार ने सामंतशाही काल के राजपूतों की मनोवृत्ति को प्रकट किया है। इसमें कथा गुर्जर-नरेश कुमारपाल और प्रसिद्ध नृपति अर्णोराज के पारस्परिक संघर्ष की है। इस संघर्ष का मूल कारण एक ऐसा रिवाज था जो उन दिनों गुजरात और राजपूताने के राजपूतों में प्रचलित था। गुजरात के राजपूत नंगा सिर रखने में कोई हानि नहीं समझते थे परंतु राजपूताने के राजपूत नंगा सिर रहना असभ्यता समझते थे। गुर्जरेश्वर की बहन देवलदेवी शाकम्भरी नाथ अर्णोराज को ब्याही थी। एक दिन चौसर खेलते समय पति ने पत्नी की गोट पीटते हुए कह दिया 'यह मारा नंगे सिर वाला। इस पर देवलदेवी ने समझा कि उनके भाई गुर्जरेश्वर पर व्यंग्य किया गया है। इसी बात पर दोनों में वाद विवाद हो गया। यह विवाद इस सीमा तक बढ़ा कि इसी बात को लेकर गुर्जरेश्वर और

अर्णोराज का संमुख युद्ध हुआ। अर्णोराज पराजित हुआ और बंदी बना लिया गया। अंत में उसे गुर्जरेश्वर ने बहल और गुरु के कहने से मुक्त कर दिया। अंत में अर्णोराज ने नवीन सम्बंध स्थापित करने के लिए गुर्जरेश्वर कुमारपाल से अपनी षोडशी पुत्री मिल्हण कुमारी का विवाह कर दिया।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कथानकों में मुख्य कथा के साथ-साथ सहायक कथा की भी कहानीकार ने सृष्टि की है। इन कहानियों की भी भाव भूमि लम्बी-चौड़ी है इनमें व्याख्या का अंश अधिक और संवेदना का अंश न्यून है।

इस काल से सम्बंधित दूसरे प्रकार की कहानियों के कथानक सरल संक्षिप्त एवं उपदेशात्मक है। इनमें कथाकार का प्रमुख उद्देश्य कहानी के माध्यम से एक चरित्र विशेष के कुछ आदर्श गुणों को सामने रखने का रहा है।

मुगलकालीन कहानियों के कथानक

आचार्य चतुरसेन जी की अधिकांश ऐतिहासिक कहानियां इसी काल से सम्बंधित हैं। इस काल से संबंधित कहानियाँ दो प्रकार की हैं—१ जिनमें मुगल ऐश्वर्य एवं भोग विलास का चित्रण हुआ है और २ जिनमें राजपूती शौर्य का वर्णन किया गया है। अपनी इस प्रकार की कहानियों की रचना के संबंध में आचार्य जी ने एक स्थान पर स्वयं कहा है 'इस भावना से कि जन्मतः मैं क्षत्रिय हूँ मेरा समस्त क्षत्रित्व पर उमड़ आया। बचपन ही मैं एक छोटी सी पुस्तक मेवाड़ का इतिहास कहीं से मेरे हाथ आ लगी थी। उन दिनों रात को मैं बहुधा पिता जी को उसे पढ़कर सुनाया करता था। उसमें वर्णित वीर चरित्र कुछ ऐसे मेरे मन पर अंकित हो गए और मेरे मन का क्षत्रित्व का ममत्व उनमें मिलकर कुछ ऐसा रस उसमें उत्पन्न कर गया कि इस समय भाव व्यक्तिकरण में समर्थ होकर मैं राजपूत शौर्य और उत्सर्ग के रेखाचित्र कहानियों में चित्रित करने लगा। मेरी राजपूत वातावरण की कहानियाँ खूब उभरीं। राजपूती का बयान करते-करते स्वाभाविक ही रीति पर मेरी कलम मुगल वैभव पर रपट गई और इस प्रकार मुगल जीवन पर लिखी हुई तत्कालीन मेरी कहानियाँ भी खूब प्रौढ़ हो गईं। ...राजाओं के वैभव मैं अपनी आँखों से इन्हीं दिनों देख रहा था। बड़ी-बड़ी शानदार दावतें मेरी राजमहलों में हो चुकी थी। अभावों में पले हुए मुझ जैसे व्यक्ति के लिए ये सब बातें कम प्रभावशाली न

थी। इसी ■ वैभव विलास-ऐश्वर्य का ऐसा गहरा रंग मेरे मानस पर पड़ गया कि उसे मैंने अपनी कहानियों में दोनों हाथों से उलीचा। एक रोमिनी राजकुमारी को देखने जब मैं अन्तःपुर में पहुँचा तो मैंने देखा, मकड़ी के जाले के समान परिधान में एक प्रकार से वह नंगी उस कक्ष में बैठ रही थी और उसके अंग पर लाखों रुपयों के जवाहिरात थे। इतने बड़े-बड़े मोती मैंने कभी न देखे थे—अंगूर के बराबर। 'दुखवा मैं कासे कहूँ' कहानी में मैंने उसी राजकुमारी को उसके सारे ही शृंगार विलास सहित अपने पाठकों के सम्मुख ला खड़ा किया है।'[1]

आचार्य जी की सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक कहानियाँ विशेषतः इसी काल की हैं। 'दुखवा मैं कासों कहूँ' 'कालावस्था बावर्चिन' अबुल फजल वध ताज प्यार, कठंगा दुर्ग कुम्भा की तलवार, हल्दी घाटी में बाल बधू खोया हुआ शहर आदि आचार्य जी की प्रसिद्ध ऐतिहासिक कहानियाँ इसी काल से संबंधित हैं। 'मुगल बादशाहों की अनोखी बातें' नामक कहानी संग्रह की समस्त कहानियाँ इसी काल से सम्बंधित हैं। इस संग्रह में १९ कहानियाँ हैं। इनमें ■ मुख्य है—शराबी की बात शराब की सुराही में नूरजहाँ का जीवन हाथा-पाई, सब माल बादशाह सलामत का बहादुरी की तराजू नदी की मरम्मत एक सवाल के चार जवाब बीस लाख रुपये की जूतियाँ आदि। इसी प्रकार की कुछ कहानियाँ आचार्य के 'वीर गाथा' नामक कहानी संग्रह में भी हैं जैसे दिल्ली दरबार में शिवा जी राजे रघुपति सिंह आदि। इसके अतिरिक्त 'विहमक विजय' 'दुखवा मैं कासे कहूँ सजनी' 'राजपूत बच्चे' 'वीर बालक' दुल्मुक हजार दास्तान कालावस्था आदि कहानी संग्रहों में इस काल से सम्बंधित आचार्य जी की लगभग ७० कहानियाँ प्राप्त होती हैं।

इस काल से सम्बंधित कहानियों में तीन प्रकार के कथानक प्राप्त होते हैं। प्रथम प्रकार के वे कथानक हैं जो लम्बे और नाटकीय गुणों से पूर्ण हैं। जैसे सोना कठंगा दुर्ग कुम्भा की तलवार, हल्दी घाटी में अबुल फजल वध पाप नामी आदि कहानियों के कथानक। दूसरे प्रकार के वे कथानक हैं जो संक्षिप्त सांकेतिक चमत्कार प्रधान एवं कलात्मक हैं जैसे 'दुखवा मैं कासे कहूँ', 'भाभारस' 'खोया हुआ शहर' बावर्चिन' आदि कहानियों के कथानक। तीसरे प्रकार के वे कथानक हैं जो संक्षिप्त तो हैं किन्तु साथ ही वे न कलात्मक ही हैं और न ही उनमें सांकेतिकता ही है। ऐसे कथानकों में हम 'मुगल बादशाहों की

---

१ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ० २१ २२।

अनोखी बातें' 'राजपूत बच्चे' 'वीरगाथा' आदि कहानी संग्रहों के कथानकों को ले सकते हैं। अब हम आगे इन तीनों प्रकार के कथानकों का संक्षेप में अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

प्रथम प्रकार के कथानकों की सबसे बड़ी विशेषता है उनका विस्तार और मार्मिकता। बौद्ध कालीन एवं मध्ययुग से सम्बंधित कहानियों के प्रथम प्रकार में जैसा विस्तार प्राप्त होता है बहुत कुछ वैसा ही विस्तार इन कहानियों में प्राप्त होता है। इनमें कथाकार ने एक ही कथानक में एक सम्पूर्ण युग को साकार करने का प्रयत्न किया है। इन कहानियों में तत्कालीन वातावरण को स्पष्ट करने के लिए वर्णनात्मकता का आश्रय अधिक लिया गया है। इसके साथ-साथ इस प्रकार की कहानियों में कथाकार ने विविध भाव चित्रों को उभारने की ओर भी ध्यान दिया है। इसी कारण से यह कहानियां लम्बी होने पर भी रोचक बन पड़ी हैं। उदाहरण के लिए हम 'बंदा' कहानी को ले सकते हैं। इसमें कथा के साथ-साथ इस युग का प्रत्यक्ष चित्रण भी है। आलमगीर की मृत्यु के पश्चात् भारत की राजनीतिक अवस्था किस प्रकार की हो गई थी इसको इसमें वर्णनात्मक ढंग से उभारा गया है। वास्तव में इन कहानियों के द्वारा आचार्य जी ने इस युग के आदर्श और त्याग के साथ-साथ राजपूती आन पर मर मिटने का दृढ़ संकल्प रखने वाले चरित्रों को प्रस्तुत किया है।

इस काल से सम्बंधित दूसरे प्रकार की कहानियां अधिक कलात्मक एवं सजीव हैं। इनमें कथानकों के विन्यास संक्षिप्त एवं रोचकतात्मक हैं। इस प्रकार की अधिकांश कहानियों के कथानकों के निर्माण में अप्रत्यक्ष स्वाभाविक घटनाओं के घटने का प्रमुख हाथ रहता है। साथ ही साथ इनमें सांकेतिकता एवं वातावरण निर्माण की सफलता भी प्राप्त होती है। कथा को अग्रसर करने के लिए संयोगों का भी आश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिए हम आचार्य जी की प्रसिद्ध कहानी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' को लेते हैं। इसमें कथानक का प्रारंभ बादशाह की नव विवाहिता बेगम सलीमा को लेकर होता है। बादशाह सल्तनत के झंझटों से दूर रहकर अपनी नव विवाहिता पत्नी के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने उसे लेकर कश्मीर के दौलतखाने में चले आते थे। यहां बादशाह ने अपनी बेगम की खिदमत एक कमसिन, सुन्दर बांदी पर तैनात की थी इस बांदी और सलीमा को लेकर ही कथानक अग्रसर होता है। सलीमा यौवन के नशे में मस्त बांदी के हाथों से मदिरा पीती जाती है अंत में वह उसी में बेसुध हो जाती है। बांदी वस्तुतः उसका एक अज्ञात प्रेमी

था या अपनी प्रेमिका के सान्निध्य का लाभ उठाने के लिए बाँदी के वेष में रहने लगा था। सलीमा उससे सर्वथा अनभिज्ञ थी। अपनी प्रेयसी को बेसुध देखकर वह अपने को उस एकान्त में रोकने से असमर्थ हो गया। उसने इस बेसुध अवस्था में अपनी प्रेमिका के कपोलों पर एक चुम्बन अंकित कर दिया। कथानक का विकास इसी घटना से होता है। इसके पश्चात् कथा को अग्रसर करने के लिए कथाकार ने संयोग का आश्रय लिया है। जिस समय बाँदी ने सलीमा के कपोलों पर चुम्बन अंकित किया उसी समय संयोग से वहाँ बादशाह का उपस्थित होते हैं। वे बाँदी की इस धृष्टता को देख लेते हैं। इस संयोग से कथानक में नाटकीय विकास होता है। बादशाह को ज्ञात हो जाता है कि वास्तव में वह बाँदी पुरुष है। उसके लिए वे आज्ञा देते हैं तहखाने में डालकर भूखों मार डालने की। सलीमा की मूर्छा दूर होने के पूर्व ही यह सम्पूर्ण घटना घटित हो जाती है। उसे ज्ञात भी नहीं हो पाता कि बादशाह उससे क्यों अप्रसन्न हो गए। वह बादशाह के समीप पत्र भेजती है किंतु वे अप्रसन्नता में बिना पत्र पढ़े ही सलीमा को मर जाने को कह देते हैं। सलीमा के नारी हृदय पर ठेस पहुँचती है। वह बाँदी वाली घटना से अब भी अपरिचित है अतः अन्तिम पत्र बादशाह को लिखकर वह हीरा चाट लेती है। उसकी मृत्यु के पश्चात् बादशाह को वास्तविक घटना का पता उस बाँदी रूपी पुरुष से ही होता है। बादशाह को हार्दिक दुःख होता है। इस कहानी का अन्त बड़ा ही कलात्मक है। देखिए—

'सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गये। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन रात रहते हैं। सामने नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफेद कब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस दिन रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी उसी खिड़की में उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की कब्र दिन रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है तो उस गम्भीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म भेदिनी गीत ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ-साफ सुनते हैं कोई करुण कोमल स्वर में गा रहा है—

'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी।

इसी प्रकार संयोगों एवं चमत्कृत घटनाओं को आश्रय बनाकर विकसित होने वाली कई अन्य प्रमुख कहानियाँ और भी हैं। यहाँ हम केवल इस प्रकार की तीन कहानियाँ कार्बोनिक कालाकव एवं सोया हुआ शहर का ही विश्लेषण और प्रस्तुत करेंगे।

'बावर्चिन' नामक कहानी के कथानक का आरम्भ ही संयोग से होता है। इस कहानी में अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह के पतन काल का और मुगल बेगमात के आंसुओं का जो कभी केवल हीरे, मोती रत्न और ऐश्वर्य ही को जानती थी ऐसा सचित्र रेखा चित्र है, जो हृदय में घाव कर जाता है। प्रस्तुत कथा का आरम्भ सम्राट की पोती शाहजादी गुलबानू की कथा से होता है। एक दिन गुलबानू अपनी पालकी में बैठी लाल किले की ओर आ रही थी। संयोग से पालकी का एक बूढ़ा कहार ठोकर खाकर गिर पड़ा। अशक्त होने के कारण उठने की चेष्टा करने पर भी वह उठ न सका। पालकी का रुकना था कि अफसर ने चाबुकों की मार से कहार के प्राण ले लिए। कहार के स्थान पर उसने कुछ अपशब्द कहकर एक नवयुवक को लगाना चाहा किन्तु अपशब्द उस नवयुवक को सहन न हुए उसने उस अफसर का विरोध किया। परिणामस्वरूप उसे भी चाबुक की मार खाकर वहीं गिर जाना पड़ा। कथा का विकास दूसरे संयोग से होता है। शाहजादी गुलबानू ने संयोग से सभी घटना स्वयं अपनी आंखों से देखी थी। उन्होंने बादशाह से स्वयं उस अफसर की निर्दयता कह सुनाई। परिणामस्वरूप बादशाह ने उस निर्दय अफसर (अमीर) को पदच्युत करके उसके स्थान पर उसी तरुण को रखने की आज्ञा दे दी। उस तरुण का नाम इलाहीबख्श था। उसके साहस और सौंदर्य पर मुग्ध होकर शाहजादी गुलबानू उससे प्रेम करने लगी थी। इस प्रेम का लाभ उस तरुण ने उठाया और वह बादशाह की नाक का बाल बन बैठा। फिर कथानक का विकास इस संयोग के बारह वर्ष के पश्चात् की एक घटना से होता है। सन् १८५७ का गदर हो गया था। बादशाह कुछ विश्वासघातियों के विश्वासघात के कारण पराजित हो गए थे। संयोग से इन विश्वासघातियों का प्रधान इलाहीबख्श ही था जो शाहजादी की कृपा के कारण एक उच्च पद पर पहुंच चुका था। इसी विश्वासघाती ने अपने आश्रयदाता बादशाह को निरीह दशा में हुमायूं के मकबरे में गिरफ्तार भी कराया था।

इसके पश्चात् कथानक का चरम विकास एक संयोग के द्वारा ही संजोया गया है। संयोग से शाहजादी गुलबानू जीवित बच गई थी। उपर्युक्त घटना के तीस वर्ष पश्चात् पुनः एक घटना घटित होती है। संयोग से वही शाहजादी गुलबानू जिसने एक बार इलाहीबख्श की प्राण रक्षा की थी—उसी विश्वासघाती के यहां एक बावर्चिन के रूप में जा पहुंचती है। एक दिन घटनावश जब इलाहीबख्श को शाहजादी—बावर्चिन के मुख से ही उसकी सम्पूर्ण

था जो अपनी प्रेमिका के सान्निध्य का लाभ उठाने के लिए बाँदी के वेष में रहने लगा था। सलीमा उससे सर्वथा अनभिज्ञ थी। अपनी प्रेयसी को बेसुध देखकर वह अपने को उस एकान्त में रोकने से असमर्थ हो गया। उसने इस बेसुध अवस्था में अपनी प्रेमिका के कपोलों पर एक चुम्बन अंकित कर दिया। कथानक का विकास इसी घटना से होता है। इसके पश्चात् कथा को अग्रसर करने के लिए कथाकार ने संयोग का आश्रय लिया है। जिस समय बाँदी ने सलीमा के कपोलों पर चुम्बन अंकित किया इसी समय संयोग से वहाँ बादशाह आ उपस्थित होते हैं। वे बाँदी की इस धृष्टता को देख लेते हैं। इस संयोग से कथानक में नाटकीय विकास होता है। बादशाह को ज्ञात हो जाता है कि वास्तव में वह बाँदी पुरुष है। उसके लिए वे आज्ञा देते हैं तहखाने में डालकर भूखों मार डालने की। सलीमा की मूर्छा दूर होने के पूर्व ही यह सम्पूर्ण घटना घटित हो जाती है। उसे ज्ञात भी नहीं हो पाता कि बादशाह उससे क्यों अप्रसन्न हो गए। वह बादशाह के समीप पत्र भेजती है किंतु वे अप्रसन्नता में बिना पत्र पढ़े ही सलीमा को मर जाने को कह देते हैं। सलीमा के नारी हृदय पर ठेस पहुँचती है। वह बाँदी वाली घटना से अब भी अपरिचित है अत अन्तिम पत्र बादशाह को लिखकर वह हीरा चाट लेती है। उसकी मृत्यु के पश्चात् बादशाह को वास्तविक घटना का पता उस बाँदी रूपी पुरुष से ही होता है। बादशाह को हार्दिक दुःख होता है। इस कहानी का अन्त बड़ा ही कलात्मक है। देखिए—

'सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गये। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन रात रहते हैं। सामने नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफेद कब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस दिन रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी उसी खिड़की में उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की कब्र दिन रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है तो उस गम्भीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म भेदिनी गीत ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ-साफ सुनते हैं कोई करुण कोमल स्वर में गा रहा है—

'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी।

इसी प्रकार संयोगों एवं आकस्मिक घटनाओं को आश्रय बनाकर विकसित होने वाली कई अन्य प्रमुख कहानियाँ और भी हैं। यहाँ हम केवल इस प्रकार की तीन कहानियाँ आकस्मिक सामञ्जस्य एवं सोया हुआ शहर का ही निरूपण और प्रस्तुत करेंगे।

'वारवनिता' नामक कहानी के कथानक का प्रारम्भ ही संयोग से होता है। इस कहानी में अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह के पतन काल का और मुगल वैभवशाह के आँसुओं का जो कभी केवल हीरे मोती धन और ऐश्वर्य ही को जानती थी ऐसा मार्मिक रेखा चित्र है जो हृदय में घाव कर जाता है। प्रस्तुत कथा का प्रारम्भ सम्राट की पोती शाहजादी गुलबानू की कथा से होता है। एक दिन गुलबानू अपनी पालकी में बैठी लाल किले की ओर आ रही थी। संयोग से पालकी का एक बूढ़ा कहार ठोकर खाकर गिर पड़ा। थकित होने के कारण उठने की चेष्टा करने पर भी वह उठ न सका। पालकी का रक्षक था कि अफसर न चाबुकों की मार से कहार के प्राण ले लिए। कहार के स्थान पर उसने कुछ अपशब्द कहकर एक नवयुवक को लगाना चाहा किन्तु अपशब्द उस नवयुवक को सहन न हुए, उसने उस अफसर का विरोध किया। परिणामस्वरूप उसे भी चाबुक की मार खाकर वहीं गिर जाना पड़ा। कथा का विकास दूसरे संयोग से होता है। शाहजादी गुलबानू ने संयोग से सभी घटना स्वयं अपनी आँखों से देखी थी। उन्होंने बादशाह से स्वयं उस अफसर की निर्दयता कह सुनाई। परिणामस्वरूप बादशाह न उस निर्दय अफसर (अमीर) को परच्युत करके उसके स्थान पर उसी तरुण को रखने की आज्ञा द दी। उस तरुण का नाम इलाहीबख्श था। उसके साहस और सौंदर्य पर मुग्ध होकर शाहजादी गुलबानू उससे प्रेम करने लगी थी। इस प्रेम का लाभ उस तरुण ने उठाया और वह बादशाह की नाक का बाल बन बैठा। फिर कथानक का विकास इस संयोग क बारह वर्ष के पश्चात की एक घटना से होता है। सन् १८५७ का गदर हो गया था। बादशाह कुछ विश्वासघातियों के विश्वासघात के कारण पराजित हो गए थे। संयोग से इन विश्वासघातियों का प्रधान इलाहीबख्श ही था जो शाहजादी की कृपा के कारण एक उच्च पद पर पहुँच चुका था। इसी विश्वासघाती ने अपने आश्रयदाता बादशाह को निरीह दशा में हुमायूँ के मकबरे में गिरफ्तार भी कराया था।

इसके पश्चात् कथानक का चरम विकास एक संयोग के द्वारा ही सँजोया गया है। संयोग से शाहजादी गुलबानू जीवित बच गई थी। उपर्युक्त घटना के तीस वर्ष पश्चात् पुनः एक घटना घटित होती है। संयोग से वही शाहजादी गुलबानू जिसने एक बार इलाहीबख्श की प्राण रक्षा की थी—उसी विश्वासघाती के यहाँ एक वारवनिता के रूप में जा पहुँचती है। एक दिन घटनावश जब इलाहीबख्श को शाहजादी—वारवनिता के मुख से ही उसकी सम्पूर्ण

कथा ज्ञात होती है, तो वह लज्जित होकर सदैव के लिए घर त्याग कर भाग जाता है।

प्रस्तुत कहानी का अंत भी आदर्शवादी है। किस प्रकार शाहजादी की करुण कथा ने उस पाषाण हृदय विश्वासघाती का हृदय परिवर्तित कर दिया इसे कथाकार ने बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कथा में प्रस्तुत किया है। इस कथानक के माध्यम से कथाकार ने एक ओर जहाँ मुगल दर्बार के ऐश्वर्य शान शौकत की एक झाँकी दिखलाई है वहीं उसने अंत में उस साम्राज्य के पतन और उसके पश्चात् का एक करुण चित्र भी प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत कथानक संयोगों का माध्यम लेकर अनस्य विकसित हुआ है किन्तु कहीं पर भी अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है। यही इस कथानक की सबसे बड़ी कलात्मकता है।

इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी की 'लालारुख' कहानी का कथानक भी बड़ा कलात्मक एवं रोचक है। इसमें भी संयोग का आश्रय लिया गया है। कथानक का प्रारम्भ इस भूमिका के पश्चात् होता है' बादशाह आलमगीर की दुलारी छोटी शाहजादी लालारुख का ब्याह बुखारे के शाहजादे से तय पा गया था। इसके बाद ही यह बात भी तमाम दरबारियों और बुखारा के एलचियों से सलाह मशविरा करके तय पा गई थी खासतौर से बुखारा के शाहजादे ने इस बात पर पूरा जोर दिया था कि उसे कश्मीर के दौलतखाने में शाहजादी का इस्तकबाल करने की इजाजत दी जाय और बादशाह ने इस बात को मंजूर कर लिया था। उस दिन लालारुख की सवारी दिल्ली की बाजारों में होकर कश्मीर जा रही थी और दिल्ली शहर की यह सब तैयारियाँ इसी सिलसिले में थी। इसी प्रकार की भूमिका के पश्चात् कथानक का विकास संयोग का माध्यम बना कर होता है। इस यात्रा के मध्य ही एक दिन शाहजादी के समीप बुखारे के शाहजादे का भेजा हुआ एक गवैया आता है। शाहजादी दूर ही से उसका गाना सुनकर उसपर मोहित हो जाती है। एक दिन उसने लज्जा त्यागकर उस गवैये को अपने समक्ष हाजिर होने का हुक्म दिया। और प्रथम साक्षात्कार में ही उस गवैये के सौंदर्य और गुणों पर मुग्ध होकर उसने उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। किन्तु वह गवैया अधिक समय तक उसके समीप न रह सका। शाहजादे ने इस प्रेम सम्बन्ध के ज्ञात होते ही उसे हिरासत में ले लिया। इस घटना से शाहजादी को बड़ा दुख हुआ और वह बिना शाहजादे की ओर देखे ही उसके चरणों पर लोटकर उस गवैये की जान

ली की भीख माँगने लगी। कथा में एक नाटकीय परिवर्तन होता है।
हजादे ने साहचर्य की बात पूर्ण करने का वचन दिया किन्तु जब मालागिर
प्रसन्नता में शाहजादे के चरणों पर से मुख उठाकर उसके मुख की ओर देखा
ा वह 'या खुदा' कहकर शाहजादे की गोद में ही बेहोश होकर लुढ़क गई।
था के अंत में कथाकार इस रहस्य का उद्घाटन करता है कि वास्तव में
ाहजादा ही वह गवैया था जिससे मालागिर प्रेम करने लगी थी। प्रस्तुत
थानक भी संयोगों के माध्यम से बड़े कलात्मक रूप से चरम सीमा तक
पहुँचाया गया है। अन्त भी बड़ा ही नाटकीय एवं चमत्कारपूर्ण है। सम्पूर्ण कथानक
विकास में कथाकार ने कार्य कारण का ध्यान रखा है तभी कथा स्वाभाविक
एवं आकर्षक बन पड़ी है। आचार्य जी की इस कहानी को पढ़कर प्रेमचन्द की
ी 'दिल की रानी' और 'माता' कहानी स्मरण हो जाती है। इन दोनों का
ी इसी प्रकार आकस्मिक अन्त होता है।

'खोया हुआ शहर' का कथानक भी बहुत कुछ इसी प्रकार का है। उसमें
ाहजादा खुर्रम अपनी प्रेमिका ताजमहल के सामने दो रूपों में आता है। उसमें
ी कथा का विकास संयोगों को माध्यम बनाकर होता है। अंत उसका भी बड़ा
ी नाटकीय एवं आकर्षक है।

इस प्रकार की कहानियों की सर्वप्रधान विशेषता है इनका चकित
ैस से अंत होना। वास्तव में इस प्रकार की कहानियों की समाप्ति पर पर्दा इतने
ोर से गिरता है कि सारी चमक करनेवाली दीपावलियाँ एक साथ ही बुझ
ाती हैं। और अंधकार का साम्राज्य छा जाता है जहाँ वातावरण जनसंकुल
ुमर मनुष्याम के मानियों के कोलाहल से पूर्ण था। वहाँ श्मशान भूमि की
ीरवता छा जाती है। "इन कहानियों में घटनाओं का संयोग उनकी
ाकस्मिकता की मजबूरी ही सर्वोपरि सर ताने खड़ी रहती है।[1]

इसकाल से संबंधित तीसरे प्रकार की कहानियों के कथानकों में न यह
प्रौढ़ता ही है और न ही ऐसी कलात्मकता ही। ऐसे कथानकों का निर्माण केवल
किसी घटना विशेष के प्रदर्शन के लिए ही हुआ है। जैसे 'मुगल बादशाहों की
मनोखी बातें' नामक कहानी संग्रह में जितनी भी कहानियाँ हैं उनका उद्देश्य
केवल मात्र मुगल बादशाहों की सनक का दिखाने मात्र का है। 'वीर माता'
'आदर्श बच्चे' 'राजपूत बच्चे' आदि कहानी संग्रहों में जो इस काल से संबंधित

---

१ आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान डा० देवराज उपाध्याय पृ० २०८ ।

कथानक हैं उनका उद्देश्य भी केवल मात्र एक या दो घटनाओं के माध्यम से उन आदर्श अथवा वीर बालकों के चरित्र के उद्घाटन का रहा है।

अंग्रेजी राज्य-कालीन ऐतिहासिक कहानियों क कथानक

इस काल से सम्बंधित अधिकांश कहानियों के कथानक या तो मुगल शासन के अन्तिम समय से सम्बन्धित हैं अथवा किसी क्रांति या राजा से सम्बंधित। मुगल शासन के अंतिम समय से सम्बंधित अधिकांश कथानकों जैसे बादशाह पामवाली आदि को हम पीछे ले चुके हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय क्रांति से सम्बंधित कहानियों को हम राजनीतिक कहानियों में आगे लेंगे। यहाँ केवल हम अंग्रेजी राज्य कालीन रजवाड़ों की कहानियों के कथानकों जैसे राजा साहब की कुतिया राजा साहब की पतलून मुहब्बत आदि को लेंगे। इस प्रकार की कहानियों मे कहानीकार ने उन राजा रईसों के विलासमय वासनापूर्ण एवं अरक्षित जीवन के रेखा-चित्र खींचे हैं, जिन्हें अंग्रेज शासकों ने एकदम निष्क्रिय एवं विलासी बना दिया था। 'मुहब्बत' नामक कहानी में मुहब्बत नाम की एक वेश्या एवं एक विलासी कामुक राजा के जीवन की कथा कही गई है। किस प्रकार वेश्या ने डाक्टर से मिलकर राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करके उन्हें विष दे दिया और किस प्रकार उसके द्वारा उड़ाये गए दस लाख रुपये राजा की मृत्यु के पश्चात् उसे मूर्ख बनाकर अकेले डाक्टर ने हड़प लिए —इसका अत्यंत सजीव चित्रण इस कथानक के माध्यम से आचार्य जी ने किया है। इसी प्रकार 'राजा साहब की कुतिया' और 'राजा साहब की पतलून' में राजा रईसों की सनक भड़क हिमाकत एवं कंजूसकर्षी की हास्यास्पद घटनाएँ वर्णित हैं।

ऐतिहासिक कहानियों के कथानकों की निर्माण विधि

जैसा कि हम पीछे बतला चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी की विभिन्न कालों से सम्बंधित लगभग डेढ़ सौ ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। इन कहानियों के निर्माण में आचार्य जी ने कुछ विशिष्ट विधियों का प्रयोग किया है। यहाँ हम उन्हें संक्षिप्त रूप में देखने का प्रयत्न करेंगे।

१ किसी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति के जीवन के लम्बे भाग को लेकर कथानक का निर्माण करना जैसे मधुर चतुरराज आदि।

२ किसी इतिहास प्रसिद्धव्यक्ति के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं को लेकर उन पर कथानक का ढांचा खड़ा करना जैसे कुणाल बाबा दुर्गादास सिंहगढ़ विजय पूर्णाहुति बसंत आदि।

३ कुछ काल्पनिक एवं कुछ ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र को प्रकट करने वाली कुछ प्रमुख घटनाओं को ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण करके दिखलाना। जैसे 'वार्वचिन' 'बुलबा में कासे कहूँ' आदि

४ लम्बी कहानियों के कथानकों के साथ सहायक कथाओं की भी अवतारणा हुई है। यह सहायक कथानक नाटक में प्रकरी की भाँति मूल कथा के साथ थोड़ी दूर तक जाकर रुक गया है। जैसे 'हल्दी घाटी में' नामक कहानी में समुन्दरा सरदार की कथा दूसरे प्रकार के वे सहायक कथानक हैं जिनका प्रयोग पताका की भाँति मूल कथा में आदि से अन्त तक हुआ है। जैसे 'भाट का वचन' नामक कहानी में अग्रेंब भाट की कथा।

५ उनकी अधिकांश ऐतिहासिक कहानियों का प्रारंभ वातावरण निर्माण करते हुए होता है। ऐसी कहानियों के कथानकों में वेग उस समय आता है जब कोई सहायक कथा सूत्र उसमें आ मिलता है।

६ उनकी ऐतिहासिक कहानियों में घटना को प्रस्तुत करने की निम्न दो विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। प्रथम-घटना की अवतारणा के प्रथम उसके ही अनुरूप वर्णन या चित्रण की एक पीठिका प्रस्तुत होती है जैसे वार्वचिन वातावरण बुलबा में कासे कहूँ आदि कहानियों में दूसरे—घटनाओं के ही माध्यम से वे अपनी कहानियों में नाटकीयता और अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करते हैं जैसे प्रमुख बुलबा में कासे कहूँ सोया हुआ शहर आदि कहानियों में। तीसरी एक प्रमुख विशेषता और है। उनकी अधिकांश ऐतिहासिक कहानियाँ प्रसाद जी की भाँति भावात्मक हैं। उन्होंने इन कहानियों को तात्विक दृष्टिकोण से बहुत कम लिखा है। उनके मन में जो भी जैसी भावनायें उठीं उसके अनुरूप या तो उन्होंने इतिहास से कोई कथासूत्र ढूंढ निकाला या अपने कल्पना लोक से उसकी सृष्टि कर ली और उसमें अपनी सहज अनुभूतियों और भावनाओं को पिरो दिया यही कारण है कि उनकी प्रायः समस्त कहानियाँ भावात्मक हो गई हैं। और भावात्मक कहानियों की अपनी स्वतंत्र शिल्पविधि होती है वे सर्वथा एक-एक रूप में स्वतंत्र और मौलिक होती हैं।[1] अतएव प्रसाद जी की कहानियों के समान ही आचार्य जी अपनी कहानियों में घटना के प्रस्तुत करने में चरित्र चित्रण के निर्माण में सिद्धांत प्रतिपादन और वातावरण की अवतारणा में बिल्कुल मौलिक सिद्ध हुए हैं।

---

१ हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायण लाल पृ० २२९।

सामाजिक कहानियों के कथानक

कोई कहानी सामाजिक है ऐसा कहने से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सम्पूर्ण इतिवृत्त का सम्बन्ध उस वस्तु स्थिति से है जो मुख्यतः व्यापक समाज में फैली है। यह समाज भारतवर्ष का हो सकता है अमेरिका का अथवा किसी भी देश का हो सकता है। समाज के भीतर व्यक्तिगत जीवन भी आता है और कौटुम्बिक अथवा सामाजिक भी। व्यक्ति और समाज के साथ उसकी सम्पूर्ण इयत्ता का संयोग होने के कारण जितनी भी उपदेश धर्म तथा संस्कृति से संबद्ध बातें होंगी वे भी इसके अंतर्गत आजायेंगी। इस प्रकार सामाजिक कह देने से बड़ी ही व्यापकता का बोध होगा और विशिष्टता-विधायक कोई बात स्पष्ट होगी नहीं। फिर भी व्यापक वर्गीकरण के विचार से इतना संकेत तो मिल ही जाता है कि इस वर्ग की कहानी में समाज के किसी अंग अथवा रूप का उल्लेख मिल सकता है।[1]

आचार्य जी ने सौ के लगभग सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों का समस्या के अनुसार वर्गीकरण करना निश्चित रूप से कठिन है कारण आचार्य जी ने दुनियाँ भर की समस्याओं पर लेखनी चलाई है। यहाँ हम केवल उनकी कुछ प्रमुख समस्याओं पर आधारित कहानियों के कथानकों का विवेचन करेंगे।

आचार्य जी ने अपनी इस प्रकार की कहानियों में वैवाहिक समस्याएँ यथा दहेज की समस्या दहेज के प्रश्न पर सम्बन्धियों में मत मुटाव लड़की पसंद करना विवाह के अवसर पर पारस्परिक संघर्ष स्त्री-पुरुष के मध्य प्रेम जो विवाह का आधार बनता है आदि तथा विधवा समस्या वेश्या समस्या प्रेम का झूठा मोह दिखाकर पुरुष द्वारा नारी को प्रवंचित करने की समस्या स्त्री शिक्षा, नारी स्वातन्त्र्य वृद्ध एवं बाल विवाह धर्म एवं सुधारवाद के नाम पर होने वाले पापाचार, रिश्वत आदि का अत्यन्त यथार्थ-चित्रण प्रस्तुत किया है।

नारी की विवशताओं, उसकी दुर्बलताओं एवं पुरुषों द्वारा प्रवंचित किए जाने का चित्रण आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी 'टार्च लाइट' 'भस्मोर' 'सविता' 'विधवाश्रम' 'पतिता' 'कहानी खत्म हो गई' 'जापानी दासी' 'ठकुरानी' 'फिर' 'डिठौना' 'कन्यादान' 'पत्थर में अंकुर' 'प्रथम वध' 'वेश्या' 'हेरफेर' 'सोने की पत्नी' 'म्यूजिक मास्टर' 'दूध की धार' आदि कहानियों में किया है।

---

१ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ १६१।

'टार्च लाइट'[1] में एक पुरुष की चारित्रिक दुर्बलता का चित्रण किया गया है। एक विधवा को विनय नाम का एक युवक किस प्रकार प्रवंचित करता है इसी का चित्रण प्रस्तुत कहानी में प्राप्त होता है। विनय उसकी ओर आकर्षित होता है और वह विनय की ओर। विनय उसे विवाह का प्रलोभन देता है। सीधी सादी लक्ष्मी उसके इस प्रलोभन में आकर अपना सतीत्व खो बैठती है। किन्तु लक्ष्मी के गर्भवती हो जाने पर विनय उसे त्याग कर एक दूसरा विवाह रचा लेता है। अपने सतीत्व का मूल्य उसके प्रेमी से मिलता क्या है ? केवल एक सौ रु० का नोट। वह भी उसके सम्मान के लिए नहीं वरन् उसकी जिह्वा पर ताला लगाने के लिए। कारण विनय के विवाह के समय ही अकस्मात् वह आ उपस्थित होती है। उसके जबान खोलने पर विनय के विवाह रुक जाने की सम्भावना है अत वह सौ रु० का एक नोट उसकी हथेली पर रख देता है। नारी इस आघात को सहन नहीं कर पाती और वह नोट फेंक कर चुपचाप लौट आती है। इसके अतिरिक्त उस नर पशु के साथ वह अबला असहाय एवं निराश्रित नारी कर भी क्या सकती थी ? इसी प्रकार 'कहानी खत्म हो गई' कहानी में भी एक असहाय विधवा के पतन की दर्दनाक कथा प्राप्त होती है। किस प्रकार एक जमींदार ने अपने बूढ़े सर्वराहकार की विधवा बेटी को पतन के मार्ग पर खींचा और उसके गर्भवती हो जाने पर किस प्रकार उसने उससे आँखें फेर लीं इसी का चित्रण कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी में किया है। इस कहानी में उस विधवा का आदर्श भी दृष्टव्य है। वह जमींदार द्वारा प्रवंचित होने पर भी उसका नाम खोलना नहीं चाहती। उसका कहना है

"मैं और किसी अधिकार की बात नहीं कहती किसी बदनामी के भय से आप डरें नहीं। मर जाऊँगी पर आपका नाम न लूँगी। परन्तु, मैं औरत हूँ असहाय हूँ। मेरा कोई हमदर्द नहीं, आप ही अब मुझे राह बताइये।" "गाँव के किसी इज्जतदार गरीब ठाकुर से मेरा ब्याह करा दीजिए। किन्तु वह नर पशु यह भी न करा सका। इस पर भी वह अबला उस व्यक्ति का नाम जबान पर न लाई। अपने नवजात शिशु की उसने उत्पन्न होते ही हत्या कर दी किन्तु इस अभियोग में वह पुलिस द्वारा रँगे हाथों पकड़ ली गई। पुलिस की प्रताड़ना खाने पर भी उसने बच्चा किसका है, इस रहस्य को न बताया। अन्त में उस नर पशु ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया किन्तु उस अबला को आश्रय न दे सका। विवश होकर उस विधवा को आत्म हत्या कर लेनी पड़ी।

'जापानी दासी' कहानी इससे कुछ भिन्न है। इसमें आचार्य जी ने एक

चित्रण किया है। बिजली नाम की एक दासी को एक नर पशु सी धन में क्रय करता है। वह दासी के साथ बलात्कार करना चाहता है किन्तु बिजली दासी होते हुये भी नारी धर्म से परिचित है। वह उस नर पशु से अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आत्महत्या करके प्राण दे देती है किन्तु अपने धर्म का त्याग नहीं करती। इस कथानक द्वारा आचार्य जी ने यह प्रदर्शित किया है कि भारतीय कन्याओं के समान ही अन्य देश की नारियाँ भी अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अपने प्राणों तक को उत्सर्ग करना जानती हैं।

इसके एकदम विपरीत उनकी 'सविता' कहानी है। इसमें आचार्य जी ने सविता और कविता नाम की दो आधुनिक शिक्षिता नवयुवतियों का चित्रण किया है। किस प्रकार वे दोनों नवयुवतियाँ पाश्चात्यों के चक्कर में पड़कर अपना सर्वस्व दे बैठी हैं, और धन के लोलुप पिता किस प्रकार सब कुछ जानते हुए भी अनजान बने रहते हैं इसी तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत कहानी में कहानीकार ने किया है। इस कहानी में कहानीकार ने अपरोक्ष रूप में यह भी संकेत किया है कि आज की आधुनिक शिक्षा नवयुवतियों को किस दिशा की ओर खींचे लिए जा रही है तथा माता-पिताओं के लिए शिक्षित पुत्रियों का विवाह एक कैसी विषम पहेली हो गई है। 'बन्समोर' कहानी में भी आचार्य जी ने आधुनिक सभ्यता पर एक करारा व्यंग्य किया है। इसमें भी कहानीकार ने यही दिखलाने का प्रयत्न किया है कि आज एक साधारण स्थिति के पिता के लिए अपनी पुत्रियों के लिए वर खोजना कितना कठिन कार्य हो गया है। आज के शिक्षित नवयुवक पत्नी नहीं अप्सरा चाहते हैं। वे अपनी भावी पत्नी की खोज उसी प्रकार करते हैं जैसे कोई सवार घोड़ी की खोज करता है। इतना ही नहीं वे किसी सुशील कन्या को जब देखने जाते हैं तो उसका निरीक्षण भी इस प्रकार करते हैं जैसे किसी पशु का क्रय करने के पूर्व किया जाता है। देखिए एक बी० ए० महोदय एक संभ्रांत परिवार की एक शिक्षित कन्या को विवाह के लिए देख आते हैं किन्तु एक बार देखने पर वे निश्चय नहीं कर पाते कि लड़की सुन्दर है अथवा नहीं। वे एक बार (बन्समोर) उस लड़की को और देखना चाहते हैं। लड़की के पिता से इसका कारण बतलाते हुए उनका कहना है हाथों की उँगलियां ठीक-ठीक नहीं देख सका। " "हमारी ही बिरादरी में एक शादी होकर आई है उस लड़की की उँगलियां और नाखून इस कदर खराब हैं साहेब कि बयान नहीं कर सकता इसी वजह से जरा उँगलियां

और एक बार देख लूँ, तब अपनी राय कायम करूँ।'[1] कितना गहरा कटाक्ष किया है कहानीकार ने आधुनिक शिक्षित युवकों के ऊपर।

आचार्य जी की मुख्य कहानी का कथानक बहुत कुछ उनके उपन्यास 'अपराजिता' के कथानक के समान है। इसमें कहानीकार ने दहेज की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। 'ठकुरानी' कहानी में भी नारी की विवशताओं एवं तज्जनित कुंठाओं का चित्रण है।

अपनी 'सोने की पत्नी' कहानी में उन्होंने मनुष्य की धन-लिप्सा पर तीखा कटाक्ष किया है। इसका निर्माण बड़े ही कलात्मक ढंग से कहानीकार ने किया है। एक निर्धन नवयुवक किस प्रकार अपनी पत्नी को सोने से मढ़ देने की अभिलाषा रखता है किंतु वह सामग्री उसके उदर पोषण की भी नहीं एकत्र कर पाता। वह केवल मात्र एक निष्क्रिय स्वप्नदृष्टा मनुष्य है। कर्मठ कार्यरत पुरुष नहीं। एक दिन स्वप्न में वह देखता है कि उसकी पत्नी सोने की हो गई है। उसे धन की आवश्यकता है वह पत्नी के समीप अपनी कठिनाई लेकर जाता है। पत्नी अपनी एक अंगुली काटकर उसे दे देती है। उसका कार्य पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार उस युवक की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं और सोने की पत्नी के अंग कटते जाते हैं। अंत में स्वप्न टूटने पर उसे अपनी धन लिप्सा का ज्ञान होता है।

अपनी 'विधवाश्रम' कहानी में आचार्य जी ने समाज के ठेकेदारों पर करारी चोट की है। 'इस कहानी में बहुत तीव्र व्यंग्य और असंतोष की भावना से लेखक ने 'विधवाश्रमों' के भीतरी कुत्सित जीवनों का भंडाफोड़ किया है— जिनकी स्थापना आर्यसमाज ने उसकी आवश्यकता समझकर की थी। और अंत में ये सच्चे अर्थों में कुटनखाने बन गए। लेखक को कुछ दिनों तक बिल्कुल निकट से ऐसी संस्थाओं को देखने का अवसर मिला है। इसीलिए उसके ये रेखाचित्र काल्पनिक नहीं सच्चे हैं।'[2] इस कहानी में कहानीकार का सुधारक रूप अधिक प्रबल है। उसने नग्न सत्य को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे प्रस्तुत कहानी यथार्थवादी कहानियों के समीप जा पहुँची है। *अंत आदर्शवादी अवश्य है।* उसने समाज की आँखों में धूल झोंकनेवाले अबलाओं का सतीत्व नष्ट करनेवाले चारों ही धूर्तों को दंड दिला दिया है।

---

१ नवाब ननकू, कहानी संग्रह, पृ ११६।

२ वीर बालिका, कहानी संग्रह, सम्पादिका कमला किशोरी, पृ ८०।

किन्तु इस कहानी के द्वारा वह कुत्सा का ही प्रचार कर सका है, सुधारवादी दृष्टिकोण का नहीं।

इसी प्रकार की उनकी 'पतिता', 'वेश्या' आदि कहानियाँ भी हैं। अपनी 'पतिता' कहानी में आचार्य जी ने कुछ वेश्याओं के कारुणिक जीवन की कथाएँ कही हैं। ये वेश्याएँ अपनी कथाएँ स्वयं कहती हैं। आनन्दी हीरा आदि वेश्याएँ अपने जीवन की विवशताओं एवं कटुताओं को इस कहानी में एक-एक कर सामने रखती गई हैं। पतिता होते हुए भी यह वेश्याएँ अपनी विवशताओं के कारण पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करने में पूर्ण सफल रही हैं। वास्तव में इन कहानियों की सफलता इसी में है कि पाठक का हृदय बरबस इन पतिता बहिनों की दुखावस्था से द्रवित होकर उनके प्रति गहरी संवेदना और सहानुभूति से भर जाता है। किन्तु यद्यपि प्राकृतवादी (Naturalistic) ढंग की कहानियों का उद्देश्य समाज का सुधार करना आवश्यक था परन्तु उसमें मानवता की लज्जाप्रद और घृणास्पद बातें कलात्मक सौंदर्य के साथ चित्रित की गई हैं। उनके सुन्दर और सत्य होने में कोई संदेह नहीं चरित्र चित्रण और शैली की दृष्टि से वे बड़ी शक्तिशाली और सुन्दर रचनायें हैं परन्तु साथ ही वे असंयमकारक और कुरुचिपूर्ण हैं। उनके कथानक साधारणतः वेश्याओं बाजारियों विधवाश्रमों सड़क पर भीख माँगनेवालों और गुन्डों के समाज के लिए गए हैं। उनका चरित्र चित्रण यथार्थ और सजीव है कला उनकी निर्दोष है परन्तु जनता की रुचि और मंगल भावना के लिए यह अच्छा होता कि वे समाज-सुधारक अपनी अपूर्व प्रतिभा का उपयोग किसी भिन्न रीति से करते।[1]

आचार्य जी की कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिसमें उन्होंने नारी की कोमल भावनाओं—त्याग तपस्या और उत्सर्ग आदि को चित्रित किया है। उदाहरण के लिए उनकी कहानी 'सुखदान' 'नहीं' 'बाहर-भीतर' 'धरती और आसमान' 'पुनर्नागुलीम' 'दूध की धार' आदि कहानियों को ले सकते हैं। अपनी 'सुखदान' नामक कहानी में उन्होंने पति-पत्नी के पारस्परिक आध्यात्मिक सम्बन्ध—जो शरीर से नितान्त भिन्न है—को बड़े ही भावपूर्ण एवं कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है। विद्यानाथ को अपनी प्रथम पत्नी की मृत्यु के पश्चात् अपनी साली सुषमा से विवाह करना पड़ता है। सुषमा और उनकी आयु में बड़ा अन्तर था किन्तु तो भी सुषमा ने विद्यानाथ से सहर्ष विवाह करना स्वीकार

१ हिन्दी कहानियाँ, सम्पादक डा० कृष्णलाल, भूमिका, पृ १०।

किया। अपने सुख के लिए नहीं, विद्यानाथ के सुख के लिए। उसे ज्ञात था कि उससे जीजा जीजी के अभाव में शायद ही अपनी प्रतिभा एवं पौरुष का उपयोग कर सकें। अपने जीजा के जीवन के निर्माण के लिए वह अपनी इच्छाओं अभिलाषाओं का उत्सर्ग करके उनसे विवाह करना स्वीकार कर लेती है। विद्यानाथ स्वयं उसके त्याग को देखकर मर्माहत हो उठते हैं। वे सुषमा से प्रश्न करते हैं 'मुझ जैसे पुरुष को जो आयु में तुमसे बहुत बड़ा और विधुर है, तुमने हठपूर्वक अपना पति बनाया जब कि तुम्हें अधिक उपयुक्त जीवन साथी मिल सकता था। और इस पर भी हँसती हो गाती हो खेलती हो पिता और माता को भूली हुई हो। अपने अयोग्य पति को उदास भी नहीं देख सकती हो! सुषमा, यह क्या तपस्या नहीं है।

इस पर सुषमा का उत्तर दृष्टव्य है। उसका कहना है 'स्त्री पति के सर्वस्व को पाकर भी असन्तुष्ट ही रहती है। पति उसे अपेक्षाकृत अयोग्य ही प्रतीत होता है। जिस पर पति उसके सभी अत्याचार सहन करता है, केवल थोड़े सुखदान की आशा से जिसकी उसे इसलिए बड़ी आवश्यकता होती है कि वह बाहरी जगत् की सभी सामाजिक और आर्थिक जिम्मेदारियों के बोझ से निरन्तर थककर चूर रहता है। पर कितनी स्त्रियाँ पुरुष को वह सब दे सकती हैं? वे स्त्रियाँ धन्य हैं जिन्हें ऐसे पुरुष पति मिले हैं जो अपना आत्म समर्पण पत्नी को करने के आदी हैं। पत्नी उन पर अबाध शासन चलाती है और उनकी सम्पूर्ण सम्पदा स्वच्छन्द भोगती है। तथा उसके धन से निर्बाध जीवन-यापन करती है' —'मुझे ऐसा ही एक पति प्राप्त है।'[1] स्पष्ट है कि प्रस्तुत कहानी पति-पत्नी के अभिन्न अस्तित्व एवं परस्पर के सामाजिक जीवन पर केंद्रित है।

'बाहर और भीतर' कहानी में भी नारी की कर्तव्य-निष्ठा पर प्रकाश डाला गया है। इस कहानी में अत्यन्त कलात्मक ढंग से उसने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न पर प्रकाश डाला है। प्रश्न है—स्त्री की बाह्य सुन्दरता देखनी चाहिए या आन्तरिक? विवाह के लिए स्त्री की सुन्दरता ही आज भी प्रधान मानी जाती है और उसके अन्य गुण दोषों को पीछे डाल दिया जाता है किन्तु इसमें उन्होंने यह दिखलाया है कि स्त्री की बाह्य सुन्दरता से उसकी आंतरिक सुन्दरता का अधिक महत्व है। यदि नारी में आंतरिक सौंदर्य है तो

१ मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ० १६९-१७०।

पति को ही नहीं संसार को वश में कर सकती है जब कि बाह्य सौंदर्य केवल क्षणिक प्रभाव ही डालने में समर्थ हो सकता है।

अपनी 'धरती और आसमान' कहानी में आचार्य चतुरसेन जी ने एक कलाकार के गृहस्थ जीवन को चित्रित किया है। कलाकार जो एक असफल गृहस्थ है किंतु सफल कलाकार। वह कला की सफलता में व्यस्त रहकर पत्नी को अभाव के संसार में घसीटता चला जाता है। वह सदा आदर्श के आसमान पर विचरण करता रहा और कभी अपनी जीवन संगिनी की ओर देखा भी नहीं—जो धरती पर रह रही है और अभाव में जिसका जीवन घिस गया है। और अब एकाएक वह उसे देखता है पति की दृष्टि से नहीं कलाकार की दृष्टि से। उसे ज्ञात होता है कि इस अभाव में रहकर उसने चित्र अनेक बनाए किंतु जीवित चित्र केवल अपनी पत्नी का ही बना सका है अपनी अभाव के कारण रोगी और दुःखी पत्नी को देखकर वह विचार करता है 'निस्संदेह यह चित्र मेरा ही बनाया हुआ है। मेरी यह पत्नी वह नहीं है जो अब से बीस साल पहले ब्याह कर आई थी। यह तो मेरे द्वारा बनाई हुई मूर्ति है। इसे बनाने में मुझ कलाकार के बीस वर्ष लग गए, निस्संदेह बीस वर्ष। इन बीस वर्षों में उसके गुलाबी चमकदार गालों को पीला पिचका हुआ बनाया गया उन पर झुर्रियों की रेखायें अंकित की गईं। इन नेत्रों का मादक तेज कटाक्षों का विद्युत्प्रवाह पोंछ-पोंछकर इनमें अमिट सूनापन पैदा किया गया। प्रेम का आमंत्रण सा देने वाले इन सरस होंठों को सुखाकर उन्हें फीका किया गया। उभरा युगल यौवनों को बहा दिया गया। अब वे उसके अतीत यौवन के एक प्रमाणिक इतिहास बन गए थे। उसकी वह मृदुल-मुचिक्कण अलकावलियों को अंजली झाड़ियों का रूप दे दिया गया था।[1] इस प्रकार प्रस्तुत कहानी में कलाकार के अभावों एवं उसकी वेदना को बड़े ही कलात्मक ढंग से कहानीकार ने प्रस्तुत किया है।

'दूध की धार' कहानी में उन्होंने नारी के भावुक एवं कोमल हृदय को साकार किया है। इसमें अन्त में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नारी की सार्थकता उसके मातृत्व में है।

अपनी 'मास्टर साहब' कहानी में उन्होंने नारी के एक दूसरे ही रूप को चित्रित किया है। इस कहानी का कथानक आचार्य जी के 'अदल बदल' नामक उपन्यास के कथानक के समान ही है। उसमें माया पतित होने से पूर्व ही

---

१ मेरी प्रिय कहानियाँ पृ २९१।

अपने पति के समीप पहुँच जाती है जब कि इसमें माया अपना सतीत्व लुटाकर एवं पाप की गठरी अपने उदर में लिए हुए पति के पास वापस लौटती है।

नारी जीवन से सम्बन्धित आचार्य चतुरसेन जी की 'नहीं' और 'युग लांगुलीय' कहानी भी है। यह कहानियाँ प्रयोग की दृष्टि से सर्वथा नवीन हैं। इनमें न कथानक है न चरित्र चित्रण न घटनाएँ, केवल भाव हैं। भावों का आवेग नहीं है, विचारों के आधार पर एक स्थापना की गई है। यह कहानियाँ महान् साहित्यकारों के एक दो वाक्यों पर आधारित हैं। उनकी 'नहीं' कहानी शरत् बाबू के दो वाक्यों पर आधारित है और 'युगलांगुलीय' रवीन्द्र बाबू की दो पंक्तियों पर। 'नहीं' का कथानक केवल नाम मात्र का है। दक्षिणा को उसके पति त्याग देते हैं वे दूसरा विवाह कर लेते हैं। दक्षिणा पिता के यहाँ रहकर एकान्त तपस्या रत रहती है। पंद्रह वर्ष पश्चात् उसके पति के मित्र मिलते हैं वे दक्षिणा को मिले आते हैं। दक्षिणा का यौवन ढल चुका था किंतु तो भी अभागिनी उस पति का ध्यान आकर्षित कराने के लिए शृंगार कराना चाहती है। इस पर दक्षिणा दीदी से पूछती है स्त्री की देह ऐसी तुच्छ चीज है कि उसके रूप सौष्ठव को छोड़कर उसका और कोई उपयोग ही नहीं? इसी प्रश्न के समाधान में प्रस्तुत कहानी का कथानक अग्रसर हुआ है।

'युगलांगुलीय' में दो आधुनिकतम उच्चशिक्षिता भारतीय नारियों के विभिन्न दृष्टिकोणों को कथानक का आधार बनाया गया है। यह दोनों सखियाँ हैं श्रद्धा और रेखा। दोनों बचपन में साथ ही खेली थी साथ ही पढ़ी थीं। साथ ही दोनों ने प्रथम श्रेणी में एम ए परीक्षा पास की थी। " श्रद्धा का विवाह हो गया परंतु रेखा ने विवाह नहीं किया। उसने विदेश जाकर प्रतिष्ठा के साथ डाक्टरेट प्राप्त किया था। विश्वभ्रमण करने के पश्चात् नारी विषयक दृष्टिकोण श्रद्धा से भिन्न हो गया था। प्रस्तुत कहानी में दोनों सखियों के नारी विषयक विभिन्न दृष्टिकोणों को ही दिया गया है।

इसके अतिरिक्त उनकी अन्य अनेक सामाजिक कहानियाँ प्राप्त हैं। अपनी 'अभ्यागत' कहानी में कहानीकार ने एक पिता के हृदय को मूर्त किया है और इस कार्य में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। पिता के हृदय की आसक्ति, द्वन्द्व और दुर्बलताओं के व्यक्तीकरण में कहानीकार पूर्ण सफल रहा है।

'मनुष्य का मोल' में कहानीकार ने एक पौरुषयुक्त पुरुष का रेखाचित्र खींचा है। प्रस्तुत कहानी आचार्य चतुरसेन के उपन्यास 'दो किनारे' के दूसरे

अंश 'बाबाभाई' के समान ही है। उसमें 'बाबाभाई' का विवाह ठेकेदार की पुत्री से जीवदान कर करा दिया गया है किंतु इसमें वह अंत तक कुंवारे ही रहते हैं। देखिए—उन्होंने अपनी शादी नहीं की। पूछने पर वे जोर से हँसकर कहते हैं फुर्सत ही नहीं मिली शादी करने की। अबकी बार फिर जवान हो पाऊँ, तो किसी लड़की को देखूं।[1] सम्भवत: 'बाबा भाई' की रचना आचार्य जी ने नरेन्द्रसिंह को पुन: जवान बनाकर विवाह कराने के लिए ही की हो!

अपनी 'जेन्टिलमैन' कहानी में आज के युग की सभ्य ठगी और जुआ चोरी का भंडा फोड़ किया है। इस कहानी के तथ्य संग्रह करने में विद्वान लेखक ने उन सब विशिष्ट व्यक्तियों से मुलाकात की थी जिनके काल्पनिक नाम कहानी में लिखे गए हैं। कहानी लेखक कुछ काल महानगरी बम्बई में वहाँ के बड़े-बड़े सटोरियों बैंकों और मिलों के मालिकों के सम्पर्क में रहा और उनके कूट आर्थिक दाने बाने उसने स्वयं देखे समझे। 'जेन्टिलमैन' के नाम से जिस पुरुष पुंगव का उल्लेख किया गया है वह बम्बई, दिल्ली और लाहौर का एक महान् अर्थशास्त्री था। अपने काल में उसने इन तीनों महानगरों को अपने अर्थ विप्लव से हिला डाला था। आचार्य जी ने उसी के श्रीमुख से उसकी सफल योजनाएँ सुनी थीं तथा बम्बई का मार्केट भी भस्म होता अपनी आँखों से देखा था।[2] इसी कारण से प्रस्तुत कहानी के वर्णन अत्यंत यथार्थ एवं सजीव हैं।

अपनी 'पुरुषत्व' कहानी में उन्होंने एक ऐसे पुरुष का चित्रण किया है जिसकी दृढ़ता और पौरुष पर नगर की एक सर्व श्रेष्ठ वेश्या मुग्ध हो जाती है।

'तिकड़म' 'डाक्टर साहब की घड़ी' उनकी कौतुक कहानियाँ हैं। कला की दृष्टि से यह बहुत पीछे हैं। 'शर्मा जी' पं० छोटेलाल' आदि कहानियों में इन व्यक्तियों के रेखा चित्र बड़े ही सजीव हैं।

राजनीतिक कहानियाँ

यों तो राजनीतिक कही जाने वाली कहानी भी मुख्यत: समाज का ही अंग है और उसकी विवेचना सामाजिक कहानी के साथ ही होनी चाहिए राजनीति का अपना अलग ही क्षेत्र होता है। राजनीतिक कहानी के अन्तर्गत ऐसी भी स्थितियाँ आ जाती हैं जिसमें विषय और पात्र किसी एक ही देश

---

१ पीरनाबालिग कहानी संग्रह पृ ११।
२ पीरनाबालिग, कहानी संग्रह, पृ ४८।

जाति धर्म अथवा समाज से सम्बद्ध न हो। या अथवा उसमें अधिक देशों और समाज का रूप भी उसके भीतर आ जाय। इसका प्रतिरूप समाज के अंतर्गत में उतना नहीं चलता जितना कि राजनीतिक वातावरण और जीवन के किसी दर्शन में सम्भव होता है। देश की अथवा विश्व की राजनीतिक गतिविधि का ही सामूहिक प्रभाव इसमें ध्वनित होगा। समाज के अन्तर्गत उसका नायक उतना नहीं आता जितना राजनीतिक मंच पर विचरण करता दिखाई पड़ता, विचार करता हुआ विवाद करता हुआ और आचरण करता हुआ। ऐसी कहानियों में सारा वातावरण एक प्रकार से राजनीतिक हो जाता है। भले ही प्रच्छन्न रूप में कहीं धर्म और समाज की झाँकियाँ मिलें पर सामूहिक प्राधान्य राजनीतिक प्रभाव का ही बना रहता।[1]

आचार्य जी की राजनीतिक कहानियाँ लगभग बीस के हैं। जैसा कि हम 'जीवन वृत्त' वाले अध्याय में लिख चुके हैं कि आचार्य जी का राजनीति से कभी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा किन्तु परोक्ष रूप से सम्बन्ध रहा। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है 'परन्तु जब इस प्रकार मानसिक प्रतिक्रियाएँ विचार क्रांति कर रही थीं तभी भारतीय क्रांति के भी मैं निकट पहुँचा। इसका कारण भगतसिंह था। उसे मैं तब किसी और ही नाम से जानता था। मेरी लेखन शैली से आकर्षित होकर वह मेरे पास आता था। मुझे अपने विद्रोह का सरदार बनाने का उसका आग्रह था। उन लोगों में मैं सम्मिलित तो न हुआ पर सम्पर्क तो रहा ही।---इन सब कारणों से मेरे कथा साहित्य में क्रांति मूर्त होने लगी। बहुत सी कहानियाँ मैंने इसी प्रकार की लिखीं।'[2] उनकी 'पहली मुलाकात' इसी प्रकार की एक संस्मरणात्मक कहानी है। इसमें उन्होंने क्रांतिदूत भगतसिंह के साथ अपने व्यक्तिगत सम्पर्क को एवं एसेम्बली में हुए बम कांड को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। कहानी आदि से अंत तक सजीव एवं हृदय स्पर्शी है। उनकी भीषम्पूर्ण भूमी, क्रांतिकारिणी भारत, मुखबिर, लौह पुरुष, सम्पादन सफेद कौवा आदि कहानियाँ भी इसी प्रकार की हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के समय में राजनीतिक वातावरण ऐसा था कि जिसमें एक ओर गाँधी जी के प्रभाव के कारण सत्याग्रह करना देना खद्दर पहनने का प्रचार, हिन्दू मुसलमान ऐक्य मद्यपान निषेध आदि का काम चलता था तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी दल पूर्ण सतर्कता के साथ ब्रिटिश शासन को उलटने

१ कहानी की रचना विधान डा० शर्मा पृ० १६२।
२ वातायन पृ० २४।

के प्रयत्न में था। आचार्य जी ने अपनी कहानियों में इन दोनों का ही चित्रण किया है। उनकी लौह पुरुष वारंट आदि कहानियाँ प्रथम प्रकार की हैं तथा खूनी क्रान्तिकारिणी मुखबिर, पीयन्पूत दूसरे प्रकार की। इन दोनों से भिन्न इनकी प्रतीकात्मक राजनीतिक कहानियाँ हैं इनमें हम सम्बग्रीव सफेद कौवा आदि को रख सकते हैं।

इनमें प्रथम वर्ग की कहानियों के कथानक सीधे-साद एवं सरल हैं। 'लौह पुरुष' कहानी में कहानीकार ने केवल बापू के व्यस्त एवं कर्मठ जीवन की एक झाँकी दिखलाने का प्रयत्न किया है। बापू एक साथ कई कार्य करते हैं। उनका आश्रम कार्य मनोरंजन का कार्य सुधार का कार्य एवं राजनीतिक मंत्रणा का कार्य एक ही साथ चलता है। इसी को प्रस्तुत कहानी में कहानीकार ने प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। कथानक में आदि से अन्त तक रोचकता एवं सजीवता बनी रही है। कहानीकार प्रस्तुत कहानी में बापू के कर्मठ जीवन की एक झाकी प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल रहा है।

अपनी वारंट' कहानी म आचार्य चतुरसेन जी ने दिखावटी देश भक्तों की कलई खोलकर रख दी है। उन दिनो गाँव गाँव कड़ाह चढ़े थे पानी उबल रहा था नमक बन रहा था। नमक नही बन रहा था नमक कानून तोड़ा जा रहा था यों को नमक बनता था वह जान और आबरू के मोल का था।[1] उस समय फसली नेताओं की धूम थी। ये नेता देश क भोले भाले नवयुवकों को उत्तेजित करके कारागारों में धड़ाधड़ भरवाते जा रहे थे किन्तु जेल जाने के नाम से स्वयं बहुत भयभीत थे। इस भय का ही चित्रण कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी में किया है। इस कहानी में नमक आन्दोलन का चित्र तो उतना सजीव नहीं है जितनी कि उसमें हास्य की सामग्री प्राप्त हो जाती है।

अब हम आचार्य चतुरसेन जी की दूसरे वर्ग की राजनीतिक कहानियों को लेते हैं। उनकी 'पीयन्पूत' कहानी में एक अत्यन्त खतरनाक भेद छिपा हुआ है। 'इस भेद का सम्बन्ध भारत के एक बहुत भारी असफल विप्लव से है। कहानी में कुछ उपसर्ग की कुछ ऐसी बातें थी जो लिखी नहीं जा सकती थीं और छोड़ी भी नहीं जा सकती थी इन उपसर्गों के कारण ही प्रतिदिन पचास पृष्ठ लिखने की सामर्थ्य रखने वाले लेखक को यह कहानी पूर्ण करने में नौ मास लगे थ। फिर भी कहानी चाँद में छपते ही चाँद की दो हजार की जमानत जप्त हो गई थी। कहानी को पढ़कर तत्कालीन लाहौर हाईकोर्ट के

---

१ सम्बग्रीव हास्य संग्रह पृ ६२।

प्रसिद्ध कौंसिल (बाद में जस्टिस और फिर कस्टोडियन अमरस) श्री मछकराम ने आश्चर्यचकित होकर ४ पृष्ठों के पत्र में लेखक को लिखा था कि क्या वास्तव में कल्पना सत्य की ऐसी हूबहू तस्वीर खींच सकती है? कहानी नायक के भी मछकराम बाल सहचर रहे हैं। उस व्यक्ति के चरित्र के वे प्रत्यक्ष दृष्टा हैं।[1] प्रस्तुत कहानी का नायक एक गुरुकुल के आचार्य का पुत्र है। देश उसका प्राण और देश सेवा उसका व्रत था किन्तु उसके हृदय के किसी कोने में विलासिता और वासना भी छिपी पड़ी थी। देश स्वतंत्र कराने का अवसर आया। एक राजा साहब के साथ ब्रिटिश राज्य को उलटने का षड्यंत्र प्रारंभ हुआ। किन्तु वे लोग अपने प्रयास में असफल रहे। राजा साहब तो बच निकले किंतु कहानी का नायक युवक पकड़ा गया। अन्त में शीघ्र ही नारी के माया जाल में पड़कर वह देश द्रोही बन गया था। इस कहानी के निर्माण की विधि भी कुछ विचित्र है। इसमें पात्रों के नाम गायब हैं कथानक नहीं है केवल उसका आदि अंत है। प्रस्तुत कहानी में मानवीय ऐषणाओं और मनोविकारों का मूर्त करने में कहानीकार ने पर्याप्त परिश्रम किया है और एक सीमा तक सफल भी रहा है।

इस कहानी के एकदम विपरीत आचार्य चतुरसेन जी की 'मुखबिर' कहानी का कथानक है। इसमें कहानीकार ने ऐसे देशभक्त का चित्रण किया है जिसने अपने क्रांतिकारी मित्र को बचाने के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया था। इस नवयुवक का नाम हरसरन दास था। यह परंतप नरश्रेष्ठ किसी प्रेस में एक कम्पोजीटर था अत्यन्त गरीब सीधा और अपढ़। देखने में दुबला-पतला-अभद्र-असभ्य-सा। बातचीत में भीरु जीवन में लापरवाह। दिल्ली की बम फैक्टरी के उद्घाटन का उल्लेख तो भारतीय विप्लव के इतिहास में एक महत्वपूर्ण बात है परंतु इस हुतात्मा को शायद किसी ने जाना भी नहीं। जिसके त्याग उसने भय और प्रलोभनों ही को नहीं बड़ी से बड़ी ईर्ष्या को भी जय कर लिया था।[2] कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी में इसी व्यक्ति के चरित्र को अधिक से अधिक उभारा है। इससे कुछ भिन्न आचार्य चतुरसेन जी की 'पीर नाबालिग' कहानी है। इसमें उन्होंने एक ऐसे नवयुवक का चित्रण किया है जिसने अपना सर्वस्व राजनीतिक आन्दोलनों पर न्योछावर कर दिया किंतु मिला उन्हें कुछ नहीं। उनके साहसिक कार्यों का उत्सर्ग का,

---

१ कम्मवीर कहानी संग्रह, सम्पादिका कमलकिशोरी पृ ११।

२ कम्मवीर, कहानी संग्रह सम्पादिका कमलकिशोरी पृ ८४।

सम्पूर्ण भेद लेकर लोग ही हवा हो गये । 'पीर नाबालिग' एक ऐसा ही तथ्य है जिसे अपनी 'क्रांतिकारिणी' कहानी में आचार्य चतुरसेन जी ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि स्त्रियों पर भी क्रांतिकारी दल का प्रभाव रहा था । ये स्त्रियाँ देश की स्वतंत्रता के लिए एक पंछी की भाँति संलग्न थीं। इस कहानी का कथानक केवल इतना है—एक क्रांतिकारिणी बस के द्वारा पुलिस से बचने के लिए भागना चाहती है । अकस्मात पुलिस बस को घेर लेती है । उस युवती से भी प्रश्न होता है । वह पास ही बैठे वकील साहब की बहन बन जाती है । उसकी मुखमुद्रा देखकर वकील साहब भी थानेदार से उसका परिचय अपनी बहिन के रूप में देते हैं । थानेदार लौट जाते हैं किन्तु दूसरे दिन ही वकील साहब का घर पुलिस घेर लेती है । तब तक वह क्रांतिकारिणी वहाँ से भाग चुकी थी । अंत में वकील साहब के उत्तरों को सुनकर और क्रांतिकारिणी को न पाकर पुलिस निराश होकर लौट जाती है । इस छोटे से कथानक द्वारा कहानीकार ने तत्कालीन क्रांतिकारी दल की सतर्कता की ओर भी संकेत किया है ।

आगे चलकर आचार्य जी का क्रांतिकारियों से मन हट गया था । उनके आतंकवाद को देखकर आचार्य जी को विश्वास हो गया था कि इससे देश का लाभ कभी नहीं हो सकता । देश केवल गांधी के अहिंसा मार्ग पर ही चलकर स्वतंत्र हो सकता है । अपनी 'खूनी' कहानी में उन्होंने यही प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है । जिस समय इस कहानी की रचना हुई थी उस समय गांधी जी के अहिंसावाद का जन्म ही हुआ था और इस कहानी के लेखक ने गांधीवाद पर अपनी अप्रतिम रचना 'सत्याग्रह और असहयोग' रची ही थी जो उन दिनों गीता की भाँति पढ़ी जा रही थी । क्रांतिकारियों के आए दिन आतंकपूर्ण साहसिक कार्य सुन पड़ते थे किसी कलम के धनी का और सरस्वती के पुत्र का यह साहस न था कि उनके आतंकवाद की ओर अंगुली भी उठाए—तभी आचार्य जी ने शुद्ध अहिंसा की राजनीति का एक प्रभावशाली रेखा चित्र इस कहानी में चित्रित किया था ।[1] इस कहानी में कहानीकार ने एक ऐसे व्यक्ति का चित्र खींचा है जिसे अपने दल के नायक की आज्ञा पर अपने एक निर्दोष मित्र की निर्मम हत्या करनी पड़ी थी । हत्या करने के पूर्व दल के कठोर अनुशासन के कारण वह नायक से इस आज्ञा का कारण भी नहीं पूछ सकता था । विवश होकर उस बाल मित्र की हत्या करनी पड़ी । हत्या के पश्चात् उसने नायक से अपने मित्र का अपराध ज्ञात किया । नायक ने उसका

---

१ स्वर्णदीप कहानी संग्रह सम्पादिका कमल किशोरी पृ ४२ ।

अपराध बतलाते हुए कहा 'वह हमारे हत्या संबंधी षड्यंत्रों का विरोधी था। हमें उस पर सरकारी मुखबिर होने का संदेह था।'[1] इस पर उस व्यक्ति का उत्तर दर्शनीय है 'मुझे मेरे बन्धन खोल दो। मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त कर दो। मैं उसी के समुदाय का हूँ। तुम लोगों में नंगी छाती पर तलवार के घाव खाने की मर्दानगी न हो, तो तुम अपने को देशभक्त कहने से इनकार कर दो। तुम्हारी इन कायर हत्याओं को मैं घृणा करता हूँ। मैं हत्यारों का साथी सहायक और मित्र नहीं रह सकता। तुम तेरहवीं कुर्सी को जला दो।'[2] स्पष्ट है कि इस कहानी तक आते आते आचार्य जी का विश्वास हो गया था कि मनुष्य को अपनी प्रजा अहिंसा को सौंप देनी चाहिए।

अपनी प्रतीकात्मक राजनीतिक कहानियों में आचार्य जी ने प्रतीकों एवं संकेतों का आश्रय लिया है। उनकी 'सफेद कौआ' एक उत्कृष्ट व्यंग्यध्वनि की कहानी है। इसमें एक ऐतिहासिक सत्य की व्यंजना बड़े ही सुन्दर व्यंग्य के रूप में कहानीकार ने की है। भारत में अंग्रेजों के आगमन एवं पलायन, अंग्रेजी संस्कृति के भारतीय जीवन में प्रवेश एवं गांधी जी की 'क्विट इण्डिया' के जादू की करामात को व्यंग्यविनोद की भाव भंगिमा में प्रस्तुत कहानी में सांकेतिक ध्वनित किया गया है। इसमें मुगल शासकों को महाराज मूषक के रूप में, अंग्रेजों को सफेद कौए के रूप में, महात्मा गांधी को लंगोटी बाबा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रतीकों की योजना अत्यंत सुन्दर है। विनोद और चमत्कार के साथ साथ प्रस्तुत कहानी में भावोत्कर्ष का भी सुन्दर समन्वय है।

इसी प्रकार की उनकी दूसरी प्रतीकात्मक कहानी है 'लम्बग्रीव'। इसमें कहानीकार ने भारत विभाजन की विभीषिका से लेकर गांधी जी की हत्या तक का चित्र बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। वास्तव में इस कहानी में कलाकार की आहत आत्मा असह्य वेदना से चीत्कार कर रही है। उस चीत्कार से देव दैत्य तक विचलित हो गये हैं। कलाकार जो नित्य ही भूत दया प्राणियों के सुख और जीवन के आनंद के स्वप्न देखता रहता है जब वह महानरमेध का दृष्टा बना तो फिर उसकी वेदना की सीमा क्या होगी? शायद ही विश्व के किसी कलाकार ने भारत की विभाजन विभीषिका पर ऐसा हाहाकार किया होगा। कहानी के टेकनिक का जहाँ तक संबंध है लेखक

१ लम्बग्रीव, कहानी संग्रह, सम्पादिका कमल किशोरी, पृ ४७।

२ लम्बग्रीव, कहानी संग्रह सम्पादिका कमल किशोरी, पृ ४७।

को जातिगत विद्वेष से अछूता रहने में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। कहानी में विशुद्ध मानव प्रेम और भूतदया है। रत्ती भर भी प्रोपेगेण्डा नहीं है व्यंग्य और श्लेष के चमत्कार के तो कहने की क्या है। 'चंद्रकला' कहानी का प्राण है जो शिव का शिरोभूषण और विभाजन के पुरोहित का राष्ट्रचिह्न है।[1] इस कहानी को आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी माना है।[2] इस कहानी में आचार्य जी ने किंचित मात्र पौराणिक पुट भी दिया है। भारत विभाजन को उन्होंने कैलाशी के कोप का सूचक बतलाया है। उत्तुंग हिमकूट पर धूर्जटि क्रोध से फूत्कार कर उठे। उनका हिम धवल दिव्य देह थरथरा गया। अभी अभी उनकी समाधि भंग हुई थी और उसी समय उन्हें प्रतीत हुआ कि उनके जटाजूट से कोई चंद्रकला को चुरा ले गया। वह चंद्रकला लम्बग्रीव की टोपी पर जा बैठी थी। उसने अपने ध्वज का चिह्न भी चंद्रकला ही रखा था। फिर कैलाशी को क्रोध क्यों न आए। अंततः उन्होंने अपना तृतीय नेत्र खोल दिया। भारत विभाजन की विभीषिका में भस्म होने लगा कहानीकार के अनुसार अंत में भगवान् शंकर का क्रोध गांधी का बलिदान लेकर शांत हुआ। गांधी को प्राप्त कर देवाधिदेव मुस्करा उठे आप ही आप उनका तृतीय नेत्र निमीलित हो गया उच्च हिमकूट पर वासंती वायु बहने लगी विविध वर्ण पुष्प खिल गये मकरंद कामी भ्रमर गूंजने लगे कोयल कूकने लगी मलय मारुत का सुख स्पर्श पा कैलाशी आनन्द विभोर हो गए। बादलों को छिन्न भिन्न करती हुई उमा रत्न शृंगार किए आ उपस्थित हुई।

कैलाशी ने धीरे से त्रिशूल नीचे रख दिया। कमण्डल अपने स्थान पर अवस्थित हुआ। शुद्ध शिव-रूप होकर धूर्जटि ने कहा है कालपुरुष तू धन्य है। आ मेरे शीर्षस्थान पर आसीन रह और वहीं से अनंत विश्व पर जब तक भूलोक में काल का आयु दंड है तू ही चंद्र कला के स्थान पर शीतल स्निग्ध-शुभ्र-शिव ज्योत्स्ना की मर्त्य प्राणियों पर वर्षा करता रह।

इन कहानियों को कहानीकार ने पुराण-कथा के रूप में प्रस्तुत किया है जिससे इनकी कलात्मकता एवं व्यंजना शक्ति बढ़ गई है। 'इन कहानियों का मूल धरातल कल्पना और भावुकता है अतएव यह कहानियाँ अपने शिल्प में

१ लम्बग्रीव कहानी संग्रह सम्पादिका कमल किशोरी पृ १।
२ साहित्य सन्देश जनवरी-फरवरी १९५९ पृ १२१।

भावुकतापूर्ण रेखाचित्र और गद्यगीत के समीप आ गई हैं। इनके कथानक में न तो इतिवृत्तात्मकता है न संवेदना की जनकता बल्कि उनमें भावनाओं का उमड़ता हुआ ज्वार है। समस्त कथा एक प्रसंग में ही नहीं केवल एक भाव के ऊपर एक पैर से खड़ी हो जाती है और उसकी व्यंजना एक ही भाव के अनेक चित्रों के माध्यम से स्पष्ट होती है अतः ऐसी कहानियों में सांकेतिकता और व्यंजना ही शैली के दो उपकरण माने जा सकते हैं।[1]

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ

चरित्रांकन से कुछ पृथक हटकर और पात्र की किसी वृत्ति विशेष को पकड़कर उसकी विविध भंगिमाओं के सारे उतार-चढ़ाव को दिखाना ही मनोवैज्ञानिक कहानी का मुख्य लक्ष्य मानना चाहिए। कहानी के अन्य किसी तत्व की ओर न तो ध्यान जाता है और न उसका कोई प्रभाव ही उभड़ पाता है। उनमें केवल मानसिक तर्क-वितर्क और ऊहापोह इस ढंग से किया जाता है कि चरित्र के इतिवृत्तात्मक अंश की ओर चित्त कम आकर्षित होता है और सारा मनोरंजन केन्द्रित हो जाता है मन-स्थिति की विवेचना में। इन कहानियों में एकनिष्ठ होकर जब किसी प्रकार की मनोव्यथा का उद्घाटन कुछ दूर चला जाता है तो एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक वातावरण बन सकता है। इसीलिए वातावरण प्रधान कहानियाँ मनोवैज्ञानिक कहानियों के साथ सफलता से चल सकती हैं और बड़े सुन्दर प्रभाव उत्पन्न करती मिलेंगी।[2]

किंतु जिस प्रकार अभी हम ऐतिहासिक सामाजिक राजनीतिक कहानियों का वर्गीकरण कर आए हैं उस प्रकार हम आचार्य चतुरसेन जी की मनोवैज्ञानिक कहानियों का वर्गीकरण नहीं कर सकते। कारण इनकी अधिकांश कहानियों में मनोविज्ञान पानी में शक्कर सरीखा घुला मिला प्राप्त होता है। मनोवैज्ञानिक पुट के कारण ही इनकी कई कहानियों का कलात्मक सौंदर्य निखरा हुआ दीख पड़ता है। किन्हीं-किन्हीं कहानियों में किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन होता है या सभ्यता के विकास का काल्पनिक चित्रण किया जाता है। कहानी की रोचकता उसके कौतूहल के अतिरिक्त मानव समाज के प्रति सहानुभूति में है। हम मनुष्य हैं और मनुष्य के विचारों आशाओं और अभिलाषाओं उसकी

---

१ हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायणलाल पृ ७६।

२ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ १६२ १६१।

सफलता और विफलताओं के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण रुचि रखते हैं। यही सहानुभूति जो हमारे साहित्य का मूल है कहानी का भी आधार है। मनोवैज्ञानिक सत्य इस सहानुभूति के लिए सामग्री उपस्थित करे उसका पोषण करता है।'[1] इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सत्य से पोषित आचार्य जी की कितनी ही कहानियां प्राप्त होती हैं। उनकी कहानी 'नवाब ननकू' एक भाव कथा है जिसमें चरित्र और आचार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। कहानी में कुल तीन मुख्य पात्र हैं। राजा साहब एक शराबी कबाबी वेश्यागामी लम्पट रईस जिन्होंने इसी काम में अपनी सारी सम्पत्ति फूंक दी और अब दारिद्रय और रोग का भोग भोग रहे हैं। दूसरी है एक विपत्तिग्रस्त यौवन वेश्या और तीसरे हैं एक रईस के औरस से उत्पन्न वेश्या पुत्र जो अपने को नवाब समझते हैं। इस कहानी में तीनों दोस्तों की मुलाकात का रेखा चित्र है। मुलाकात में जीवन के आगे पीछे के समूचे जीवन की स्पष्ट झांकी अंकित करने में लेखक ने अपनी अपरिसीम क्षमा निर्माण कला का परिचय दिया है। इससे भी अधिक अपनी उस विश्लेषण सामर्थ्य को मूर्त किया है जब कि वह चरित्र को आचार से पृथक मानता है। तीनों ही पात्र हीन चरित्र हैं। परन्तु उनके हृदय की विशालता विचारों की महत्ता भावों की पवित्रता ऐसी व्यक्त हुई है कि बड़े से बड़ा सदाचारी भी उसकी समता नहीं कर सकता। पूर्ण कहानी पढ़कर तीनों में से किसी भी पात्र के प्रति मन में विराग और घृणा नहीं होती आत्मीयता और सहानुभूति के भाव पैदा होते हैं। आचारहीन व्यक्ति भी उच्च चरित्रवाले होते हैं। तथा आचार और चरित्र में मौलिक अन्तर क्या है यह गम्भीर मनोवैज्ञानिक और आचारशास्त्र सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण कहानीकार ने इस कहानी में व्यक्त किया है।

अपनी राजनीतिक कहानियों में भी उन्होंने मनोविज्ञान का पुट दिया है। 'जीवन्मृत' खूनी भाग्निकारिणी वारंट मुखबिर आदि कहानियां उच्चकम मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं। इन कहानियों में एक ओर कर्मठ क्रान्तिकारियों के अन्तस का उद्घाटन किया गया है तो दूसरी ओर ऐसे नेताओं के मनोभावों को उभारा गया है जो बुजदिल निठुर और धन के लोलुप हैं। इसी प्रकार 'खूनी' में खूनी का 'जीवन्मृत' में जीवन्त, उसकी पत्नी एवं पिता का, 'वारंट' में सम्पादक महोदय 'भाग्निकारिणी' में वकील साहब एवं

---

१ साहित्य संदेश कहानी अंक जनवरी-फरवरी १९५१, पृ २९०-२९१।

मिमेज भगवती चरण का, 'मुगलिर म हरसरन' का मनोविश्लेषण अत्यन्त सुन्दर ढग से हुआ है।

आचार्य जी ने अपनी कुछ कहानियों में सेडिस्म एवं मैसोकिस्म का भी प्रयोग किया है। सडिस्म को परपीड़क कहते हैं इसमें किसी व्यक्ति को दूसरे को पीड़ा देकर आनन्द की उपलब्धि होती है और मैसाकिस्म को स्वपीड़क कहते हैं इसमें दूसरों से पीड़ित होने में आनन्द प्राप्त होता है। अपने को कष्ट देकर भी इसमें आनन्द प्राप्त किया जाता है। भूख हड़ताल सत्याग्रह सिटडाउन स्ट्राइक करनेवालों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। यह लोग स्वयं पीड़ा उठाकर पीड़क को रास्ते पर लाना चाहते हैं।[1] आचार्य जी की 'मूल्य' एवं 'ठकुरानी कहानियों में स्वपीड़क वाली भावना ही प्राप्त होती है।

आचार्य जी की सामाजिक, राजनीतिक एव मनोवैज्ञानिक कहानियों क कथानक निर्माण की विविध प्रणालियाँ

अपनी ऐतिहासिक कहानियों के कथानकों के समान ही आचार्य जी ने अपनी सामाजिक राजनीतिक एव मनोवैज्ञानिक कहानियों के कथानकों के निर्माण में कुछ विशिष्ट विधियों का प्रयोग किया है उनमें से कुछ निम्न हैं—

१ कहानी के कथानक का प्रारम्भ सरल और शान्त विधि से होता है। कहानी के मध्य में अकस्मात् एक घटना घटित होती है। जिससे कथानक दो सूत्री होकर अग्रसर होने लगता है। ये दोनों ही सूत्र परस्पर संघर्ष करते हुए विकसित होते हैं किंतु अन्त में ये विरोधी सूत्र संयुक्त होकर अपनी पूर्व स्थिति में पुन आ जाते हैं जैसे मास्टर साहब मूल्य आदि।

२ कथानक का प्रारम्भ किसी समस्या को लेकर होता है। कथा के कुछ अग्रसर होते ही उसमें संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। कथानक दो सूत्रात्मक हो जाती है। कथानक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसका एक सूत्र शक्तिहीन होकर दूसरे से आ मिलता है। जैसे ठकुरानी पुरुस्त्व आदि।

३ कथा सूत्र का जन्म किसी छोटी-सी घटना को लेकर होता है और उसका विकास तथा चरम परिणति भी अन्ततोगत्वा उसी घटना पर आधारित रहते हैं जैसे तिकड़म डाक्टर साहब की घड़ी वर्मा रोड आदि कहानियों के कथानक।

---

१ आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, डा० देवराज उपाध्याय पृ १०१।

४ कहानी का प्रारम्भ किसी ऐसे सूत्र से होता है जो आदि से अन्त तक एक सा बना रहता है। 'इसमें न किसी सहायक शक्ति की आवश्यकता है न किसी विरोधी शक्ति की प्रतिक्रिया वरन् यह सूत्र स्वतः स्वाभाविक गति से आगे बढ़ता है और विविध मनोभावों अन्यान्य कार्य व्यापारों के बीच से आगे बढ़ता है लेकिन सबमें एक समता और शृंखला रहती है और अन्त में मह कथानक उसी स्वाभाविक दृष्टि में एक हो जाता है लगता है जैसे इस कथानक निर्माण में चरम सीमा की कोई व्यवस्था नहीं है न कोई व्यवस्था है न उसकी कोई अपेक्षा ही है।'[1] जैसे नवाब ननकू सुलतान पीरनाबालिग बाहर भीतर आदि कहानियों के कथानक।

५ आत्मकथात्मक कहानियों का निर्माण दो प्रकार से हुआ है। प्रथम कथानक का प्रारम्भ किसी व्यक्ति के आत्म कथात्मक कथा वर्णन से होता है और यही एक व्यक्ति सम्पूर्ण कथा पर छाया रहता है। इनमें कथा प्रायः एक ही पात्र के मुख से कहलाई गई है। जैसे पीरनाबालिग कहानी खत्म हो गई, सूनी भ्रान्तिकारिणी आदि कहानियों के कथानक। दूसरे प्रकार की कहानियों का आरम्भ भी किसी व्यक्ति के आत्म कथात्मक कथा वर्णन से ही हुआ है किन्तु इस प्रकार की कहानियों में आदि से अन्त तक एक ही पात्र अपनी कथा नहीं कहता वरन् इनमें कई पात्र एक-एक कर अपनी-अपनी कथा कहते गए हैं। यह सभी परस्पर भिन्न प्रतीत होती हुई कथाएँ एक सूत्र द्वारा आबद्ध होती हैं जिससे कथानक पूर्ण सुसंगठित शृंखलाबद्ध एवं स्वाभाविक रहता है। जैसे जीवन्मृत पतिता आदि कहानियों के कथानक। इन दोनों ही प्रकार की कहानियों के कथानक अत्यन्त स्वाभाविक गति से बिना कथानक में किसी प्रकार की कलात्मक संश्लिष्टता उत्पन्न किये चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं।

६ आचार्य जी ने अपनी कुछ कहानियों का आरम्भ किन्हीं महान् साहित्यकारों के एक दो वाक्यों को लेकर किया है। जैसे 'नहीं' युगानुयुगीय आदि कहानियों का आरम्भ।

७ आचार्य जी ने अपनी कुछ कहानियों का निर्माण भावनाओं के द्वारा किया है। इनमें घटनाओं की न्यूनता है। संयोग और आकस्मिकता के आधार पर भी इन कहानियों का निर्माण नहीं हुआ है। वास्तव में इन कहानियों के कथानक कथात्मक न होकर भावात्मक एवं प्रतीकात्मक हैं। ऐसे कथानकों

१ हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास डा० लक्ष्मीनारायणलाल, पृ १५२ १५५।

के उदाहरण में हम 'नगर वधू' 'सम्पदीय' आदि कहानियों के कथानकों को रख सकते हैं। अतः इस प्रकार की कहानियों के निर्माण में आचार्य जी ने एक नवीन कथानक तत्व की सहायता ली है। इसमें कथात्मकता नाटकीयता एवं व्यंजना तीनों का ही समन्वय प्राप्त होता है।

आचार्य जी की कहानियों में चरित्र चित्रण

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों की भाँति उनकी कहानियों में पात्रों का चरित्र चित्रण विस्तार से प्राप्त नहीं होता। कहानी में रचना विस्तार की सर्वाधिक परिमिति दिखाई पड़ती है। इस तथ्य का प्रभाव चरित्र और उसके विकास क्रम पर भी पड़ता है।[१] इस स्थान संकोच के कारण ही कुछ विद्वानों का मत है कि वास्तव में कहानियों का काम चरित्र चित्रण है भी नहीं[२] डा० श्रीकृष्णलाल ने भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कहानी में उपन्यास की भाँति किसी चरित्र का अनेक कार्यों और प्रसंगों के बीच यथाविधि विस्तृत चित्रण सम्भव ही नहीं है, इसीलिये कहानी का केन्द्रबिन्दु चरित्र चित्रण नहीं हो सकता।[३] किन्तु वास्तव में सत्य यह है कि कहानी का केन्द्र बिन्दु चरित्र चित्रण भले ही न हो परन्तु उसका कहानी में महत्वपूर्ण स्थान तो है ही। आचार्य जी ने अपनी कहानियों में इस बात का ध्यान रखा है। उनकी कहानियों के पात्रों को भी उनके उपन्यासों की भाँति कई वर्गों में रखा जा सकता है। यहाँ हम उनकी कहानियों के पात्रों के वर्गीकरण में न जाकर केवल कहानियों में प्राप्त चरित्र चित्रण कला की प्रमुख विशेषताओं पर विचार करेंगे।

आचार्य जी की कहानियों की चरित्र चित्रण सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ—

आचार्य जी के उपन्यासों की भाँति उनकी कहानियों में भी कुछ विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।

आचार्य जी की कहानियों के चरित्रों की सर्व प्रमुख विशेषता है कि वे घटनाओं के अनुरूप ही चित्रित हुए हैं। उनकी कहानियों के पात्रों का व्यक्तित्व उनके उपन्यासों के पात्रों के व्यक्तित्व की भाँति पूर्ण एवं विकसित हुआ भले ही न हो किन्तु जितना भी वह चित्रित हुआ है पूर्ण स्वाभाविक एवं सजीव है।

---

१ कहानी का रचना विधान डा० शर्मा पृ २१।

२ कहानी में चरित्र चित्रण निबन्ध डा० देवराज उपाध्याय कहानी मासिक वर्ष १ अंक १ अक्तूबर ५०।

३ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास डा० श्री कृष्णलाल पृ १२८।

उदाहरण के लिए हम उनकी 'क्रान्तिकारिणी' 'मुखबिर' 'खूनी' 'पतिता' 'विधवाश्रम' 'पत्थर में अंकुर' 'प्रतिशोध' 'कन्यादान' 'अभाव' 'सत्पथ' 'हेर फेर' बहिन। 'तुम कहाँ' 'मैं तुम्हारी आँखों को नहीं तुम्हें चाहता हूँ' 'नवाब ननकू' 'जन्मपालिका' भिक्षुराज' आदि कहानियों के चरित्रों को ले सकते हैं।

आचार्य जी ने अपने उपन्यासों की भाँति अपनी कहानियों के पात्रों के व्यक्तित्व के विकास में भी मनोविज्ञान का पूर्ण आश्रय लिया है। अपनी कुछ कहानियों में समाज सापेक्ष्य व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं को उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ उभारा है। उन्होंने अपने उपन्यासों की भाँति अपनी कहानियों में भी व्यावहारिक मनोविज्ञान का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। किन्तु वहाँ भी वे मनोवैज्ञानिक कहानीकारों की भाँति पात्रों का मनोविश्लेषण करने नहीं बैठे हैं वरन् अपने उपन्यासों की भाँति यहाँ भी उन्होंने मनुष्य के भीतर के भावों को बड़ी कुशलता से उरेहा है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'बाहर भीतर' 'धरती और आसमान' 'खूनी' जीवन्मृत मुखबिर' 'सुलतान' आदि कहानियों में आचार्य जी पात्रों के बाह्य चित्रण में जितने सफल रहे हैं उतने मानसिक चित्रण में नहीं। इन कहानियों में चरित्रों के भीतर पैठकर उनके मनोराज्य के ऊहापोह का विचारों के संघर्ष का चित्रण करने की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। इन कहानियों के चरित्र भी उनके प्रारम्भिक उपन्यासों की भाँति प्राय व्यक्तिगत विशेषताओं की अपेक्षा वर्गगत विशेषताओं के अधिक समीप हैं। उदाहरण के लिए हम उनकी विधवाश्रम' 'पतिता 'पानवाली' 'घोड़ी का मोल तोल' आदि कहानियों को ले सकते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी ऐतिहासिक कहानियों के चरित्रों का निर्माण अधिकांशत कल्पना अनुभूति और आदर्श के तादात्म्य से किया है जिससे उनके ये चरित्र एक ओर आदर्श की भावभूमि को स्पर्श करते हुए दीख पड़ते हैं तो दूसरी ओर यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि आदि से अंत तक उनके यह चरित्र रोमांटिक हो उठे हैं। अपनी 'दुखवा मैं कासे कहूँ' 'कालारम्भ' 'आदर्शिम' आदि कहानियों में आचार्य जी ने ऐसे ही चरित्रों की सृष्टि की है।

आचार्य जी ने अपनी कहानियों के पात्रों का चरित्र चित्रण में अपने उपन्यासों की भाँति ही चरित्र चित्रण की दोनों ही शैलियों प्रत्यक्ष एवं परोक्ष का आश्रय लिया है। जिन कहानियों में उन्होंने चरित्रों के भावजगत को उभा

रखा गया है जहाँ उन्होंने पात्रों के अंतर्द्वन्द्व को निखारकर, उनके चरित्र को स्पष्ट किया है।

आचार्य जी की अधिकांश ऐतिहासिक कहानियों के पात्र आचरण प्रधान हैं जबकि उनकी सामाजिक कहानियों के अधिकांश पात्र चरित्र प्रधान हैं। उनकी एतिहासिक कहानियों को पढ़ने से हमारे समस्त पात्रों के आचरण का इतिहास और उसकी व्यवस्था ही आती है पात्रों के चरित्र का विश्लेषण इन कहानियों में कम ही प्राप्त होता है। 'अम्बपालिका' कहानी के अध्ययन के पश्चात् हमारे सम्मुख अम्बपाली में आचरण का ब्यौरा ही कुछ समय के लिए आ पाता है यहाँ उसमें चरित्र का आंतरिक पक्ष उभरा हुआ नहीं है। जबकि उनके उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' में उसके चरित्र के बाह्य और आंतरिक दोनों ही पक्ष पूर्णरूप से उभरे हुए मिलते हैं। उन्होंने अपनी इन कहानियों को पात्रों के आचरण के माध्यम से ही आगे बढ़ाया है। जिससे इन पात्रों के चरित्र बाह्य जगत में अधिक स्पष्ट और अधिक मनोरंजक हैं। अपनी श्रेष्ठ सामाजिक कहानियों में मनोजगत के चित्रण के माध्यम से ही उन्होंने कथा को अग्रसर किया है। उदाहरण के लिए उनकी 'धरती और आसमान' 'सुखदान' 'बाहर भीतर' 'नहीं' आदि कहानियों को ले सकते हैं।

आचार्य जी की कहानियों के पात्रों के मूल प्रेरणा स्रोत—

आचार्य जी के उपन्यासों की भाँति उनकी कहानियों के पात्र भी उनके अपने अनुभव की ही देन हैं। अपनी कहानियों के कुछ पात्रों के मूल प्रेरणा स्रोतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है 'कभी-कभी अत्यन्त साधारण सी बात पर उत्कृष्ट कहानी तैयार हो जाती है। नवाब ननकू मेरी उत्कृष्ट कहानी है परंतु उसकी मूल छाया मुझे एक मोटर ड्राइवर से मिली जब उसका मेरा कुछ घंटों का साथ हुआ था। तिकड़म ठाकुर साहब की बड़ी प्राइवेट सेक्रेटरी और मरम्मत अकस्मात एक जरा सा सूत्र मिलते ही एक ही सिटिंग में लिखी गई हैं। एक दो कहानियाँ कुछ चित्रों को देखकर ही एकाएक प्रेरणा पाकर लिखी गई हैं। 'पानवाली' और 'वे सुधा की राह पर' ऐसी ही कहानियाँ हैं।'[1] 'दुखवा मैं कासे कहूँ' नामक कहानी के पात्रों के निर्माण की प्रेरणा भी उन्हें इसी प्रकार की एक घटना से प्राप्त हुई थी जिसका कि उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

---

१ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ १५ १६।

आचार्य जी की कहानियों के कथोपकथन

हम पीछे आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों के कथोपकथनों की चर्चा करते समय कथोपकथन की परिभाषा उसके उद्देश्य एवं महत्व आदि पर प्रकाश डाल चुके हैं। अतः यहाँ हम संक्षिप्त रूप से आचार्य जी की कहानियों के संवादों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कहानी के संवाद मूल धर्म में किंचित मात्र उपन्यास के संवादों से भिन्न होते हैं। 'कथा साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास में इसका स्वच्छंद अनियंत्रित और अपरिमित विहार मिलता है परंतु कहानी में इसका लघु प्रसारी वैदग्ध्यपूर्ण, आकर्षक और चमत्कारी प्रयोग ही इष्ट होता है।'[1]

आचार्य जी ने अपनी कहानियों में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि उनके कथोपकथन क्षिप्र और गतिशील हों। कई कहानियों का आरंभ ही उन्होंने संवादों से किया है। इस प्रकार के आरम्भ से पाठकों का ध्यान कथा की ओर उसी प्रकार केंद्रित हो जाता है जैसे रंगमंच पर होने वाले किसी अभिनय की ओर। इस प्रकार के संवाद हम आचार्य जी की 'बावबू' 'नहीं' आदि कहानियों में देख सकते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने प्रयोग के लिए कुछ ऐसी कहानियों की रचना की है जिनमें संवादों का सर्वथा अभाव है। उदाहरण के लिए हम उनकी कहानी 'धरती और आसमान' को ले सकते हैं। किंतु यह केवल एक प्रयोग मात्र है। वैसे उनकी अधिकांश कहानियों में संवादों की बहुलता ही प्राप्त होती है।

आचार्य जी के उपन्यासों की भांति ही उनकी कहानियों में भी कथानक को गति प्रदान करने वाले पात्रों के चरित्र को उभारने वाले कथाकार के उद्देश्य को स्पष्ट करने वाले वातावरण सृष्टि करने वाले संक्षिप्त सार्थक स्वाभाविक एवं शृंखलाबद्ध कथोपकथन प्राप्त होते हैं। उनके उपन्यासों के कथोपकथनों का विश्लेषण करते समय हम इन सब प्रकारों पर विस्तार से विचार कर चुके हैं। जिस प्रकार से विभिन्न प्रकार के कथोपकथनों का प्रयोग आचार्य जी ने अपने उपन्यासों में किया है उसी प्रकार से अपनी कहानियों में भी। यहाँ हम संक्षेप में उनकी कहानियों में प्राप्त कथानक को गति प्रदान करने वाले पात्रों के चरित्र को उभारने वाले कथाकार के उद्देश्य

---

१ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ० १२२।

को स्पष्ट करने वाले एवं वातावरण सृष्टि करने वाले संवादों पर विचार प्रस्तुत करते हैं।

कथानक को गति प्रदान करने वाले—

जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं कि कथानक को गति प्रदान करने के लिए कथा में कथोपकथनों का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन का कथा सूत्र से प्रत्यक्ष संबंध हो अन्यथा कथानक की शृंखला नष्ट हो जायेगी एवं कथा बिखर जायगी। आचार्य जी ने अपने उपन्यासों की भाँति ही अपनी कहानियों के कथोपकथनों में भी इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि वे अनियंत्रित एवं अनावश्यक न हों। यहाँ हम अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए आचार्य जी की कहानी 'मास्टर साहेब' के एक कथोपकथन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

सरल हृदय एवं सरल स्वभाव मास्टर साहब की पत्नी भामा कुसंग में पड़कर पति और पुत्र को त्यागकर चल देती है। अपने पति को त्यागने के लिए उसे महिला संघ की महिलायें उत्तेजित करती हैं किंतु जब वह पति को त्यागकर संघ के आश्रय में आ जाती है तो उसे साधारण कर्मचारी भी हीन दृष्टि से देखने लगते हैं। एक साधारण कर्मचारी से भामा का वार्तालाप सुनिए—

'सुना तुमने वह खूसट आया था दफ्तर में।

'कौन।

'अरे वही खामखयाली मास्टर, तुम्हारा पति।

'लेकिन तू तमीज से बातें कर।

'देखूँ तुमसे ? क्या तुम मेरी अफसर हो ?

'तो तूने समझा क्या है ?

'तुम बीस पाती हो मैं भी बीस पाता हूँ। तुमसे कम नहीं।

'तो इसी से तू मेरी बराबरी करेगा ?

'कम इतना काम कर दिया सारा सामान बाजार से ढोकर लाया और अब तू-तू करके बातें करती हो ? ऐसी ही साहबानी थीं तो बीस रुपल्ली पर नौकरी करने और इस कोठरी में दिन काटने क्यों आई थीं ?

'देख हरिया ज्यादा बदतमीजी करेगा तो अच्छा नहीं होगा।

'क्या मारोगी ? मारोगी ?

'मैं कहती हूँ तू अपनी हैसियत में रह।'

'और तुम भी अपनी हैसियत में रहो। बहुत सहा कल मैं मेम साहब से साफ कह दूंगा कि जिस तिस की गुलामी करना मेरा काम नहीं है। ऐसी तीन सौ साठ नौकरी मिल सकती है। कुछ तुम्हारी तरह घर छोड़ कर भगोड़ा नहीं हूं। इज्जत रखता हूं।'[1]

प्रस्तुत कथोपकथन से स्पष्ट हो जाता है कि कथा पुन एक करवट लेने वाली है। मामा को वास्तविक जीवन का ज्ञान हो गया है इस धक्के के पश्चात् ही वह अपने पति के समीप जाने का निश्चय करती है।

यह तो मैंने केवल एक छोटा सा उदाहरण प्रस्तुत किया। इस प्रकार के कितने ही उदाहरण आचार्य जी की कहानियों में प्राप्त होते हैं। 'प्रबुद्ध' कहानी का सिद्धार्थ-श्रमण संवाद[2] 'दुखवा मैं कासे कहूं' नामक कहानी के साकी-बादशाह संवाद[3] सकीना-बादशाह संवाद[4] आदि कितने ही इस प्रकार के उत्कृष्ट संवाद आचार्य जी की कहानियों में प्राप्त होते हैं।

चरित्र प्रकाशक संवाद—

आचार्य जी ने अपनी कहानियों में भी अपने उपन्यासों की भांति संवादों द्वारा पात्रों के चरित्र का विश्लेषण किया है। जैसा कि हम उपन्यासों के कथोपकथनों का विवेचन करते समय प्रथम ही कह चुके हैं कि कथोपकथन का सीधा सम्बन्ध पात्रों से ही है। कथोपकथन के अभाव में न पात्रों के व्यक्तित्व की रेखाएं उभर सकेंगी और न ही उनके चरित्र का ही विश्लेषण सम्भव हो सकेगा। अत कथाकार अपने पात्रों के मनोभावों एवं कार्यों की सूचना कथोपकथनों द्वारा ही देता है। आचार्य जी ने अपनी कहानियों में खुलकर इस प्रकार के संवादों का उपयोग किया है। आचार्य जी ने इस प्रकार के संवादों का प्रयोग करते समय इस बात का सदैव ध्यान रखा है कि पात्र की बातचीत करने की पद्धति द्वारा भी उसके व्यक्तित्व का प्रस्फुटन हो सके। वाक्यों में उनके उतार चढ़ाव में उनके विभिन्न अंशों पर पड़नेवाले स्वराघातों में अथवा व्यक्तित्व विधायक आवृत्तियों के अनुरूप पदावली के प्रयोग में बोलने वाले का एक अपनापन रहता है। उसकी बातचीत के ढंग में अपना एक स्वतंत्र निरालापन

---

१ नवाब ननकू संग्रह, आचार्य चतुरसेन शास्त्र साहेब पृ ९०।
२ मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन पृ ४०-४१।
३ मेरी प्रिय कहानियाँ, आचार्य चतुरसेन, पृ ७१ और ७६।
४ मेरी प्रिय कहानियाँ, आचार्य चतुरसेन पृ ७५।

ऐसा स्पष्ट दिखलाई पड़े कि उस व्यक्ति की अपनी इकाई को स्पष्ट कर दे। एक ही पात्र भिन्न भिन्न स्थितियों में पड़ने के कारण अथवा विभिन्न सांस्कृतिक और सामाजिक भूमिकाओं पर स्थापित रहने के कारण तदनुरूप रंग ढंग से ही अपने विचार और भाव प्रकट करता है। परिस्थिति और आन्तरिक भावों के अनुरूप उसकी वाणी का उतार चढ़ाव बिल्कुल बदल सकता है। लेकिन इन सम्पूर्ण परिवर्तनों में परिवर्तनशीलता रहते हुए भी उसकी संवादात्मक पद्धति एक विशेष प्रकार की बनी ही रहकर उसके व्यक्तित्व को उभाड़े रहे ऐसे क्रम का निर्वाह करना चाहिए।[1] आचार्य जी ने अपनी कहानियों के चरित्र प्रकाशक संवादों में इस बात का सर्वत्र ध्यान रखा है। उदाहरण के लिए हम उनकी कहानी 'टार्च लाइट' के विनय और बालिका के संवादों को ले सकते हैं।[2] बालिका दो भिन्न परिस्थितियों में दो प्रकार से बोली है किन्तु दोनों भिन्न-भिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न पद्धति के संवाद करते हुए भी वह अपने वैचित्र्य को बनाए रखती है। प्रथम संवाद में आन्तरिक प्रेम हृदय का आह्लाद और काम बुभुक्षा व्यंजित होती है तो दूसरे में उसकी आन्तरिक वेदना एवं विनति प्रकट होती है। इसी प्रकार के चरित्र प्रकाशक संवाद उनकी कितनी ही कहानियों में प्राप्त होते हैं। 'नवाब ननकू' 'मुख्तार' 'बाहर भीतर' 'बौधमूत' 'मुहब्बत' आदि कहानियों में क्रमशः नवाब ननकू सुषमा और विद्यानाथ[3] उषा और उसके पति[4] राजा साहब और बौधमूत[5] मुहब्बत डाक्टर और राजासाहब[6] आदि के संवाद बहुत कुछ इसी प्रकार के हैं।

इसी प्रकार आचार्य जी ने अपनी कहानियों में संवादों के माध्यम से वातावरण की सृष्टि भी की है। उन्होंने अपने उपन्यासों की भाँति कहानियों में भी सुदूर अतीत के कथानकों में तत्कालीन समाज और व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली पदावली के व्यवहार से काल की दूरी को उभारा है। उनकी ऐतिहासिक कहानियों में विशेष रूप से यह गुण देखा जा सकता है। 'अम्बपालिका' 'प्रबुद्ध'

---

१ कहानी का रचना विधान, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ १२६।

२ मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन पृ १७४ १७७ तथा १७७-१७८।

३ मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन, पृ १६८ १७१।

४ मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन पृ १८६ १८८।

५ मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन पृ २१२ २१३।

६. मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन पृ २२१-२२२ तथा २२६ २७ २६१-२६१।

'भिक्षुराज' 'भाट का भवन', 'सात की आग' 'कुम्भा की तलवार' 'बावर्चिन' 'कासारब' 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' आदि कहानियों में संवाद-पद्धति से ही कथा-काल का परिज्ञान हो जाता है। ,

इसके अतिरिक्त आचार्य जी की कहानियों में लगभग सभी प्रकार के कथोपकथन प्राप्त हो जाते है उनकी रजवाड़ों से सम्बन्धित कहानियों के संवाद एक विशेष वर्ग से सम्बन्धित ज्ञात होते हैं। 'मुहब्बत' राजा साहब की कुतिया' 'राजा साहब की पतलून' आदि कहानियों के संवादों को हम वर्ग मत कह सकते है। इनमें राजा रईसों की सनक फिजूलखर्ची और हिमाकत का अच्छा दिग्दर्शन किया गया है। राजाओं की जातीय विशेषताएँ उनके प्रत्येक शब्दों से स्पष्ट होती हैं। कुछ बौद्धिक संवादों का आचार्य जी ने अपनी कहानियों में प्रयोग न्यून ही किया है किन्तु फिर भी उनकी 'नहीं' 'युगलांगुलीय' आदि कहानियों के कुछ संवाद बौद्धिक है, किन्तु बौद्धिक होते हुए भी इनमें नीरसता नहीं आने पाई है।

आचार्य जी ने अपनी कई कहानियों में काव्यात्मक एवं भावात्मक संवादों का भी प्रयोग किया है। वैसे भावात्मक संवादों के सम्राट तो 'प्रसाद' जी थे किन्तु आचार्य जी ने भी अपनी कुछ कहानियो मे इस प्रकार के संवादों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'प्यार' 'कम्बख्त' 'कासारब' आदि कहानियों के संवादों को ले सकते हैं। इन कहानियों के संवादों में आलंकारिक प्रस्तुत विधान उक्ति वैचित्र्य एवं विदग्धता की सारी सजावट ऐसे कौशलपूर्ण ढंग से सामने प्रस्तुत की गई है कि प्रसंग का सम्पूर्ण चित्र साकार सा हो उठा है। किन्तु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है कि इस प्रकार के संवाद आचार्य जी की कहानियों में न्यून ही हैं। वास्तव में उन्होंने वातावरण को सजीव करने के उद्देश्य से ही काव्यात्मक अथवा अलंकृत संवादों का प्रयोग किया है व्यर्थ नहीं। अन्त में हम संक्षिप्त रूप से आचार्य जी की कहानियों के संवादों की विशेषताओं पर विचार करते हुए देखने का प्रयत्न करेंगे कि उनके कथोपकथनों में अन्य कहानीकारों से क्या भिन्नता और क्या साम्य है तथा उनकी कथोपकथन सम्बन्धी अपनी मौलिक विशेषता क्या है ?

आचार्य जी की कहानियों के संवाद रोचक संक्षिप्त एवं गठे हुए हैं। वे अधिकतर कथा के अंग बनकर ही आए हैं। कथा पर भारवत् बन कर नहीं। जैसा हम पीछे लिख चुके है उन्होने अपनी कई कहानियों का प्रारम्भ ही संवादों द्वारा किया है। उन्होंने अपने उपन्यासों की भाँति अपनी कहानियों के

संवादों में भी इस बात का ध्यान रखा है कि वे वक्ता के विचार एवं बुद्धि के अनुसार लम्बे अथवा संक्षिप्त हों। किन्तु उनकी कुछ प्रारम्भिक कहानियों के संवाद शिथिल एवं अस्वाभाविक भी हैं जैसे 'आदर्श बालक' 'वीर बालक' 'राजपूत बच्चे' मुगल बादशाहों की अनोखी बातें आदि कहानी संग्रहों की कहानियों के संवाद।

आचार्य जी के संवादों की सर्वप्रमुख विशेषता है उनका परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुरूप होना। उनकी कहानियाँ विविध कालों एवं विविध विषयों से संबंधित हैं। जिस काल के कथानक को उन्होंने लिया है उसके संवाद भी उस काल के वातावरण को सजीव करने वाले हैं। उदाहरण के लिए हम उनकी बौद्धकालीन और मुगलकालीन कहानियों को ले सकते हैं। 'श्रेष्ठ चत्वर' प्रतिहार, तोरण परम भट्टारक परिच्छद अमात्यवर्ग श्रीपाद पद्म उपचर्या उत्तरीय उष्णीष अमात्यवर, भाण्ड आयुष्मान् (बौद्धकालीन कहानियों में) जहाँपनाह हुजूर, अर्ज कमीज फाहशा इस्तकबाल वहे किस्मत रुखसित बामदब ताकीद (मुगलकालीन कहानियों में) आदि शब्द कथोपकथनों में लाकर कथाकार ने वातावरण का निर्माण किया है। किन्तु कहानियों में संवादों द्वारा वातावरण निर्माण में उतने सफल नहीं हैं जितने उपन्यासों में। किन्तु यह बात निःसंकोच स्वीकार करनी पड़ेगी कि आचार्य जी के संवादों में जितनी विविधता प्राप्त है उतनी हिंदी साहित्य के किसी भी कहानीकार के संवादों में नहीं प्राप्त होती। प्रेमचंद की सामाजिक राजनीतिक कहानियों के संवादों में अधिक सफल हैं, 'प्रसाद' की ऐतिहासिक एवं भावात्मक कहानियों के संवाद अपने में अद्वितीय हैं जैनेन्द्र की कहानियों के संवाद संकेतात्मकता लिए हुए हैं किन्तु आचार्य जी के संवाद इन सभी विशेषताओं से पूर्ण हैं। एक बात और भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि आचार्य जी की ऐतिहासिक कहानियों के संवादों में वैसी वातावरण निर्माण की शक्ति नहीं है जैसी 'प्रसाद' की ऐतिहासिक कहानियों के संवादों में न उनकी सामाजिक कहानियों के संवाद वैसा पैनापन लिए हुए हैं जैसा कि प्रेमचंद की कहानियों के संवाद। हाँ आचार्य जी की प्रतीकवादी कहानियों के संवाद अपने ढंग के निराले हैं। उदाहरण के लिए हम 'कम्बग्रीव' और 'सफेद कौआ' नामक कहानियों के संवादों को ले सकते हैं इनमें जो चुभन ., त्वरा और प्रवाह है वह आज की प्रयोगवादी कहानियों में कहाँ ?

आचार्य जी ने एक-दो स्थानों पर अपनी कहानियों के संवादों द्वारा दर्शन के गहन विषयों का भी प्रतिपादन किया है। किन्तु ऐसे अवसरों पर

उन्होंने यह ध्यान रखा है कि संवाद बुस्त न होने पाये। उदाहरण के लिए हम उनकी 'प्रबुद्ध' कहानी के यमल सिद्धार्थ संवाद[1] एवं सिद्धार्थ सम्राट् संवाद[2] को ले सकते हैं।

आचार्य जी के संवादों की एक और विशेषता उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी कहानियों के संवादों के साथ-साथ प्रसंगानुकूल पात्रों की मुद्राओं और भाव भंगिमाओं का भी यथातथ्य चित्रण किया है। कभी-कभी कहानीकार ने पात्रों की मुद्राओं और भाव भंगिमाओं के साथ-साथ कार्य व्यापारों एवं घटनाओं का उल्लेख भी पात्रों के संवादों के साथ-साथ किया है। ऐसे संवाद आचार्य जी की प्रौढ़ और कलात्मक कहानियों में प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए हम 'सुखदान' कहानी के शिवनाथ और सुषमा संवाद[3] राजासाहब ननकू और राजेश्वरी संवाद नवाब ननकू आदि को ले सकते हैं।

आचार्य जी की प्रौढ़ कहानियों के कथोपकथनों की एक विशेषता और है। उनमें एक कथोपकथन से दूसरा कथोपकथन अनायास ही निकल आता है। ऐसे कथोपकथनों में प्रथम कथोपकथन का अन्तिम वाक्य दूसरे कथोपकथन की पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

आचार्य जी की कुछ प्रारम्भिक कहानियों के संवादों में नाटकीयता अधिक आ गई है। उन्होंने नाटक की भाँति कहानियों में भी 'लज्जित सी होकर (जरा मुस्कराकर)'[4] 'तलवार का प्रहार,'[5] 'कान में'[6] आदि निर्देशों का प्रयोग किया है। जिससे इन कहानियों की कलात्मक महत्ता न्यून पड़ गई है कारण कहानी पठन-पाठन की वस्तु है अभिनय की नहीं। उनकी 'वामवधू' नामक कहानी इन्हीं निर्देशों के कारण ही कहानी से अधिक एकांकी के समीप पहुँची हुई प्रतीत होती है।

वास्तव में सत्य यह है कि आचार्य जी की कहानियों में कथोपकथन की य समस्त रूप और शैलियाँ प्राप्त होती हैं। कहीं उन्होंने छोटे-छोटे और

---

१ मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन 'प्रबुद्ध', पृ ४०।
२ मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन 'प्रबुद्ध', पृ ४४।
३ नवाब ननकू कहानी संग्रह आचार्य चतुरसेन पृ २४-२५।
४ मेरी प्रिय कहानियाँ अम्बपालिका पृ ९२।
५ मेरी प्रिय कहानियाँ वामवधू, पृ ११५।
६ मेरी प्रिय कहानियाँ वामवधू, पृ ११७।

ऐसे सवादों का प्रयोग किया है तो कहीं मार्मिकतम विचार एवं कार्य व्यापारों क संकेतों से पूर्ण सवादों का आश्रय लिया है तो कहीं विनोद व्यग से पूर्ण सरल एव स्वाभाविक सवाद प्रयुक्त हुए हैं।

अन्त में हम कह सकते हैं कि अपनी कहानियों में संवाद सौन्दर्य का निर्वाह करने में आचार्य जी एक सीमा तक सफल रहे हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में अधिकतर उन्हीं सवादों का प्रयोग किया है जो विशेषतया गतिशील और भावोद्बोधन करनेवाले हैं।

कहानियों में वातावरण-सृष्टि

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों की भाँति अपनी कहानियों में भी देशकाल तथा वातावरण के चित्रण पर विशेष ध्यान दिया है यद्यपि उप न्यासों की भाँति कहानियों में विस्तार नहीं प्राप्त होता फिर भी उनमें सजीवता की न्यूनता नहीं है। कहानियों में स्थान का संकोच होता है अतः अत्यन्त संक्षेप में ही घटना तथा पात्रों से सम्बन्धित स्थान काल तथा वातावरण की ओर इंगित कर देने में ही कहानीकार की कुशलता समझी जाती है। आचार्य जी ने अपनी कहानियों में देशकाल तथा वातावरण का चित्रण करते समय इस तथ्य का सदैव ध्यान रखा है।

कहानियों में देशकाल और वातावरण निर्माण का प्रथम सोपान है परिस्थितियोजना इसका प्रधान उद्देश्य होता है सम्पूर्ण कथानक के भीतर आई हुई क्रियाओं और परिणामों का तर्क संगत क्रमस्थान। यथार्थता की कल्पना की सीढ़ियों से ऐसा सजाना चाहिए कि किसी घटना अथवा कर्म के पूर्व की समस्त परिस्थितियाँ कड़ी के रूप में संघटित मालूम पड़ें। पाठक को यह विदित होना चाहिए कि अमुक कार्य के पहले उसके अनुकूल कारण किस रूप में उपस्थित थे। परिस्थितियों की सीढ़ी चढ़कर ही कोई परिणाम शिखर पर समारूढ़ हो सकता है।[1] इस बात का आचार्य जी ने अपनी कहानियों में विशेष ध्यान रखा है। उदाहरण के रूप में हम उनकी प्रसिद्ध कहानी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' को ले सकते हैं। किस प्रकार बादशाह के हृदय में अपनी प्राण प्रिय पत्नी सलीमा के प्रति विराग उत्पन्न होता है और किस प्रकार उसके विषपान करलेने के पश्चात् उसकी निर्दोषिता का प्रमाण मिल जाने पर उनके हृदय में उसके प्रति अनुराग और अपने कृत्य पर पश्चाताप होता है इसका

---

१ कहानी का रचना, विधान डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा पृ १६९।

अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण कथाकार ने प्रस्तुत किया है। कथाकार ने सलीमा की मृत्यु और बादशाह के विराग की घटना को सजीव स्वाभाविक एवं यथार्थ बनाने के लिए तदनुरूप कारण एवं परिस्थितियाँ प्रस्तुत की हैं। इसी प्रकार की परिस्थिति योजना उनकी प्रसिद्ध कहानी 'खूनी' में देखी जा सकती है। खूनी ने किस प्रकार अपने प्रधान के कहने से अपने मित्र की हत्या की और उसकी हत्या के पश्चात् किस प्रकार वह अपने से ही घृणा करने लगा इसका बड़ा ही सजीव एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण कथाकार ने प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार कहानीकार ने 'लालाजी' 'बार्बियन' 'पतिता' 'मास्टर साहब' 'टार्च लाइट' 'जीवन्मृत' 'मुहब्बत' आदि कहानियों में परिस्थितियों एवं कार्यकलापों का चित्रण अपने पूर्व की परिस्थितियों के आधार पर ही किया है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आचार्य जी की समस्त कहानियों में परिस्थिति योजना प्राप्त होती है। उनकी कितनी ही कहानियों में जिनमें इतिवृत्त की नितान्त न्यूनता है परिस्थिति योजना को स्थान नहीं मिल पाया है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'नहीं' 'धरती और आसमान' 'पुष्कोकुलीय' 'कम्बलीय' आदि कहानियों को ले सकते हैं।

कहानियों में वातावरण निर्माण का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है पीठिका। वास्तव में कहानी का प्रतिपाद्य आधेय होता है और उसे प्रभविष्णुता प्रदान करने वाली आधारिक वस्तु होती है पीठिका या आधार' इस पीठिका को हम दो भागों में रखकर देख सकते हैं प्रथम प्रकृति सज्जा तथा दूसरा देश काल चित्रण। आचार्य जी के उपन्यासों के वातावरण पर विचार करते समय हम इन दोनों तत्वों पर विस्तार से लिख चुके हैं यहाँ केवल हम उनकी कहानियों में प्राप्त इन दोनों तत्वों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

आचार्य जी की कहानियों में पीठिका रूप में प्रयुक्त प्राकृतिक चित्र विधान के कई सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं। उनकी 'प्यार' 'दुखवा मैं कासे कहूं मोरी सजनी' भिक्षुराज' 'हल्दी घाटी में' आदि कहानियों में प्रकृति-चित्रण पीठिका रूप में अत्यन्त ही प्रभावकारी हुआ है। 'प्यार' में मेहरुन्निसा के दुःखमय जीवन की झलक वर्षा के घनघोर अन्धकार के चित्रण के पश्चात् दी जाती है।[1] 'दुखवा मैं कासे कहूं' — में सलीमा और बादशाह के सुखमय जीवन का परिचय ज्योत्स्ना की धवल छटा दिखलाने के पश्चात् दिया जाता है। इस प्रकार की पीठिकाओं से कहानियों का वातावरण अत्यन्त सुन्दर एवं स्वाभाविक हो उठा

१ पतिता कहानी संग्रह प्यार पृ १७।

है। आचार्य जी की इस प्रकार की कुछ ही कहानियाँ हैं किन्तु जो भी कहानियाँ हैं उनमें 'प्रसाद' की कहानियों सी तरलता एवं प्रौढ़ता है किन्तु विस्तार एवं गठन उतना नहीं है। आचार्य जी ने प्रकृति चित्रण की यह पद्धति कहानी के आरम्भ में ही नहीं कहीं-कहीं मध्य में भी प्रयुक्त की है। उदाहरण के लिए हम 'हल्दीघाटी' 'कालाकार' 'कार्बानिन' 'प्यार' आदि कहानियों को ले सकते हैं। 'प्यार' कहानी के मध्य का एक अंश बतिए ईद का दिन था संध्या का समय। रंग महल में जश्न मनाया जा रहा था। मेहरुन्निसा अपने कक्ष में कालीन पर बैठी अस्तगत सूर्य की नजर बाग में पड़ती आड़ी-तिरछी सुनहरी किरणों को निहार रही थी।[1] वैसे आचार्य जी की कहानियों में स्वतंत्र रूप से प्रकृति चित्रण कम ही प्राप्त होता है। अधिकांशतः उनकी कहानियों में प्रकृति-चित्रण मानव व्यापार के साथ आया है। उपर्युक्त उदाहरण द्वारा इस तथ्य को समझा जा सकता है।

पीठिका निर्माण का दूसरा तत्व है देश-काल-चित्रण। देश काल चित्रण से हमारा तात्पर्य स्थानीय चित्र-विधान से है। 'कहानी की घटनाएँ, क्रियाएँ इत्यादि किसी स्थान-विशेष पर सिद्ध होती हैं। अतः यदि उस स्थान के विस्तृत विवरणों के साथ उनका संयोग पूर्णतया बैठ जाय तो उसी में एक सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। विषय के विस्तार के साथ यदि देश-खण्ड का प्रकृत-परिचय हो जाय तो विषय-बोध में यथार्थता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार के देशकाल विशेष की संयोजना से विषय के प्रति बड़ा कुतूहल उत्पन्न हो जाता है और उसमें एक प्रकृतत्व विधायक सजीवता लहरा उठती है। इस प्रकार के स्थानीय विवरणों और साज-सज्जाओं की सजावट में या तो भाषा योग देती है अथवा स्थानीय यथार्थ जीवन की झलक।[2] आचार्य जी के उपन्यासों के देशकाल एवं वातावरण पर विवेचन करते समय हम इस पर विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं। कहानियों में देश-काल का चित्रण उपन्यासों की भाँति विस्तार से नहीं है वरन् सांकेतिक है। आचार्य जी ने अपनी ऐतिहासिक कहानियों का निर्माण सजीव वातावरण की पीठिका पर ही किया है। 'अम्बपालिका' 'भिक्षुराज' 'प्रबुद्ध 'कालाकार' 'कार्बानिन' 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' आदि अतीत के अन्तराल में मुखरित कहानियों में देश और काल की प्रौढ़ व्यंजना देखी जा सकती है। कहीं-कहीं शब्दों के माध्यम से ही आचार्य जी ने अपनी कहानियों

१ पतिता, कहानी संग्रह प्यार, पृ २६।

२ कहानी का रचना विधान, डा॰ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ १७७।

में स्थानीय चित्र विधान को अधिकाधिक उभार कर रखने का प्रयत्न किया है। ऐसी कहानियों में प्रादेशिकता पूर्ण रूप से उभर आई है। उदाहरण के लिए हम उनकी रजवाड़ों एवं राजपूतों से सम्बन्धित कहानियों को ले सकते हैं। जिस प्रकार से अपने 'गोली' उपन्यास में उन्होंने कुछ राजस्थान में प्रचलित शब्दों का प्रयोग करके उसे स्थानीय रंग से रंग दिया है उसी प्रकार से उनकी इन कहानियों में भी एक दो शब्दों के कारण ही प्रादेशिकता की झलक आ गई है। 'खमराता' 'कड़बे की टाल' 'खींसें' आदि शब्दों का प्रयोग कहानीकार ने इसी कारण से किया है। कहीं-कहीं आचार्य जी ने देशकाल का चित्रण केवल परिचयात्मक ढंग से ही किया है। कुछ स्थलों पर वे देशकाल का संकेत करने के लिए केवल किसी इतिहास प्रसिद्ध पुरुष अथवा वस्तु का उदाहरण देकर ही आगे बढ़ गए हैं। किसी किसी कहानी में तो आचार्य जी ने परिस्थिति एवं अवस्था का चित्रण एक साथ व्यंजनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ उनकी प्रसिद्ध कहानी 'हल्दी घाटी में' का एक उदाहरण ही विषय को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा। 'तीस हजार योद्धा उपत्यिका के समतल मैदान में व्यूहबद्ध खड़े थे। घोड़े हिनहिना रहे थे और योद्धाओं की तलवारें झनझना रही थीं। उस समय धूप कुछ तेज हो गई थी बादल फट गए थे। सुनहरी धूप में योद्धाओं के जिरह बख्तर और उनके भाले की नोकें बिजली की तरह चमक रही थीं। वे सब लौह पुरुष थे—सच्चे युद्ध के व्यवसायी जो मृत्यु के साथ खेलते थे और जिन्होंने जीवन को विजय कर लिया था। वे देश और जाति के पिता थे। वे वीरों के वंशधर और स्वयं वीर थे। वे अपनी लोहे की छाती की दीवारें बनाए निश्चल खड़े हुए थे। चारण और बंदीगण झण्डे की छाँह पर विरद गा रहे थे। बाजे बज रहे थे। घोड़े और सिपाही सब कोई उतावले हो रहे थे।'[1]

इसमें परिस्थिति और अवस्था का एक साथ वर्णन करके तत्कालीन देशकाल एवं वातावरण को सजीव करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार की कहानियों में परिपार्श्व और वातावरण का इतना आकर्षण और वेग रहता है कि पाठक इससे कभी भी दूर नहीं जा पाता। पाठक का इस प्रकार की कहानियों से सीधा साधारणीकरण होता जाता है। आचार्य जी की ऐतिहासिक एवं भावात्मक कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता उनके वातावरण निर्माण में ही है। जैसा कि हम पीछे लिखा चुके हैं कि आचार्य जी ने तीन पंक्तियों से

१ मेरी प्रिय कहानियाँ आचार्य चतुरसेन हल्दी घाटी में पृ १२४।

वातावरण का निर्माण किया है। प्रथम कहानी की मुख्य घटना आरम्भ होने के पूर्व कहानी के आरम्भिक वाक्यों द्वारा दूसरे-पात्रों के नाटकीय कथोपकथनों द्वारा तीसरे-दृश्य विधान का वर्णन एवं भाव चित्रण के माध्यम के द्वारा—उन्होंने अपनी कहानियों में वातावरण की सृष्टि की है। इस प्रकार अपनी इन कहानियों में वातावरण प्रस्तुत करने में कहानीकार ने अपनी आश्चर्यजनक प्रतिभा का उदाहरण दिया है, फलतः इन कहानियों में ऐतिहासिकता के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य अपूर्व ढंग से प्रस्तुत हुआ है। वस्तुतः वातावरण प्रधान कहानियों में चरित्रपूर्ण भावना उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति नाटकीय स्थितियों की अवतारणा और उसमें चरित्रों के संघर्ष इसकी मुख्य विशेषतायें हैं।[1]

आचार्य जी मूलतः उपन्यासकार या कहानीकार—

पीछे हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों और कहानियों के चार प्रमुख तत्वों कथानक चरित्र-चित्रण कथोपकथन एवं वातावरण पर विचार कर चुके हैं। अब हम यहाँ यह कथन का प्रयत्न करेंगे कि आचार्य जी मूलतः उपन्यासकार हैं या कहानीकार। इसे ज्ञात करने के लिए हम निम्न कसौटी पर आचार्य जी के उपन्यासों और कहानियों के चारों तत्वों को कस कर परखने का प्रयत्न करेंगे।

'यदि लेखक की प्रवृत्ति कथानक को बड़ा करने की ओर हो अथवा कहानी के भीतर कहानी कहने की आकांक्षा दिखाई पड़े अथवा देशकाल की कथा को व्यापक भूमि पर उपस्थित करने की ओर उसकी अभिरुचि हो तो समझना चाहिए कि उसकी मौलिक भूमि उपन्यास की ओर है।'[2] यदि इस कसौटी पर आचार्य जी के उपन्यासों और कहानियों के कथानकों को परखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वे मूलतः उपन्यासकार हैं कारण अपनी कहानियों में भी उनकी अपने उपन्यासों की भाँति कथानक के भीतर कथानक रखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए हम उनकी 'अम्बपालिका', 'पूर्णाहुति' 'भूभ्य' 'वमन' आदि कहानियों को ले सकते हैं। जिनके कथानकों पर आगे चलकर उन्होंने अपने कुछ विशालकाय उपन्यासों का निर्माण किया। इस प्रकार एक कथानक की प्रसार भूमि पर दूसरे कथानक की अवतारणा यह

---

१ हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास डा० लक्ष्मीनारायणलाल पृ० [illegible]

सूचित करती है कि कथानक की व्यापकता की ओर लेखक का विशेष आग्रह है। यह स्थिति उनको मुख्यतः उपन्यासकार घोषित करती है। कथानक के अतिरिक्त आचार्य जी की कहानियों के चरित्र-चित्रण कथोपकथन एवं वातावरण आदि तत्त्वों के विषय में भी लगभग यही बात कही जा सकती है। कहानी के इन तत्त्वों पर भी उनका उपन्यासकार रूप छाया हुआ है। जिससे उनका कहानीकार रूप अधिक निखर नहीं पाया है। उनकी प्रतीकात्मक कहानियाँ अवश्य इस तथ्य का अपवाद कही जा सकती हैं।

अध्याय ८

आचार्य चतुरसेन की भाषा एवं लेखन शैली

उपन्यासों में आचार्य चतुरसेन जी की भाषा एवं लेखन शैली

किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना वाक्यांशों का प्रयोग वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। एक विद्वान के मत से शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है उसकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से उसके विचार अलग नहीं हो सकते वैसे ही उन विचारों को व्यक्त करने का ढंग भी उससे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान न कह कर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।[1]

दूसरी ओर भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहों का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होती हैं। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द हैं जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व समझना चाहिए।[2] यदि इसको एक वाक्य में कहना चाहें तो कहा जा सकता है कि भाषा भावाभिव्यक्ति का माध्यम है और उस माध्यम के प्रयोग की रीति या विधि शैली है। शैली के द्वारा ही कोई भी लेखक अपनी रचना पर अपने व्यक्तित्व की छाप डालता है। रचना में अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए लेखक शैली की ही सहायता लेता है। वह जिस वस्तु का भी चित्रण करेगा अपने ढंग से अपने अनुभव विचार, कल्पना अनुभूति वातावरण संस्कार एवं शिक्षा के अनुसार। इन सबके कारण उसकी भाषा तर्क-शैली और व्यंजना प्रणाली में जो नवीनता अपनत्व एवं मौलिकता रहती है वही उसकी

---

१ साहित्यालोचन—डा श्याम सुन्दरदास-पृ० ३०५।

२ साहित्यालोचन—डा श्याम सुन्दरदास-पृ० ३०४।

शैली कहलाती है। निजीपन एवं नवीनता के साथ-साथ शैली में सरसता, रोचकता सजीवता स्वाभाविकता प्रवाहपूर्णता ओज एवं प्रभाव आदि गुण अपेक्षित हैं। वाक्य गठे हुए सरल रोचक एवं सुसम्बद्ध हों उनमें गति हो स्वाभाविक प्रवाह हो यह तभी सम्भव हो सकेगा जब शब्द संतुलित चुस्त भावानुकूल एवं आवश्यक होंगे। अनावश्यक शब्दों के प्रयोग से शैली का प्रवाह अवरुद्ध और गति शिथिल हो जाती है। अतः ऐसे शब्दों के प्रयोग से उपन्यासकार को सदैव बचना चाहिए।

शैली को अधिक से अधिक स्वाभाविक एवं सरस बनाने के लिए उसमें पात्रानुकूल एवं वातावरण के अनुकूल शब्दों का ही प्रयोग करना उचित है। उपन्यास की शैली संकेतात्मक न होकर विवृत्तात्मक होती है क्योंकि उसे पूर्ण वातावरण और उसमें रस और भावों की सृष्टि करनी होती है। अतः पात्र की शिक्षा संस्कृति और मानसिक धरातल के अनुरूप ही उसकी भाषा होनी चाहिए। इसके लिए पांडित्यपूर्ण व्यंग्ययुक्त भाषा से लेकर ठेठ प्रादेशिक और ग्राम्य भाषा तक का प्रयोग यथावश्यक रूप में किया जाता है।[1] हिंदी भाषा के कई रूप प्रचलित हैं। साहित्यिक हिन्दी बोलचाल की सरल मुहावरेदार हिन्दी प्रचुर अरबी फारसी शब्दों से युक्त उर्दू आदि। उपन्यासकार पात्रानुकूल भाषा-निर्माण के लिए लगभग हिंदी के सभी प्रचलित एवं अप्रचलित भाषा रूपों का व्यवहार अपने उपन्यासों में करता है।

आचार्य चतुरसेन जी की भाषा—

आचार्य चतुरसेन जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। यद्यपि भाषा के विषय में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है भाषा के विषय में मैं बहुत लापरवाह हूँ। विचारों के प्रवाह में तेजी से जब लिखने लगता हूँ तो भाषा भागती दौड़ती लड़खड़ाती गिरती-पड़ती पीछे-पीछे भागती चली आती है। पीछे मुड़कर मैं देखता नहीं।[2] स्पष्ट है आचार्य जी का प्रमुख ध्येय कथा कहने का रहता है वह अपने पाठक के हृदय को सरस कहानी द्वारा ही पकड़ना चाहते हैं, और उस कहानी को वे सीधे सादे सरल ढंग से कहते चले जाते हैं भाषा का शृंगार स्वयं ही होता चले तो ठीक अन्यथा उसे संवारने के लिए वे रुकते नहीं हैं। तो भी उनकी भाषा ...पित सशक्त है।

---

[1] काव्यशास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र पृ ८८-८९।

[2] चतुरसेन त्रैमासिक-सम्पादिका कमल किशोरी-प्रथम अंक विवाह २०१९-पृ० १०७।

आचार्य चतुरसेन के उपन्यासों की भाषा खड़ी बोली है। किंतु उन्होंने भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये यथा अवसर विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों के शब्दों का व्यवहार किया है। इसी कारण उनके उपन्यासों में कितने ही प्रकार की भाषा का प्रयोग मिलता है। आचार्य जी पात्रानुकूल भाषा बुलवाने के पक्ष में थे अतः उपन्यासों में भाषावैविध्य आना अनिवार्य था ही। उनके विभिन्न प्रकार के उपन्यासों में विभिन्न प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है। साधारणतः हम उनके उपन्यासों की भाषा को तीन वर्गों में रख सकते हैं—

१ ऐतिहासिक उपन्यासों की भाषा।
२ सामाजिक उपन्यासों की भाषा।
३ वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भाषा।

ऐतिहासिक उपन्यासों की भाषा कुछ कठिन है कारण उपन्यासकार ने उस पात्र एवं देशकाल के अनुकूल चित्रण का प्रयत्न किया है। भाषा द्वारा ही उसने तत्कालीन वातावरण को सजीव किया है। दूसरे प्रकार के उपन्यासों की भाषा सीधी-सादी और सरल है। तीसरे प्रकार के उपन्यासों की भाषा भी सरल है। किन्तु विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने खुलकर वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग किया है। अपने 'खग्रास' नामक उपन्यास में वैज्ञानिक वातावरण उपस्थित करने के लिए एवं तथ्यों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अंग्रेजी के कितने ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। इससे जब तब भाषा कुछ दुरूह अवश्य हो गई है किन्तु इन शब्दों के प्रयोग से उपन्यासकार वैज्ञानिक वातावरण उभारने में सफल रहा है। सरलता तीनों प्रकार की ही भाषाओं का प्रधान गुण रहा है। पात्र एवं देशकाल के अनुरूप सशक्त भाषा होने के कारण भाषा के उपयुक्त स्पष्टीकरण में उपन्यासकार को पूर्ण सफलता मिली है। (यद्यपि उनके कुछ प्रारम्भिक उपन्यासों की भाषा जब-तब शिथिल है, जिससे उनमें भावों के उपयुक्त व्यक्तीकरण में शिथिलता का समावेश स्पष्ट प्रतीत होता है।) अगले पृष्ठों में हम उनके तीनों ही प्रकार के उपन्यासों में प्राप्त शब्द भंडार मुहावरों लोकोक्तियों सूक्तियों आदि पर विस्तार से विचार करेंगे।

आचार्य चतुरसेन जी की लेखन शैली—

आचार्य चतुरसेन जी की लेखन-शैली पर सर्वत्र उनकी 'लौह-लेखनी' की छाप है। उनकी शैली सरल रोचक प्रवाहपूर्ण चुस्त एवं स्वाभाविक है। ओज माधुर्य एवं प्रसाद गुण तो उसमें सर्वत्र ही व्याप्त हैं। किस्सागो शैली ...

एवं अस्पष्टता से उन्होंने सदैव बचने का प्रयत्न किया है। इसी से उनके भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति का ढंग, पद रचना, वाक्यों का गठन, शब्द शक्तियों का उचित प्रयोग आदि सशक्त एवं प्रांजल रहा है। हाँ उन स्थलों पर जहाँ उन्होंने अपना आचार्यत्व प्रदर्शित करना चाहा है शैली कुछ क्लिष्ट एवं दुर्बोध हो गई है। उसमें बकतृत्व का आवेश आ गया है। ऐसी शैली का प्रयोग उपन्यास में वांछनीय नहीं है। वस्तुतः उपन्यास में शैली के अन्तर्गत वस्तु-कथन कथा कहने की विधि उसका संगठन पात्र संयोजना कथोपकथन एवं वातावरण निर्माण करने की विधि आदि सभी आ जाते हैं। अन्य अध्यायों में हम उपन्यास के विभिन्न तत्वों पर विचार करते समय उनके प्रस्तुत करने की शैली पर प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ केवल हम उनकी लेखन शैली पर संक्षेप में विचार करेंगे।

जिस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी के तीन प्रकार के उपन्यासों में तीन प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है उसी प्रकार उनके तीनों प्रकार के उपन्यासों की लेखन-शैली में भी भिन्नता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की शैली में सामाजिक उपन्यासों की शैली से कहीं अधिक प्रवाह है। यद्यपि सरसता एवं सरलता दोनों ही प्रकार के उपन्यासों की शैलियों में समान है। वैज्ञानिक उपन्यासों में पारिभाषिक शब्दों के आधिक्य के कारण शैली क्लिष्ट हो गई है। किन्तु सरसता उसमें भी कम नहीं है। अब हम उनके तीनों ही प्रकार के उपन्यासों में प्रयुक्त विभिन्न शैली रूपों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

साधारणतः उपन्यास लिखने की पाँच शैलियाँ प्रचलित हैं—१ वर्णनात्मक २ आत्मकथात्मक ३ पत्रात्मक ४ डायरी एवं ५ मिश्रित शैली।

आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यास वर्णनात्मक आत्मकथात्मक एवं मिश्रित शैली में ही लिखे गए हैं। आत्मकथात्मक शैली में केवल 'धोखा' एवं 'पत्थर के दो युग' नामक उपन्यास ही हैं शेष वर्णनात्मक एवं मिश्रित शैली में लिखे गए हैं। इन तीन प्रकार की शैलियों में लिखे उपन्यासों में कितने ही प्रकार की शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं। सुविधा की दृष्टि से हमने उनके तीनों ही प्रकार के उपन्यासों में प्रयुक्त शैलियों को तीन भागों में विभक्त किया है।

१ शैली का बाह्य रूपः—इसमें हम उसकी पद योजना प्रयोग कौशल अलंकारों एवं शब्द शक्तियों आदि के प्रयोगों को ले सकते हैं। इसमें हम अलंकृत गद्य, पुष्पित उक्ति प्रधान आदि शैली रूपों को रख सकते हैं।

२ शैली का आंतरिक रूप—इसमें हम विभिन्न भावों की अभिव्यंजना विचारों की अभिव्यक्ति एवं अन्य आंतरिक गुण] को ले सकते हैं। इसमें भावात्मक शैली विश्लेषणात्मक शैली व्यंग्यात्मक शैली उपदेशात्मक शैली पात्रानुरूप शैली रसानुरूप अवसरानुरूप शैली आदि विविध रूपों को लिया जा सकता है।

३ शैली का मिश्रित रूपः—इसमें दोनों ही प्रकार की शैलियों का सामंजस्य प्राप्त होता है। इसमें हम नाटकीय शैली को ले सकते हैं। साथ ही शैली के इस रूप में ही हम वर्णनों एवं रेखा-चित्रों को भी ले रहे हैं। कारण ऐसे स्थलों पर जहाँ एक ओर वाक्यों की योजना उचित शब्दों के प्रयोग एवं अलंकारों के आश्रय से उपन्यासकार चित्र को साकार करता है वहीं कल्पना सतर्कता एवं विभिन्न सूक्ष्म भावों से उसे ओतप्रोत कर उसे सजीव एवं प्राणवान बनाता है।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यास लिखने की शैलियों में क्रमिक विकास —

आचार्य चतुरसेन जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली की ही प्रधानता है। इसमें वह एक सर्वज्ञ की भांति आता है। और पाठकों को सम्बोधित कर प्रत्येक पात्र की भावनाओं की अभिव्यक्ति कर उससे उसका परिचय कराता हुआ चलता जाता है। वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष वस्तुओं एवं भावों का चित्रण करने के साथ-साथ कथा भी कहता चलता है। कथा की गुत्थियों को सुलझाने के लिए उपन्यासकार ने इस शैली के साथ-साथ संवादात्मक या नाटकीय शैली का भी समावेश किया है। उसने अपने उपन्यासों में अपनी बात को स्पष्ट करने और कथा को गति प्रदान करने के लिए पात्रों आत्म विश्लेषणों मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों संवादों आदि सभी का आश्रय लिया है जिससे उसके उपन्यासों की शैली मिश्रित शैली के अधिक निकट पहुँच गई है। पाठक से अत्यधिक सैकट्य स्थापित करने के लिए उसने अपने दो उपन्यासों 'गोली' एवं 'पत्थर युग के दो बुत' को आत्म कथानक शैली में लिखा है। इसमें उसकी शैली की प्रभावपूर्णता एवं भावमयता तो बढ़ी ही है साथ ही उसके क्षेत्र का विस्तार भी हुआ है।

प्रस्तुत अध्याय में हम आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त शैली के बाह्य आंतरिक एवं मिश्रित तीनों ही रूपों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। साथ ही हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि उपन्यासकार जिस बात को विचारता है अथवा जिस बात को वह कहना चाहता है क्या अपनी उस बात को ज्यों की त्यों शैली के माध्यम से प्रभावशाली ढंग से प्रकट कर सका है।

शैली का बाह्य रूप—उपन्यासकार अपनी शैली को अलंकारों मुहावरों लोकोक्तियों एवं उक्तियों से सजा सँवार कर प्रस्तुत करता है। यद्यपि वह इन समस्त अलंकारों का प्रयोग अपने भावों की सबल अभिव्यक्ति के लिए ही करता है, किन्तु इनका वही महत्व है जिस प्रकार एक सुन्दर रमणी के लिये वस्त्रों एवं आभूषणों का। जिस प्रकार बिना वस्त्रों एवं आभूषणों के रमणी की सुन्दरता नहीं निखर पाती। उसी प्रकार शैली में बाह्यरूप के निखरे बिना भावों की आंतरिक कोमलता भी नहीं निखर पाती। इस दृष्टि से शैली के बाह्य रूप का बड़ा महत्व है। शैली के बाह्य रूप में हम निम्न शैली रूपों को रख सकते हैं—

१ काव्यात्मक अथवा सरस शैली —

भावात्मक एवं रसात्मक स्थलों पर उपन्यासकार भावुक हो उठता है। वह यह भूल जाता है कि वह गद्य लिख रहा है। उसका गद्य-काव्यकार का रूप निखर जाता है और उसकी शैली लक्षणा और व्यंजना का आश्रय ले आगे बढ़ने लगती है। इस प्रकार की शैली में उक्तियों एवं मुहावरों की प्रधानता है। भाव अनुभाव एवं मार्मिकता को एक साथ उपन्यासकार ने ऐसे स्थलों पर अनुस्यूत किया है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए केवल कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। 'सोमनाथ' उपन्यास का एक उदाहरण देखिए मत्स्यांकनेन्द्र स्वामी महता से कहते हैं—

'यह क्या बात है स्वामी पाटन की राजनीति तारों की छाँह में चलती है।

'राजनीति और ज्ञान नीति दोनों ही तारों की छांह में चलें तो ठीक ही है। सूर्य के प्रकाश में तो उनकी गुरुता भंग होती है। तभी तो देव रात-रात भर अध्ययन करते हैं।'[१]

'तारों की छाँह में' का अर्थ लक्षणा से ही स्पष्ट होता है।

"और उसने साथ ही सिंहल के मुक्ताओं के सम्हारे हुए कुन्तल केश वायु से लहरा कर जैसे उस नृत्य का अनुकरण करने लगे फिर मृदुल मृणाल भुजाएं विषधर नाग की भाँति हिलोरें मारने लगी यह सब देखकर दर्शक सुधबुध खो बैठे।[२]

---

१ सोमनाथ पृ १९५।

१ सोमनाथ पृ २१।

केवल ऐतिहासिक उपन्यासों में ही नहीं वरन् उनके सामाजिक उपन्यासों में भी इसी प्रकार की सरस शैली प्राप्त होती है। उनके 'अपराजिता' नामक उपन्यास का एक उदाहरण देखिए—

'राज आँखों से हीरा-मोती बखेरती चली आई। ठाकुर पत्थर की मूर्ति की भाँति आराम कुर्सी पर पड़े रहे। वहाँ उनकी कोठी की उस राह पर जिसमें हीरा-मोती बिखरे—सो अन्धे ठाकुर न देख सके।

'मृदुल मृणाल भुजाएँ विषधर नाग की भाँति हिलोरें मारने लगीं' एवं 'हीरा मोती बखेरना' आदि का अर्थ अभिधा से स्पष्ट न होकर लक्षणा से ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार की शैली में हम उनकी मुहावरों एवं लोकोक्तियों से बढ़ी हुई शैली को भी रख सकते हैं। उनकी भाषा का विश्लेषण करते समय हम आगे दिखलाएंगे कि उन्होंने अपनी शैली को काव्यात्मक एवं लाक्षणिक बनाने के लिए किस प्रकार खुलकर मुहावरों का प्रयोग किया है। इन मुहावरों एवं लोकोक्तियों का सामान्यतः अभीष्ट अर्थ लक्षणा के द्वारा ही निकाला जा सकता है।

अलंकृत शैली —भाषा को निखारने के लिए उपन्यासकार ने स्थान स्थान पर अलंकारों का भी आश्रय लिया है। इससे भाषा तो निखरी ही है, साथ ही वातावरण भी सजीव हो उठा है। ऐसे स्थलों पर उनकी शैली सरस सुन्दर एवं प्रवाहपूर्ण है। अलंकारों से अलंकृत एवं कल्पना से पूर्ण होने के कारण उनकी इस प्रकार की शैली कविता के अधिक निकट पहुँच गई है।

'सोमनाथ' महालय की आरती का विवरण देखिए —

'हजारों घण्टाओं का स्वर, महाघण्ट का रव और दुन्दुभी की मेघगर्जना सब मिलकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे देवाधिदेव अभी ताण्डव-नृत्य कर रहे हैं और पृथ्वी पर भूचाल आ गया हो।'[1]

गंगा का लास्य भी दृष्टव्य है।

'क्षण भर में गंगा की कला मूर्तिमान हो उठी। माधुर्य की नदी उसके कंठ से बह चली। उसमें भक्तिभाव और विलास तैरने लगा। ...'[2]

के नृत्य का भी एक चित्र देखिए —

'मण्डप के उन रत्न-दीपों के प्रकाश में वह धवल श्वेत कमल-सी किशोरी जब अपना समस्त अनावृत सौरभ लेकर लोगों की दृष्टि में चढ़ी तो

---

१ ,, पृ २०।
२ सोमनाथ पृ ११।

जन-समूह में उन्माद की आँधी आ गई। जन समूह मुग्ध-मौन अवाक रह गया।[1]

उपन्यासकार ने क्रमशः आरती स्तवन एवं नृत्य के वर्णनों को अलंकृत शैली में मूर्तिमान् किया है। इसी प्रकार उसने सुन्दरियों के अंग सौंदर्य के स्पष्ट करने के लिए भी अलंकारों का आश्रय लिया है। गन्धर्वों की नगरी की दिव्यांगनाओं का शृंगार देखिए 'इन सुन्दरियों के कानों के हीरे के कुण्डलों की अमंद आभा से वह कमरा ऐसा जगमगा रहा था मानों तारागण के प्रकाश से आकाश देदीप्यमान हो रहा हो।[2]

रावण की पत्नी चित्रांगदा का रूप भी दर्शनीय है —

कमल की पंखुड़ी के समान उसके लाल अधर मंद-मंद हिल रहे थे। वह कोई सुख-स्वप्न देख रही थी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे चंद्रमा की चाँदनी वहाँ सिमटी पड़ी हो।[3]

राम की अर्धांगिनी सीता के रूप को भी उसने उपमा अलंकार के द्वारा स्पष्ट किया है। देखिए —

'अहा, इस कोमलांगी के अंग को तो इसके वस्त्रों ने भी नहीं देखा होगा जैसे आत्मा को शरीर नहीं देख पाता।[4]

इन सभी उदाहरणों में भावों चित्रों एवं अंग सौंदर्य को उपन्यासकार ने अलंकारों द्वारा बड़ी सुघड़ता से स्पष्ट किया है। आचार्य चतुरसेन जी ने पात्रों के रूप तथा भंगिमाओं की छाप पाठकों के हृदय पर अधिक से अधिक उभारने के लिए उपमाओं का खुल कर प्रयोग किया है। शोभना (सोमनाथ) का रूप देखिए —उसका रंग चम्पे के ताजे फूल के समान अथवा आम के फूले हुए बौर के समान अथवा केले के नवीन पत्ते के समान था।[5] चौला (सोमनाथ) फूलों के समान कोमल थी[6] वह शुक्र नक्षत्र की भाँति देदीप्यमान और चाँदनी की भाँति व्यापक, शीतल और नागमणि की भाँति बहुमूल्य और दुष्प्राप्य धारणीय

---

१ सोमनाथ पृ ९१।
२ वयं रक्षामः पृ २०१।
३ वयं रक्षामः पृ २०४।
४ वयं रक्षामः पृ १९६।
५ सोमनाथ पृ ६४।
६ सोमनाथ पृ २७६।

सुषमा की भाँति मनमोहक शुभ्र थी।[1] चम्पा (गोल्डी) का रूप यदि चटक चाँदनी में खिली चमेली के समान है तो दूसरी का शृंगार, पानी में भरे बादलों में बिजली की दमक के समान।[2]

आचार्य चतुरसेन जी ने हृदय के भावों को चेहरे पर मुख मुद्रा के समय पड़ने वाले चिन्हों को भी उपमाओं एवं उत्प्रेक्षाओं के द्वारा बड़ी कुशलता से उभारा है। अपमान की बात सुनकर 'उसका (सरला का) मुँह पानी भरे वर्षोन्मुख बादल के समान भारी हो गया।[3] राज (अपराजिता) ने आश्चर्य एवं लज्जा से बड़े-बड़े पलक उठाकर राज की ओर देखा।[4] उन पलकों पर जैसे हिमालय का बोझ लदा था।[5] ठाकुर (अपराजिता) पत्थर की मूर्ति की भाँति बैठे रहे।[6] आदि।

आचार्य चतुरसेन जी ने सेना की भयंकरता एवं विशालता प्रकट करने के लिए भी कितनी ही उपमाएँ दी हैं। देखिए —(महमूद की सेना) 'महासर्प की तरह रेंगती हुई भारत भूमि पर अग्रसर हुई'[7] देखते ही देखते अमीर की सेना ने इस तरह गढ़ी घेर ली जैसे साँप कुण्डली मारकर बैठ जाता है।[8] (महमूद की सेना) इस प्रकार मरुस्थली में धँस रही थी जैसे साँप बाँबी में धँसता है।[9] और मरुस्थली भी कैसी' जहाँ मृत्यु-रेत आँधी से आँख मिचौनी खेलती थी।[10]

इसी प्रकार उन्होंने वीरता शौर्य उत्साह आदि को प्रकट करने के लिए भी अलंकारों का प्रयोग किया है। देखिए —भीमदेव के तोरण में प्रवेश करते समय ऐसा ज्ञात हुआ 'जैसे प्रभास का धर्मक्षेत्र वीररस में डूब गया। जैसे

---

१ सोमनाथ पृ २१।
२ गोली, पृ ८८।
३ उदयास्त, पृ १०३।
४ अपराजिता पृष्ठ ७।
५ अपराजिता, पृष्ठ १५७।
६ अपराजिता, पृ ११२।
७ सोमनाथ, पृ ९०।
८ सोमनाथ पृ ११७।
९ सोमनाथ पृ ११८।
१० सोमनाथ, पृ १०१।

साक्षात् भगवान् सोमनाथ शिव रूप तज रौद्र रूप में अवस्थित हो गए।[1] वीरता को स्पष्ट करने के लिए भी उसने अलंकारों का आश्रय लिया है। जैसे गमाखानी के योद्धा महमूद की महासैन्य को चीरते चले गए—'जैसे खरबूजे को चाकू चीरता है।[2] 'सेना के समुद्र को वे भट्ठासी वीर इस प्रकार पार कर रहे थे जैसे मगरमच्छ पानी को चीरता जा रहा हो।[3]

इस प्रकार के अलंकारों के प्रयोग से उनकी शैली अलंकृत होने के साथ साथ प्रवाहपूर्ण एवं प्रभावशाली भी हो गई है।

अलंकारों से बोझिल एवं गुम्फित शैली —

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने 'वयं रक्षाम' उपन्यास में भाषा का खूब कर शृंगार किया है। इसमें कई स्थलों पर वे अलंकारों के प्रवाह में वर्णन संतुलन खो बैठे हैं। ऐसे स्थल अलंकारों से बोझिल हो गए हैं उनमें न कथा की गति रही है न प्रवाह ही। यहाँ एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। चित्रांगदा (वयं रक्षाम) का रूप वर्णन देखिए— उन सुन्दरियों के बीच घिरी हुई चित्रांगदा नक्षत्रों के बीच चन्द्रकला के समान सुशोभित होने लगी। वह उत्फुल्ल शतदल कमल के समान प्रसन्नवदना चल चंचल मकरन्द-लोलुप भ्रमर लोचना हंसगामिनी कमल-गन्धा चित्रांगदा गन्धर्वराज कन्या काम-संजीवनी सी प्रतीत हो रही थी। उसके लहरों के समान मनोहर त्रिवलियुक्त मन्दोदर को देख रावण इस प्रकार चलायमान हो गया जैसे समुद्र चन्द्रकला को देख चलायमान हो जाता है।[4]

इसी प्रकार मदालसा (वयं रक्षाम) के रूप का भी अलंकारों से बोझिल वर्णन देखिए —

'उसकी मृग-शावक जैसी तरला-विलोला आलुपी फूलों से गुथी हुई सुदीर्घा वेणी प्राणियों को कामोचित फल देने वाली है। उसके चन्द्र-तिलक शोभित ललाट दुर्लभ रत्नोपल कोकमद-मुखश्री अवर्ण्य है। आत्माराम मधुमत उसके अधरोष्ठ का अमृतपान पुण्य योग जन ही कर सकते हैं।[5] मदालसा

---

१ सोमनाथ पृ २६३।
२ सोमनाथ पृष्ठ ३९५।
३ सोमनाथ पृष्ठ ३९५।
४ वयं रक्षाम' पृ १००।
५ वयं रक्षाम' पृ ११४ ११८।

का यह रूप वर्णन चार पृष्ठों तक चला है। घुम-घुम कर उपन्यासकार ने इस वर्णन को अलंकारों से सजाया है। किन्तु वास्तव में सत्य यह है कि इस प्रकार से अलंकारों से बोझिल एवं गुम्फित शैली के प्रयोग ने उनके 'वयं रक्षाम' उपन्यास का सौंदर्य नष्ट कर दिया है।

शैली के बाह्य सौंदर्य को निखारने के लिए आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों में उक्तियों का भी बड़ी कुशलता से प्रयोग किया है। आगे उनकी भाषा पर विचार करते समय हम उनकी उक्तियों सूक्तियों आदि पर विस्तार से विचार करेंगे।

अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी शैली के बाह्य सौंदर्य को अधिक निखारा है। जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं कि जहाँ उन्होंने शैली के बाह्य सौंदर्य को अधिक निखारने के लिए उस पर बलात् अलंकारों को लादने का प्रयत्न किया है वहाँ उनकी शैली का आन्तरिक सौंदर्य उसके बाह्य सौंदर्य के नीचे दबकर समाप्त हो गया है। ऐसे स्थलों की शैली न प्रवाहपूर्ण ही रही है, न स्वाभाविक ही। किन्तु जिन स्थलों पर कथा-प्रवाह को स्पष्ट करने के लिए चरित्र तथा व्यक्तित्व को उभारने के लिए एवं भावों को निखारने के लिए उसने अलंकारों का प्रयोग किया है उन स्थलों की शैली अलंकृत होने के साथ-साथ स्वाभाविक, सरस रोचक एवं प्रवाहपूर्ण रही है।

शैली का आंतरिक रूप—

इसमें लेखक का हृदय पक्ष प्रधान रहता है। ऐसे स्थलों की भाषा प्रवाहमयी एवं सीधी-सादी होती है। इसमें हम पात्रों के मानसिक द्वन्द्वों उनके हृदय पक्ष भावों को साकार करने वाले स्थलों को रख सकते हैं। भावात्मक शैली विश्लेषणात्मक शैली उपदेशात्मक भाषण पात्रानुकूल आदि विविध शैली रूप इसमें रखे जा सकते हैं। इस शैली का अवसर से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सुखात्मक और दुखात्मक दोनों ही अवसरों से हमारा अंतर प्रभावित होता है। अतः इसमें शैली भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। इसी कारण आचार्य चतुरसेन जी की शैली विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार की है।

भावात्मक शैली के विभिन्न उदाहरण —

१ मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के शब्द चित्र—आचार्य चतुरसेन जी के पात्रों की सजीवता का रहस्य उनके आन्तरिक और बाह्य दोनों गुणों के समान

प्रकाशन में है। उन्होंने क्रियाशील मानव के तो सजीव चित्र दिए ही हैं साथ ही उनके विचारशील मानव के चित्र भी पूर्ण एवं सजीव हैं। अपनी भावात्मक शैली के माध्यम से ही आचार्य चतुरसेन जी विचाररत मानव का प्रत्यक्ष चित्र खींचने में पूर्ण सफल रहे हैं। इसी कारण उनके उपन्यासों में मानसिक अन्त र्द्वन्द्वों के चित्र बड़े ही सजीव एवं मर्मस्पर्शी हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी शैली रोचक सजीव चित्रात्मक एवं स्पष्ट है। मस्तिष्क के प्रत्येक द्वन्द्व प्रत्येक भाव को आकर्षक ढंग से उपन्यासकार प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल रहा है।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। आभा निराशा के मानसिक द्वंद्व का एक उदाहरण देखिए—

आभा अपने पति अनिल को त्यागकर रमेश के साथ चली जाती है। पति-गृह त्यागने के पश्चात् उसे अपनी त्रुटि का ज्ञान होता है। उस अवस्था का चित्रण उपन्यासकार ने बड़ा ही सजीव किया है—

उसने सोचा—निस्संदेह मैं गृह त्यागिनी हुई, कुल त्यागिनी हुई, मैंने पति को पुत्री को त्याग दिया पर मैं पतित होने से बच गई। मेरा घर छूट गया है पर गृहिणीत्व मेरी आत्मा में कायम है। मेरा पति बिछुड़ गया है, पर मेरा पत्नीत्व मुझमें सुरक्षित है। मेरी पुत्री मुझसे छिन गई है किन्तु मेरा मातृत्व वैसा ही अक्षुण्ण है भले ही अनिल मुझे स्वीकार न करें, भले ही पुत्री मुझे न मिले मेरे लिए उस घर का द्वार बंद हो जाए। परंतु मैं गृहिणी हूँ पत्नी हूँ और माता हूँ। स्त्री-जाति की तीनों बहुमूल्य धरोहर मैंने खोई नहीं है। अब यदि मरना भी पड़े तो क्या चिंता।[1]

आभा की आन्तरिक ग्लानि उसका अपने कुकृत्य पर पश्चाताप एवं उसकी हार्दिक टीस और अन्त में उठकर पुनः उत्थान के पथ पर बढ़ चलने की प्रेरणा यह सभी इस एक चित्र में साकार है। पाठक उसके इन हार्दिक उद्गारों को पढ़कर, उसे कुल त्यागिनी एवं पति त्यागिनी जानते हुए भी उसके प्रति सहृदय हो उठता है। आभा इस अन्तर्द्वंद्व के पश्चात् अपनी खोई हुई सहानुभूति को पाठकों से पुनः प्राप्त कर लेती है।

'आभा' ही का एक और उदाहरण देखिए। पत्नी के चले जाने के पश्चात् पति की मानसिक दशा को इसमें उपन्यासकार ने शब्दबद्ध कर दिया है।

---

१ आभा, पृ. ६१।

मैंने उसे बाबा जाने दिया। रोका नहीं। उसके उन शब्दों की चोट ताजा थी। पर अब देखता हूँ उसने अपनी भूल तभी समझ ली थी। एक बार यदि मैं उससे कहता—बाबा आओ अपने घर में आओ तो वह क्या न आती? और रमेश। उसका मुँह उस समय कैसा ठीकरे के समान निष्प्रभ हो गया था। वह तो समझ रहा था कि मैं कैसी भयानक गलती कर रहा हूँ?

परन्तु अब। क्या मैं उनके पास जाऊँ। [1]

इसी प्रकार 'बगुला के पंख' का एक उदाहरण देखिए। जुगनू जन्म से भंगी था, किन्तु ऊँची जाति का बनने का प्रयत्न कर रहा था किन्तु उसके जन्म-जात-संस्कार, उसको अपने में समेटे हुए थे। बाह्य वातावरण में वह भले ही प्रसन्न हो किन्तु उसके हृदय में हीन भाव भरे हुए थे। परशुराम की फटकार के पश्चात् उसके हृदय की प्रतिक्रिया देखने योग्य है—

"पर आज वह सर्वथा अपने को हीन व्यक्ति समझ रहा था। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह यहाँ बैठा है जो कुछ कर रहा है और जहाँ रह रहा है जो कुछ देख सुन रहा है। उन सबके लिए वह नितान्त अयोग्य है। जैसे उसे अपने आपका मुलम्मा दीख रहा था। उसे यह याद करके अपने में एक सिहरन-सी उठ रही थी कि जैसे अभी-अभी सारी दुनिया इकट्ठी होकर चिल्लाकर कह उठेगी 'अबे ओ भंगी के बच्चे तेरी यह जुर्रत? कि तू भले आदमी का ढोंग बनाकर यहाँ बैठा लोगों की आँखों में धूल झोंक रहा है। वह मन में ही अकुलाया-सा लज्जित-सा चुपचाप जैसे-तैसे अपना काम करता जा रहा था। [2]

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणों में उपन्यासकार ने बड़ी ही सरल शैली में पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के चित्र साकार कर दिए हैं। पात्रों की आन्तरिक व्यथा उनका मानसिक पश्चात्ताप उनके चरित्र को उभारने में पूर्ण सफल रहा है। आचार्य जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में भी इसी शैली का बड़ी सफलता के साथ निर्वाह किया है। यहाँ एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा।

'सोमनाथ' में महाराज अजयपाल का मन संकट देखने योग्य है—महमूद अपनी सम्पूर्ण वाहिनी के साथ भारत को आक्रान्त करने के लिए बढ़ता चला आ रहा है। उसने महाराज अजयपाल से आगे जाने के लिए राह माँगी है, न देने पर युद्ध की चुनौती दी है। उस समय की महाराजा की दशा देखिए—

---

१ आभा, पृ ८७-८८।

२ बगुला के पंख पृ ५१।

महाराज जयपाल को कोई ओर छोर नहीं मिला। वह सोचने लगे अवश्य ही अमीर को राह देना पाप है परंतु पाप का भागी क्या मैं ही हूँ? यह अभागा भारत देश क्यों खण्ड खण्ड है। क्यों नहीं एक सूत्र में संगठित है। सब कोय छोटे-छोटे राजा बने बैठे हैं। वे सब अपनी ही अकड़ में मस्त हैं। इतना बड़ा विशाल भारत देश कैसे विदेशी लुटेरों के हाथ लूटा जाता है। यह तो हम देखते ही हैं परन्तु सब हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं। कोई किसी की नहीं सुनता फिर मैं ही क्या करूँ? मेरी शक्ति ही कितनी हैसियत ही क्या? पाप ही है तो सबका है। मैं यदि सुल्तान का विरोध करता हूँ तो मेरा तो सर्वनाश होगा ही, यह समृद्ध मुल्तान शहर भी लूट और आग की भेंट होगा। यह क्या पाप नहीं होगा? मैं जिस देश का राजा हूँ क्या उसे बचाना मेरा धर्म नहीं है? क्या वह पाप इस पाप से भी बड़ा होगा?[1]

महाराज अजयपाल के एक-एक मानसिक भाव को उभारने में उपन्यासकार ने मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के शब्दचित्र दिए हैं वहाँ उसकी शैली मर्मस्पर्शी आकर्षक सजीव एवं चित्रात्मक हो गई है। उसकी इस शैली में एक-एक भाव को एक-एक मानसिक द्वन्द्व को साकार करने की पूर्ण क्षमता है, तभी उनके यह शब्द चित्र इतने सजीव एवं सफल हो सके हैं। उपर्युक्त शब्द चित्र पढ़ने के पश्चात् हमारे समक्ष एक विचारशील एवं सचिन्त प्राणी आ खड़ा होता है। वह कुछ सोच विचार कर जीवन संग्राम में अग्रसर होनेवाला चिन्तनशील मानव ज्ञात होता है कठपुतली की भाँति धागा खींचते ही कार्यक्षेत्र में कूदकर अनेक प्रकार के शारीरिक कौशल का प्रदर्शन करनेवाला निर्जीव मानव नहीं। किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व वह अपनी मानसिक तैयारी कर लेता है तभी आगे पग उठाता है। उपर्युक्त चारों ही उदाहरणों में हम यह विशेषता देखते हैं। आभा अमिक एवं जुगनू तीनों ही अपने अतीत पर विचार कर अगला पग उठाने को प्रयत्नशील हैं। महाराज अजयपाल भी अपनी कायरता को दूसरों का पाप कहकर छिपाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उपर्युक्त चारों ही अन्तर्द्वन्द्व परिस्थिति अवसर एवं स्थान के पूर्ण उपयुक्त हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों में हमने विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न परिस्थितियों में पड़े हुए मनुष्यों के अन्तर की हलचलों का कुशलता के साथ उभरा हुआ देखा है। वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी को मानव के अन्तस्तल की सूक्ष्म वृत्तियों का पूर्ण ज्ञान था। उन्हें इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि ऐसे अवसर पर

१ सोमनाथ पृ १००।

जैसे प्राणी के मन में जैसी बात उपजती है तभी उन्हें मानव की आभ्यन्तरिक वृत्तियों के सूक्ष्म निरूपण में पूर्ण सफलता मिली है। किंतु उन स्थलों पर जहाँ उनकी शैली सरलता और सरसता का अंचल त्यागकर कृत्रिम हो गई है, वहाँ उनकी विद्वता के नीचे कितनी ही सूक्ष्म वृत्तियाँ दब गई है।

सुख दुःख में पड़े हुए मानव की विभिन्न आंतरिक वृत्तियों का सूक्ष्म चित्रण भी आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त होता है। जहाँ पर उपन्यासकार ने किसी शुभवसर पर किसी सुखांत प्रसंग का चित्रण किया है वहाँ उसकी शैली कोमल आकर्षक एवं हृदय में उत्साह एवं सात्विक भाव उत्पन्न करने वाली है। विभिन्न उपन्यासों में चित्रित प्रणय वर्णन प्रिय सान्निध्य विवाह यज्ञ आदि अवसरों के वर्णनों का उदाहरण के लिए हम ले सकते है।

कुअवसरों के प्रसंगों की शैली का रूप इससे भिन्न है। यह हृदय की दुःखात्मक वृत्तियों के प्रकाशन में अद्वितीय है। इसमें हृदय की कारुणिक भावनाओं के उद्रेक की पूर्ण शक्ति है। आचार्य जी के उपन्यासों में ऐसे स्थल अधिक है। 'नगरवधू' के अम्बपाली हर्ष मिलन चम्पा की राजकुमारी एवं सोम की पिता प्रसेनजित के दुःखद अन्त का दृश्य एवं उपन्यास का अंत ऐसे ही मार्मिक स्थल है। 'सोमनाथ' में तो ऐसे स्थलों की भरमार है ही। इस प्रकार की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह हृदय में दुःखानुभूति का उद्रेक कराकर एक उत्साहहीन वातावरण का दुर्भेद्य मानसिक दृश्य उपस्थित करने में पूर्ण सफल रही है।

सुअवसरों एवं कुअवसरों से पूर्व के वातावरण एवं परिस्थितियों के निर्माण के लिए उसने प्रलाप आवेश प्रार्थना आदि शैलियों का प्रयोग किया है।

प्रलाप शैली —

ऐसे भावात्मक स्थलों पर जहाँ पर पश्चाताप के साथ-साथ उपन्यासकार ने प्रार्थना एवं उपालंभ का भी बड़ी सतर्कता से प्रयोग किया है वहाँ हम उसकी प्रलापशैली के उदाहरण देख सकते है। ऐसे स्थलों पर आचार्य चतुरसेन जी की शैली हृदय में कपाट उत्पन्न करने वाली आवेश एवं ओज से पूर्ण होती है। 'बगुला के पंख' का एक उदाहरण देखिए —शोभाराम शिक्षित सभ्य एवं सुन्दर सभी कुछ है किंतु वह जन्म से रोगी है। उसे पद्मा-सी सुन्दरी पत्नी प्राप्त है, किंतु वह स्वयं रुग्ण होने के कारण पत्नी की आकांक्षाओं को संतुष्ट नहीं कर पाता। उसे इस बात का हृदय में पश्चाताप है कि इस अवस्था में उसने विवाह

क्यों किया ? एक स्त्री का जीवन क्यों व्यर्थ नष्ट किया ? इसी पश्चाताप के आवेश में वह अपनी पत्नी से कहता है—मैं निस्सन्देह अपने को क्षमा नहीं कर सकता। मैं सदा का रोगी हूँ जान बूझकर मैंने तुम्हें अपने रुग्ण शरीर के साथ बाँध कर स्वार्थी का सा आचरण किया है। मैं जानता हूँ तुम प्रेम के उस प्रसाद को प्राप्त नहीं कर सकीं जिसको प्राप्त करने का तुम्हारा हक था। पर क्या कहूँ जिस क्षण तुम पर मेरी नजर पड़ी मैं संयत न रह सका। संयम और न्याय सब भूल कर मैंने तुम्हें प्राप्त कर लिया। तुम्हें भूखों मार डालने की नियत से। पर मैं करूँ भी क्या ? तुम्हें देखते ही मेरी सारी चेतना व्यग्र हो उठी। सारी इन्द्रियाँ उत्तेजित हो उठीं। पर तभी मैंने यह भी जान लिया कि हाय यह मैंने क्या किया तुम्हारे हृदय की कली खिलाने की मुझमें सामर्थ्य ही नहीं है। परंतु भोगलिप्सा का मूल्य भी इतना है वह प्राणों का सम्पूर्ण स्पन्दन है चेतना की सबसे ऊँची तान है यह मैं जानता न था। उसे तो मैं तुम्हारी आँखों में पढ़ता गया जानता गया। घबराता गया परेशान होता गया। लज्जा और वेदना से छटपटाता गया।[1]

सोमाराम के इस प्रलाप में एक ओर उसके हृदय की छटपटाहट घबराहट व्याकुलता एवं वेदना को उपन्यासकार शब्दबद्ध करने में पूर्ण सफल रहा है तो दूसरी ओर मर्मस्पर्शी कोमल एवं आकर्षक शैली के द्वारा उसने चित्र को पूर्ण सजीव बना दिया है।

इसी प्रकार ऐसे स्थलों पर जहाँ उपन्यासकार ने किसी पात्र विशेष के दयनीय एवं विनय युक्त आंतरिक भावों को व्यक्त किया है वहाँ उसकी शैली प्रार्थनापूर्ण हो गई है। ऐसे स्थलों पर उसने कोमल मर्मस्पर्शी हृदय को आकम्पित एवं द्रवित करने वाले एवं शान्त तथा प्रभावपूर्ण वातावरण उपस्थित करने वाले शब्दों का प्रयोग किया है। 'वैशाली की नगरवधू' का एक उदाहरण देखिए —सोमप्रभ ने महाराज बिम्बसार को द्वन्द्व युद्ध में परास्त कर दिया है। वह सम्राट का वध करने जा ही रहा था कि चिल्लाती हुई अम्बपाली उसके सामने आ जाती है। उसी समय का दृश्य देखिए —

'सोम ने अपना चरण सम्राट के वक्ष पर से नहीं हटाया। न उनके कंठ से खड्ग। उन्होंने मुँह मोड़कर अम्बपाली को देखा। अम्बपाली दौड़कर सोमप्रभ के चरणों में लोट गई। उसकी अश्रुधारा से सोम के पैर भीग गए। वह कह रही थी—उनका प्राण मत लो सोम मैं उन्हें प्यार करती हूँ। परंतु मैं कभी भी

---

१ यमुना के पंख पृ १४।

राजगृह नहीं आऊँगी। मैं कभी इनका दर्शन नहीं करूँगी। स्मरण भी नहीं करूँगी। मैं हतभाग्या अपने हृदय को विदीर्ण कर डालूँगी। उनका प्राण छोड़ दो प्रिय दर्शन सोम उन्हें छोड़ दो। व निरीह शून्य और प्रेम के देवता हैं। वे महान् सम्राट हैं। उन्हें प्राण-दान दो। मेरे प्राण ले लो—प्रियदर्शन सोम ये प्राण तो तुम्हारे ही बनाए हुए हैं ये तुम्हारे हैं इन्हें ले लो ले लो।[१]

अम्बपाली के प्रत्येक शब्द में उसकी दयनीयता करुणाकारिता, हृदय की सिहरन मस्तिष्क की कचोट और आंतरिक वेदना एवं व्यथा टपकी पड़ रही है। उसकी गिड़गिड़ाहट में प्रभावित करने की शक्ति है और यही शक्ति इस शैली की सबसे बड़ी विशेषता है।

३ आवेश शैली —

ऐसे स्थलों पर जहाँ पर उपन्यासकार किसी पात्र विशेष के आंतरिक रोष को व्यक्त करना चाहता है, वहाँ उसने आवेश शैली का आश्रय लिया है। ऐसे अवसरों पर उसने हृदय के सघन भावों को एक साथ ही नहीं उड़ेल दिया है वरन् उसने पात्र के विचारों को प्रभावपूर्ण ढंग से रखने के लिये वक्तृत्व के साथ-साथ आवेश का भी योग दिया है जिससे उसकी शैली मर्मस्पर्शी होने के साथ साथ आवेश पूर्ण हो गई है। 'सोमनाथ' का एक उदाहरण देखिए। अपनी प्रेमिका शोभना के मुख से धर्म का नाम सुनकर देवस्वामी (अथवा फतहमुहम्मद) अपने आंतरिक रोष को रोक नहीं पाता। वह हिन्दू धर्म की कटु आलोचना करता हुआ आवेश पूर्ण शब्दों में अपनी प्रेमिका से कहता है धर्म प्यारी शोभना वह धर्म जिसने तुम जैसी कुसुम कोमल धवल धवल रमणी-रत्न को वैधव्य के दुर्भाग्य से बांध रखा है और मेरे उछलते हृदय को लातों से दलित किया है—देखा नहीं था जब तुम्हारे पिता मेरे मन्त्र पाठ करने पर तलवार लेकर मारने दौड़े थे—तब किसी ने मुझ पर दया की ? सभी ने कहा मारो साले शूद्र को वेद पढ़ता है नीच। अधर्मी। अब उस धर्म की तुम अभी तक दुहाई देती हो।[२]

देवा के आन्तरिक रोष को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से उपन्यासकार ने रखने का प्रयत्न किया है। देवा शोभना से प्रेम करता है किन्तु हिंदू धर्म के सामाजिक एवं धार्मिक बन्धन उसके मार्ग को अवरुद्ध किये खड़े हैं। वह शोभना को प्राप्त करने के लिए ही यवन धर्म स्वीकार कर लेता है किन्तु आज उसकी

१ वैशाली की नगरवधू पृ ७११।
२ सोमनाथ, पृ २५१।

प्रेमिका शोभना ही उसे धर्म का मर्म दिखलाती है। ऐसे अवसर पर उसके मुख से निःसृत यह आवेश पूर्ण उद्गार कितने स्वाभाविक हैं।

४ भाषण एवं संबोधन शैली—

आवेश एवं प्रार्थना शैली के गुणों के समन्वय से भाषण संबोधन शैली का निर्माण होता है। इस प्रकार की शैली में ओज एवं प्रसाद दोनों ही गुण रहते हैं।

'उदयास्त' का एक उदाहरण देखिए। आनंद स्वामी अर्धशिक्षित ग्रामीणों को संबोधित करते हुए कहते हैं।

'स्वामी जी कुछ देर को चुप हो गए फिर उन्होंने धीर गम्भीर स्वर में कहा—'आप सुख चाहते हैं पर दुख का सृजन करते हैं। शांति चाहते हैं पर अशांति का साधन उत्पन्न करते हैं। विश्वास चाहते हैं पर विश्वासघात करते हैं। प्यार चाहते हैं पर कपट करते हैं जीवन चाहते हैं पर मृत्यु की ओर दौड़ते चले जा रहे हैं।"[१]

इसमें आवेश की मात्रा ही अधिक है अतः इसमें भाषण शैली से संबोधन शैली के गुण अधिक हैं। 'सोमनाथ' उपन्यास का एक भाषण शैली का उदाहरण देखिए। इसमें आवेश के परिपार्श्व में प्रार्थना शैली के गुण हैं। महमूद सोमनाथ महालय पर चढ़ाई करने के पूर्व गजनी में अपने सैनिकों को धर्म के नाम पर उत्तेजित करते हुए कहता है।

'जब सलामी और नजराने की रसूमात पूरी हो चुकीं तो उसने बुलंद गम्भीर स्वर में एक हाथ ऊँचा करके कहा' — मैं अमीर महमूद खुदा का बंदा वही कहूँगा जो मुझे कहना चाहिए। रसूले पाक और खुदा के नाम पर— जिसके समान दूसरा कोई नहीं है—मैं अमीर महमूद खुदा बंदा आज ईद मुबारक के साथ तुमसे जो मेरी रकाब के जानिसार साथी हैं और जिनके घोड़ों की टापों ने आधी दुनियां रौंदी है वही कहूँगा जो मुझे कहना चाहिए। हम चल रहे हैं अपनी सबसे बड़ी मुहिम को फतह करने जिसकी इन्तजारी फिरदौसी और अलबरूनी उस काफिर जमीन पर कर रहे हैं जिनकी हूर ए दीनदारों के लिए है। दोस्तो मैं जानता हूँ तुम्हारी तलवारों की धार तेज है, तुम्हारे घोड़े तरोताजा हैं और तुम्हारे घोड़ों की जीनें जिन्हें तुम पिछली बार चाँदी-सोने से भर लाये थे खाली हो रही हैं और तुम मेरे दोस्तों उन्हें फिर से भरने के लिए बेचैन हो।...... [२]

---

१ उदयास्त-पृ० २२०।
२ सोमनाथ-पृ० ९३।

प्रस्तुत उदाहरण में उत्तेजना दिखाने के लिए आवेशपूर्ण शब्दों का और उद्बोधन के लिए सशक्त एवं ओजपूर्ण शैली का प्रयोग किया गया है।

व्यंग्यात्मक शैली—

आचार्य चतुरसेन जी के व्यंग्य चुटीले तीखे एवं सीधे प्रहार करने वाले होते हैं। जहाँ पर उन्होंने किसी कुरीति अन्धविश्वास अथवा हिन्दुओं के पारस्परिक वैमनस्य का चित्रण किया है वहाँ उनकी शैली व्यंग्यात्मक हो गई है। पुरोहितों एवं धर्म के नाम पर होनेवाले अत्याचारों का वर्णन करते समय आचार्य जी की शैली प्रायः व्यंग्यात्मक एवं तीखी है। 'बहते आँसू' 'गोली' 'यमुना के पंख' आदि उपन्यासों में इसके अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं। 'सोमनाथ' का एक उदाहरण देखिए। महमूद ने धर्मगजदेव के समीप महाराज अजयपाल को मार्ग खाली करने के लिए अपना दूत बनाकर भेजा है। महाराज अजयपाल की बातें सुनकर धर्मगजदेव अपने क्रोध को रोककर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—

'महाराज आप शिम्भ मद के दिग्पाल हैं। जो आपने अपना कर्तव्य पालन न कर प्राय अधाम का श्रेष्ठ काम किया। यह आपने क्षत्रियों की नवीन मर्यादा स्थापित की। आपने इस युक्ति से मुलतान बचा लिया और अब एक महा पुण्य लाभ करने सुल्तान की दासता करके उनका दूतत्व करते हुए, इस देव-स्थान नष्ट करने पट्टन के पास आए हैं। आप ही ने लोहकोट के सुल्तान को मार्ग देने को राजी किया था यह आपकी कीर्ति मैं सुन चुका हूँ। महाराज, आपकी इस कीर्ति का स्वर्ग में बखान करने आपके दादा बाबाबापा स्वर्ग पहुँच चुके हैं। जिन्होंने आपको बचपन में घुटनों पर खिलाया था। महाराज अजयपाल आपने चौहानों को अच्छा मार्ग दिखाया—आप जैसे शूरवीर तलवार के धनी तो शत्रु के पाहुने बनें और आपके वृद्ध पूज्य पुरुष रणस्थली में मृत्यु के भोग बने? आप लोकपालक के उपकार के ही विचार से आए थे अंततः यह राज्य भी तो आप ही का है।'[1]"

धर्मगजदेव के इन वाक्यों में कितना व्यंग्य है, कितनी तीक्ष्णता है किन्तु उनका प्रहार स्पष्ट ही रहा है। 'शिम्भ मद के दिग्पाल' और 'दासता और दूतत्व' 'शूरवीर' होकर भी शत्रु के 'पाहुने' बनना आदि परस्पर विरोधी शब्दों को रखकर ही उपन्यासकार ने व्यंग्यात्मक शैली का निर्माण किया है। 'अंतत: यह राज्य भी तो आप ही का है।' में करारा व्यंग्य है। किन्तु यह अर्थ व्यंजना से व्यंजित हो सकता है।

---

१ सोमनाथ-पृ० १८१ १८२।

जिन स्थलों पर आचार्य चतुरसेन जी ने सामाजिक अथवा धार्मिक कुरीतियों पर व्यंग्य किया है, उन स्थलों पर उनकी शैली प्रत्यक्ष चोट करने वाली है किन्तु जहाँ पर उन्होंने किसी राजनीतिक कुरीति पर चोट की है अथवा किसी राजनीतिज्ञ के मुख से व्यंग्य करवाया है वहाँ चुटकी लेने वाला अप्रत्यक्ष व्यंग्य है। वे ऐसे अवसरों पर रुक-रुक कर चोट करते हैं जिसमे वे चोट खाने वाले की तिलमिलाहट भी दिखा सकें। ढोंग और अंध विश्वासों पर वे प्रत्यक्ष और करारी चोट करते हैं उनकी तिलमिलाहट वे न दिखलाना चाहते हैं और न स्वयं देखना ही। इसी कारण से उनकी व्यंग्यात्मक शैली परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार की है।

शैली के आंतरिक रूप के विभिन्न उदाहरण देने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "जिस प्रकार भाव परिवर्तन के साथ-साथ भाव प्रकाशन के रंग-ढंग में परिवर्तन आ जाता है उसी प्रकार से आचार्य चतुरसेन जी की शैली का आंतरिक रूप भी भावों के अनुरूप ही परिवर्तित होता रहा है। जिस प्रकार हमारे हृदय में विभिन्न भावों का जब उद्रेक होता है तो मुख से उन्हीं भावों को व्यक्त करने वाली शब्दावली स्वयं निःसृत होने लगती है उसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी के पात्र के हृदय में जब कोई भाव आता है तो वह उसे प्रकट करने के लिए सानुकूल शब्दावली एवं तदर्थ रूप व्यंजक शैली स्वतः साथ लिए आता है। यही कारण है कि उनके प्रत्येक भाव का रेखाचित्र बड़ा ही सजीव है।

शैली का मिश्रित रूप—

इसमें हम बाह्य-दृश्यों एवं विविध वस्तुओं के वर्णन एवं रेखा-चित्र को रख सकते हैं। बाह्य-दृश्यों एवं विविध वस्तुओं के वर्णनों के अन्तर्गत हम उन सभी दृश्यों एवं वस्तुओं का परिगणन कर सकते हैं जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय के विषय हों किन्तु यहाँ हम सुविधा की दृष्टि से आचार्य जी के उपन्यासों में प्राप्त बाह्य दृश्यों एवं विविध वस्तुओं के वर्णनों को दो वर्गों में रखकर देख सकते हैं—

१. रूप चित्रण—

इसमें हम मनुष्य वर्ग के चेष्टा आकृति रूप क्रिया आदि के विभिन्न वर्णनों को ले सकते हैं। इसमें उपन्यासकार द्वारा वर्णित विभिन्न पात्रों के रेखा चित्र उनके सौंदर्य वर्णन आदि को रखा जा सकता है।

२ दृश्य-चित्रण—

रूप चित्रण के अतिरिक्त इस वर्ग में इसी प्रकार के बाह्य दृश्यों चित्रणों को रखा जा सकता है। इसमें राज सभा, महाकाल मंदिर, नदी, वाटिका, युद्ध, जुलूस आदि के वर्णनों एवं अप्सराओं प्रणय, नृत्य आदि के रेखा चित्रों को लिया जा सकता है।

रूप-चित्रण की शैली—

आचार्य चतुरसेन जी के रूप चित्रण बड़े ही सजीव एवं आकर्षक हैं। ऐसे स्थलों की भाषा नीली गली हुई मस्त एवं झूमती हुई है। एक-एक शब्द एक-एक वाक्य माप तौल कर तराश कर ऐसा रखा हुआ होता है कि चित्र स्वयं साकार हो उठता है।

पात्र-चित्र एवं सौंदर्य चित्रण—

पात्रों के रेखा-चित्रों को साकार करने में आचार्य जी पूर्ण सफल हुए हैं। इसे चित्रों में पात्र का व्यक्तित्व उभरा प्रत्येक अंग प्रत्यंग रूप स्पष्ट एवं पूर्ण उभरा हुआ होता है। बड़े मियाँ (सोना और खून प्रथम भाग पूर्वार्द्ध) का एक चित्र देखिए—

'असल मुगल खून। चाँदी के समान रंग। उम्र अस्सी के पार। लम्बे पट्टे कन्धों पर कैस सफेद। बड़ी-बड़ी आँखें जिनमें लाल डोरे, भारी भारी पपोटों के बीच से झाँक कर प्यार और शान को निमंत्रण देती हुई। कद लम्बा किसी कदर दुबला पतला कमर कमजोर नहीं। कमर जरा झुकी हुई। दाढ़ी बगलकी—बहुत सावधानी से तराशी हुई। जो उनके रुआबदार चेहरे पर बहुत भली लगती थी। आँखों पर अभी चश्मा नहीं लगा। सुर्मा लगाते थे। सिर पर मखमली ऊनी कामदार टोपी। पैर में अलीगढ़ी पायजामा और बदली के असली कलाबत्तू के काम के जूते। बदन पर जामदानी का अंगरखा उस पर कामदार की शीमाशीन। हाथ में अम्बर की कीमती तसबीह प्रतिक्षण सरकती हुई। पान की लकीरों से आरास्ता ओठ निरंतर हिलते हुए। दाँतों की बत्तीसी असली कायम जिन पर पान की लाख सफ ठीक अनार के दानों की शोभा को मात करती हुई। यही थे मियाँ नूरुद्दीन मुहम्मद खाँ रईस [illegible]।'[1]

बड़े मियाँ का सम्पूर्ण चित्र ज्यों का त्यों उपन्यासकार ने खींच दिया है। 'असल मुगल खून' से उनकी बहादुरी एवं उच्च कुलोद्भव होने की पुष्टि होती

---

१ सोना और खून-प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ २१।

है उनके व्यक्तित्व वर्णन को पढ़कर वृद्धावस्था में भी पूर्ण स्वस्थ होने की बात ज्ञात होती है। और सरकती हुई तस्बीह और निरंतर हिलते हुए होठों से उनकी धर्म प्राणता प्रकट होती है। इस छोटे से रेखा-चित्र में ही उसने सभी कुछ भर दिया है। इसी प्रकार का आचार्य चतुरसेन जी के एक नारी पात्र का चित्र भी देखिए—

पद्मा देवी की आयु छब्बीस बरस की थी। रंग उसका गोरा था जिसमें खून टपका पड़ता था। उसके लावण्य में स्वास्थ्य की कोमलता का अद्भुत मिश्रण था। उसकी आँखें काली और बड़ी-बड़ी थीं। कोये उज्ज्वल-श्वेत थे। उन आँखों में तेज और आकांक्षा दोनों ही कूट कूट कर भरी थी। अनुराग और आग्रह जैसे उनमें से झाँकता था। पद्मा देवी के बाल गहरे काले तथा आपाद चुम्बी थे। वे मुलायम और घूँघर वाले भी थे। भौंहें पतली और कमान के समान सुढ़ुक थीं। कान छोटे गर्दन सुराहीदार और उरोज उन्नत थे। शरीर उसका छरहरा था।[1]

इस रेखा चित्र मे आचार्य चतुरसेन जी ने पद्मा के व्यक्तित्व को तो साकार किया ही है साथ ही 'आकांक्षा' 'अनुराग' और 'आग्रह' से पूर्ण नेत्रों का चित्रण करके आपने उसके आंतरिक गुणों को भी इस रेखा चित्र में उभार दिया है। ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों के समान उनके पौराणिक उपन्यासों के पात्रों के भी रेखा चित्र बड़ सजीव हैं। 'वयं रक्षाम' की मन्दोदरी का रूप वर्णन देखिए—

'तपाए हुए सोने के समान उसका रंग था। क्षीण कटि और स्थूल नितम्ब थे। वह सोलह सुलक्षणों से युक्त थी। उसके केश काले सघन घूँघर वाले थे। वे पाद-चुम्बन कर रहे थे। भौंहे जुड़ी हुई, जंघाएँ रोमरहित गोल दांत सटे हुए थे नेत्रों के समीप का भाग नेत्र हाथ पैर, टखने और जंघाएँ सब समान और उभरे हुए थे। नख अँगुलियों की गोलाई के समान गोल थे। हस्ततल उतार चढ़ाव वाला चिकना कोमल और सुन्दर था। उँगलियाँ समान थीं। शरीर की कांति मणि के समान उज्ज्वल थी। स्तन पुष्ट और मिले हुए थे। नाभि गहरी थी तथा उसके पार्श्व भाग ऊँचे थे।'[2]

---

१ अनुला के पंख-पृ ३१।

२ वयं रक्षाम: पृ ८८।

टिप्पणी—'चरित्र चित्रण' वाले अध्याय में रूप चित्रण की शैली चरित्र तथा व्यक्तित्व को स्पष्ट करने की शैली आदि पर विशेष प्रकाश डाला जा चुका है।

इस रेखा चित्र में रूप की पूर्णता अवश्य है किन्तु अंबपाली का आंतरिक व्यक्तित्व नहीं उभर पाया है। वैसे यह चित्र बड़ा ही सजीव एवं सुन्दर है।

यह सत्य है कि आचार्य चतुरसेन जी के पात्र चित्र सजीव एवं पूर्ण होते हैं। उनमें सुन्दरी कोमलता एवं स्वाभाविकता भी कम नहीं होती किन्तु कहीं-कहीं पर उनके पात्रों के रेखा-चित्र इतने विस्तृत हो गए हैं कि उनकी सजीवता जाती रही है। स्थूल विवरणों के बीच उनका व्यक्तित्व दब गया है। 'वयं रक्षाम' में तो ऐसे रेखा-चित्रों का बाहुल्य ही है।

आचार्य चतुरसेन जी ने एक साथ कई पात्रों के रेखा चित्र भी चित्रित किए हैं। ऐसे चित्र संक्षिप्त किन्तु सूक्ष्म उभरे हुए किन्तु सांकेतिक होते हैं। उनके पात्र चित्रों की सर्वप्रमुख विशेषता है उनकी सूक्ष्मता एवं सजीवता। चित्र के प्रत्येक अंग को उपन्यासकार ने सूक्ष्मता के साथ उभारा है। चित्र का प्रत्येक अंग, प्रत्येक रेखा पूर्ण एवं प्रत्येक अंग विकसित एवं पुष्ट है। उन्होंने कहीं पर हल्के हाथ से रंग भरते हुए रेखा चित्र का स्पर्श किया है तो कहीं उनमें पूर्ण रंग भरते हुए। यही कारण है उनके पात्रों का बाह्य रूप चित्र तो पूर्ण एवं भरा पूरा है आंतरिक भावों के भी आलेखन और उद्घाटन में वे पूर्ण सफल हुए हैं।

अपने 'वयं रक्षाम' नामक उपन्यास में उन्होंने पात्रियों के नख-शिख वर्णन भी किए हैं।[1] रीतिकालीन आचार्यों की परिपाटी पर गद्य में लिखे गए ये नख शिख वर्णन नीरस एवं अस्वाभाविक हो गए हैं। इस प्रकार के प्रयोगों के कारण ही आचार्य चतुरसेन जी का 'वयं रक्षाम' उपन्यास उपन्यास न रहकर एक चमत्कार ग्रंथ सा बन गया है।

दृश्य चित्रण की शैली—

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में दृश्य-चित्रण भी अत्यन्त सजीव एवं प्राणवान् है। जिस दृश्य का भी उन्होंने वर्णन करना चाहा है बड़ी सफलता के साथ किया है। जिस युग के चित्र को उपन्यासकार ने खींचना चाहा है उसी युग के वातावरण के अनुकूल वह चित्रण में पूर्ण सफल रहा है। ऐसे स्थलों पर उनकी शैली विश्लेषणात्मक विवरणात्मक एवं कुछ कुछ काव्यात्मक हो गई है। सुचि एवं रमणीय स्थानों की रमणीयता का वर्णन करते समय उपन्यासकार ने तदनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कोमल शब्दों से पूर्ण

---

१ वयं रक्षाम: आचार्य चतुरसेन-पृ ४९८।

शैली का प्रयोग किया है। प्रासाद महालय मंदिर आश्रम आदि स्थानों के वर्णन उसी प्रकार की शैली में हुए हैं। उदाहरण के लिए 'सोमनाथ' उपन्यास में वर्णित सोमनाथ महालय का एक रेखा चित्र देखिए—

'महालय का मंडकोट कोई बीस हाथ ऊँचा और छै हाथ चौड़ा था। सैनिक आसानी से उस पर खड़े हो सकते थे। मंडकोट के सिंह द्वार के ठीक सामने गणपति का भव्य मंदिर था। उसी पर नक्कार खाना था। जिसमें पहर पहर पर चौघड़ियाँ बजती थीं। इस द्वार के दोनों पार्श्वों में दो विशाल दीप स्तम्भ थे जिन पर संगतराशी का अत्यंत शोभनीय काम हो रहा था। प्रत्येक स्तम्भ पर प्रतिदिन सहस्र दीप जलते थे जिनका प्रकाश दूर से समुद्र के पथगामी जहाजों को सोमनाथ महालय के ज्योतिर्लिंग की दिशा का भान कराता था। इन विशाल और ऊँचे दीप स्तम्भों के शिखर पर दो विशालकाय गज स्थापित थे जो श्वेत मर्मर के थे। दक्षिण दीप स्तम्भ के सम्मुख चन्द्र कुण्ड था जिसके विषय में प्रसिद्ध था कि उसमें स्नान करने से सर्व रोग मुक्ति होती है तथा मनोकामना सिद्ध होती है।'[1]

इसमें सोमनाथ महालय का रेखाचित्र इतना उभरा हुआ है कि हम किंचित प्रयत्न मात्र से अपनी कल्पना द्वारा मानस क्षेत्रों से उसको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। इसी प्रकार 'वयं रक्षाम' के अशोक वाटिका[2] जनक वाटिका[3] आदि के 'वैशाली की नगरवधू' के अम्बपाली के प्रासाद[4] नील पद्म प्रासाद[5] पुष्पकरिणी[6] आदि के राजसूय यज्ञ[7] आदि एवं सोमनाथ के अन्य अनेक विवरणों को रख सकते हैं।

राजदरबार आदि के रेखा चित्र—

आचार्य चतुरसेन जी के प्राचीन दरबारों नगरों आदि के वर्णन भी बड़े सजीव हैं। उन्होंने तत्कालीन राज दरबारों की सजधज को अपनी वर्णनात्मक शैली द्वारा सजीवता प्रदान की है। जहाँ महालय आश्रम एवं मंदिर

---

१ सोमनाथ-पृ १७।
२ वयं रक्षाम पृ ५०२ २०७
३ वयं रक्षामः पृ १६१।
४ वैशाली की नगर वधू-पृ ६२।
५ वैशाली की नगरवधू पृ २८।
६ वैशाली की नगरवधू-पृ ३६।
७ वैशाली की नगरवधू-पृ ३७५-७७।

आदि के विवरणों में कुत्सिता एवं रमणीयता है वहाँ प्राचीन राज दरबारों आदि के रेखा चित्रों में तड़क-भड़क सज धज एवं बनाव सिंगार की प्रधानता है। ऐसे स्थलों पर प्रयुक्त शैली अपने चमत्क एवं चुस्त प्रभाव के कारण बड़े सजीव चित्रों का निर्माण करती है। उदाहरण के लिए हम 'आलमगीर' नामक उपन्यास के शाहजहाँ के दरबार का एक चित्र लेते हैं—

'आम खास का दरबार खास तौर पर सजाया गया था। उसका प्रत्येक खम्भा जरी के काम के बहुमूल्य परदों से मढ़ा गया था। छत में रेशमी चंदोवे लगे थे जिसमें रेशम और जरी के फुंदने टंक हुये थे। फर्श पर बहुत बढ़िया नर्म रेशमी कालीन बिछे थे। बाहर एक बड़ा भारी शीमा पड़ा था जो सहन में आधी दूर तक फैला हुआ था। उसके चारों ओर चाँदी की पत्तियों से मढ़ा हुआ कटहरा लगा था। इस शीमे में लकड़ी के तीन बड़े खम्भे खड़े थे जो दूर से जहाज की मस्तूल की भाँति दीख पड़ते थे। इस शीमे के बाहर की ओर लाल रंग का कपड़ा लगा था और भीतर मछलीपट्टम की छींट थी। आम खास की सारी दीवारें कमखाब और जरी के काम के दुशालों से ढक गई थी और अमीम बहुमूल्य सुन्दर कालीन से भर गई थी।'[1]

उपर्युक्त रेखा चित्र में मुगल दरबार का एक सजीव रेखाचित्र है। यदि बारीकी से देखा जाय तो यह अपनी कुछ विशेषताओं के कारण 'वयं रक्षाम' 'नगरवधू' एवं 'सोमनाथ' आदि उपन्यासों में वर्णित हिन्दू राजदरबारों से बिल्कुल भिन्न दीख पड़ता है।

युद्ध एवं अत्याचारों के रेखा-चित्र—

आचार्य चतुरसेन जी के युद्ध एवं अत्याचारों के रेखा चित्र बड़े ही सजीव हैं। युद्ध के वर्णन करते समय उन्होंने सदैव देश काल का ध्यान रखा है। 'वयं रक्षाम' एवं 'नगर वधू' में प्राचीन भारत की युद्ध परिपाटियों के सफल चित्र अंकित हैं, तो 'सोमनाथ' एवं 'आलमगीर' में मध्यकालीन भारत के युद्धों में। 'सोना और खून' में हम १९वीं शताब्दी के युद्ध कौशल को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। यहाँ हम तीनों ही प्रकार की युद्ध परिपाटियों के एक-एक उदाहरण दे रहे हैं—

प्राचीन भारत की युद्ध परिपाटी का एक चित्र —

'वयं रक्षाम' से शम्बर-संग्राम का एक रेखा चित्र देखिए —'दोनों ही

---

१ आलमगीर-पृ ४।

शैली का प्रयोग किया है। प्रासाद महालय मंदिर आश्रम आदि स्थानों के वर्णन उसी प्रकार की शैली में हुए हैं। उदाहरण के लिए 'सोमनाथ' उपन्यास में वर्णित सोमनाथ महालय का एक रेखा चित्र देखिए—

'महालय का अंतर्कोट कोई बीस हाथ ऊँचा और छै हाथ चौड़ा था। सैनिक आसानी से उस पर खड़े हो सकते थे। अंतर्कोट के सिंह द्वार के ठीक सामने भव्यपदि का भव्य मंदिर था। उसी पर नक्कार खाना था। जिसमें पहर पहर पर चौघड़ियाँ बजती थीं। इस द्वार के दोनों पार्श्वों में दो विशाल दीप स्तम्भ थे जिन पर संगतराशी का अत्यंत शोभनीय काम हो रहा था। प्रत्येक स्तम्भ पर प्रतिदिन सहस्त्र दीप जलते थे जिनका प्रकाश दूर से समुद्र के पथगामी जहाजों को सोमनाथ महालय के ज्योर्तिलिंग की दिशा का भान कराता था। इन विशाल और ऊँचे दीप स्तम्भों के शिखर पर दो विशालकाय ध्वज स्थापित थे जो श्वेत मर्मर के थे। दक्षिण दीप स्तम्भ के सम्मुख चन्द्र कुण्ड था जिसके विषय में प्रसिद्ध था कि उसमें स्नान करने से सर्वरोग मुक्ति होती है, तथा मनोकामना सिद्ध होती है।'[1]

इसमें सोमनाथ महालय का रेखाचित्र इतना उभरा हुआ है कि हम किंचित प्रयत्न मात्र से अपनी कल्पना द्वारा मानस लोकों से उसको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। इसी प्रकार 'वयं रक्षामः' के अशोक वाटिका[2] जनक वाटिका[3] आदि के वैशाली की नगरवधू के अम्बपाली के प्रासाद[4] नील पद्म प्रासाद[5] पुष्पकरिणी[6] आदि के राजसूय यज्ञ[7] आदि एवं सोमनाथ के अन्य अनेक विवरणों को रख सकते हैं।

राजदरबार आदि के रेखा चित्र—

आचार्य चतुरसेन जी के प्राचीन दरबारों नगरों आदि के वर्णन भी बड़े सजीव हैं। उन्होंने तत्कालीन राज दरबारों की चकाचौंध को अपनी वर्णनात्मक शैली द्वारा सजीवता प्रदान की है। जहाँ महालय आश्रम एवं मंदिर

---

१ सोमनाथ-पृ १७।
२ वयं रक्षामः पृ ३०३ ३ ७,
३ वयं रक्षामः पृ ३६६।
४ वैशाली की नगर वधू-पृ ६२।
५ वैशाली की नगरवधू पृ ९८।
६ वैशाली की नगरवधू-पृ ३६।
७ वैशाली की नगरवधू-पृ ३७३-७७।

आदि के विवरणों में सुविधा एवं रमणीयता है वहाँ प्राचीन राज दरबारों आदि के रेखा चित्रों में तड़क-भड़क सज धज एवं बनाव सिंगार की प्रधानता है। ऐसे स्थलों पर प्रयुक्त शैली अपने सम्म एवं चुस्त प्रभाव के कारण बड़े सजीव चित्रों का निर्माण करती है। उदाहरण के लिए हम 'आलमगीर' नामक उपन्यास से शाहजहाँ के दरबार का एक चित्र ले रहे हैं—

"आम खास का दरबार खास तौर पर सजाया गया था। उसका प्रत्येक खम्भा जरी के काम के बहुमूल्य पर्दों से मढ़ा गया था। छत में रेशमी चंदोवे लगे थे जिसमें रेशम और जरी के फुंदने टंके हुये थे। फर्श पर बहुत बढ़िया नरम रेशमी कालीन बिछे थे। बाहर एक बड़ा भारी खीमा खड़ा था जो सहन में काफी दूर तक फैला हुआ था। उसके चारों ओर चाँदी की पत्तियों से मढ़ा हुआ कटहरा लगा था। इस खीमे में लकड़ी के तीन बड़े खम्भे गड़े थे जो दूर से जहाज की मस्तूल की भाँति दीख पड़ते थे। इस खीमे के बाहर की ओर लाल रंग का कपड़ा लगा था और भीतर मछलीपट्टम की छींट थी। आम खास की सारी दीवारें कमखाब और जरी के काम के दुशालों से ढक गई थीं और जमीन बहुमूल्य सुन्दर कालीन से भर गई थी।"[1]

उपर्युक्त रेखा चित्र में मुगल दरबार का एक सजीव रेखाचित्र है। यदि बारीकी से देखा जाय तो यह अपनी कुछ विशेषताओं के कारण 'वयं रक्षाम' 'नगरवधू' एवं 'सोमनाथ' आदि उपन्यासों में वर्णित हिन्दू राजदरबारों से बिल्कुल भिन्न दीख पड़ता है।

युद्ध एवं अत्याचारों के रेखा-चित्र—

आचार्य चतुरसेन जी के युद्ध एवं अत्याचारों के रेखा चित्र बड़े ही सजीव हैं। युद्ध का वर्णन करते समय उन्होंने सदैव देश काल का ध्यान रखा है। 'वयं रक्षाम' एवं 'नगर वधू' में प्राचीन भारत की युद्ध परिपाटियों के सफल चित्र अंकित हैं तो 'सोमनाथ' एवं 'आलमगीर' में मध्यकालीन भारत के युद्धों के। 'सोना और खून' में हम १९वीं शताब्दी के युद्ध कौशल को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। यहाँ हम तीनों ही प्रकार की युद्ध परिपाटियों के एक-एक उदाहरण दे रहे हैं—

प्राचीन भारत की युद्ध परिपाटी का एक चित्र —

'वयं रक्षाम' से सम्बर-संग्राम का एक रेखा चित्र देखिए —दोनों ही

---

१ आलमगीर-पृ ४।

पक्ष के भट आमने-सामने हो युद्ध करने को विकल हो उठे। आर्यों के प्रधान सेनापति ने महाशुचि व्यूह का निर्माण किया। उस व्यूह के दक्षिण पार्श्व पर साठ अतिरथ यूथप और वाम पार्श्व में साठ पंचरथ यूथप अपने पुत्रों सहित आसीन हुए। मध्य में गज-सैन्य और केंद्र में पांचालपति दिवोदास और उसकी देवसेना। अग्रभाग में अश्वरथ अपने दस सहस्र अतिरथों के साथ। सम्बर ने अपनी सेना का अर्ध-चंद्र व्यूह रचा। उसके मध्य में गज-सैन्य के साथ वह स्वयं रहा। आगे-पीछे और पार्श्व में छत्तीस छत्रधारी राजा।

व्यूहबद्ध होने के बाद ही दोनों सेनाओं में रणवाद्य बज उठे। देखते ही देखते दोनों ओर से शस्त्र चलने लगे। जय-जयकार का महानाद होने लगा। बाणों से आकाश छिप गया। शस्त्रों के परस्पर टकराने से आग निकलने लगी। हाथी घोड़े और सुभट मर-मर कर गिरने लगे। उनके रुधिर की नदी बह चली। जिसमें मृत वीरों के शरीर ग्राह से तैरने लगे। कोई मुमट-सुभट से द्वंद्व करने लगा। किसी ने अर्धचंद्र बाण से किसी का सिर काट लिया। किसी के मर्म स्थल में बाण घुस जाने से वह चीत्कार कर घूर्णित-सा भूमि पर गिर गया।

प्राचीन भारत में किस प्रकार व्यूहबद्ध होकर सैन्य परस्पर युद्ध करती थी इसका अत्यंत सजीव एवं स्वाभाविक चित्रण उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चतुरसेन जी ने किया है।

मध्य कालीन भारत की युद्ध परिपाटी का एक चित्र —

सोमनाथ' उपन्यास के पुष्कर के निकट युद्ध का एक विवरण देखिए — 'दूसरे दिन सूर्योदय से प्रथम ही राजपूतों को सावधान होने का अवसर न दे अमीर ने अपने दुर्धर्ष घुड़सवारों को ले अकस्मात् धावा बोल दिया। इस कार्य से प्रथम तो राजपूत-सैन्य में घबराहट और अव्यवस्था फैली। पर तुरंत ही राजपूत तलवारें ले-लेकर टूट पड़े। देखते ही देखते वे अपने छोटे-छोटे दल बना कर अमीर की सेना में धँस पड़े। हाथों-हाथ मारकाट होने लगी। रुंड-मुण्ड कटकर पृथ्वी पर पड़ने लगे। मेरों की सेना जो बर्छी के युद्ध में अप्रतिम थी अपनी नोकीली बर्छियाँ ले लेकर यवनों का संहार करने लगी। उनकी बर्छियाँ शत्रुओं की अंतड़ियाँ बाहर खींच लाए बिना शरीर से बाहर निकलती न थीं। धमदार तलवारों के करारे घाव खा-खाकर शत्रु हाहाकार कर उठे। [२]

१ वयं रक्षाम: पृ १९१।

२ सोमनाथ पृ १८७।

१८ वीं शताब्दी की युद्ध परिपाटी का एक चित्र —

सोना और खून[1] में १९वीं शताब्दी की युद्ध परिपाटी के अनेक रेखा चित्र हैं। उदाहरण के लिए उपन्यासकार द्वारा चित्रित 'खिड़की संग्राम का एक रेखाचित्र देखिए —'पार्सी मार्च की मुठभेड़ ट-सिपाहियों की पैदल बटालियन से हुई—जो अंग्रेजी सेना के बाम पार्श्व में सामनी पैदल देशी रेजीमेंट को धकेलती हुई बनारस बढ़ती आ रही थी। शीघ्र ही अंग्रेज सेना के सिपाहियों ने अपनी पंक्तियाँ दृढ़ कर लीं और स्थिति को सम्हाला। अब वे दृढ़तापूर्वक मराठा सेना का प्रतिरोध करने लगे। कदाचित उन्हें धावा देने का—उनकी दृढ़ता देख कमाण्डर ट-निटों ने अपनी बटालियन का तोड़ना व पीछे हटने का आदेश दिया। उन्हें पीछे हटते देख—अंग्रेजी सेना ने उन पर धावा बोल दिया। जिससे वे अपने पीछे वाली गोरी रेजीमेंट से बहुत अंतर पर आगे बढ़ आए।'

यदि साधारण दृष्टि से भी देखें तो भी उपर्युक्त तीनों रेखा चित्रों का अंतर स्पष्ट हो जाता है। प्रथम में प्राचीन परिपाटी के महाशुचि व्यूह का वर्णन है। दोनों ही दल व्यूहबद्ध हो जाने के पश्चात् ही युद्ध प्रारम्भ करते हैं। यूथप अर्धचंद्र बाण आदि शब्द भी प्राचीन वातावरण निर्माण में सहायक होते हैं। द्वितीय वर्णन में मध्यकालीन युद्ध परिपाटी का सजीव रेखा चित्र है इसमें व्यूह बांधने की इतनी चिंता नहीं दीख पड़ती। प्रत्येक दल अपनी रक्षा में सतर्क और दूसरे का परास्त करने के लिए कटिबद्ध है। इसमें बर्छियों एवं तलवारों का युद्ध दर्शनीय है। अंतिम उदाहरण में १९वीं शताब्दी की युद्ध परिपाटी है। इसमें यूथप व्यूह आदि शब्दों के स्थान पर बटालियन आ गई है। इन तीनों ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी ने प्राचीन मध्यकालीन एवं आधुनिक तीनों ही प्रकार की युद्ध परिपाटियों का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया है। वे इनको वर्णन करते समय भी बड़े सतर्क रहे हैं जिससे उनके युद्ध वर्णन बड़े ही सजीव एवं रोचक बन पड़े हैं।

अत्याचारों का रेखाचित्र —

युद्ध वर्णनों के साथ-साथ आचार्य चतुरसेन जी ने तत्कालीन राजाओं के अत्याचारों के रेखा चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। यह रेखा-चित्र जहाँ एक ओर पाठक के हृदय में युद्ध के प्रति वितृष्णा उत्पन्न करते हैं वहीं दूसरी ओर पीड़ित

---

१ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ १९७।

व्यक्ति के प्रति हार्दिक सहानुभूति थी। आचार्य चतुरसेन जी के 'बिना चिराग का शहर' नामक उपन्यास का एक उदाहरण देखिए —

'इसी समय जल्लाद तेज छूरे लेकर आए। और असल काम शुरू हुआ। आहिस्ता से पहिले पेट के नीचे से कमर तक उसकी खाल उतारी गई और इसके बाद उसे चीमटों से पकड़कर खींचा जाने लगा। असह्य यंत्रणा से राजा कराहने लगा। पर शीघ्र ही उसकी कराहना भी धीमी पड़ गई। और वह फिर बेहोश हो गया। जल्लाद अपना काम तेजी से करते रहे और उसके सीने तक की खाल समूची उधेड़ ली गई। देखते ही देखते राजा एक जीवित मांस का लोथड़ा रह गया। राजा यद्यपि इस समय बेहोश था पर वह जीवित था। और सांस ले रहा था। चूंकि जिंदा खाल खींचने का शाही हुक्म था। इसलिए जल्लादों ने खाल खींचने में जल्दी की। उन्हें भय था कि कहीं वह खाल खींचने से पहिले मर न जाय।[1]

प्रस्तुत रेखा चित्र कितना सजीव है। जल्लाद की क्रूरता एवं निर्ममता राजा की निरीहता एवं तड़पन असह्य यंत्रणा के कारण उसकी दर्दनाक कराह मूर्छा का प्रेयसी रूप में कुछ समय के लिए आना और फिर रुककर चली जाना मृत्यु का मुंह फेर लेना अपने ही राजा की जिंदा खाल खिंचते हुए देखना और आह न भर पाना आदि सभी भावों को कुशलता से उपन्यासकार ने प्रस्तुत चित्र में उभारा है। यह रेखा चित्र इतना मर्म-स्पर्शी एवं सजीव है कि पाठक पढ़ते ही रोमांचित आतंकित एवं क्षोभित हो उठता है। आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में इसी प्रकार के अनेक रेखा चित्र भरे पड़े हैं।

नृत्य आदि के सजीव वर्णन—

एक ओर आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में जहाँ युद्ध की धूमधाम है अत्याचारियों के नृशंसताओं के रेखा चित्र हैं वहीं दूसरी ओर सुन्दरियों के नृत्य की झुम्मर झमक वाद्ययंत्रों की सुमधुर ध्वनि घुंघरुओं की छमछमाहट के चित्रणों से भी उनके उपन्यास भरे पूरे हैं। 'सोमनाथ' उपन्यास का निम्न उदाहरण देखने योग्य है—

'मृदंग पर थाप पड़ी और कोमलपद की हल्की ठोकर से सुनहरी घुंघरू रव उठे छम। मृदंग ने चीड़ मारकर फिर थाप मारी और घुंघरू बजे छम छम। फिर तो नूपुर शोभित लाल कमल से वे चरण श्वेत-प्रस्तर के उस सभा

1 बिना चिराग का शहर, पृ १०७।

भवन के विस्तार को छू-छूकर उमस भगाने लगे। घुंघरुओं की झंकार जैसे लोगों के हृदयों में ज्वार भाटा उत्पन्न करने लगी।[1]

नृत्य का सम्पूर्ण चित्र पूर्ण सजीव है। इसमें उपन्यासकार ने अत्यंत सूक्ष्म पर्यवेक्षण से कार्य किया है। घुंघरुओं की ध्वनि मृदंग के स्वर एवं कोमलपदों की थिरकन तक को उसने प्रस्तुत चित्र में उभार दिया है।

इसके अतिरिक्त आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में गाँव नगर, भूप वाटिका बाजार, नदी पर्वत वृक्ष जलाशय गढ़ किले आदि के भी विस्तृत एवं सजीव वर्णन प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं राजदरबार, राज व्यवस्था आदि के विवरण विभिन्न वर्गों के जीवन की झांकी अरे सजीव चित्रण भी उनके उपन्यासों में दर्शनीय हैं। इन सभी का वर्णन हम देशकाल एवं वातावरण सृष्टि' नामक अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ पर हमने जो कुछ उदाहरण दिये हैं उनसे हमारा उद्देश्य आचार्य जी की लेखन शैली पर प्रकाश डालना मात्र रहा है। आचार्य जी की कहानियों की लेखन शैली भी बहुत कुछ उनके उपन्यासों के समान ही है।

अभी तक हमने आचार्य चतुरसेन जी की लेखन शैली का विवेचन किया अब उनके शब्द भंडार, मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोगों पर भी एक दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा। जैसा कि हम पीछे दिखला चुके हैं कि आचार्य जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनके उपन्यासों में तीन प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है। आगे हम उनके तीनों ही प्रकार के उपन्यासों में प्रयुक्त शब्द भंडार पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

संस्कृत, पाली प्राकृत आदि के शब्द —

आचार्य चतुरसेन जी ने विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए संस्कृत पाली एवं प्राकृत के कितने ही तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग अपने उपन्यासों में किया है। 'वैशाली की नगरवधू' एवं 'देवांगना' (मंदिर की नर्तकी) आदि में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग प्रभाव-वृद्धि एवं वातावरण सृष्टि के लिए ही किया गया है किंतु 'वयं रक्षामः' में आवश्यक ही संस्कृत बहुला भाषा का प्रयोग हुआ है। इसमें कहीं-कहीं तो संस्कृत मिश्रित भाषा प्राप्त होती है तो कहीं समूचा परिच्छेद ही संस्कृत में है।[2] बहुधा अनार्य महत्पुरुषों का कथोप

---

१ सोमनाथ पृ २१

२ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन पृ १६४, १६५।

कथन संस्कृत में कराया गया है।[1] ग्रंथ का समर्पण-पत्र भी संस्कृत में है। और 'इति' व्याख्या भी संस्कृत में।[2] ग्रंथ की समाप्ति मन्दोदरी विलाप पर हुई है यह विलाप भी संस्कृत में ही है।[3] ऐसा आचार्य चतुरसेन जी ने इस उपन्यास में क्यों किया ? इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है संस्कृत का मैं पंडित नहीं हूँ। जीवन के आरम्भ में कुछ संस्कृत पढ़ी अवश्य थी अब सब भूलभाल गया। गत चालीस वर्षों में संस्कृत से प्रायः नाता ही टूट गया। यदा-कदा कभी कुछ पढ़ लेता था परन्तु अब इस उपन्यास के लिखने के समय वाणी कहीं में उबाल आ गया। सो यह भी एक चमत्कार कहना चाहिए।[4] भले ही आचार्य चतुरसेन जी को यह चमत्कार प्रिय लगा हो किंतु इस प्रकार खड़ी बोली की भाषा का प्रयोग करके उसमें स्थान-स्थान पर संस्कृत के पैबंद लगाना उचित नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार भाषा के साथ खिलवाड़ करना सर्वथा अनुचित है। तुलसी ने 'मानस' में किसी दूसरे ही भाव से संस्कृत भाषा का प्रयोग किया था उनका उद्देश्य किसी प्रकार के 'चमत्कार प्रदर्शन' का नहीं रहा था। 'वयं रक्षामः' 'भगवद्' आदि उपन्यासकार ने विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ रंचमात्र भी कृत्रिमता की गंध या पांडित्य प्रदर्शन नहीं ज्ञात होता प्रस्तुत शब्दों के प्रवाह को देखकर तो ऐसा आभास होता है कि वे शब्द प्रकृतितः अपने उचित स्थान पर स्वयं आकर जम गये हों अपरिवृत्तिसह हो गए हों।

विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करने वाले शब्द—

यहाँ हम आचार्य चतुरसेन जी द्वारा प्रयुक्त कुछ उन संस्कृत पाली प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं के शब्दों को प्रस्तुत कर रहे हैं जो विषयानुकूल वातावरण उपस्थित करने के लिए उपन्यासों में प्रयुक्त हुए हैं।

तत्कालीन वातावरण-परिचायक शब्द-

इसमें हम पारिवारिक सामाजिक एवं सैनिक क्षेत्र से सम्बद्ध वस्तुओं के नामों, सामंत वर्ग के द्योतक नामों न्यायालय एवं अन्य प्राचीनता द्योतक

---

१ वयं रक्षामः पृ० २२७ से २२८ तक। ३६१ ३६२, ३६४ ३६५, ३६६ ७४१-७४२।

२ वयं रक्षामः समर्पण एवं इति।

३ वयं रक्षामः पृ० ७५१ से ७५७ तक।

४ चतुरसेन त्रैमासिक, वि० सं० २०१२ प्रथम अंक पृ० १०७।

नामों आदि को ले सकते हैं। जैसे संथागार प्रांगण (मगरवधू पृष्ठ १२) अलिंद प्रकोष्ठ गर्भगृह, दंडधर (म० व० ९२) मणिरत्नखचित मौक्तिक, सामंतपुत्र (म० व० १२) अंतरायण हट्ट (म० व० ११) तोरण (पृ० ९७) सन्निपात महाबलाधिकृत छन्दशलाका ज्येष्ठिचत्वर (पृ० १३) आमात्य (म० व० ९१) तूर्य (म० व० ११) गतिगण (म० व० १२) आयुष्मान् (म० व० १२) सांधिविग्राहिक अट्टवी रक्षक (म० व० १२४) कृत्या लिप्त (म० व० १२७) मधुगोलक मैरेय माध्वीक दासता (म० व० १२९) सांहत्य आस्तरी, अर्घपात्र समित्पाणि (म० व० १४२ १६३) अष्टकुल सर्वजनसौम्या (म० व० ३०) गणपति गणनायक (म० व० ११) वीथिका चैत्यिभुक्त अर्हत अंतरायण पण्य धर्मबन्धु, काषाय वस्त्र प्रव्रजित (म० व० ६०) शिक्षा प्रमुख स्नातक अवाचीन उपासक (म० व० १२१) स्वस्तिकों पताकाएँ, तोया उपानत कार्पिक कौशेय परिधान (म० व० १२२) तैलाभ्यंग कंचुक क्षौम प्रावार, दण्डस्थल (म० व० ४६१) नीलापुक क्षौमरेणु साक्षक अंशुफात गन्धस्थल स्फटिक चषक (म० व० ६६८) गवाक्षों कक्ष शृङ्गार गृह (म० व० ४७६) कुतक कुकूल उपाधान (४७७ ७८) वस्तु, आप्यायित (७६१) आदि कितने ही शब्द प्राप्त हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने इसी प्रकार के लगभग दो हजार से भी कुछ अधिक शब्दों को अपने विशिष्ट समकालीन पारिभाषिक अर्थ में । तथा जिनका प्रचलन चिरकाल से बन्द हो गया था का प्रयोग अपने उपन्यासों में विषयानुकूल वातावरण निर्माण के लिए किया है।

विभिन्न मनोभावों को प्रकट करनेवाले कुछ शब्द—

उपन्यासकार वही सफल हो सकता है जिसको विभिन्न स्वभावों एवं रुचियों का प्रशस्त ज्ञान हो एवं अंतर्जगत् की विभिन्न सूक्ष्म वृत्तियों का वह मर्मज्ञ हो। किन्तु केवल आभ्यन्तर वृत्तियों के ज्ञान मात्र से ही वह सफल नहीं हो सकता जब तक उन सूक्ष्म वृत्तियों को ज्यों की त्यों चित्रित कर देने के लिए उसका शब्द भंडार भी विस्तृत न हो। आचार्य चतुरसेन जी का शब्द भंडार विस्तृत था इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण से वे अपने उपन्यासों के अधिकांश स्थलों पर प्राप्त विभिन्न मनोभावों को उपयुक्त शब्दों द्वारा ज्यों के त्यों व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुए हैं। जहाँ पर उन्हें जिस प्रकार के मनोभावों को व्यक्त करना हुआ है उन्होंने बिल्कुल उसी भाव को उतार देने वाले शब्दों को प्रयुक्त किया है। उदाहरण के लिए जहाँ उन्होंने आश्चर्य प्रकट कराया

है, वहाँ उनके शब्द अपने में कुछ कुतूहल कुछ विस्मय कुछ रहस्य लिए होते हैं और इन्हीं शब्दों के व्याज से वे रहस्यपूर्ण वातावरण प्रस्तुत कर देते हैं। कहीं कोई 'चमत्कृत होकर दाँतों तले उँगली दबा लेता है। (सोमनाथ पृष्ठ १०२) तो कहीं कोई मुँह से आधे शब्द बोल और आधे दबा कर अचकचाना सा आश्चर्य प्रकट करने लगता है। वहाँ उन्हें प्रासाद पूर्ण स्थलों को सँवारना हुआ है वहाँ उन्होंने छोटे-छोटे किन्तु तीक्ष्ण एवं चुभते हुए शब्दों को स्थान दिया है। क्रोध एवं आवेश व्यक्त करने के लिए उन्होंने ओजपूर्ण एवं भारी शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार से उन्होंने अपने सम्पूर्ण कथा-साहित्य में विभिन्न मनोभावों को प्रकट करने के लिए तदनुरूप शब्दों का प्रयोग किया है। गत पृष्ठों में उनकी शैली का विश्लेषण करते समय हम इस बात पर विस्तार से विचार कर चुके हैं।

अरबी, फारसी के शब्द—

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने कथा-साहित्य में अरबी फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग खुलकर किया है। वे पात्रानुकूल भाषा लुभाने के पक्ष में थे अतः उनके अधिकांश मुसलमान पात्र अरबी फारसी प्रधान भाषा में वार्तालाप करते हैं। इतना ही नहीं उनके अधिकांश हिन्दू पात्रों को भी जब मुसलमान पात्रों से वार्तालाप करना होता है, तो उनके भी वार्तालापों में अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य दीख पड़ता है। आचार्य चतुरसेन जी के उन ऐतिहासिक उपन्यासों—में जिनका सम्बन्ध यवनों से है—अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य देखा जा सकता है। 'सोमनाथ' और 'आलमगीर' नामक उपन्यासों की भाषा हमारे इस कथन की प्रमाण है। नीचे के कुछ अवतरणों से हमारी बात स्पष्ट हो जायेगी। पुष्पांकित शब्दों पर ध्यान दीजिए—

'तुम भी बहुत मुतफिक्र❀ मालूम होते हो' (आलमगीर पृष्ठ १७)।

'कयामतबर्पा❀ होने वाली है ।

'हुजूर इस फर्मांबर्दार❀ पर हमेशा यानी बने रहते हैं'।

'तुम लोग मेरी कमजोरियों❀ को दरगुजर❀ करते रहो' (आलमगीर पृष्ठ १८)।

'खुदा तुम्हें मुर्तकिब❀ करे। (आलमगीर पृष्ठ १९)।

--- और ताल्लुकात❀ में तुम्हारी दस्तबरदारी❀ करेगी।' (आलमगीर पृष्ठ १०५)।

'आपको अगर इस्म-गजूमकुफ़ीक़ लीक पड़ता है' " (सोमनाथ पृष्ठ २२९)।

'यह तो इत्तफ़ाक़ पर मौक़ूफ़ है (सोमनाथ पृष्ठ २९०)।

'मेरी मुस्ताल से एक इल्तजा है (सोमनाथ पृष्ठ २९०)।

'तुम्हारे क़दमों में सदके़ करता हूँ (सोमनाथ पृष्ठ ४४५)।

' 'अय बुज़ुर्ग तुम पर आफ़रीं तू कौन है ? अपना नाम बता कर महमूद को ममनून कर' (सोमनाथ पृष्ठ ३९३)।

और आपके वालिद मरहूम। ख़ुदा उन्हें जन्नत दे। (धर्मपुत्र पृष्ठ ४)।

'मैं यह अर्ज करके आया हूँ कि आपकी ड्योढ़ियों पर जहर खाकर जान हलाक कर लूँ ? (धर्मपुत्र पृष्ठ १४)।

'मुद्दत से इस्तिमाल था आज देख लिया। (धर्मपुत्र पृष्ठ ४१)।

'मेरे लिए तो यह फ़ख्रतर है। (धर्मपुत्र पृष्ठ १५९)।

'अपने रोजमार शब्दों में मशरूफ़ रहते हैं, (बगुला पृष्ठ ६९)।

'जी हाँ हुजूरेआला हमारे आका " (बगुला पृष्ठ ६८)।

'आपका इस्मगिरामी (बगुला पृष्ठ ६८)।

" " 'उसका वालिन्द हाज़िर आता है। (बगुला पृष्ठ ७५)।

'निहायतपाकीज़ा। (बगुला पृष्ठ ७२)।

'वे जमगर्क होते होंगे। (बगुला पृष्ठ ८१)।

'आप तो क़िबलादामाबीना हैं। (बगुला पृष्ठ ९१)।

वाक्यों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी उर्दू उपन्यास के कुछ वाक्य उद्धृत कर दिये गए हों। आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यासों में इस प्रकार के अरबी फारसी के शब्दों की संख्या लगभग ढाई हजार के होंगी। कुछ नमूने और देखिए—

आरजू (आलम० ६८) हिम्मतवर (आलम० ६८) आक़िल तोहमत मज़्मों बयानतवारी फ़रिश्ता बेवकूफ़ पेशानी वारिस महफ़ूज़ (आलम० ६८ ६९) बमसदरामद वालिदे पोशीदा मुकम्मिल हिजो दस्तंदाजी (आलम० ७०-

७१) की मिसार (सोमनाथ २१५) मौसूफ मैमी मवद बफावत इस्तमा तुहिम (सोम० पृष्ठ २९०) कद्दावर (सोम० २०१) ममनून इस्तमा तमीजाह (सोम० १०८) रकाब (सोम १२४) फराखदिली कुवैतमर्दानगी इस्तमरारदारी सिलमतपार (धर्मपुत्र पृष्ठ ११) तकसीर (गोमी ७५) मुखातिब तकिया कलाम (गोमी पृष्ठ १०१) मशगाक गबन मुल्क पीरी बजान (बगुला पृ० १४) समक (बगुला ४९) तहिस्सा (पृष्ठ ५०) ।

कुछ असत्य शब्दों का भी प्रयोग देखिए—

दस्तरखाम मेंही शरीक हो गए।

होना चाहिए दस्तरखान पर शरीक हो गए।

'अकेले महर की रकम पर क्या मौसूफ है (धर्म० १९)

होना चाहिए मौसूफ के स्थान पर मौकूफ।

'बातों ही का सीपाकी बंधा रहता है (धर्मपुत्र १९)

होना चाहिए बातों का सिलसिला ही बंधा रहता है।

'हुजूर इस्म मौसीकी के माहिर कामिल हैं। (धर्म० ४४)

होना चाहिए हुजूर इल्म मौसीकी के उस्ताद कामिल हैं।

वो किसी दिन ज्यारत कर मार्ऊँ इजाजत दें (धर्म० ४५)

होना चाहिए वो किसी दिन हाजरी दूँ इजाजत दें कारण ज्यारत का प्रयोग मृतक के लिए होता है।

'लम्बी और मैं एक महमेंही को भी छुआ न हुए थे। (धर्म० ५१)

होना चाहिए लम्बी और मैं एक कमाई को भी छुआ न हुए थे।

'यो कि बहुत शरीफ और आमिल हैं

होना चाहिए आमिल के स्थान पर आलिम। (धर्मपुत्र ७)

अंग्रेजी शब्द —

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में अंग्रेजी शब्दों का भी बाहुल्य प्राप्त होता है। इन शब्दों का प्रयोग दोनों रूपों में हुआ है उपन्यासकार ने स्वयं कुछ कहने के लिए इनका प्रयोग किया है और शिक्षित और अशिक्षित पात्रों द्वारा भी वे व्यवहृत हुए हैं। कुछ पारिभाषिक अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग उपन्यासकार ने अर्थ की सम्पूर्णता के लिए किया है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द ही पर्याप्त होंगे। जैसे मिनिट (बगुला के पंख १५) फोटोग्राफी ठीक लवम (बगुला के पंख पृ० १८) पेमेंट टिप (बगुला के पंख पृ ५०) रेस्टोरेंट आर्डर (बगुला के पंख १८) कन्ट्रैक्ट मीटिंग स्लिप (बगुला के

पंख १०७) पालिश्ड सोसेसी (बगुला के पंख १७०) आफरस्वाफ वंडरफुल पावर हेर्रैस मेक (बगुला के पंख १७०) कोर्टशिप एन्फैंट्री रेजीमेंट कमांड, डिस्पैच (सोना और खून प्रथम भाग १७४) टाइप एजीटाम मशीन मेम्ब (धर्मपुत्र पृ० १०) हाबी (धर्मपुत्र ११) चैसोमिन बरबीना डिटरन एर्सेसों (पृ० ८०) एंगेजमेंट आर्पोडाक्स (धर्मपुत्र पृ० ८५) आदि कितने ही अंग्रेजी शब्दों का उन्होंने अपने उपन्यासों में व्यवहार किया है। यदि 'समास में प्राप्त अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को भी ले लिया जाय तो आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त अंग्रेजी के शब्दों की संख्या दो हजार से शायद ही कुछ कम रह जाय। किंतु आचार्य चतुरसेन जी ने अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते समय इस बात का सर्दैव ध्यान रखा है कि विदेशी शब्दों के बहुवचन हिन्दी व्याकरण के अनुसार ही बनाये जायें। देखिए रेस्टोरेंटों आर्डरों (बगुला के पंख पृष्ठ ६८) अफसरों मिनिस्टरों फर्मों (गोली २११) कौंसिलों कम्युनिस्टों आदि।

विदेशी भाषाओं के शब्दों के बाहुल्य से आचार्य चतुरसेन जी की भाषा कई स्थलों पर कृत्रिम हो गई है। जहाँ तक अरबी फारसी अथवा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भाषा को स्वाभाविक एवं पात्रानुकूल बनाने के लिए किया गया है वहाँ तक तो एक सीमा तक उसका समर्थन किया जा सकता है किंतु जहाँ आचार्य चतुरसेन जी ने स्थिति घटना अथवा कथा प्रगति की विवेचना करने के लिए अरबी फारसी अथवा अंग्रेजी के अप्रचलित एवं अनावश्यक शब्दों को बलात् भाषा पर आरोपित किया है। वहाँ उनकी भाषा कृत्रिम एवं अस्वाभाविक हो गई है।

प्रान्तीय शब्द—

आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी भाषा को पात्रानुकूल एवं स्वाभाविक बनाने के लिए विभिन्न बोलियों एवं अन्य प्रांतों की भाषाओं का प्रयोग किया है। आपने ऐसे शब्दों का प्रयोग भाव को अधिक निखारने एवं वातावरण उत्पन्न करने के लिए ही किया है।

राजस्थानी के शब्द—

अपने 'गोली' उपन्यास में राजस्थानी वातावरण उत्पन्न करने के लिए उपन्यासकार ने कितने ही राजस्थानी शब्दों का यथा स्थान प्रयोग किया है। उदाहरण देखिए—

'मेरा रसोड़ा अलग था। राजा मेरे ही साथ कासा आरोगताऊ था।' (गोली पृ० १०)।

'विविध भोज्य पदार्थ भटाके के लोग परसते रहते। (गोली पृ० ११)।

'--- उन्हें वे पक्षपात जमा लेते थे। (गोली पृ० १६)।

'भरवापाकरा वह था जो घर ही में उत्पन्न हुआ हो' (गोली पृ० १९)।

'प्रतिदिन एक दिन का पेटियाअटासे से मिलता था। पेटिया का अभिप्राय आटा दाल चावल घी ईंधन तरकारी आदि है। (गोली पृ० २१ २४)।

'दाहिने भाड़ गाडी दारूड़ो बरबारो पियो जमराज। (पृ० २५)।

'हम उसके सिवाने में आ पहुँचे' (पृ० २९)।

'वह छप्परखट पर सोती में मुखड़ी पर' (पृ०११)।

'म्हारा ढोला बेगी आवो जी। (पृ ८८)।

इसी प्रकार बणी (पृ १२) बौडा (पृ० ११) कसमल सखुआ कुम्मेत मकोड़ा (पृ १५) कम्मा (पृ १७) ढोक (पृ० १७) पसाव (५४) पीढ़ी (७४) भाड़ बेगी म्हारा वाला बेग बेग रोफेर किम (पृ० ८८) ठाकरजे (पृ १०२) मोठ (१९५) बाटी चूरमा (पृ० ३२०) पड़ारी (पृ० २९१) आदि कितने ही राजस्थान में प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'गोली' उपन्यास में प्राप्त होते हैं। इनसे जहाँ एक ओर भावों की अभिव्यक्ति में सहायता प्राप्त होती है वहीं दूसरी ओर वातावरण निर्माण में भी।

इसी प्रकार बंगला के भी कुछ शब्दों का प्रयोग आचार्य चतुरसेन जी के कथा साहित्य में प्राप्त होता है। यथा दुर्भिक्ष पापे (सोना और खून) प्रथम भाग उत्तरार्द्ध १६२ कहीं-कहीं उन्होंने वातावरण सजीव करने के लिए प्रांतीय भाषाओं के पूरे-पूरे वाक्य दे दिए हैं। बंगाली का एक उदाहरण देखिए—वे भागते जाते थे और कहते जाते थे—'कहाँ गेला दुर्भिक्ष? कालिकाता अपवित्र हुईल। देश पापे परिपूर्ण हुईल। फिरिंगेर धर्माधर्म ज्ञान नाई।।।' (सोना और खून प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृष्ठ १६२)।

आचार्य चतुरसेन जी के प्रारंभिक उपन्यासों में एक दो ब्रजभाषा के शब्द भी प्राप्त हो जाते हैं देखिए—

छोरे (आत्मदाह पृष्ठ २१) लुगाई आत्मदाह (पृष्ठ २१) सैन कहते आँसू (पृष्ठ ८१) आदि।

इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के मनोभावों को प्रकट करने वाले शब्दों ध्वन्यात्मक एवं अनेकानेक प्रचलित आनुकरणिक शब्दों के प्रयोग भी आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी का शब्द भंडार विस्तृत है। उनके शब्द भंडार पर एक दृष्टिपात करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने अपने उपन्यासों में कई भाषाओं का प्रयोग किया है। यदि 'वयं रक्षाम' में संस्कृत एवं संस्कृतगर्भित भाषा का प्रयोग हुआ है तो 'आलमगीर' में उर्दू फारसी और अरबी भाषा के शब्दों का बाहुल्य है। 'सोना और खून' 'अपराजिता' आदि उपन्यासों में अँग्रेजी के शब्दों का भी आचार्य चतुरसेन जी ने डटकर प्रयोग किया है। वास्तव में उनका लक्ष्य अपनी बात को समझाने अपने भावों को स्पष्ट करने की ओर ही विशेष रहा है इसके लिए निःसंकोच उन्होंने सभी प्रकार शब्दों का प्रयोग किया है।

मुहावरे, उक्तियों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग—

केवल विभिन्न भाषा विभाषा एवं बोलियों के शब्द भंडार को ही देख कर हम किसी व्यक्ति को तब तक सफल भाषा नायक नहीं कह सकते जब तक वह उनका प्रयोग करना भी कुशलता एवं चातुरी से न जानता हो। आचार्य चतुरसेन जी में यह गुण था तभी 'सोमनाथ' 'गोली' आदि उपन्यासों में उनकी वाक्य रचना गठी हुई और अभिप्रेत अर्थ को यथावत् द्योतित करने वाली है। आचार्य जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग उतना नहीं हुआ है जितना उनके सामाजिक उपन्यासों में। आचार्य जी का विश्वास था कि ऐतिहासिक उपन्यासों में आधुनिक लोकोक्तियों को बलात् ठूंसने से उनकी कलात्मक महत्ता न्यून हो जाती है। अतः इसी प्रकार से उन्होंने मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग बड़ी सतर्कता के साथ किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

महमूद (सोमनाथ) ने विश्वासघात करके अपने प्रतिद्वंद्वी महाराज धर्मगजदेव को समाप्त कर दिया। तलवार के भरपूर वार से 'महाराज वाकाश से टूटे नक्षत्र की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़े।'[1] महाराज की मृत्यु के पश्चात् 'लोग हजार-हजार मुख से गजनी के दैत्य को गालियाँ देने और कोसने लगे।'[2] किन्तु जब उसका सामना पड़ा तो वही विश्वासघाती 'अमीर भय खाता कोप

१ सोमनाथ-पृ १९९।
२ सोमनाथ-पृ २००।

छिपा कर, बेंत से पिटे हुए कुत्ते की भाँति दर्रे सेक्ड़ निकल कर तावड़तोड़ भागा।[1]

उपर्युक्त उदाहरणों में आचार्य चतुरसेन जी ने भावों एवं क्रिया को अधिक स्पष्ट करने के लिए मुहावरों का कितना सटीक प्रयोग किया है। इसी प्रकार क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायता प्रदान करने वाले कुछ अन्य मुहावरे भी देखिए—

ऐसा करो जिससे सांप मरे न लाठी टूटे।[2]

'जो बड़ी पगड़ कम्बल जैसे-जैसे भीगता है भारी होता है।[3]

'यहाँ मह चूहेदानी में चूहे की भाँति फँसा।[4]

इसी प्रकार आश्चर्य का भाव व्यक्त करने के लिए कितनी सुन्दरता से निम्न मुहावरे का प्रयोग किया गया है—

'इस किले की विशाल आकृति तथा सुन्दर और चित्ताकर्षक सौंदर्य देख कर दर्शक मुग्ध वैभव पर उंगली दांतों दबाते थे।'[5]

अपनी बात को लक्षणा एवं व्यंजना द्वारा स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कितने ही मुहावरों की रचना की है। कुछ और देखिए—

'शाहजादे और शाहजादियाँ नाक तक विलास और ऐश्वर्य में डूबे रहने पर भी सुखी न थे।[6]

'बादशाह ने बहुत कहा कि तुम आस्तीन के सांप को पल्ले बांधते हो।[7]

'हुजूर, ये सुबह के चिराग हैं।[8]

जिनसे वह घूम कर कुप्पा हो जाता है।[9]

यह हुए आचार्य चतुरसेन जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में प्राप्त मुहावरे

---

१ सोमनाथ-पृ २१६।
२ सोमनाथ-पृ १४८।
३ सोमनाथ-पृ. २५४।
४ सोमनाथ-पृ ४७२।
५ आलमगीर-पृ १।
६ आलमगीर-पृ. १५।
७ आलमगीर-पृ १२१।
८ आलमगीर-पृ १९५।
९ आलमगीर-पृ १७१।

अब हम उनके सामाजिक उपन्यासों में प्राप्त मुहावरों पर एक दृष्टि डालते हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के सामाजिक उपन्यासों में बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले मुहावरों का सौंदर्य और भी निखरा हुआ है। इनमें उनकी बहती हुई सरल सरस प्रांजल एवं स्वाभाविक भाषा एवं दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले मुहावरे एवं लोकोक्तियों का मणि कांचन संयोग प्राप्त होता है। उनके सामाजिक उपन्यासों में बिखरे हुए इस प्रकार के कुछ मुहावरे ही हमारी बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होंगे देखिए—चम्पा (गोली) अपनी असहाय दशा का वर्णन कर रही है—

'परंतु मेरी दशा पर कटे पक्षी के समान थी।'[१]

'वह केसर—जो मुझ अंधी की लकड़ी थी मेरी जीवन-नैया की खिवैया थी इस बार वह भी मुझ से बिछुड़ी।'[२]

इन दोनों ही मुहावरों द्वारा उपन्यासकार ने चम्पा की निरीहता एवं असमर्थता को स्पष्ट कर दिया है। यदि 'पर कटे पक्षी' से उसकी विवशता एवं निरीहता प्रकट होती है तो दूसरी ओर 'अंधी की लकड़ी' से केसर के प्रति उसका विश्वास एवं आस्था। उनके मुहावरे भावों की उत्कर्ष व्यंजना में भी सहायक रहे हैं देखिए—

'पर, मैं जीती मक्खी कैसे निगलूँगा।'[३]

'अरे वह पक्का हिंदू सभाई, मुसलमानों को तेल में होकर देखता है।'[४]

'ये सब फिजूल बातें हैं अपना हमें यह जहर का घूंट पीना ही होगा।'[५]

'अब बातों प पुरानी बातों की लीक पीटने से नहीं चलेगा।'[६]

उन्होंने अपनी बात को अधिक मर्मस्पर्शी एवं सजीव बनाने के लिए जन जीवन में प्रचलित मुहावरों का खुलकर प्रयोग किया है। देखिए—

---

१ गोली-पृ ९६।
२ गोली-पृ २१७।
३ धर्मपुत्र-पृ ३९।
४ धर्मपुत्र-पृ ६१।
५ धर्मपुत्र-पृ ६१।
६. धर्मपुत्र पृ ६७।

'मेरा भाग तो खा गई अब मेरी छाती मूंग दलेगी।'[1]

'इस तरह मरी बैल-सी आँखें क्या निकालती है।'[2]

'मर्दों ने हमारे लिए कैसे बंधन और रोक लगा रखे हैं और आप, आगे नाथ न पीछे पगहा।'[3]

'तुम्हारे घर में सब दूध धोये हैं।'[4]

'बस भोग पूरा पीर गई।'[5]

इसके अतिरिक्त कितने ही मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग आचार्य चतुरसेन जी की रचनाओं में प्राप्त होता है। इन कुछ उदाहरणों से ही उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, प्रयोग नैपुण्य एवं भाषा पर अधिकार स्पष्ट हो जाता है। आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यासों में लगभग दो सौ मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

उक्तियाँ एवं सूक्तियाँ —

आचार्य चतुरसेन जी प्रेमचंद की भाँति अपने उपन्यासों में स्थान-स्थान पर सूक्तियाँ भी देते चलते हैं। उनकी यह सूक्तियाँ मर्मभेदिनी एवं अनुभूतिमूलक होती हैं। इनमें जीवन के सच्चे अनुभवों का सार रहता है और इसीलिए यह हृदयस्पर्शी होती हैं। देखिए—

बिना धर्म के अर्थ और सिद्धि का कारबार चलता भी नहीं।[6]

'अविवेक के सम्मुख विवेक नहीं चलता। जहाँ अविवेक है वहाँ विवेक सावधान रहता है।'[7]

'जहाँ स्त्री शरीर पुरुष शरीर की दासता करते हैं जहाँ इच्छा होते ही जीव वासियों वासना और कामना की निर्बाध पूर्ति करती हैं जहाँ प्यार की प्रतिष्ठा नहीं है वहाँ केवल वासना ही वासना है वहाँ प्यार की पीड़ा के मिठास की अनुभूति कैसे हो सकती है।'[8]

---

१ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ ११।
२ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ १८।
३ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ २७।
४ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ ४४।
५ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ ४४।
६. सोमनाथ, पृ ९९।
७ सोमनाथ पृ० १४८।
८. सोमनाथ, पृ ४६४।

'झुकने के समय झुकना और अकड़ने के समय अकड़ना राजनीति है।'[1]

यह उक्तियाँ पात्र के मनोभावों एवं घटनाओं पर दी हुई उपन्यासकार की टिप्पणियाँ ज्ञात होती हैं। उन्होंने जीवन के तथ्यों का उद्घाटन भी इन सूक्तियों द्वारा किया है। देखिए—

'जिन्होंने कष्ट कभी देखा नहीं जो कभी दरिद्रता से मिले नहीं जिनके हृदय में दया के स्थान पर लालसा प्रेम के स्थान पर वासना और सहानुभूति के स्थान पर स्वार्थ भरा हुआ है वे गरीबों पर क्यों दया करें ?'[2]

'मनुष्य अपनी कुटेव और अंध-विश्वास द्वारा हानि उठाता है पर सब दोष विधाता और भाग्य को देता है। यह कैसे अंधेर की बात है।'[3]

'भगवान् सुख सब ही को देते हैं पर सुखी सब किसी को नहीं कर सकते।'[4]

आचार्य चतुरसेन जी की उक्तियों में मनोवैज्ञानिक अर्थान्तरन्यास के उदाहरण बड़ी सरलता के साथ देखे जा सकते हैं। उन्हें कथा कहते समय पात्र के अंतर का उद्घाटन करने का जब भी अवसर प्राप्त हुआ है वे चूके नहीं हैं। उन्होंने पात्र के बाह्य एवं आंतरिक क्रिया को किसी न किसी साधारण मनोवैज्ञानिक सत्य के मेल में लाकर दिखलाने की चेष्टा की है। आचार्य चतुरसेन जी के समस्त उपन्यासों में इस प्रकार की उक्तियों की संख्या लगभग ११८ के है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य चतुरसेन जी का भाषा ज्ञान व्यापक एवं शब्द भंडार अपरिमेय था। कहीं-कहीं असावधानी के कारण उनके उपन्यासों में भाषा की कुछ भूलें अवश्य रह गई हैं। यहाँ उन पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुपयुक्त न होगा।

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में प्राप्त भाषा विषयक न्यूनताएँ —

आचार्य चतुरसेन जी भाषा के विषय में लापरवाह रहे हैं इसी कारण असावधानी के कारण उनके उपन्यासों की भाषा यत्र-तत्र दोषपूर्ण हो गई है।

---

१ सोमनाथ पृ ४९०।
२ बहते आँसू (अमर अभिलाषा), पृ २१।
३ बहते आँसू (अमर अभिलाषा) पृ ३०।
४ बहते आँसू (अमर अभिलाषा ,पृ ७१।

उसमें लिंग दोष वचन दोष औचित्य दोष, पुनरुक्त दोष दुष्क्रमत्व दोष एवं वाक्य दोष कई स्थानों पर आ गए हैं। यहाँ हम संक्षेप में उनके उपन्यासों में प्राप्त उपर्युक्त दोषों पर विचार करेंगे—

लिंग दोष—

आचार्य चतुरसेन जी के वाक्यों में लिंग-विपर्यय बहुधा प्राप्त होता है। कुछ उदाहरण देखिए—

'मैं अपनी एक पुस्तकालय बना रही हूँ।'[1] (पुस्तकालय के साथ 'अपना' शब्द का प्रयोग होना चाहिए)।

'कोमल पद की हल्की ठोकर से सुनहरी घुंघरू बज उठे छम।'[2] (सुनहरे होना चाहिए)।

'पर फिर भी उसका पराजय ही हुआ।'[3] ('उसकी' पराजय ही हुई, होना चाहिये था।

"आज जन्मभर पद्मावती ऐसी ही मुस्कान मुझे दिखाया जा रहा था। (मुस्का के साथ 'ऐसा ही' शब्द प्रयोग होना चाहिए था)।

'मेरे जैसेकि प्रत्यक्ष-द्रष्टा और भुक्त-भोगी और कौन आपको दूसरा मिलेगा। (कन्या कह रही है अतः यहाँ पर 'मेरी जैसी' होना चाहिए)।

वचन दोष—

इसी प्रकार आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में वचन दोष भी दो स्थलों पर प्राप्त हैं, देखिए—

'सारा उपकूल श्वेतमार्गोंकि से भरा था।'[4] (श्वेत झाग होना चाहिए)।

औचित्य एवं अप्रयुक्त दोष—

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में इस प्रकार के दोषों का आधिक्य है। उन्होंने कई स्थानों पर शब्द-औचित्य पर ध्यान नहीं दिया है। किस शब्द का प्रयोग किस अवसर पर किस भाव को व्यक्त करने के लिए करना चाहिए, किस शब्द के साथ कौन सा शब्द प्रचलित है आदि बातों पर ध्यान रखने मात्र से ही उपन्यासकार इन दोषों से मुक्त हो सकता था। किन्तु आचार्य

---

१ बगुला के पंख पृ ११७।

२ सोमनाथ, पृ २२।

३ सोमनाथ, पृ २१९।

४ वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन, पृ ८७।

चतुरसेन जी ने कुछ स्थलों पर इस ओर ध्यान नहीं दिया है, फलतः भाषा का कलात्मक सौंदर्य नष्ट हो गया है देखिए—

'क्रोध से थरथराता रावण सर्पी की भाँति हुंकार* करके खड़ा हो गया।'[1] (सर्प फुत्कारता है हुंकारता नहीं)।

इत्र और सुगंधों की देसी विलायती शीशियाँ मेरे अंग पर बिखेरता रहता*।[2] (इत्र बिखेरा नहीं उँडेला या छिड़का जाता है)।

हिचकियाँ* बाँधकर रो उठे।[3] हिचकियों के स्थान पर हिचकियाँ होना चाहिए। (और हिचकियाँ भी बाँधी नहीं जातीं वरन् स्वयं बँध जाती हैं)।

'जिसकी* साड़ी है वह इतनी महान्* है।'[4] साड़ी* महान् नहीं होती हाँ सुन्दर अवश्य हो सकती है।

"सच पूछिये तो वे 'वांटेड' के कालमों में वीरेन्द्र को ढूँढ़ रहे थे।"[5]

'वांटेड' के स्थान पर 'लास्ट' (lost) होना चाहिए। नौकरी के लिए 'वांटेड' कालम देखना तो ठीक है किन्तु खोये हुए भाई के लिए वांटेड कालम को देखना कुछ उचित नहीं दीख पड़ता।

"खवास लोग उन पर चँवर डालते* थे।"[6]

(चँवर डुलाया जाता है डाला नहीं)।

'दोनों वीर गदा लेकर परस्पर गुथ* गए।'[7]

(गुथ गए के स्थान पर भिड़ गए अधिक उपयुक्त होता)।

'रावण ने क्रोधोन्मत्त होकर इस प्रकार वानर को मथा जैसा मीठा गूँधा जाता है।'[8] (मथा शब्द के स्थान पर दला शब्द अधिक उपयुक्त होता)।

---

१ वयं रक्षामः, पृ ७१।
२ गोली पृ १०।
३ गोली, पृ ६४।
४ अपराजिता पृ ३१।
५ आत्मदाह पृ २१८।
६ गोली पृ १९५।
७ वयं रक्षामः, पृ ७२।
८ वयं रक्षामः, पृ ८४।

इसी प्रकार उन्होंने अपने 'आलमगीर' नामक उपन्यास में एक स्थान पर 'कट्टर मित्र' शब्द का प्रयोग किया है।[1] 'कट्टर' शब्द का प्रयोग शत्रु के साथ प्रचलित है, मित्र के साथ नहीं।

पुनरुक्त दोष —

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में यत्र-तत्र पुनरुक्त दोष के भी दर्शन हो जाते हैं देखिए—

'जब वह लौटकर आई, पहर दिन चढ़ गया था। सूरज की धूप छनकर कोठरी में आ रही थी।[2] धूप सूरज की ही होती है चन्द्रमा की नहीं। अतः सूरज शब्द का प्रयोग यहाँ व्यर्थ हुआ है।

'इसी समय वानरेंद्र की मूर्छा टूटी। उसने अपनी भागती हुई वानरेंद्र की सेना को निवारण किया।[3] यहाँ 'अपनी' एवं वानरेंद्र का एक साथ प्रयोग असंगत है। दोनों एक ही अर्थ के द्योतक हैं। अतः इसमें पुनरुक्त दोष है।

इसी प्रकार उनके उपन्यासों में वाक्यों की भी पुनरुक्ति प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए हम उनके 'आलमगीर' उपन्यास का एक उदाहरण ले सकते हैं। इसमें जो बात भिन्न वाक्यों में पृष्ठ १० पर कही गई है, वैसी ही पृष्ठ १९ पर भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार जो बात उन्होंने पृष्ठ २९ पर कही है पृष्ठ ८२ पर भी उसकी पुनरावृत्ति हुई है।

दुष्क्रमत्व-दोषः—

जहाँ लोक या शास्त्र-विरुद्ध क्रम हो वहाँ यह दोष माना जाता है। एक दो उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी।

'कभी-कभी तो एक रात की बारी के लिए उन्हें अपना सर्वस्व यहाँ तक कि अपना एकाध गहना भी दे डालना पड़ता था।'[4] क्या गहने का मूल्य सर्वस्व से भी अधिक था ? जब सर्वस्व कहा जा चुका है तब उसके आगे कुछ कहना व्यर्थ है।

'देवराज प्रसन्न होकर कोप रोकिए।'[5] वास्तव में प्रथम कोप रुकने

१ आलमगीर, पृ १८७।
२ गोली, पृ ४२।
३ वयं रक्षामः पृ ७१।
४ गोली पृ ११९।
५ वयं रक्षामः, पृ १११।

पर ही प्रसन्न हुआ जा सकता है अत: होना चाहिए' कोप रोक कर प्रसन्न हुजिए।

वाक्य-दोष —

आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में वाक्य दोषों की भी न्यूनता नहीं है। कहीं पर उनके वाक्यों में शिथिलता आ गई है तो कहीं अस्पष्टता। कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

'सुसज्जित रथ आ उपस्थित हुआ।** वह मणि-कांचन के संयोग से विचित्र शिल्पकला द्वारा विश्वकर्मा ने बनाया था।'[1] इस वाक्य में 'वह' के स्थान पर 'उसे' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था।

'किन्तु पराक्रम किया।** जिसमें'?[2] इसमें 'किया' के स्थान पर 'की' का प्रयोग उचित था।

'सोरठ का राव प्रसन्नता का हास्य हंसा।'[3] (हास्य हंसा का प्रयोग अशुद्ध है)

'इसके जवाब में औरंगजेब न थोड़े से समचार कम बताए और चुप हो रहा।'[4]

'कैसा भयानक और दारुण नाचना पड़ा।** इस समाने बादशाह को।'[5]

'नाच' शब्द के अभाव में यह वाक्य अस्पष्ट एवं शिथिल है। (वास्तव में होना चाहिए था 'दारुण नाच नाचना पड़ा।')

इस घटना को एक वर्ष व्यतीत हो गये हैं।[6] (कई वर्ष' 'होना चाहिए अथवा होना चाहिए' एक वर्ष व्यतीत हो गया।

इन समस्त दोषों को देखने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि भाषा संवारने में आचार्य चतुरसेन जी ने किंचित् मात्र भी सावधानी से कार्य किया होता तो उनके लिए इन दोषों का निराकरण असम्भव न था। वास्तव में उपर्युक्त दोषों का कारण उनका अज्ञान नहीं वरन् असावधानी ही है।

---

१ वयं रक्षाम: पृ ६७।
२ वयं रक्षाम: पृ ७२।
३ सोमनाथ पृ २४६।
४. आलमगीर, पृ २१९।
५ सोना और खून, प्रथम भाग पूर्वार्द्ध पृ ११६।
६ आरमदाह पृ ३७।

अध्याय ६

आचार्य चतुरसेन के विचार एवं जीवन दर्शन

विचार एवं जीवन दर्शन

मनुष्य के ऐहिक एवं क्षणभंगुर जीवन का सारतत्त्व उसके विचार और कार्य हैं। कार्यों पर पूर्ववर्ती अध्यायों में यथास्थान विचार किया जा चुका है। विचार कार्य के भी चिरस्थायी परिणाम अथवा प्रेरणा तत्व हैं। अतएव आचार्य चतुरसेन जी के साहित्य के अध्ययन के प्रसंग में उनके विचारों एवं जीवन दर्शन का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

एक स्थान पर मुंशी प्रेमचन्द ने कहा है मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। इस विषय में आचार्य चतुरसेन जी का दृष्टिकोण प्रेमचन्द से भी अधिक विस्तृत है। उनका तो कथन है मैं अपने उपन्यासों को कथानक पर आधारित नहीं रखता विचारों पर आधारित करता हूँ। विचार भी मैं परिस्थितियों से उत्पन्न मानता हूँ। इसलिये अपने उपन्यास में मैं जब किसी नये विचार की स्थापना करता और उसे पाठकों के समक्ष पेश करना चाहता हूँ तो उसके प्रथम परिस्थितियों का रेखा चित्रण करना आवश्यक समझता हूँ। इसके लिये मुझे पात्रों ही में से कुछ को चुन लेना पड़ता है। इस शैली में यह स्वाभाविक है कि कथानक उपन्यास का मूलाधार न होकर अवलम्बन मात्र ही बनकर रह जाये। आप इस खूबी से मेरी अपनी नई परिपाटी कह सकते हैं। परन्तु इसके लिये मुझे दोष नहीं दे सकते। मैं प्रेमचंद और देवकीनन्दन खत्री के ढंग का उपन्यासकार नहीं हूँ कि समस्या कथानक और मनोरंजन पर आधारित रह जाये। मैं तो शत प्रतिशत विचारों पर आधारित हूँ।'[1]

स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी के उपन्यासों में विचारों का अधिक प्राधान्य है।

---

१ आजकल, जनवरी १९५९ पृ २९।

अपने उपन्यासों के संबंध में आचार्य चतुरसेन जी का उपर्युक्त कथन सर्वथा सत्य नहीं है। यह कहा जा सकता है कि समाज की कुछ परिस्थितियों को देखकर उनके मन में विभिन्न विचार उत्पन्न हुए, और उन विचारों के अनुरूप उन्होंने अपने कथानक को चुनने और सगठित करने का प्रयत्न किया। परन्तु केवल इस बात से हम उनके उपन्यासों को समग्रतया विचारों पर आधारित नहीं कह सकते। विचारों पर आधारित उपन्यासों में प्रमुखत वैचारिक द्वंद्व को लेकर चलने वाली रचनायें आती हैं। और इस प्रकार की कृतियों का ज्वलन्त उदाहरण हमारे समक्ष तुलसी का मानस शेक्सपियर का हेमलेट भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' आदि हैं। इस कोटि की रचनाओं में आचार्य चतुरसेन जी की कुछ ही कृतियाँ आ सकती हैं। जैसे नगरवधू उदयास्त बगास आदि।

किन्तु आचार्य चतुरसेन जी के अन्य अनेक उपन्यास जैसे सोमनाथ रक्त की प्यास विचारों पर आधारित नहीं कहे जा सकते।

उपन्यास अथवा कहानी में उपन्यासकार अपने विचारों को दो ही प्रकार से मुख्यत व्यक्त करता है। प्रथम स्थान-स्थान पर उपन्यासकार स्वयं उपस्थित होकर अपने विचार, जीवन की अथवा पात्रों की आलोचना-प्रत्यालोचना प्रस्तुत करता चलता है। इसको स्पष्ट विचाराभिव्यक्ति की पद्धति कहा जा सकता है। किन्तु यह पद्धति अधिक प्रौढ़ उपन्यासों मे स्थान नहीं प्राप्त कर पाई है कारण इससे कथानक में अस्वाभाविकता कृत्रिमता एवं शैथिल्य आ जाती है। साथ ही इससे कथाकार अपने उच्च स्थान को त्याग कर एक उपदेशक एवं प्रचारक के रूप में ही सामने आ पाता है, फलत रचना की कलात्मकता अक्षुण्ण नही रह पाती है। आचार्य चतुरसेन जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में यत्र-तत्र यही प्रवृत्ति उभरी हुई है। इसी कारण से उनका कलात्मक सौंदर्य अधिक निखर नहीं पाया है।

दूसरी रीति को हम अप्रत्यक्ष विचाराभिव्यक्ति की पद्धति कह सकते हैं। इसमें कथाकार स्वयं प्रत्यक्ष न आकर नाटककार की भाँति अपने विचारों को पात्रों के क्रियाकलाप तथा घटनाओं के माध्यम द्वारा प्रस्तुत करता है। इससे उसके विचारों का स्पष्टीकरण तो हो ही जाता है, साथ ही कथा विकास एवं चरित्र-चित्रण भी निखरा हुआ रहता है।

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने कथा-साहित्य में दोनों ही रीतियों का प्रयोग किया है। इन दोनों का सानुपातिक समन्वय उनके प्रौढ़ उपन्यासों में अधिक सुन्दरता से हुआ है।

प्रस्तुत अध्याय में हम आचार्य जी के विचारों एवं जीवन दर्शन को स्पष्ट करने के लिये केवल उनके 'कथा साहित्य' का ही आश्रय न लेकर उनके सम्पूर्ण प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य का आश्रय लेंगे। साथ ही उनके विचारों को और अधिक स्पष्ट करने के लिये हम उनके अपने द्वारा प्राप्त विचारों का (जो हमें आचार्य चतुरसेन जी से पूछने पर प्राप्त हुये थ) भी उपयोग करेंगे।

इस प्रकार अध्ययन के अन्तगत तीन स्रोतों से प्राप्त विचारों का अध्ययन किया जा रहा है—

१ उनके उपन्यास और कहानियों में प्राप्त विचार।
२ अन्य प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य में प्राप्त विचार।
३ उनस प्रत्यक्ष भेंट द्वारा प्राप्त विचार।

आचार्य चतुरसेन जी के सम्पूर्ण विचारों को हम चार विभिन्न वर्गों में रखकर देखने का प्रयत्न करेंगे—

प्रथम—साहित्यक विचार।
द्वितीय—राजनीतिक विचार
तृतीय—सामाजिक विचार
चतुर्थ—आध्यात्मिक विचार

उनके सामाजिक एवं आध्यात्मिक विचारों पर मनन करने से उनका अपना स्वयं का जीवन-दर्शन भी स्पष्ट हो जाता है। राजनीतिक विचारों में भी जहाँ उन्होंने विभिन्न वादों पर विशेषकर गांधीवाद पर अपने विचार प्रकट किए हैं, वहाँ भी उनका जीवन-दर्शन प्रत्यक्ष उभर कर आया है।

साहित्यिक-विचार

साहित्य की व्याख्या—

आचार्य चतुरसेन जी का कथन है 'साहित्य जीवन का इति-वृत्त नहीं है। जीवन और सौन्दर्य की व्यवस्था का नाम साहित्य है। बाहरी संसार में जो कुछ बनता बिगड़ता है, उस पर से मानव-हृदय विचार और भावना की रचना करता है, वही साहित्य है।'[१] इसी कारण से आचार्य जी साहित्यकार को 'साहित्य का निर्माता नहीं उद्गाता' मानते हैं। उनका कथन है साहित्यकार केवल बांसुरी में फूंक भरता है। शब्द-ध्वनि उसकी नहीं केवल फूंक भरने का कौशल है। इसीलिए साहित्यकार का आनन्द उसका अपना नहीं रहता है।

१ धर्म रसाम पूर्व निवेदन पृ० ९।

पक्षी जैसे अपने आनन्द में मगन होकर गाता है, कवि वैसे नहीं गाता। कवि का गान तो माता का दूध है। संतान के लिए। माँ का दूध पीकर जैसे अबोध बालक जीवन और विकास पाता है। उसी प्रकार कवि की नाद ध्वनि सुनकर जगत जीवन की राह पाता है उसका स्वर जगत के लिए है। जगत के लाखों करोड़ों अरबों जनों के लिए। कवि जो कुछ सीखता है, जो कुछ अनुभव करता वह मरता नहीं। वह एक मन से दूसरे मन में एक काल से दूसरे काल में एक काल से दूसरे काल में मनुष्य की बुद्धि और भावना का सहारा पाकर जीवित रहता है। यही साहित्य का सत् रूप है।'[1] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी साहित्य को सामाजिक हित का साधन मानते है और इस प्रकार साहित्य का उद्देश्य गोस्वामी तुलसीदास की भाँति ही मानते है। उनका कथन है 'साहित्य का आदर्श ऐसा होना चाहिए जिसकी पुनीत गंगा में स्नान करके कोटि-कोटि मानव-हृदय चिरकाल तक पाप ताप से रहित होकर निर्मल और सबल होते रहें।[2]

इसी कारण से आचार्य जी ने साहित्य के सत्य को अत्यन्त उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। उनका कथन है 'साहित्य के द्वारा मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय से अमरत्व की याचना करता है। साहित्य का सत्य ज्ञान पर अवलम्बित नहीं है भाव पर अवलम्बित है। एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को धकेल फेंकता है। नये आविष्कार पुराने आविष्कारों को रद्द करते चले जाते है। पर हृदय के भाव पुराने नहीं होते। भाव ही साहित्य को अमरत्व देता है। उसी से साहित्य का चिर सत्य प्रकट होता है।[3]

किन्तु आचार्य चतुरसेन जी साहित्य के इस सत्य को वस्तु सत्य से भिन्न मानते है। उन्होंने स्पष्ट कहा है 'वस्तु सत्य और साहित्य के सत्य में भेद है। जैसा है वैसा ही लिख देना साहित्य नही है। हृदय के भावों की दो धाराएँ है एक अपनी ओर आती है दूसरी दूसरों की ओर जाती है। यह दूसरी धारा बहुत दूर तक जा सकती है। विश्व के उस छोर तक। इसीलिए, जिस भाव को हमें दूर तक पहुँचाना है जो चीज दूर से दिखानी है उसे बड़ा करके दिखाना पड़ता है। परंतु उसे ऐसी कारीगरी से बड़ा करना होता है जिससे उसका सत्य रूप बिगड़ न जाय जैसे छोटे फोटो का इन्लार्ज किया जाता

---

१ बातायन आचार्य चतुरसेन पृ १४५।

२ हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास आचार्य चतुरसेन पृ ४५।

३ धर्म रहस्य पूर्व निवेदन पृ ३।

है। जो साहित्यकार मन के भाव के इस छोटे-से सत्य को बिना विकृत किए इतना बड़ा इस्मार्ज करके प्रकट करने की सामर्थ्य रखता है कि सारा संसार उसे देख सके और इतना पक्का रंग भरता है कि शताब्दियाँ-सहस्राब्दियाँ बीत जाने पर भी वह फीका न पड़े वही सच्चा और महान साहित्यकार है।[१] इस प्रकार उनके दृष्टिकोण से साहित्यकार का उत्तरदायित्व उसके दृष्टिपथ में न केवल सम सामयिक समाज होता है वरन् युग-युग का समाज होना चाहिए। हम कह सकते हैं कि आचार्य चतुरसेन जी के कुछ उपन्यासों में जैसे 'वयं रक्षामः' और 'सोना और खून' के अन्तर्गत यह दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है।

आचार्य चतुरसेन जी साहित्य में 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की स्थापना के समर्थक थे। इसी कारण से उन्होंने लिखा है 'केवल सत्य की ही प्रतिष्ठा से साहित्यकार का काम पूरा नहीं हो जाता। उस सत्य को उसे सुन्दर बनाना पड़ता है। साहित्य का सत्य यदि सुन्दर न होगा तो विश्व उसे कैसे उसे प्यार करेगा? उस पर मोहित कैसे होगा? इसलिए, सत्य में सौंदर्य की स्थापना के लिये आवश्यकता है संयम की। सत्य में जब सौन्दर्य की स्थापना होती है तब साहित्य कला का रूप धारण कर जाता है।[२]

इस प्रकार 'सत्य में सौंदर्य का मेल होने से उसका मंगल रूप बनता है। यह मंगल रूप ही हमारे जीवन का ऐश्वर्य है। इसी से हम लक्ष्मी को केवल ऐश्वर्य की ही नहीं मंगल की भी देवी मानते हैं। जीवन जब ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो जाता है, तब वह स्वयं आनन्द-रूप हो जाता है। और साहित्यकार ब्रह्मांड के प्रत्येक कण को 'आनन्दरूपममृतं' के रूप में चित्रित करता है। इसी को वह कहता है 'सत्यं शिवं-सुन्दरम्'।[३]

आदर्श और यथार्थ

आचार्य चतुरसेन जी को यथार्थवादी कथाकार कहा जाता है। कुछ आलोचकों ने तो उन्हें प्रकृतिवादी कथाकार भी कहा है।[४] स्वयं आचार्य चतुरसेन जी ने यथार्थ और आदर्श पर विचार करते हुए लिखा है 'यथार्थ क स्थापना को मैं उपन्यास की सबसे बड़ी कला समझता हूँ। यथार्थ का अर्थ है

१ वयं रक्षामः पूर्व निवेदन पृ ३।
२ वयं रक्षामः पृ ३।
३ वयं रक्षामः पृ ३ व ४।
४ हिन्दी उपन्यास में यथार्थवाद त्रिभुवनसिंह।

सत्य परंतु सत्य को प्रभावशाली बनाने के लिये उसमें कृत्रिम अभिव्यंजनाओं का मिश्रण करना पड़ता है। इससे सत्य के व्यक्त परिमाण में अन्तर पड़ जाता है। परंतु व्यक्त परिमाण का अन्तर सत्य की भावमूर्ति को विकृत नहीं करता। केवल परिमाण से बृहत्तत्व जाता है। साहित्य का सच्चा यथार्थ तो वही है, जिससे बृहत्तत्व में सत्य का रूप अविकृत रहे।[1] आचार्य चतुरसेन जी ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण भी दिए हैं। उनका कथन है 'जैसे छोटे-फोटो का इन्लार्जमेन्ट करने पर चित्र की आकृति बड़ी हो जाने पर भी उसका अविकृत रूप रहना आवश्यक है। गायक तार स्वर में भी गायगा मन्द्र स्वर में भी। पर स्वर में अचल रहेगा स्वर का अपनत्व ही उसकी कला का सत्य है। गायक एक ही राग को जो उसके मानस पटल पर उभर रहा है, भिन्न-भिन्न वाद्ययन्त्रों पर एक दूसरे से अन्तर [illegible] ध्वनित करेगा। पर राग वही होगा। उसका बाह्य रूप भिन्न होने पर भी अभ्यन्तर एक है वह एक सत्य की प्रतिष्ठा भूमि पर स्थिर है वही यथार्थ है।[2]

इस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी का मत है कि सत्य का मूल स्वरूप एक ही है। उसी पर ओझिलरूप संक्षिप्त या विस्तृत रूप विभिन्न कथाकार चित्रित करते हैं। उनके विवरण-विस्तार में यथार्थता का कम या अधिक रूप स्पष्ट होता है। किन्तु आचार्य चतुरसेन जी भी सुमित्रानंदन पंत की भाँति भिन्न दृष्टिकोण में विश्वास रखते थे। मेरी दृष्टि में सब वादों की कसौटी लोकमंगल में निहित है। यदि हमारे यथार्थवादी निरीक्षण-परीक्षण मानव मंगल के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं तो वे अभिनंदनीय हैं अन्यथा उन्हें पारस्परिक विद्वेष पूर्वाग्रह तथा कटुता का ही विज्ञापन समझना चाहिए।[3]

इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी ने नग्न यथार्थ को भी प्रश्रय नहीं दिया। उनका कथन है 'परंतु नग्न होना सत्य नहीं है। मर्यादा और संयम ही सत्य को नग्नता से पृथक करते हैं। अभिप्राय यह कि संयम से साधना सम्पन्न होती है और साधना से निवृत्ति एक प्रचंड प्रवृत्ति बन जाती है। यह साहित्यकार का काम है—कि वह प्रवृत्ति को काबू में रखे। प्रवृत्ति साधक के पतना

---

१ मेरी उपन्यास विषयक धारणाएँ समालोचक पृ ४३।
२ मेरी उपन्यास विषयक धारणाएँ समालोचक पृ ४१।
३ समालोचक यथार्थवाद विशेषांक फरवरी, १९५९ मंगलाचरण श्री सुमित्रानन्दन पंत पृ० १।

गार का एक दीपक है जिसमें आलोक का सौंदर्य है। यदि प्रकृति को यत्न-पूर्वक संयम से सीमित न रखा जायगा तो वह आलोक के सौंदर्य को जलाकर खाक कर देगा।[१] निश्चय है कि यह संयम न केवल जीवन की मर्यादा की रक्षा करते हुये विकास को प्रेरित करता है वरन् कला को भी अधिकार गंभीर एवं पुष्ठरूप प्रकट करता है।

आचार्य चतुरसेन जी ने यथार्थ का विवेचन करते समय संयम की नितांत आवश्यकता को स्वीकार करते हुए एक स्थान पर लिखा है 'चिरन्तन सत्य के साथ-साहित्य के इस बाह्य और अभ्यंतर भेद को जो वस्तु एकत्व प्रदान करती है वह है संयम। संयम से साधना सम्पन्न होती है। साधना से निवृत्ति एक प्रबल प्रवृत्ति बन जाती है। जिससे कलाकार अपनी कला को अपने में ही नहीं समेट सकता। अपनी कला को विश्व में आपूर्ण-प्राण करने के लिए उसे नाद ध्वनि का आश्रय लेना पड़ता है। नादध्वनि में यदि कला छिप जाय तो कला भ्रष्ट हो जायगी। संयम ही से साधना कला का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् उसमें सौंदर्य का उदय होता है। यही सौंदर्य सत्य का अविकृत रूप है। दूसरे शब्दों में यह यथार्थ का शाश्वत सत्य रूप है।[२]

यद्यपि आचार्य चतुरसेन ने यहाँ पर साहित्य के सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये यथार्थ की ही चर्चा की है। फिर भी उनका यह मर्यादित यथार्थ और सत्य का एक शाश्वत तथा मूलभूत रूप उनके आदर्श का ही संकेत करता है। हाँ यह आदर्श यथार्थ में परिवेष्ठित है इसमें संदेह नहीं।

आचार्य चतुरसेन जी ने इसीलिए सत्य के अनेक रूप मानते हुये लिखा है 'सत्य के अनेक रूप हैं सुन्दर भी और असुन्दर भी। परंतु सत्य का सुंदर रूप संयम और साधना के परिणाम का अतिरेक है तथा साधना का सम्पूर्ण वैभव है वैभव मैं उसे इसलिए कहता हूँ कि वह साधक की आवश्यकताओं के अतिरिक्त है उसकी तृप्ति से परे है। इसलिये आनंद की पृष्ठभूमि उसी पर आधारित है। आनंद साधना का चरम ध्येय है। अतएव सौंदर्य से साधक का प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं है आनंद का संबंध है। यदि प्रकृति से संयम का सम्पर्क घट जाय तो साधक का विवेक भ्रष्ट हो जायगा और उसका वैभव जो संयम और साधना का अतिरेक है—वासना का रूप धारण कर लेगा। और हीनता से परिपूर्णता की ओर बढ़ता हुआ साधक आवेश में आकर स्वेच्छा

१ समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणायें पृ० ४१।
२ समालोचक मेरी उपन्यास विषयक धारणायें पृ० ४३।

चारी और असंयत हो उठेगा। तब वह सौंदर्य की नहीं कामविकारों की सृष्टि करेगा।[१]

सत्य चित्रण संबंधी उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि साहित्य में जीवन के सत्य का चित्रण करते समय आचार्य चतुरसेन जी संयम को महत्वपूर्ण समझते हैं। प्रश्न यह है कि संयम का आधार क्या है? उसकी कसौटी क्या है? जैसा कि पहले उनके विचारों से प्रकट है वह है सामाजिक मंगल और युग-युग व्यापी कलाकार की दृष्टि। इन दोनों पुलिनों से मर्यादित होकर साहित्य में जीवन के यथार्थ चित्रण की धारा आगे बढ़ने की गति तथा समाज एवं पाठक को सरस करने की विशेषता प्राप्त करती हुई अपने आनंदरूपी सागर से मिल सकेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आनंदरूपी सागर भी मर्यादा का प्रतीक है। अगाध और अति विस्तृत होते हुये भी वह अपनी सीमाओं में बंधा है। साहित्य का यथार्थ भी ऐसा ही होता है।

साहित्य में कल्पना—

आचार्य चतुरसेन जी साहित्य में कल्पना का प्रयोग अनिवार्य समझते हैं। उनका कथन है 'साहित्य में सत्य के बराबर ही कल्पना का मूल्य है। यथार्थ और कल्पना के मेल से साहित्य में सत्य की स्थापना होती है। यथार्थ जिस प्रकार एक सम्पूर्ण सत्य है—कल्पना भी वैसा ही सम्पूर्ण सत्य है। इसी कारण यथार्थ से कल्पना का मेल होने पर भी सत्य दूषित नहीं होता। बाह्य जगत के एक बड़े सत्य यथार्थ का अपना महत्व है और कल्पना का अपना।[२] यथार्थ के साथ कल्पना का संयोग उसमें रमणीयता रंजकता एक पूर्णता संयोजित करता है।

आचार्य चतुरसेन जी कला साहित्य को केवल लोकरंजन की वस्तु ही नहीं मानते हैं उनका कथन है 'जो लोग साहित्य को कोरी भावुकता का उद्दीपक मानते हैं मैं उनसे सहमत नहीं हूँ।[३] वे साहित्य के विचारों को संयममय रूप देने के पक्षपाती हैं। इसी कारण से उन्होंने साहित्य द्वारा विभिन्न वादों के प्रचार की निंदा की है। वे यथार्थवाद के प्राकृत स्वरूप को उचित मानते हैं किंतु उसमें मार्क्स या फ्रायड के सिद्धांतों के बलात् आरोपित कर देने को अनुचित समझते

---

१ समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणाएं पृ० ४४।

२ समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणाएं पृ० ४४

३ समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणाएं पृ ४६।

है।[1] यह प्राकृत स्वरूप सहज स्वाभाविक एवं लोकानुमोदित रूप में होना चाहिये।

अश्लीलता का प्रश्न

साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। एक प्रकार का चित्रण एक युग में श्लील है तो दूसरे युग में अश्लीलता की कोटि में आ जाता है। अतः यह प्रसंग महत्वपूर्ण है। आचार्य चतुरसेन जी ने इस पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। इस संबंध में आचार्य चतुरसेन जी का मत औरों से कुछ भिन्न है। इस विषय पर उनसे हुए वार्तालाप को मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। 'बगुला के पंख' के कुछ स्थल प्रस्तुत प्रबंध लेखक को कुछ अश्लील लगे थे। अतः उसने निःसंकोच कह डाला था। आपके उपन्यासों के कुछ स्थल अश्लीलता के समीप पहुँच जाते हैं। क्या यह ठीक है?

आचार्य चतुरसेन जी कुछ समय तक गम्भीर रहे। तत्पश्चात् उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में मुझसे स्वयं एक प्रश्न कर डाला था 'तुम्हें मेरे किन उपन्यासों में अश्लीलता लगी? इतना कह कर आचार्य चतुरसेन जी मेरी ओर किंचित गम्भीरता के साथ देखने लगे। कुछ रुक कर उन्होंने पुनः कहा 'बहुत से तरुण विद्यार्थी मुझसे मिलने और साहित्य चर्चा करने आते हैं। उनसे मैं सर्व प्रथम एक प्रश्न पूछता हूँ—कि मेरी लेखन शैली के संबंध में तुम क्या जानते हो? तो वे जरा झेंपते से कहते हैं आपके साहित्य में अश्लीलता का पुट रहता है। विचारों का तारतम्य नहीं मिलता। इस पर मैं पूछता हूँ—मेरा कौन सा उपन्यास पढ़ा तुमने। तो वे कहते हैं—उपन्यास तो नहीं पढ़ा—पर हमारे अध्यापक ने यह पढ़ाया। 'किंतु तुम तो रिसर्च करने जा रहे हो दूसरे की बातों पर चलोग तो कैसे कार्य चलेगा?

'किंतु मैंने तो स्वयं अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रश्न किया है' मैंने तुरत उत्तर दिया।

मुझे भी ऐसी आशा थी किंतु यह तो बतलाओ तुम्हें अश्लील कौन से अंश लगे? गम्भीरता से आचार्य चतुरसेन जी ने पूछा।

इसी 'बगुला के पंख' के कुछ अंश अति यथार्थवाद के निकट पहुँच गये हैं। इसके अतिरिक्त 'वयं रक्षामः' के वह अंश जहाँ आपने उन्मुक्त-विहार का चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त········ मेरी बात पूर्ण भी न हो पाई थी कि आचार्य चतुरसेन जी ने हँसते हुये बीच ही में मुझे रोकते हुये कहा 'समझा। इन अंशों

---

१ समालोचक मेरी उपन्यास कला विषयक धारणायें पृ ४८, ४९।

जो तुम अश्लील समझते हो। तुम आज भी आदर्श के सुन्दर परिधान में आवेष्ठित तथ्य एवं चित्र चाहते हो। किन्तु अब युग काफी आगे निकल चुका है।

'किन्तु यथार्थ के नाम पर नग्नता का चित्रण करना क्या आप उचित समझते हैं?' मैंने निःसंकोच प्रश्न किया।

'कभी नहीं' आचार्य चतुरसेन जी ने उत्तर देते हुए कहा था यथार्थ की स्थापना को मैं उपन्यास की सबसे बड़ी कला समझता हूँ। यथार्थ का अर्थ है सत्य। परन्तु नग्न होना सत्य नहीं है। मर्यादा और संयम ही सत्य को नग्नता से पृथक करते हैं। अभिप्राय यह कि संयम से साधना सम्पन्न होती है और साधना से निवृत्ति एक प्रचंड प्रवृत्ति बन जाती है। यह साहित्यकार का काम है कि वह प्रवृत्ति को काबू में रखे। 'आचार्य जी ने पुनः कुछ रुक कर कहा था' अब रहा अश्लीलता का प्रश्न? एक बात स्पष्ट है, मैंने अपने जीवन में संयम को आरोपित किया है। संयम मेरे संघर्षमय जीवन का प्रसाद है। संयम को मैं कला का प्राण मानता हूँ। संयम में से ही कला का प्रकृत सौंदर्य प्रकट होता है। फिर कला में वासना को कैसे प्रश्रय दे सकता हूँ। परंतु शृंगार को जीवन में आत्मसात करने के मैं पक्ष में हूँ। शृंगार को मैं जीवन का सबसे बड़ा वरदान मानता हूँ। यह भी मैं समझता हूँ कि शृंगार का सम्पूर्ण आनन्द संयम में ही है।

इसके पश्चात् उन्होंने अश्लीलता और शृंगार पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था 'कामशास्त्र की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सम्पूर्ण शृंगार सम्भोग से प्रथम ही प्रथम है। संयोग के बाद जो अवसाद आता है—वहां शृंगार का नामोनिशान ही नहीं रहता। और दूसरी बात यह कि जब शृंगार को वासना आक्रांत करती है तभी सम्भोग जाग जाता है। इसी से मनीषीगण वासना रहित शृंगार ही का आनन्द ग्रहण करते हैं। साहित्य में जहाँ शृंगार आप देखेंगे—वह भले ही उद्दाम हो—परन्तु वासना से अछूता होता है। मेरे 'वयं रक्षाम' के प्रथम और दूसरे परिच्छेदों में यही बात प्राप्त होती है। जो कोई भी शृंगार को वासना समझते हैं वे शृंगार रस के अनभिज्ञ हैं।

आचार्य चतुरसेन जी ने कुछ रुककर पुनः कहा 'अश्लीलता शृंगार रस के अन्तर्गत नहीं है। वह वीभत्स रस के अन्तर्गत आती है। मुझे याद नहीं कि मैंने कहीं एक अक्षर भी अश्लील लिखा हो। मैं तो अपने को अत्यन्त संयत लेखक समझता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे जीवन में जितनी शृंगार की बहुलता है। वीभत्स और अश्लीलता का उतना ही अभाव है। शृंगार और अश्लीलता के

भेद को न समझकर ही बहुत लोग पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय साहित्य मनीषियों पर अश्लील भावना का दोषारोपण करते हैं। वे लोग नहीं जानते कि यहाँ जीवन का मुख्य स्वर कला की चिरन्तन पुकार कर रहा है। ऐसे लोगों के काम तत्त्व, मन बच्चे और हृदय दुर्बल हैं। दृष्टिकोण नीरस और जीवन धाराएँ सूखी हुई हैं।"

अन्त में आचार्य चतुरसेन जी ने कहा एक बात और—यौवन और भोग एक ही बिन्दु पर संधान करते हैं। यौवन श्रृंगार क्षमता और वीरत्व दोनों ही का पोषक है। अतः सम्पूर्ण यौवन शक्ति सम्पन्न पुरुष ही श्रृंगार का वासना रहित आनन्द भोग कर सकता है।

इससे स्पष्ट है कि अश्लीलता भावों और अंगों के सुन्दर रूप के उद्घाटन में नहीं है वरन् उस चित्रण में है जिसमें हमारी सुरुचि पर आघात हो जिसमें हमारी वासना जाग्रत हो।

साहित्यकार कौन ?

इस विषय पर भी आचार्य जी का मत अन्य विद्वानों से भिन्न है। उन्होंने लिखा है 'साहित्यिक को मैं किसी भी सम्प्रदाय समाज राष्ट्र और धर्म का आदमी नहीं मानता। मैं इस बात के मानने से भी इन्कार करता हूँ कि उसका इन सबके प्रति कोई कर्तव्य है। जो साहित्यिक भले ही वह कवि हो या उपन्यासकार, देशभक्ति राष्ट्रीयता धर्म आदि की रेखायें खींचता है। मैं उसे निकृष्ट साहित्यिक समझता हूँ। मेरी दृष्टि में सच्चा साहित्यिक वह है जो मानवीयता के प्रति उत्तरदायी है। जो ऐसी रचना का निर्माण करता है जो मानवीयता के धरातल को ऊँचा उठावे। मैं यह सिद्धांत नहीं मानता कि कला कला के लिए है और कला को विकसित करने के लिए साहित्यिक को जीवन में मग्न हो जाना चाहिए।'[1] इसी कारण से उनका कथन है कि 'मैं कला को प्रचार माध्यम भी नहीं समझता और इसी से प्रोपेगण्डिस्ट कभी भी उच्च साहित्यिक नहीं हो सकता। फिर भले ही वह टाल्सटाय हो या गाँधी। हिन्दी के आधुनिक काल के सर्वोत्तम उपन्यासकार प्रेमचन्द और कवि मैथिलीशरण में यही दोष रह गया है। अन्य भारतीय साहित्यकारों

१ साहित्य संदेश अक्टूबर-नवम्बर १९५० उपन्यास अंक पृ १७४ ७५। आचार्य जी का पत्र संपादक के नाम।

की भी नहीं बचा है मैं भी उनमें हूं । ये सब अपने देश अपनी जाति अपने समाज अपने राष्ट्र के गीत गाते रहे हैं ।[१]

किन्तु ऐसे लोगों को आचार्य चतुरसेन जी पूर्ण साहित्यिक नहीं मानते । उनका कथन है 'साहित्यिक वह है—जो महामानव है वह अपनी रचनाओं में अति मानवों की रेखायें निर्माण करता है । जिसके द्वारा विश्व का मानव समाज जीवन के रहस्यों से परिचित होता है । अति मानव की सृष्टि जब तक साहित्यकार नहीं करता तब तक उसकी रचनाएँ मानव मस्तिष्क पर अपनी मुहर नहीं लगा सकती—और अति मानव का निर्माण वह उस समय तक नहीं कर सकता जिस समय तक वह स्वयं महामानव न हो । महामानव होने पर तो वह देश काल जाति धर्म-समाज आदि के क्षुद्र बन्धनों में बंधा नहीं रह सकता—वह तो मानव कल्याण मानव-स्वभाव मानव हितैषणा मानव रहस्य का चित्र खींचेगा विश्व के मनुष्यों को जीने और मरने का ढंग बतायेगा । उसके जीवन पथ पर प्रकाश बिखेरेगा उन्हें उंगली पकड़कर जीवन के इस छोर से उस छोर तक सकुशल पहुंचायगा । वह भूतल पर मानव को निर्भय करेगा । उसे आनन्द देगा । वह सब मनुष्यों का पितामह सब मनुष्यों का प्रतिनिधि सब मनुष्यों का ज्ञान केन्द्र है । वह वास्तव में महामानव है । वह अमर है अतएव वह नवीन है वह विश्व में ओत प्रोत है ।[२]

इसी प्रकार सच्चे साहित्यकार की परिभाषा करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने एक स्थान पर और लिखा है 'सच्चा साहित्यकार मिथ्या बकवाद नहीं करता । उसकी मनोवृत्तियों का मन्थन मानवलोक-संसार उसके प्रांगण में फैले हुए वन पर्वत नदी जंगल नगर, नागरिक दरिद्र धनी, जीवन मृत्यु, हास्य और रुदन को देखता है । उसी की प्रतिध्वनि उसका साहित्य है । यह प्रतिध्वनि जितनी सत्य होगी उतनी ही शाश्वत एवं चिरायु होगी । सच्चा साहित्यकार वह है जो विचारों को मूर्त करे, संस्कृति को मूर्त करे, आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करे जो साहित्यकार ऐसा करता है वह अपने काल के बाद के मनुष्यों का नेता है । मनुष्य तत्व का प्रतिनिधि है । वह मनुष्यों के आदर्श का विचार करके अपनी नाद ध्वनि के संकेत पर कोटि 'अतिमानवों का निर्माण करता है

१ साहित्य संदेश अक्टूबर-नवम्बर १९४० उपन्यास अंक (पृ १०४-०५ आचार्य जी का पत्र सम्पादक के नाम)

२ साहित्य संदेश भाग ४ अंक २-३ अक्टूबर नवम्बर १९४० ।

कोटि नर समूहों को उसी सत्य बिन्दु पर केंद्रित करता है। वही सच्चा साहित्यकार है।[1]

उपर्युक्त दृष्टिकोण निश्चयत: आदर्शवादी है यह निर्विवाद है। इसी प्रसग में साहित्यकार का कर्तव्य विषय पर उनके विचार दृष्टव्य हैं।

साहित्यकार का कर्तव्य

जैसा हम प्रथम ही कह चुके हैं कि आचार्य चतुरसेन जी ने अपने उपन्यासों को केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं लिखा है वरन् उनका उद्देश्य समाज के पथ-प्रदर्शन का भी रहा है। ऐसे आचार्य जी तो इस मत के अनुयायी हैं कि *साहित्यकार किसी कर्तव्य विशेष से बंधा नहीं होता।* वे उसका कर्तव्य किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए न मानकर सम्पूर्ण मानव समाज के लिए मानते हैं। इसी कारण से वे कला कला के लिए है कला स्वांत: सुखाय है आदि को कभी भी न मान सके। उन्होंने तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को साहित्य का प्राण माना है। इसी कारण से उन्होंने साहित्यकार के कर्तव्य का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है "कलाविद् का अन्तस्तल वास्तव में कोई फोटोग्राफी का कैमरा नहीं है। वह तो स्फुरणशील जीवनमय जाग्रत आलोक की दिव्य प्रभा से जगमगाता हुआ कल्पना का महा प्रांगण है। उसमें भूत भविष्य और वर्तमान का जनपद खेलता मरता और संघर्ष करता है। कलाविद् यह सब देखता है वह केवल विश्व के संघर्ष को देखता ही नहीं है उस संघर्ष की धारा को गतिमयी भी बनाता है। वह जनपद का गुरु पथ प्रदर्शक और नेता है। वह कोटि-कोटि निरीह मनुकुल को जीवन के इस छोर से उस छोर तक निरापद ले जानेवाला है। इसलिए उसका यह कर्तव्य है कि वह सावधानी से यह सोचे कि कैसे वह मानव जनपद का तमोगुण और रजोगुण—बहुल प्रकृति से उद्धार करके उसकी आत्मा में सतोगुण का दिव्य तेज और निर्मल प्रकाश भर दे। यह कार्य वह जितनी सफलता कुशलता और शक्ति से सम्पन्न कर सकता है वह उतना ही अमर कलाकार हो जाता है। वही मानव जनपद का पिता नेता नियन्ता है। वह अमर है।[2]

आचार्य जी के इस कथन में भी उनका आदर्शवादी रूप ही मुखरित हुआ है। उनके विचार का कलाकार निश्चयत: आदर्शवाद को लेकर चलने वाला ही व्यक्ति हो सकता है।

---

१ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह पृ १२९।

२ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास आचार्य चतुरसेन पृ० ४८ ४९।

आचार्य चतुरसेन जी इसके अतिरिक्त साहित्यकार के कुछ अन्य कर्तव्य भी मानते हैं। उनका कथन है विश्व युद्ध से मनुष्य ने चार बातें सीखी—१ विश्व के सब मनुष्य एक हैं वे परस्पर भाई भाई हैं अभय है और विश्व के सम्प्रदायों के अधिपति हैं। २ मानव विश्व की सबसे बड़ी इकाई है उसकी पूजा आत्मनिष्ठा निर्भय विश्व विचरण तथा भोग सामर्थ्य अविजनमेय वस्तु है। ३ जगत सत्य है भूत सम्पदा मानव उत्कर्ष का साधन है। ४ 'कला' और विज्ञान मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क है दोनों को विचार-कौशल से एकीभूत करके उसे मानव-कल्याण और मानव विभूति-वर्धन में लगाना चाहिए, जिससे मनुष्य 'भेदहीन' हो।[1] इन बातों ही तथ्यों को मूर्तरूप देना आचार्य जी साहित्यकार का कर्तव्य मानते हैं। निश्चय ही साहित्यकार के सम्बन्ध में यह बहुत ऊँची और उदात्त धारणा है।

राजनीतिक विचार

आचार्य चतुरसेन जी ने अपनी रचनाओं में कई स्थानों पर विभिन्न राजनीतिक समस्याओं एवं उनसे सम्बन्धित विभिन्न वादों पर भी विचार प्रकट किए हैं यद्यपि उनके यह विचार अधिक राजनीतिक रूप नहीं धारण कर पाये हैं कारण उन्हें एक सीमा तक राजनीति चर्चा के प्रति अरुचि थी। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं लिखा है मुझे राजनीति का अजीर्ण ही है। राजनीति का मेरे ऊपर वही असर होता है जो अफीम का होता है। चार मित्र यदि मेरे पास बैठकर राजनीति चर्चा करें तो मुझे झट नींद आ जायगी। यों मुझे नींद कम ही आती है।[2] किन्तु तो भी उन्होंने कितनी ही प्रमुख राजनीतिक समस्याओं पर विचार किया है और वह भी नितांत मौलिक ढंग से। उनके अंतिम उपन्यास तो इन्हीं राजनीतिक समस्याओं और उनके समाधानों से पूर्ण हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के राजनीतिक विचार बड़े ही उत्तेजक हैं। 'सोना और खून' नामक उपन्यास पर प्रश्न करने पर आचार्य चतुरसेन जी ने मुझसे कहा था 'इस उपन्यास में तो मैं केवल अंग्रेजों के भारत में आने रहने और जाने का एक आवेशपूर्ण लेखा-जोखा मात्र पेश कर रहा हूँ पर मेरा मुख्य काम तो दूसरा ही है। मैं आपको देशभक्ति राष्ट्रप्रेम और स्वाधीनता की भावना से दीप्त करना चाहता हूँ जिसमें आप नख एड़ी से चोटी तक डूबे हुए हैं। मेरे

---

१ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, आचार्य चतुरसेन, पृ० २९ १०।
२ वातायन, पृ० ११६।

तीन नारे हैं—१ देशभक्ति का नाश हो २ राष्ट्रवाद का नाश हो ३ स्वाधीनता की भावना का नाश हो।

इसके अतिरिक्त सन् १८५७ के गदर के विषय में भी उनका दृष्टिकोण दूसरों से भिन्न है। उनका कथन है "मैंने इस उपन्यास में तीन नकार स्थापित किये हैं। देखें इस बारे में दूसरों की प्रतिक्रिया क्या होगी है। वे तीन नकार यह हैं—

और फिर प्रश्नोत्तर के रूप में इन नकारों की उन्होंने व्याख्या शुरू की—
क्या अंग्रेजों ने सही माने में भारत को जीता ?
'नहीं।
'क्या सत्तावन का विद्रोह देश भक्तों ने किया ?
'नहीं।
'भारत की वर्तमान आजादी में सन् सत्तावन की कोई प्रतिक्रिया थी ?
'नहीं।

तनिक रुककर बात जारी रखी 'पहले नकार के बारे में मेरी दलील यह है कि इंगलैंड के किसी सम्राट ने भारत के किसी राजे नवाब के विरुद्ध कभी किसी प्रकार की युद्ध घोषणा नहीं की न उसने कभी एक सैनिक और न एक पैसा ही भारत के किसी युद्ध में भेजा। जब यह सब कुछ नहीं हुआ तो अँगरेजों के भारत जीतने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

इसके बाद दूसरे नकार की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि सन् सत्तावन के विद्रोह में जो लोग लड़े उनमें एक भी देशभक्त नहीं था। उस समय भारत एक भौगोलिक नाम था। जब भारत उस समय एक राष्ट्र और एक देश ही नहीं था तो राष्ट्रीयता और देशभक्ति का सवाल ही पैदा नहीं होता। इसके विपरीत इंगलैंड एक देश और एक राष्ट्र बन चुका था। अंग्रेज चाहे कितने ही लोभी स्वार्थी और धूर्त थे मगर उनमें देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना सर्वोपरि थी। यही उनकी सफलता का विशेष कारण था। अगर हम भी उनकी तरह देशभक्त और राष्ट्रवादी होते तो उन्हें सिक्खों गुरखों और दूसरे भारत वासियों से कदाचित सहायता न मिलती। और वे इस विद्रोह के बाद कभी जम न पाते।

'जब सत्तावन के विद्रोह की कोई राष्ट्रीय परम्परा नहीं तो जाहिर है कि वर्तमान आजादी में भी उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं।'[1]

---

१ आचार्य चतुरसेन लेखक और मानव श्री हंसराज 'रहबर' धर्मयुग दिसम्बर १, १९५७ पृ० १४।

देश, राष्ट्र और राष्ट्रीयता

स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी का देश राष्ट्र, राष्ट्रीयता स्वाधीनता आदि पर भी विश्वास नहीं है। उनका कथन है 'देशभक्ति और राष्ट्रवाद एक ही चीज है जो अंग्रेजों की हमें देन है। देश इस का सबसे भयंकर खूनी देवता है। प्राचीन युग में असभ्य जातियों ने कभी अपने किसी देवता को इतनी नरबलि न दी होगी जितनी इस खूनी देवता को आज का सभ्य संसार दे रहा है। जब तक देशभक्ति और राष्ट्रवाद जिंदा है मनुष्य-मनुष्य से नहीं मिल सकता।'[1] उन्होंने 'राष्ट्रीयता' को मनुष्य के खून के गारे से खड़ी की गई इमारत कहा है। आचार्य चतुरसेन जी के विचार से देशभक्ति और राष्ट्रीयता आज के युग की सर्वाधिक भयानक वस्तुएँ हैं। उनका कथन है युद्ध समाप्त हो गया साम्राज्य विध्वंस हो गये परंतु राष्ट्रीयता का कंकाल अभी तक खड़ा है। वह संसार के भूखे नंगे रोगी असहाय भयभीत मनुष्यों को तीसरे भीषण युद्ध के लिए उकसा रहा है। कोरिया में हिरोशिमा के हत्यारे अमेरिकन अपने डालर के जोर से मनुष्यों का लोहू बहा रहे हैं। लोग मृत्यु नहीं चाहते युद्ध नहीं चाहते परंतु ये राष्ट्रपंथी पूंजीवादी उन्हें आराम से बैठने नहीं देते। आवश्यकता है कि सारे संसार के मनुष्य एक स्वर से चिल्लाएँ राष्ट्रीयता का नाश हो पूंजीवाद का नाश हो।

मैं कहता हूँ मेरा कोई राष्ट्र नहीं मेरा कोई देश नहीं है संसार के सब मनुष्य मेरे भाई हैं मेरा कोई मनुष्य शत्रु नहीं है मैं कभी किसी से नहीं लड़ूंगा। लड़ाई और झगड़े की जड़ इस राष्ट्रीयता का नाश हो दूसरों के पसीने की कमाई पर मौज-मजा करने वाले खूनी हत्यारे पूंजीवाद का नाश हो। मनुष्य को अभय मनुष्य को अभय मनुष्य को अभय। हम सब एक हैं।[2]

यह एक साहित्यकार की तिलमिलाती आत्मा का स्वर था जो आचार्य चतुरसेन जी के शब्दों में प्रकट है।

स्वाधीनता

आचार्य चतुरसेन जी ने 'स्वाधीनता' को भी गुलामों की आवाज माना है। उनका कथन है 'गुलामी के बंधन स्वाधीनता की पुकार करने से नहीं कटेंगे अपने में साहस तेज और अहिंसा तथा औरों के साथ सहयोग करने से कटेंगे।'[3]

---

१ आत्मदाह आचार्य चतुरसेन पृ १५०।
२ मौत के पंजे में जिंदगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ ३१।
३ मौत के पंजे में जिंदगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ ३३।

अतः स्वाधीनता के मूल को मस्तिष्क से निकाल डालिये। जहाँ स्वाधीन होने की चाह नहीं वहाँ दासता की भी हस्ती नहीं। सम सहयोग जीवन की सबसे बड़ी सफलता है।[1]

स्पष्ट है वे स्वाधीनता की भावना से ही भय खाते हैं। उनका विश्वास भावना पर अधिक आधारित है।

इन अनेकों क्रान्तिकारी विचारधाराओं के पश्चात् उनकी विचारधारा साम्यवाद एवं गांधीवाद से आ टकराती है। वे प्रारम्भ में साम्यवादी विचारों को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं तो अन्त में वे गांधीवाद की ओर बरबस मुड़ गए हैं। प्रारम्भ में साम्यवादियों की भाँति ही घोषणा करते हुए उन्होंने कहा है साम्यवादियों ने राष्ट्रीयता की दीवारों में सुराख करके अपने पैर बाहर निकाले हैं अर्थात् वे कहते हैं दुनियाँ के दलितों मजदूरों एक हो जाओ। इसका व्यापक प्रभाव संसार के सभी राष्ट्रों पर है। सारे संसार में केवल १ प्रतिशत बड़े आदमी अपने देश की सरकारों के साथ हैं। और सब प्रतिशत साम्यवादी झंडे के नीचे अपनी-अपनी सरकारों के प्रति विद्रोह की आग सुलगाते भी रहे हैं। पर मैं तो साहित्यकार के नाते राष्ट्रवाद की दीवार को ढहाने पर आमादा हूँ जिसमें केवल पैर ही नहीं दलित ही नहीं सारे संसार के स्त्री पुरुष एक स्वार्थ एक भ्रातृ भावना एक सहयोग में जुट जायें। इसी से आज आपसे यह कहता हूँ कि मेरा अपना कोई देश नहीं धर्म नहीं समाज नहीं और इन सबके प्रति मेरा कुछ कर्तव्य भी नहीं। मैं तो सारे ही संसार के नर नारियों को अपना सगा भाई मानता हूँ।[2] इससे स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी की विचारधारा साम्यवाद गांधीवाद से होते हुए मानवतावाद की ओर उन्मुख है।

साम्यवाद, गांधीवाद और मानवतावाद

आचार्य चतुरसेन जी ने अपने साहित्य में साम्यवाद और गांधीवाद का समन्वय प्रस्तुत किया है और अन्त में वह मानवतावाद की ओर उन्मुख हो गये हैं। उनकी विचारधारा को समझने के लिये प्रथम हमें मार्क्स और गांधी के सिद्धांतों को भी समझना आवश्यक है। अतः यहाँ हम संक्षिप्त में इन दोनों के सिद्धांतों को देकर उस कसौटी पर आचार्य चतुरसेन जी के विचारों को कसने का प्रयत्न करेंगे।

---

१ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृ ३५।

२ वातायन आचार्य चतुरसेन पृ १८०-१८१।

मार्क्स के अनुसार अर्थ ही जीवन का विधायक है। युग का राजनैतिक और सामाजिक घटनाक्रम तात्कालिक आर्थिक प्रक्रिया से प्रभावित रहता है और सामाजिक और राजनैतिक विकास आर्थिक वर्गों के संघर्ष के आधार पर होते हैं।[1] इस संघर्ष की भविष्य गति का उल्लेख करते हुए मार्क्स गति की विभिन्न स्थितियों में विभिन्न वर्गों की स्थितियों में क्या परिवर्तन होगा इसकी ओर स्पष्ट संकेत करता है। लेकिन मार्क्स भाग्यवादी नहीं है। उसका कहना है कि मनुष्य आर्थिक परिस्थितियों की अवश्यंभाविता के प्रभावों से बच नहीं सकता लेकिन यह प्रभाव परोक्ष नहीं होता। मनुष्य की इन प्रभावों के प्रति प्रतिक्रिया होती है और वे युग की सामान्य आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होने पर भी काफी हद तक अपने वातावरण को बदल सकते हैं। अगर सारी समाज व्यवस्था उत्पादन के सम्बन्धों से निर्धारित है तो इन सम्बन्धों में परिवर्तन करके समाज के दोषों को दूर किया जा सकता है। अगर वर्तमान व्यवस्था में पूंजी पर लगान ब्याज और नफे के रूप में व्यक्तिगत अधिकार है लेकिन उसके अधिकांश का उत्पादन और वितरण की व्यवस्था कायम की जानी चाहिये जिसमें व्यक्तिगत लगान ब्याज और नफे की सम्भावना न हो। यदि पूंजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य गति तीव्र होकर खुद व्यवस्था को कमजोर और जर्जर बना दे तो प्राप्य साधनों के द्वारा क्रमशः पूंजीपतियों को उत्पादन के साधनों से च्युत करके सामाजिक क्रांति को स्वाभाविक क्रम और दिशा पर ले जाया जा सकता है।[2]

इस प्रकार मार्क्स ने जीवन में आर्थिक नियतिवाद की स्थिति को स्वीकार करके भी नियतिवादिता को कहीं प्रश्रय नहीं दिया है। मार्क्स का कहना है कि समाजवादी कार्यक्रम का धर्म है कि वह श्रमिकों को यह बताए कि अपनी आंतरिक महत्ता को वास्तविक रूप किस तरह दिया जाना चाहिये और स्वाभाविक आर्थिक संघर्ष को किस प्रकार सुयोजित राजनैतिक संघर्ष का रूप देकर सत्ता हासिल करना चाहिये।[3] यह राजनैतिक संघर्ष क्रांतिमूलक भी हो सकता है और विकास मूलक भी और संघर्ष का यह स्वरूप विभिन्न देशों की विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर है। मार्क्स ने कहा है 'राजनैतिक सत्ता हासिल करने के साधन देश और काल के अनुसार बदल सकते हैं।'[4] स्वयं

1 Recent Political thought P W Coker P 51
2 Recent, Political thought P W Coker P 52 53
3 Recent Political thought P W Coker P 54
4 Recent Political thought P W Coker P 59

राजनैतिक सत्ता की प्राप्ति है साधन कोई भी हो मार्क्स के अनुसार समाजवाद की स्थापना के लिये वर्ग संघर्ष अनिवार्य शर्त है।

मार्क्स अपने इस दर्शन में भौतिकपदार्थ को सबसे अधिक महत्व देता है।[1] धर्म आत्मा आनन्द रस ईश्वर आदि का उसके दर्शन में कोई स्थान नहीं है।[2] दूसरी ओर गांधीवाद यह मानकर चलता है कि मानवी संबंधों की सार्थकता आर्थिक राजनैतिक और विभिन्न साधनों से नहीं नैतिकता और धर्म से संभव है और अर्थ नहीं सत्य मानव जीवन का आधार है। जीवन के हर क्षेत्र में गांधीवाद विज्ञान और भौतिकता पर आश्रित रहने का विरोधी है। गांधी जी का चरखा भारतीय जीवन में आये हुए औद्योगीकरण के विरुद्ध घर और गांव की अभेद्यता और आत्मनिर्भरता का प्रतीक है। उनका पंचायत राज औद्योगिक सभ्यता के वर्ग संघर्ष के विरुद्ध पुरातन कृषि सभ्यता की सहकारिता के महत्व का प्रतीक है। उनका हरिजन आंदोलन सामाजिक न्याय और समता का प्रतीक है।[3]

गांधी जी के सिद्धांतों को निम्नलिखित तत्वों के रूप में देखा जा सकता है—

१ ईश्वर, सत्य अहिंसा में विश्वास।

२ 'सादा जीवन उच्च विचार' में विश्वास और दानव यंत्रों के बहिष्कार और चरखे के प्रचलन के द्वारा आत्मनिर्भर गांवों की स्थापना।

३ वर्ग संघर्ष के सिद्धांत और आर्थिक नियतिवाद में अविश्वास।

---

1 The material sensuously perceptible world to which we belong is the only reality .... our consciousness & thinking however suprasensuous they may seem are the product of a material bodily organ the brain Matter is not a product of mind but mind itself is merely the highest product of matter

Karl Marx

(Quoted by J Stalin in his essay on his & dialectical materialism page 20)

2. Karl Marx-selected works Vol I page 269

3 Hindustan standard 3 10-54

इस प्रसंग में अष्टकम बनोरा लिखित 'एशिया के विद्रोह' में लेखक को दिये गये गाँधी जी के उत्तर का उद्धरण पर्याप्त होगा। "मैं आपको यह समझाना चाहता हूँ कि पश्चिमवासियों से भी पश्चिमवाद ज्यादा खतरनाक है। मेरा विश्वास है कि पश्चिमवाद एक धोखा है जो अपने भक्तों को नाश की ओर लिये जा रहा है। संस्कृति प्रधान तत्व है शासन गौण है। हमें ऐसा शासन चाहिये जो हमारी संस्कृति तथा जीवन व्यवस्था को सर्वोपरि माने जो हमारे पुरातन हस्त कौशल को बढ़ावा दे जो हमारे अन्तःकरण को कल कारखानों की दुर्गन्ध और धुएँ से घुँध न पाये। यह मिथ्या है कि जीवन तभी सुखी समझा जाए, जब नाना वस्तुओं का संचय हो तरह-तरह के आराम की चीजें हों मैं चाहता हूँ कि मशीन कारखाने मिटा दें रेलें उखाड़ डालें अंग्रेजी शिक्षा बन्द कर दें।"[1]

इन आधार भूत तत्वों की सम्प्राप्ति के लिये अहिंसा और सत्याग्रह की ग्राह्यता गाँधीवाद की अपनी विशेषता है। गाँधीवाद लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किन्हीं भी अन्य साधनों का नहीं वरन् सत्य और अहिंसा का ही प्रयोग मानता है। इन्हीं के द्वारा गाँधीवादी सर्वोत्तम सबके कल्याण का विश्वास रखते हैं। धीरेन्द्र मजूमदार ने समझाया है "वर्ग विषमता के लिये क्रांति की प्रक्रिया क्या हो ? दो ही तरीके हो सकते हैं—एक वर्ग संघर्ष का हिंसात्मक तरीका दूसरा वर्ग परिवर्तन की अहिंसात्मक क्रांति उन्मूलन की प्रक्रिया हिंसा की प्रक्रिया है इसलिये गाँधी जी वर्ग-परिवर्तन की अहिंसक क्रांति का आह्वान करते हैं। वे बिना उत्पादन किये गुजारा करनेवाले वर्ग को सामाजिक उत्पादन में शामिल होकर उत्पादक वर्ग में विलीन होने के लिये कहते हैं।

(नवप्रभात १ १०-२१ पृष्ठ ५)

गाँधी जी शान्ति को हिंसा के रास्ते से नहीं हृदय परिवर्तन के रास्ते से लाने की बात कहते हैं। तभी तो वे चाहते हैं कि जमींदार और पूँजीपति अपने को किसानों मजदूरों का ट्रस्टी समझें।[2]

मार्क्सवाद और गाँधीवाद के इस संक्षिप्त परिचय के बाद अब हम आचार्य चतुरसेन के विचारों पर विमर्श करेंगे।

---

१ सारथी ३-१०-२९, पृ ९।

२ प्रेमचन्द, एक अध्ययन, राजेश्वर गुरु पृ. १०२ १०३।

गाँधीवाद की ओर

आचार्य चतुरसेन जी प्रारम्भिक सिद्धान्तों में मार्क्स के अनुयायी हैं। उन्होंने 'वैशाली की नगरवधू' में उन शोषक राजाओं और ब्राह्मणों को स्पष्ट चुनौती दी है जो गरीबों की असहायावस्था का पूरा लाभ उठा रहे थे।[1] 'गोली' की भूमिका में भी उन्होंने स्पष्ट शब्दों में चुनौती दी है "मैं बिना शक यह चाहता जरूर हूँ कि अविलम्ब इन भूत राजा महाराजाओं की पेंशनें बन्द कर दी जायें और यह रकम इन सताई हुई साठ हजार पतितात्माओं (गोलियों) में बाँट दी जाय। सरकार हमारी अहिंसक है। समन्वयवादी है। पचमेल मिठाई की उसकी दुकान है। लाल रंग से वह भड़कती है। तिरंगा झंडा फहराती है और तिरंगी चाल चलती है। उसके राज्य में भला राजाओं को क्या भय। मैं तो जरूर यह चाहता हूँ कि जैसा मैं मेहनतकश हूँ वैसे ही ये राजा लोग भी बनें। मुझे यदि एक बार प्रधान मंत्री बना दिया जाय तो मैं पहली कलम से इन राजाओं को भाखरा बाँध पर एक-एक टोकरी और एक-एक कुदाल देकर भेज दूँ। जिससे उनका अपच भी दूर होगा और मरने के प्रथम कुछ दिन वे ईमानदारी से अपनी कमाई के टुकड़े खायेंगे।"[2] स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी के इन विचारों में उनका क्रांतिकारी रूप उभरा हुआ है। वे मार्क्स की ही भाँति पूँजीपतियों एवं जमींदारों के घोर विरोधी हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में पग-पग उनका विरोध किया है। उन्होंने अपने 'उदयास्त' नामक उपन्यास में एक पात्र के मुख से कहलाया है "ये बड़ी नाक वाले और रईस जमींदार हम पर जो गुलामी का बन्धन लादे हुए हैं जो जुल्म करते रहे हैं इससे समाज में ही घुन लग गया है। असल में यह किसी एक आदमी का कसूर नहीं है इसी से मैं सिर्फ राजा साहब को इसके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराता। यह तो परंपरा से चली आती बुराई है।"[3] और इस बुराई को वे जड़ मूल से नष्ट करने के पक्ष में हैं। इस विषमता को दूर करना मार्क्स भी चाहता है और गाँधी भी। अतः मूल में दोनों ही की विचारधारा एक है। इसी कारण आचार्य चतुरसेन जी की रचनाओं में दोनों ही प्रकार की विचारधारायें मूल से प्राप्त होती हैं। दोनों ही सिद्धांतों के लक्ष्य एक ही हैं किंतु उनको प्राप्त करने का साधन भिन्न है।

---

१ वैशाली की नगरवधू, आचार्य चतुरसेन पृ १६४ १६५।

२ गोली, आचार्य चतुरसेन शास्त्री टूटे हुये सिंहासन चीत्कार कर उठे पृ ४।

३ उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ ४५।

एक हिंसा को साधन बनाकर चलता है तो दूसरा अहिंसा को। यहीं पर आचार्य चतुरसेन जी की विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वे साधनों के संबंध में गांधी जी को आदर्श मानते हैं। इसीलिए उन्होंने एक स्थान पर कहा कि 'कार्लमार्क्स ने सामाजिक विकास का उत्कृष्ट मार्ग यूरोप के सम्मुख रक्खा। उसने बताया कि कैसे संसार के पीड़ितों को पीड़कों से बचाकर उनका संगठन किया जा सकता है। पर इस कार्य में ध्यान उसे नहीं आया उसने तो यही कहा कि सारे संसार के पीड़ितों को एकत्र होकर पीड़कों का संहार कर डालना चाहिए। उस ने ऐसा ही किया परन्तु यदि सब पीड़ित एकीभूत हो जायें तो पीड़कों को मारने की आवश्यकता ही न रह जायेगी।
कार्लमार्क्स की यह नीति कांटे से कांटा निकालने जैसे रही। उसने समाजवाद के कांटे से राष्ट्रीयता के कांटे को निकालना चाहा। उसने कहा सशस्त्र क्रांति करके पूंजीपतियों को मारो पर टाल्सटाय ने कहा—'नहीं पूंजीपतियों के लिए शस्त्र ग्रहण न करो। रूस में आंशिक रूप से यह प्रयोग सफल हुआ।
महावीर और बुद्ध ने सत्य अहिंसा को 'बहुजन हिताय की भावना से प्रचारित किया था पर वह साम्प्रदायिक दलदल में फंस गया। उस अहिंसा का राजनैतिक क्षेत्र में उपयोग करने का श्रेय गांधी जी को है।[1]

आचार्य चतुरसेन जी साम्यवाद की अपेक्षाकृत गांधीवाद के अधिक समीप दीख पड़ते हैं उन्होंने अपने नाटक 'धर्मध्वजि' में ही सत्याग्रह राजनीति धर्म पूंजी हिंसा अहिंसा आदि को पात्र रूप में प्रस्तुत किया है। इन सब के परस्पर वार्तालाप द्वारा वे अन्त में इसी निष्कर्ष में पहुँचे हैं कि समाज देश और विश्व का कल्याण अहिंसा और सत्य का अनुसरण करके ही सम्भव है।[2]

गांधीवाद से मानवतावाद की ओर—

आचार्य चतुरसेन जी का गांधीवाद आगे चलकर मानवतावाद की ओर उन्मुख हो गया है। गांधी जी का देवता मनुष्य है गांधी जी ने इसकी पूजा की है। पूजा का स्वरूप था सेवा सत्य अहिंसा। उन्होंने इसीलिए एक स्थान पर लिखा है 'मार्क्स ने यूरोप में प्रथम बार, मनुष्य देवता के दर्शन किये पर सम्पूर्ण देवता के नहीं केवल उसके चरणों के

---

१ धर्मध्वजि आचार्य चतुरसेन दो शब्द, पृ २७-२८।
२ धर्मध्वजि आचार्य चतुरसेन पृ ८२ ९७।

परंतु गांधी ने उस देवता के सम्पूर्ण दर्शन किये और उसे अपना इष्टदेव बनाया।

भारतीय धर्मों को उसने उस देवता की पूजा करने का प्रेरित किया—पर सम्प्रदाय धर्म और राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति के जाल में फँसे हुए मनुष्यों ने गांधी के प्रसाद को चखा—पर देवता की पूजा नहीं की। फलतः भारत अँग्रेजों के चंगुल से छूट कर उनके लाये हुए देवता के जाल में अभी तक फँसा है फंसकर कठिनाइयों में गिरता जा रहा है।[1] आचार्य चतुरसेन जी ने चुनौती देते हुए कहा है 'जिन्हें अपने भावी खतरों का ख्याल हो जिन्हें अपने भावी पीढ़ियों पर तरस हो—उन्हें अब भी समय है वे इस अपूजित देवता को धूल से उठाकर उसकी पूजा करें और सारी मनुष्य जाति का भावी संकट टालें।[2]

सत्य और अहिंसा—

उनका कथन है कि सत्य ने ही मनुष्य को देवता बनाया। सत्य की पूरी राह चलकर 'मनुष्य देवता सत्य के उस छोर पर बैठा है। वहां गांधी उसे छोड़ गये हैं। जिसे उसकी पूजा करनी हो वह सत्य की पूरी राह चल कर उसके निकट जाए। जो वहां जावेगा वह उस देवता का दास सेवक आधीन न बनेगा। स्वयं देवता बन जावेगा। सब मनुष्य देवता बन जायेंगे। जिसके विचार शुद्ध निष्कपट जीवन भय रहित ईर्ष्या द्वेष मत्सर रहित सब मनुष्यों के मस्तिष्क ज्ञान से और हृदय प्यार से भरे हुए। सही और सच्चा गणतंत्र यहीं संगठित हो सकता है। वहां जहां गांधी का वह अपूजित देवता सत्य की राह के उस छोर पर अकेला बैठा है।[3]

आचार्य चतुरसेन जी ने अहिंसा को सत्य की राह दिखलानेवाली पथ प्रदर्शिका माना है। स्पष्ट है कि उन्होंने गांधी के प्रमुख सिद्धांतों का पूर्णरूप से स्वीकार किया है। 'अपराजिता' में उन्होंने गांधीवादी सिद्धांतों के द्वारा ही गृह की जटिल समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत किया है। अन्त में आचार्य चतुरसेन जी इसी निष्कर्ष में पहुँचे हैं कि 'अब संसार के समस्त संघर्षों का अंत होना चाहिए। और मनुष्य को अपनी प्रजा अहिंसा को सौंप देनी चाहिए। मार्क्स ने विरोध के मुकाबले में विरोध खड़ा किया किन्तु उसने

१ मौत के पंजे में जिंदगी की कराह पृ. १२१ १२२।

२ मौत के पंजे में जिंदगी की कराह पृ. १२२।

३ मौत के पंजे में जिंदगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृ. १२५।

यह नहीं सोचा कि कांटा निकालने के प्रयत्न में यदि कांटा निकलने के प्रथम ही कांटे की नोक यदि उसी में टूटकर भीतर रह जाय तो कितना कष्ट होगा। समाजवाद के कांटे से राष्ट्रीयता का कांटा निकालने का प्रयत्न किया गया। किन्तु परिणाम कुछकर कहां हुआ ? बार ने जबरदस्ती लोगों को लड़ने भेजना चाहा पर लोगों ने लड़ने से इन्कार कर दिया बार शाही समाप्त हो गई। इसी प्रकार पूंजीवाद से सहयोग त्याग दीजिये पूंजीवाद ढह जायेगा। और उसकी सही सीधी राह है। मेरी बात मानिये अपरिग्रह को अपनाइये अहिंसा का हाथ पकड़िए और सीधे सत्य की राह पर गांधी के देवता की बिरादरी में मिल जाइये।[१]

आचार्य चतुरसेन जी के इन विचारों से पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि वे साम्यवादी सिद्धान्तों से अधिक गांधीवादी सिद्धांतों के पक्षपाती हैं।

समाज में समानता

आचार्य चतुरसेन जी ने समाज में समानता लाने की विधि भी गांधीवादी रूप से ही स्वीकार की है। उन्होंने अपने उपन्यास 'उदयास्त' में इस विषय पर एक अत्यन्त सुन्दर प्रसंग प्रस्तुत किया है। उसमें स्वामी जी एवं सुरेश का वार्तालाप उल्लेखनीय है। सुरेश स्वामी जी से पूछते हैं 'परन्तु देश और राष्ट्र की बात तो जुदा है व्यक्तिगत स्वाधीनता तो सभी को मिलनी चाहिए' इस पर स्वामी जी उत्तर देते हैं 'तुम्हारी तरह सब लोग सोचते हैं सुरेश ! इसी से आज पति पत्नी से भाई भाई से पत्नी पति से पुत्र पिता से और मित्र मित्र से स्वाधीन रहने में ही जीवन का लाभ समझते हैं। और इससे समाज में समता विश्वास और शान्ति छिन्न-भिन्न हो रही हैं। वह देखो राजा का महल सामने खड़ा है इसकी ईंटों को एक पर एक रखकर जो दीवार बनाई गई है उसके खिलाफ ईंटें फरियाद कर रही हैं। वे तुम्हारे न्याय का विरोध कर रही हैं। उन्हें तुमने एक के ऊपर एक मिलाकर बांधा क्यों ? उनकी दीवार चुनी क्यों यह ईंटें स्वाधीन होना चाहती हैं। इन ईंटों को स्वतंत्र कर दो महल को ढहा दो। ईंटों को बखेर दो और दुनिया को स्वाधीनता का सच्चा स्वरूप दिखा दो।

'तो आप क्या यह कहना चाहते हैं कि समाज का संगठन एक दूसरे की पराधीनता से होगा ? क्या आप पुरानी सामन्तशाही के पोषक हैं ? आप चाहते हैं कि कुछ लोग ऊपर रहें और बाकी सब उनके बोझ से पिस सकें।

---

१ मौत के पंजे में जिंदगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ १६०।

'नहीं रे भाई नहीं। मैं यह नहीं चाहता। मैं सबका सम सहयोग चाहता हूं। मैं नहीं समझता कि सब लोग कभी बराबर हो सकेंगे। पैर पैर रहेंगे सिर सिर रहेगा। पैर अपना काम करेंगे और सिर अपना मैं केवल यह चाहता हूँ कि पैरों का सिर से सम सहयोग रहे। पैरों को सिर का बोझा ढोना असह्य न हो और सिर पैर में एक काँटा चुभे तो उसे सावधान कर दे इसी का नाम है सम सहयोग।

'आपका अभिप्राय यह तो नहीं कि सब मनुष्य समान नहीं हैं।

'मेरा यही अभिप्राय है मनुष्य बुद्धि जीवी है और सामाजिक प्राणी है। बुद्धिजीवी होने के कारण वह निरन्तर विकासशील है। मनुष्य का विकास व्यक्ति में है समष्टि में नहीं। शरीर चेतना और परिस्थिति यह मनुष्य के व्यक्तित्व को वैशिष्ट्य देती है। इसी से साधारण मनुष्य से बुद्ध ईसा शंकर दयानन्द गांधी निकलते हैं जो युग युग तक करोड़ों मनुष्यों के शासक होते हैं। इसी से सब मनुष्य समान नहीं हो सकते। परंतु इस असमानता में भी एक शृंखला है व्यवस्था है तारतम्य है उसी से समाज सुन्दर, सभ्य और शिष्ट बनता है।

'परन्तु इस असमानता के सामञ्जस्य और तारतम्य के क्या आधार है।

'तुम तो संगीत के पंडित हो। उस दिन तुम हारमोनियम बजा रहे थे तुम भलीभांति समझते हो कि हारमोनियम के सब स्वर भिन्न-भिन्न हैं परंतु उनकी भिन्नता में भी एक तारतम्य है। अनुक्रम है। उसी से उसमें राग का सर्जन होता है यदि सब स्वर एक से होते आरोह अवरोह तार, मन्द, मध्य क्रम न होता कोमल और शुद्ध स्वर न होते तो क्या राग पूर्ण होता।

'नहीं होता।

'बस यही बात है। समाज में धनी भी हैं निर्धन भी, विद्वान भी है मूर्ख भी दुर्बल भी है निर्बल भी प्रगतिशील भी है और अनुदार भी। आज हैं, सदा से रहे हैं सदा ही रहेंगे। व्यक्ति का यह वैशिष्ट्य ज्यों ज्यों सभ्यता और विज्ञान की शक्ति का विकास होगा बढ़ता जायेगा। अब समाज का हित इसमें है कि सबका सम सहयोग हो। प्रत्येक एक दूसरे के सहायक और पूरक हों। सारा समाज एक शरीर की भांति जीवनयापन करे। वेद में लिखा है कि समाजरूपी विराट पुरुष के सिर हाथ पैर धड़ यह सब भिन्न भिन्न अंग हैं। मुख भोजन खाता है तो समान भाव से सारे शरीर की पुष्टि होती है। यही सामाजिक जीवन के सुख की कुंजी है।

किन्तु जब तक समाज में ऊँच-नीच छोटे-बड़े की भावना बनी है उसमें सहयोग कैसे हो सकता है।

'आत्म समर्पण के द्वारा। समाज का प्रत्येक व्यक्ति बिना शर्त दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण कर दे तो यह सब सहयोग आसानी से हो सकता है। देखो तुम नगर गाँव बस्ती बसाते हो परस्पर मिल जुलकर व्यापार करते हो फर्म बनाकर, कम्पनी बनाकर, परस्पर के सहयोग के बड़े-बड़े बैंक बनते है। सीमित उद्योग संस्थाओं में धनी भी है निर्धन भी। किसी के लाखों रुपये लगे है, किसी के केवल कुछ सौ ही रुपये है पर है सब भागीदार जो अपने हिस्से के सीमित लाभांश से न्यायतः संतुष्ट है।'[1]

मैंने अपने मत की पुष्टि के लिए कुछ लम्बा उद्धरण अवश्य दिया है किन्तु इससे हमारे इस मत की पुष्टि हो जाती है कि आचार्य चतुरसेन जी साम्यवादी ढंग से समानता लाने के इच्छुक कभी भी न थे।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि गाँधी जी के सभी प्रमुख सिद्धांतों अहिंसा सत्य और असहयोग पर आचार्य चतुरसेन जी का मार्क्सवादी सिद्धांतों से अधिक विश्वास था। वे गाँधी की भाँति ही अहिंसात्मक ढंग से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देना आवश्यक समझते थे कि जिन परिस्थितियों में शोषक के लिये अपने मन परिवर्तन के सिवा कोई चारा बाकी न रहे। प्रजातान्त्रिक तरीके को स्वीकार करके गाँधी जी चलते है। मार्क्स भी अपने कार्यक्रम का पहला अंग इसी को मानता है जब वह प्रजातंत्र की लड़ाई जीतने की बात कहता है। यदि कोई फर्क है तो इतना ही कि गाँधी जी प्रजातंत्र को धर्म नीति मान कर चलते है और मार्क्स केवल नीति धर्म। लेकिन इस प्रसंग में मार्क्स और गाँधी में कहीं कोई विरोध नहीं। मार्क्स का कथन है कि श्रमिकों को अपनी संगठित शक्ति का संगठन करके सत्ता हासिल करना होगा। इतना करके उन्हें शोषण की परिस्थितियाँ समाप्त करने का काम करना होगा।[2]

गणतन्त्र तथा जनतन्त्र

आचार्य चतुरसेन जी गाँधी जी के सिद्धांतों को आदर्श अवश्य मानते थे किन्तु वे वर्तमान कांग्रेसी राज्य से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है 'निस्संदेह कांग्रेस का पतन हो रहा था और उसके पतन का मुख्य कारण था अयोग्य व्यक्तियों को दायित्व के पद देना। इसे वे लोक जन जागरण का अंग मानते और जनता को ऊँचा उठाने का एक युग कहते थे। परन्तु इससे समाज और व्यवस्था दोनों के ही बीच न जो एक वैषम्यपन आता जा रहा था उसकी

---

[1] उदयास्त आचार्य चतुरसेन, पृ ७९-८१।

[2] प्रेमचन्द एक अध्ययन, डा० राजेश्वर गुरु पृ १०२।

और कांग्रेस आँख उठाकर नहीं देख रही थी।"[1] 'गणतंत्र' को आचार्य चतुरसेन जी इस कांग्रेसी राज्य के पतन का कारण मानते हैं। उनकी दृष्टि में गणराज्य जनता का खून चूसने वाला खटमल है। उनका कथन है 'गणतंत्र से जनतन्त्र भारत के लिए अधिक उपयुक्त है कारण 'गणतंत्र का सबसे भारी और सबसे प्रधान दोष तो यह है कि उसमें 'योग्यतम' व्यक्ति को अधिकार नहीं मिलता। वोटों के प्रतिनिधियों को अधिकार मिलता है चाहे उनमें योग्यता हो या न हो। इसके विपरीत जनतंत्र में 'योग्यतम' व्यक्ति को अधिकार प्राप्त होता है। हमारे इस भारतीय 'गणतंत्र' में भी यह दोष उत्पन्न हो गया। राज्य में सिक्खों के हरिजनों के हिन्दू सभा के व्यापारियों के समाजवादियों और साम्यवादियों के जन समितियों के और न जाने किन किनके प्रतिनिधियों का अयोग्य भेड़ बकरियों का रेवड़ भरना पड़ा। अंग्रेजों के राज्य में जिन कुर्सियों को सर फिरोजशाह मेहता महामना मालवीय पंजाब केसरी लाजपत राय सुरेन्द्रनाथ बनर्जी गोखले श्री निवास शास्त्री ने सुशोभित किया उस पर दूध बेचने वाले अखबार बेचने वाले ईमान धर्म बेचने वाले बैठे मौज-मजा कर रहे हैं। मिनिस्टरों के दिन ईद और रात दिवाली में परिणत हो गये हैं। वे अपने विषयों को नहीं जानते अपने विभागों के कार्य कलाप से अज्ञात हैं परन्तु वे अमुक दल के प्रतिनिधि हैं इसलिये हमारी सरकार को कहीं न कहीं उन्हें मिनिस्टर गवर्नर राज्यपाल या लाट बलाय कुछ बनाकर माल मलीदे उड़ाने और चैन की बंसी बजाने का प्रबंध करना पड़ा है। और इस प्रकार गलत रीति पर एकत्रित विरोधी तत्वों से पार्लियामेन्ट भर गई है। और जवाहर लाल जैसे समर्थ पुरुष भी उनके जाल में उलझ कर जनहित का कोई काम नहीं कर पा रहे हैं। देश में रिश्वतखोरी चोर बाजारी षड्यन्त्र डाकजनी भ्रष्टाचार, अव्यवस्था असन्तोष भुखमरी और भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है।"[2] इसी कारण से वर्तमान राज्य में किसी भी मर्यादा सम्बन्धी आस्था नहीं रह गई है।[3] इतना ही नहीं आचार्य चतुरसेन जी ने 'गणतंत्र' के दूसरे दोष की ओर भी इंगित करते हुये कहा है 'इस गणवाद में एक दोष यह भी है कि जिन वोटों के प्रतिनिधि इस गणतन्त्र को चलाते हैं

---

१ बगुला के पंख, आचार्य चतुरसेन, पृ २७।

२ उदयास्त आचार्य चतुरसेन, पृ १८६, तथा मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृष्ठ ११९ २०।

३ उदयास्त आचार्य चतुरसेन, पृ १८७, तथा मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन, पृ १२०।

उनमें परस्पर कोई प्रेम और विश्वास की भावना नहीं होती । एक दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्धा का भाव बना रहता है । प्रत्येक गुट अपनी छोटी से छोटी स्वार्थ कामना की पूरी सिद्धि चाहता है और दूसरों की बड़ी से बड़ी आवश्यकता को तुच्छ समझता है । [1]

इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी 'गणतन्त्र' की अपेक्षा 'जनतन्त्र' के पक्ष में हैं । उनका कथन है जनतन्त्र उस व्यवस्थित बहुगृहस्थ कुटुम्ब के समान है जो हृदय के गहरे स्नेह विश्वास त्याग सहानुभूति और सहयोग के वातावरण से परिपूर्ण है । जहाँ भामिनियाँ हँसकर प्यार बखेरती हैं पत्नियाँ सौभाग्य भरण से आंगन को पवित्र करती हैं । बच्चे आनन्द की किलकारी भरते हैं । पकवान बनते हैं । त्योहार आते हैं संगीत होता है आनन्द और शान्ति का समुद्र हिलोरें मारता है । छोटे से बड़े तक मर्यादा के साथ बँधे रहते हैं । छोटे बड़ों के चरण छूने में पुण्य मानते हैं और बड़े छोटों पर आशीर्वाद की वर्षा करते हैं । छोटा बड़ा होने का किसी को हर्ष विषाद नहीं होता । यही जनतन्त्र मनुष्य का सच्चा जनतन्त्र है । [2]

वे भारत में इसी को लाने के इच्छुक हैं किन्तु उन्हें कोई भी प्रतिनिधि दल इस पथ पर चलने वाला सामने नहीं दीखता । गाँधी का नाम लेकर चलने वाली पार्टी कांग्रेस भी आज व्यर्थ सिद्ध हो चुकी है । इसी कारण आचार्य चतुरसेन जी ने कहा है 'कांग्रेसी इस 'गणतन्त्र' को 'जनतन्त्र' का रूप नहीं दे सकते । क्योंकि वे राष्ट्रवादी हैं देश भक्त हैं, मनुष्य भक्त नहीं । वे देश और राष्ट्र के लिये मनुष्यों को कत्ल करने की सलाह दे सकते हैं । मनुष्य के लिये देश और राष्ट्र को लात नहीं मार सकते । [3]

इतना ही नहीं आचार्य चतुरसेन जी की समाजवादी और साम्यवादी दलों पर भी आस्था नहीं है । उनका तो कथन है 'ये साम्यवादी और ये समाजवादी सिर्फ पीढ़ियों की हिमायत लेते हैं । उन्हें विद्रोह करना संघर्ष करना सिखाते हैं । उनकी सारी नीति हिंसा और प्रतिहिंसा पर आधारित है । वे सबको समान बनाना चाहते हैं पर प्रेम, सौहार्द विश्वास और सहयोग से नहीं

---

१ धरमास्त आचार्य चतुरसेन पृ १८७, तथा मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन, पृ १२०-२१ ।

२ धरमास्त आचार्य चतुरसेन, पृ १८८, तथा मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन, पृ १२१ ।

३ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ १२२ ।

डंडे के बल पर, मारपीट कर। ऐसा न कभी हुआ न होगा। रूस की सफलता को ये आदर्श मानते हैं। पर जरा रूस की ओर देखो। यह सफलता कितने रक्तपात कितने हत्याकांड कितने विप्लव से मिली है। और अभी इसका ओर-छोर क्या है? फिर जहाँ 'डिक्टेटर' का अखंड शासन है वहाँ जनतंत्र कैसा ?[1]

वास्तव में आचार्य जी गांधीवादी सिद्धान्तों के द्वारा ही वास्तविक 'जनतंत्र' सम्भव समझते हैं। कांग्रेस 'जनतंत्र' लाने में इसी कारण से असफल रही उसने गांधीजी के सिद्धांतों को पूर्णरूप से त्याग दिया था। आचार्य चतुरसेन जी का कथन है 'जनतंत्र तो वह जिसमें जन-जन में शक्ति हो सहयोग हो विश्वास हो आसक्ति हो अपनापन हो गहरी एकता हो जन जन का जन-जन के प्रति त्याग का चरम ध्येय हो।[2] और यह तभी सम्भव है जब राज्य गांधीवादी सिद्धांतों द्वारा संचालित हो।

युद्ध और शांति

आचार्य चतुरसेन जी ने युद्ध और शांति की समस्या पर भी पर्याप्त गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उन्होंने युद्ध क्यों? युद्ध के परिणाम एवं उसके रोकने के उपायों पर भी विस्तार से विचार किया है। 'वैशाली की नगर वधू' में भगवान बादरायण व्यास और सम्राट बिम्बसार के वार्तालाप द्वारा आचार्य चतुरसेन जी ने राज्यों में परस्पर युद्ध क्यों होते हैं इस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। सम्राट के प्रश्न पर भगवान् बादरायण का कथन है। 'फिर भी सम्राट विरक्त सदैव कर्तव्य पर विचार करेगा और सम्राट अधिकारों पर। ये ही अधिकार युद्ध रक्तपात और अशांति की जड़ हैं यद्यपि वे सदैव जनपद हित और व्यवस्था के लिए किये जाते हैं। इस पर सम्राट का उत्तर है।

'अविनय क्षमा भगवन् इस युद्ध रक्तपात और अशांति में भी एक लोकोत्तर कल्याण भावना है। भगवन् भलीभाँति जानते हैं कि छोटे स्वतंत्र राज्य छोटे-छोटे स्वार्थों के कारण परस्पर लड़ते रहते हैं साम्राज्य ही उन्हें शान्त और समृद्ध बनाता है। साम्राज्य में राष्ट्र का बल है साम्राज्य जनपद की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है।[3]

---

१ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह-आचार्य चतुरसेन-पृ १२२।
२ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह-आचार्य चतुरसेन-पृ १२१।
३ वैशाली की नगर वधू-आचार्य चतुरसेन-पृ २५४।

यहाँ आचार्य चतुरसेन जी ने जहाँ एक ओर युद्ध क्यों इस पर प्रकाश डाला है वहाँ उसकी अनिवार्यता पर भी विचार किया है। अपने 'उदयास्त' नामक उपन्यास में उन्होंने वर्तमान समस्याओं में युद्ध की अनिवार्यता एवं जो युद्ध जिन परिस्थितियों में हुए पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[1]

आचार्य चतुरसेन जी के युद्ध विषयक विचारों में भी निरंतर विकास होता गया है। आचार्य जी प्रारम्भ में युद्ध के पक्ष में थे। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व (सन् १९३७ में) उन्होंने अपने उपन्यास 'आत्मदाह' में सुधीन्द्र की विचारधारा प्रस्तुत कर अपना स्वयं का मत देने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है 'सुधीन्द्र बहुत सोचते युद्ध क्या पशु धर्म है? जैसा कुछ विद्वानों का मत है। अनंत काल से युद्ध होते आये हैं। युद्धों से सदा जातियाँ बनती बिगड़ती रही हैं युद्ध भविष्य में भी होंगे। सुधीन्द्र ने महात्मा गाँधी के अहिंसातत्व पर बहुत विचार किया था। परंतु गीता का हिंसा धर्म उनके विचारने का विषय था। परिजनों को मार डालने की युक्तियों पर सुधीन्द्र विचार किया करते थे। उनका खयाल था कि आज जो हमारे देश के नवयुवक निस्तेज और निराश हैं देश ढीला और अनेक पापों में फंसा है उसका कारण एकमात्र यही है कि हमारे देश में सम्मुख युद्ध का प्रोग्राम नहीं। जिस दिन हमारे देश में युवकों के सामने युद्ध का जीवन आ जायेगा उस दिन देश के युवकों को काम ही काम है। उस दिन उत्साह, आनंद और जीवन की नदी बह जायेगी। सुधीन्द्र उस दिन की काल्पनिक तस्वीर देखते थे जब देश के वीर युवक सैनिक वेश में व्यवस्था से चलते नजर आयेंगे।[2] किन्तु द्वितीय महायुद्ध के भीषण परिणामों को देख लेने के पश्चात् शीघ्र ही उनकी विचारधारा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ था। 'नगर वधू' तक आते-आते वे युद्ध के विपक्ष में हो चुके थे। सोम और आचार्य काम्बव्य काश्यप के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है। सोम कहता है 'मैंने सीखा है वे युद्ध मानवता के प्रतीक नहीं पशुता के प्रतीक हैं। मनुष्य में ज्यों-ज्यों पशुत्व कम होकर मानवता का विकास होगा वह युद्ध नहीं करेगा। जब वह पूर्ण मानव होगा तो उसमें से युद्ध भावना नष्ट हो जायगी। वह दोषहीन संतुष्ट मानव होगा।[3]

---

१ उदयास्त-आचार्य चतुरसेन-पृ ९४-९५।

२ आत्मदाह-आचार्य चतुरसेन-पृ २५५।

३ वैशाली की नगर वधू-आचार्य चतुरसेन-पृ ८७।

दूसरे महायुद्ध की वीभत्स लीलाएँ देख कर ही आचार्य चतुरसेन जी गांधीवादी सिद्धान्तों की ओर उन्मुख हो गए थे। उन्होंने 'उदयास्त' में मानंद स्वामी के मुख से इसी कारण योरोप के महाराष्ट्रों की निंदा करवाते हुए कहलाया है। "भलाई इसी में है कि भारत उनका अनुकरण न करे। गांधी जी ने भारत को सीधी राह दिखाई है। मनुष्य के प्रति मनुष्य का आत्म समर्पण। कर्तव्य पर अधिकारों का बलिदान। भारत यदि इस पथ पर चलेगा तो वह विश्व का नेतृत्व करेगा। संसार के मानवों को अभयदान जीवनदान देगा।"[1]

आचार्य चतुरसेन जी प्रथम युद्ध को एक अनिवार्य तत्व मानते थे किन्तु अंत में उन्होंने घोषणा कर दी थी युद्ध का देवता मर गया। लोहू और लोहा जिसका नारा था व मरण धरण हुए साम्राज्यवाद का महल ढह गया और उसी के साथ पूँजी सत्ता और अधिकार खत्म हो गए। अब विराट् पुरुष का जन्म हो चुका है विज्ञान और कला उसे विरासत में मिले हैं। आओ हम उसे कर्तव्य की वेदी पर प्रतिष्ठित करके संस्कृति की सम्पदा से सम्पन्न करें जिससे वह अपने जीवन में विश्व की सबसे बड़ी इकाई होकर मनुकुल को अमर करे। आओ पहिले हम युद्ध के देवता को दफ्न करें।"[2]

आचार्य चतुरसेन जी ने इस युद्ध के देवता को मार डालने का श्रेय अणु महास्त्र को दिया है। उनका कथन है कि इसके प्रयोग होते ही 'युद्ध' शब्द निरर्थक हो गया। अब मनुष्य के सामने दो ही मार्ग हैं या तो वह अपने अपूर्ण मानव तन्त्र को एकबारगी ही त्याग कर सम्पूर्ण पशु बन जाये तथा इस और इस जैसे महास्त्रों से अपना सर्वतोभावेन विध्वंस कर ले या अपने में व्याप्त पशुत्व को एकबारगी ही निकाल फेंके और 'पूर्ण पुरुष' होकर विश्व की सम्पदाओं का निर्भय भोग करे। निश्चय ही उसे दूसरा मार्ग चुनना होगा।[3]

आचार्य चतुरसेन जी ने युद्ध करवाने का श्रेय इन राजनीतिज्ञों के मत्थे मढ़ा है। उन्होंने इसी कारण से अपने 'खग्रास' नामक उपन्यास में उसकी प्रमुख पात्री प्रतिमा के मुख से स्पष्ट कहलाया है "पापा कहते हैं कि राजनीतिज्ञों

---

१ उदयास्त-आचार्य चतुरसेन-पृ ८२।

२ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह-आचार्य चतुरसेन-पृ १६२।

३ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह-आचार्य चतुरसेन-पृ १६३।

के हाथ से जन-जीवन छीन कर वैज्ञानिकों और साहित्यकारों को जन-जीवन का नेतृत्व प्रदान कर दिया जाय। यह शर्म की बात है कि वैज्ञानिक आज फौजी आदेश का यन्त्रवत् पालन कर रहे हैं।'[1]

'खग्रास के मूल पुरुष वास्तव में आचार्य चतुरसेन जी स्वयं हैं। वे ही एक वैज्ञानिक के रूप में प्रस्तुत उपन्यास में आए हैं। जिन दिनों आचार्य चतुरसेन जी प्रस्तुत उपन्यास लिख रहे थे मैं उनके समीप ही था। मुझसे उन्होंने हँसते हुए कहा था 'तुम तुमने जितने भी वैज्ञानिक और राजनीतिक प्रश्न करके मेरे विचारों को कुरेदा था उन सभी का समाधान मैंने स्वयं एक वैज्ञानिक बन कर प्रस्तुत उपन्यास में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। तुमने उसी प्रकार मेरे विचारों को कुरेदा है जिस प्रकार तिवारी ने उस मूल पुरुष के विचारों को कुरेदा था। इतना कहकर आचार्य जी कुछ कर हँस पड़े थे।

मैं इस विषय के उस वार्तालाप को यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ 'आपने अपना यह उपन्यास किस वस्तु से प्रभावित होकर लिखा।

'सन् १९५८ से। यह वर्ष विज्ञान जगत में अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है वैसे मैं तो अब यह मानने लगा हूँ कि बिना विज्ञान और साहित्य का का समन्वय हुए विश्व आगे नहीं बढ़ सकता। विज्ञान और साहित्य का समन्वय कैसे हो प्रश्न यह है स्पष्ट है गद्य का सबसे निखरा रूप है उपन्यास। अतः उपन्यास को माध्यम बनाकर ही विज्ञान को साहित्य के अन्दर लाया जा सकता है और अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मैंने यह वैज्ञानिक उपन्यास लिखा है।

'विज्ञान की यह उन्नति क्या मानवता के लिये हितकारी होगी ?

'अवश्य किन्तु यदि उसका उपयोग मानवता के सृजन के लिए हो विनाश के लिये नहीं। मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि विज्ञान का उपयोग सृजन के कार्यों में हुआ तो मनुष्य की औसतन आयु बढ़ जायगी कैंसर हृदय रोग रक्त चाप और सिफलिस इन चार रोगों का अभी तक कोई निश्चित निदान नहीं हुआ है किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि अगले दस वर्षों में विज्ञान इन रोगों पर विजय पा लेगा तब निश्चित ही मनुष्य अकाल मृत्यु से बच सकेगा। कुछ रुक कर उन्होंने आगे कहा 'परन्तु शर्त यह है कि युद्ध के बादल वैज्ञानिक आविष्कारों पर न छा जायें।

---

१ खग्रास-आचार्य चतुरसेन-पृ ५७१।

'आपने अपने इस उपन्यास में एक भारतीय वैज्ञानिक को सर्वोपरि दिखला दिया है क्या यह आपका पक्षपात नहीं है ?

'कदापि नहीं कारण मैंने भारत को शान्ति दूत माना है और यह भारतीय वैज्ञानिक शान्ति का ही पक्षपाती है उसके समस्त वैज्ञानिक आविष्कार शान्ति के लिये है विनाश के लिये नहीं इसलिए मैंने उसे सर्वोपरि दिखलाया है। परोक्ष में मेरा संकेत यह है कि भविष्य में सर्वोच्च वैज्ञानिक वही होगा जिसके चरण शान्ति की ओर बढ़ेंगे विनाश की ओर नहीं। विज्ञान शान्ति में सहायक होगा बाधक नहीं ऐसा मेरा अपना विश्वास है।'[1]

आचार्य चतुरसेन जी विज्ञान और साहित्य को युद्ध और शांति से सर्वथा सम्बन्धित समझते रहे। उनका कथन था कि विश्व शांति विज्ञान और साहित्य के द्वारा ही सम्भव हो सकेगी। उन्होंने विज्ञान के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को ही मान्यता दी है। उनका कथन है 'विज्ञान के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आध्यात्मिक रहा है। भौतिकवादी दृष्टि से संसार जिस सूत्र से बँधा है, उसके अंत तक पहुँच चुका है। अब हमें या तो कुछ नई कल्याणकारी स्थिति में आना पड़ेगा या नष्ट हो जाना होगा।'[2] उनका वैज्ञानिक प्रगति का मापदण्ड भी भिन्न है। वे उस राष्ट्र को सर्वशक्तिशाली मानते हैं जो विज्ञान को मानव मात्र के लिए मृत्युदूत न बनाकर मुक्तिदूत बनाना चाहता है।[3] त्रिपाठी और वृद्ध पुरुष के पारस्परिक वार्तालाप द्वारा आचार्य चतुरसेन जी ने अपने विज्ञान के भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। यहाँ हम उस वार्तालाप का कुछ अंश उद्धृत कर रहे हैं। त्रिपाठी वृद्ध पुरुष से प्रश्न करते हैं क्या हो—

—अच्छा हो भारतवर्ष आपकी सामर्थ्य को जान जाय।

'क्यों।

'ज्ञान की समर्थ ज्योति भारत में जगमग है यह दुनिया के कितने आदमी जानते हैं।

'तो इससे क्या ? विज्ञान के संबंध में तो भारतीय दृष्टिकोण विश्व के दृष्टिकोण से निराला है उसे दुनिया को जानना चाहिए।

---

१ धर्मयुग, आचार्य चतुरसेन व्यक्तित्व और विचार, विश्वनाथ नाथ कपूर, ९ अगस्त सन् १९५४ पृ ८

२ खग्रास आचार्य चतुरसेन पृ ११०।

३ खग्रास आचार्य चतुरसेन पृ २७६।

'यह दृष्टिकोण कैसा है ?

'विज्ञान के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आध्यात्मिक रहा है। भौतिकवादी दृष्टि से संसार जिस सुख से बंधा है उसे अंत तक पहुँचा चुका है। अब इसे या तो कुछ नई कल्याणकारी स्थिति में आना पड़ेगा या नष्ट हो जाना होगा।

'परन्तु मैं तो यह समझता हूँ कि भारत वैज्ञानिक प्रगति में बहुत पिछड़ा हुआ देश है।

'केवल तुम ही ऐसा समझते हो यह बात नहीं। भारत में भी लोग ऐसा ही समझते हैं। जब वैज्ञानिक प्रगति की बात सामने आती है तो हमारे देश के लोग हीनता का अनुभव करने लगते हैं ?

'इसका कारण क्या है ?

'बिल्कुल स्पष्ट है। साधारणतया यह समझा जाता है कि जिस देश के वैज्ञानिक अणुबम और हाईड्रोजन बम बनाना नहीं जानते वह प्रगति के हिसाब से बड़ा देश नहीं है। विश्व की राजनीतिक तराजू का भी यही मान है। यह बात केवल भारत ही से सम्बन्धित नहीं है अन्य देश भी ऐसा ही अनुभव करते हैं।

'परंतु आप समझते हैं कि उनका यह अनुभव गलत है। निस्सन्देह विज्ञान के प्रति यह एक गलत दृष्टिकोण है। इससे संसार के बहुत देश गुमराह हो रहे हैं।

'किन्तु आप विज्ञान के विकास को क्या स्वीकार ही नहीं करना चाहते।

'क्यों नहीं। परन्तु मैं समझता हूँ प्राचीन भारतीय मनीषी विज्ञान को सत्य की खोज का साधन मानते थे। मैं तो चाहता हूँ कि भारतीयों के मन में उनकी मान्यता का समादर हो तो भारत की प्रगति सही अर्थ में हो सकती है।

'कृपा कर अपना अभिप्राय साफ-साफ कहिए।

'साफ ही सुनो। कोई देश किस हद तक वैज्ञानिक प्रगति कर गया है इसे उसकी ध्वंसात्मक शक्ति को देखकर आंकना भारतीय दृष्टिकोण नहीं है। भारत तो मानव समाज के कल्याण में सहायक होने की क्षमता होने के अनुसार ही विज्ञान की सफलता आंकना चाहता है।

'तो आप बड़े राष्ट्रों की इस वैज्ञानिक प्रगति को तुच्छ समझते हैं ?

'मैं उसके प्रति सम्मान की भावना नहीं रखता। मैं तो यह कहता हूँ कि मानव जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने योग्य कोई छोटा सा भी आविष्कार हो तो उसे हम भयानक विध्वंसात्मक शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझना चाहिए।

'क्या हमारे देश के वैज्ञानिकों का यही मत है ?

'शायद नहीं है। वे जानते हैं कि हमें भी राष्ट्रों के समाज में रहना पड़ रहा है। वस्तु के मूल्यांकन का जो तरीका सब प्रमुख राष्ट्रों का है वे उससे प्रभावित हैं।

'आपकी समझ में यह ठीक नहीं है ?

'यह दुर्भाग्य की बात है कि विज्ञान की प्रगति जारी रहे और संसार में वैज्ञानिक वातावरण न पैदा हो।

'आप समझते हैं कि संसार का वातावरण वैज्ञानिक नहीं बन रहा है ?

'मैं तो समझता हूँ कि संसार का जो वातावरण बन रहा है वह विज्ञान के लिए द्रोहात्मक है।

'यह आप किस आधार पर कहते हैं ?

'संसार में तनाव बना हुआ है। यह तो तुम भी मानोगे और उसका असर केवल आर्थिक एवं राजनीतिक विचारों को ही नहीं वरन् विज्ञान की मुदता को भी कम करता जा रहा है। विज्ञान की प्रगति की अनिवार्य शर्त है सत्य के प्रति पूर्ण सम्मान।

'क्या आज की वैज्ञानिक प्रगति में सत्य के प्रति सम्मान नहीं है ?

'संसार में तनाव रहने पर सत्य के प्रति सम्मान कैसे रह सकता है ?
'आप समझते हैं कि विज्ञान जन-कल्याणकारी नहीं है ?

'यदि उसके साथ छेड़-छाड़ न की जाय तो निश्चय ही विज्ञान मानव जाति का कल्याण ही करेगा। परन्तु विश्व के तनाव के कारण इसका उपयोग राजनीतिक गुट विशेष अथवा सिद्धान्त विशेष के लोगों का स्वार्थ साधने में होता है और अब तो विज्ञान का यह दुरुपयोग चरम सीमा पर पहुँच चुका है।

'कैसे ?

'क्या तुम देख नहीं रहे—अब तो बड़े बड़े माने वाले राष्ट्र भी त्रिशंकु की भाँति यही सोचने लगे हैं कि आगे क्या ? और इसका उत्तर उनके पास नहीं है।

'आपके पास है ?

'हाँ, मैं कह सकता हूँ कि इसका एकमात्र उत्तर है कि विज्ञान की सफलता उसकी मानव समाज के कल्याण में सहायक होने की क्षमता ही है।[१]

उपर्युक्त उद्धरण आचार्य चतुरसेन जी के 'युद्ध और शान्ति' विषयक विचारों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

आचार्य चतुरसेन जी ने भारत को जो विश्व की तीसरी शक्ति माना है, वह भी विज्ञान के कारण नहीं 'शान्ति की शक्ति के कारण। उनका कथन है, सारे संसार का ध्यान इस शक्ति पर केन्द्रित हो रहा है और संसार के जन नायकों की नजर में भारत का स्थान बहुत ऊँचा है। 'आज बहुत से राष्ट्र भारत को शान्ति का स्तम्भ मानते हैं। उन्हें विश्वास है कि भारत सब वर्गों की प्रगति और स्वाधीनता का इच्छुक है। उसने अपनी स्वाधीनता के अल्प कालीन समय में यह प्रमाणित किया है कि यदि सहिष्णुता और पारस्परिक सद्भावना से काम किया जाय तो सब विभिन्न विचारधाराएँ साथ साथ जीवित रह सकती हैं। यह कितनी बड़ी बात है कि भारत सभी समस्याओं को लोक-तन्त्रात्मक विधियों से सुलझाने की पद्धति अपना रहा है।[२]

आचार्य चतुरसेन जी ने यह स्वीकार किया है कि भारत के समक्ष केवल शान्ति का ही मार्ग है युद्ध से वह सदैव के लिए नष्ट हो जावेगा। उन्होंने स्वयं कहा है पर हमारे (भारत के) पास न काफी युद्ध सामग्री है न हमारी स्थिति ही इस योग्य है कि हम लड़ाई के धक्के संभाल सकें। हम गरीब हैं। हमारी आजादी बच्चा है। हम तो शान्ति की गोद में ही पनप सकते हैं, इसी से वे इस संसार में शान्ति स्थापना के काम में दौड़ धूप कर रहे हैं। क्योंकि वह जानते हैं लड़ाई कहीं भी छिड़े हमारे देश को वह तबाह किए बिना न छोड़ेगी।[३]

निश्चय ही ये विचार बड़े ही उपयुक्त और उपयोगी हैं।

अन्त में आचार्य चतुरसेन जी ने यह भी स्वीकार किया है कि यदि विश्व भारत के शान्ति मार्ग का अनुगमन नहीं करता तो उसे विवश होकर इस मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा अन्यथा उसे युद्ध की भयानक ज्वाला में जलना

---

१ प्रवास आचार्य चतुरसेन पृ ३१० से ३११ तक।

२ प्रवास आचार्य चतुरसेन, पृ ५०३।

३ उदयास्त, आचार्य चतुरसेन पृ २०१।

होगा। आचार्य चतुरसेन जी अंत में घोषणा करते हुए कहते हैं परंतु 'मनु महाराज' का आज मानव मस्तिष्क पर बिल्कुल ही नया और अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है इसस वह रोष को दबाने की नहीं अपने से दूर निकाल फेंकने की सोचने लगा है। उसकी चेतना में स्वच्छ विचारधारा का उदय हुआ है और अब उसके 'पूर्ण पुरुष' होने का युग आ गया है। इस युग में वह सर्वथा रोषहीन होकर विचार सामर्थ्य स अपना संगठन करेगा। बड़े-बड़े फुत्कार निरर्थक फूत्कार कर, आकण्ठ रक्त स्नान कर मरणभरण हुए। 'छोटू और छोड़ा जिनका नारा था उनकी बेहद दुर्दशा हो गई। मानव रोष की निस्सारता विश्व ने देख ली। जातियों के भाग्य पलट गए। विश्व रेखायें बदल गईं। इन सबसे मानुष ने अब चार बातें सीखी हैं —

१ विश्व के सब मनुष्य एक स हैं। वे परस्पर भाई भाई हैं समान हैं, अभय हैं और विश्व की सम्पदाओं के अधिपति हैं।

२ मानव विश्व की सबसे बड़ी इकाई है। उसकी पूजा आत्मनिष्ठा निर्भय विश्व विचरण तथा भोग सामर्थ्य कथित जनसेय वस्तु है।

३ जगत सत्य है मूर्त सम्पदा मानव उत्कर्ष का साधन है।

४ 'कला' और 'विज्ञान' मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क हैं। दोनों के विचार कौशल से एकीभूत करके उसे मानव विभूति वर्धन म लगाना चाहिये जिससे मनुष्य 'रोषहीन' हो।[1]

आचार्य चतुरसेन जी के इस निष्कर्ष से भी स्पष्ट हो जाता है कि वह मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अपेक्षाकृत गांधीवादी सिद्धांतों की ओर अधिक उन्मुख हैं।

जन संख्या की समस्या

आज की बढ़ती हुई जन सख्या की ओर भी आचार्य चतुरसेन जी का ध्यान गया है। उनका कथन है आज रूस और अमरिका खतरनाक बम बनाने में लगे हैं परंतु विश्व का सबसे बड़ा खतरनाक बम जन संख्या का प्राबिल्य है जिस ससार भर के मनुष्य तैयार करने में जुटे हैं लाखों व्यक्ति भोजन की खोज में रहते हैं।[2] इसी कारण से उन्होंने 'संतति निरोध' के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है।

---

१ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृ १६४ ६५।
२ 'अपराध' आचार्य चतुरसेन, पृ २७५।

इसके अतिरिक्त उन्होंने भारत के साम्यवादी दल[1] चीन समस्या[2] कश्मीर समस्या[3] एवं भारत में मुसलमानों की स्थिति[4] पर भी विचार किया है। 'उदयास्त' और 'खग्रास' नामक उपन्यासों में उनका विचार क्षेत्र केवल भारत ही न रहकर विश्व हो गया है। अतः उसमें उन्होंने विश्व की प्रमुख राजनैतिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है।

इससे आचार्य चतुरसेन जी के बहुमुखी जागरूक व्यक्तित्व का प्रमाण मिल जाता है।

सामाजिक विचार

स्त्री-पुरुष

आचार्य चतुरसेन जी ने नारी तत्व पर, पुरुष और स्त्री के सम्बंध पर, नारी के महत्व पर, उसकी स्वाधीनता और शिक्षा पर, उसके धर्म और उसके कर्तव्य क्षेत्र पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया है। उनकी लगभग सभी प्रधान रचनाओं में उनकी नारी भावना अत्यत प्रखर रही है। 'नगर वधू' की अम्बपाली 'सोमनाथ की शोभना' और 'नीलम' 'मोती' की चम्पा 'उदयास्त' की प्रमिला 'अपराजिता' की राज 'बदला बदल' की विमला 'आभा' की आभा 'दो बुत' की माया और रेखा के बल पर ही यह उपन्यास इतने सशक्त बन सके हैं।

आचार्य चतुरसेन जी के नारी विषयक विचार भी बड़े ही क्रांतिकारी हैं। उन्होंने स्त्री को पुरुष की बिना कीमत कहा है।[5] साथ ही उनका कथन है कि नारी को 'रत्न' तो अवश्य कहा गया है किन्तु उसका मूल्य इन पुरुषों की दृष्टि में काली कौड़ी के बराबर नहीं है। क्योंकि वह हीरे मोती के बराबर दुर्लभ नहीं है। सुलभ है। पानी की भाँति अति सुलभ। किन्तु यदि स्त्रियाँ दुर्लभ हो जायें तभी वास्तविक मूल्य को जाना जा सकेगा।[6]

---

१ 'उदयास्त' आचार्य चतुरसेन पृ १४९ १५३।
२ 'खग्रास' आचार्य चतुरसेन पृ १४३ १४४।
३ 'खग्रास' आचार्य चतुरसेन पृ १४४ १४७।
४ 'धर्मपुत्र' आचार्य चतुरसेन पृ. १७०-७१।
५ उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ ५९ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृ १०३।
६ उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ ५२ ५३।

अपनी कहानी 'सोने की पत्नी' में उन्होंने अपने इन्हीं विचारों की पुष्टि की है। किंतु नारी के विषय में उनका यह स्वयं का दृष्टिकोण न था यह तो पूँजीवादी समाज की नारी विषयक धारणा है। आचार्य चतुरसेन जी ने नारी के जिस रूप को आदर्श माना है वह निश्चित ही बड़ा भव्य है। उन्होंने मातृत्व को नारी की चरम सार्थकता माना है। प्रेमचन्द की भाँति उनका भी यह विश्वास था कि मातृत्व के अतिरिक्त नारी के और जो रूप हैं वे मातृत्व के केवल उपक्रम हैं और जो रूप अपने उद्देश्य से विरत हो जाते हैं वे नारी के आत्म सौंदर्य को कुरूप कर देते हैं। पुरुष नारी के इसी रूप का पुजारी है क्योंकि यही रूप उसे कुपथों से बचाकर जीवन कल्याण की दिशा में ले जाता है। अपनी कहानी 'दूध की धार' में उन्होंने अपने इन्हीं विचारों को प्रधानता दी है।

वासना लोलुप पुरुष 'नारी' के शरीर को ब्याज मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रेम की पूँजी तभी सार्थक होती है जब ब्याज मिलता रहे।[1] किंतु आचार्य चतुरसेन जी का विश्वास है कि 'आज की स्त्री पुरुष की संपत्ति—परिग्रह बनकर नहीं रह सकती। वह पुरुष की सच्चे अर्थों में संगिनी समभागिनी बनकर रहेगी। पुरुष यदि स्त्री के इस प्राप्तव्य को देने में यदि आज आना कानी करता है तो निस्संदेह उसे स्त्रियों से ऐसी खूनी लड़ाई लड़नी पड़ेगी जैसा आज तक मनुष्य-इतिहास में मनुष्य ने इस स्त्री सम्पत्ति को अपहरण करने के लिए भी युग-युग में कभी नहीं लड़ी। फिर भी उसकी जीत नहीं होगी। जीत होगी स्त्री की यह मैं अभी से कहे देता हूँ। और पुरुषों का खासकर पतियों को यह नेक सलाह देता हूँ कि वे अब केवल परिणय-प्रेम और सहृदयता से स्त्री को अपनी जीवन संगिनी बनाना सीख लें जिससे उनका घर बसा रहे।[2] आचार्य चतुरसेन जी की यह भविष्यवाणी नारी के महत्व और पुरुष के संबंध को भली भाँति स्पष्ट करती है।

स्त्री पुरुष संबंध

स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बंध के विषय में भी आचार्य चतुरसेन जी का मत है 'स्त्री पति की अर्धांगिनी और जीवन संगिनी है। वह भी उसी की भाँति उस घर की स्वामिनी है जैसे उसका पति। दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं स्त्री न बच्चा पैदा करने या पुरुषों को भोगने की वस्तु है न

1) मामा आचार्य चतुरसेन पृ २४।

२ 'बदल बदल' आचार्य चतुरसेन भूमिका नए युग का सबसे कठिन प्रश्न।

आज्ञाकारिणी दासी है ऐसा मेरा मन्तव्य है।[1] अपराजिता की राय अपने श्वसुर से अपने पति से इन्हीं विचारों को लेकर जीवन पर्यन्त संघर्ष रत रही थी।

जहाँ तक नारी और पुरुष के संबंध का और उसकी श्रेष्ठता का प्रश्न है आचार्य चतुरसेन नारी को पुरुष से कहीं श्रेष्ठ मानते हैं। अपने 'प्रबल बदल' नामक उपन्यास में उन्होंने डाक्टर, सेठ जी एवं मालती देवी के वार्तालाप द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम प्रस्तुत वार्तालाप का कुछ अंश उद्धृत कर रहे हैं।

मालती कहती है 'परन्तु पुरुष के शरीर में बल है।
उत्तर मिलता है 'तो स्त्री के हृदय में शक्ति है' "

'फिर भी पुरुष सदा से समाज का स्वामी रहा है।

'पर समाज की निर्मातृ देवी स्त्री है। पुरुष पुरुष है स्त्री देवी है। पुरुष में प्राण शक्ति की न्यूनता है। पुरुष मे सामर्थ्य का व्यय है स्त्री में आय। इसी से नारी जीवन संस्कार को जितनी बल वर्तिनी है उतना पुरुष नहीं।

'यह कैसे।

'आप देखते नहीं कि नारी जिसे एक बार स्पर्श करती है उसे अपने में मिला लेती है अपनापन खोकर।

पुरुष तो केवल जानना और देखना चाहता है, अपनाना नहीं।'

'नारी भी तो।

'नारी निष्ठा के कारण वस्तु संपर्क में आकर लिप्त हो जाती है जबकि पुरुष उससे अलग रहता है।

'तो इसी से क्या पुरुष नारी से हीन हो गया ?

'क्यों नहीं जहाँ तक प्रतिष्ठा का सवाल है नारी पुरुष से आगे है।'

'कहाँ ?

'अपने सारे जीवन में नारी की प्रतिष्ठा प्राणों में है पुरुष की विचारों में। इसलिए नारी सक्रिय है और पुरुष निष्क्रिय। इसी से पुरुष भगवान का दास है परंतु नारी पत्नी है। पुरुष भक्ति देता है स्त्री प्रेम। पुरुष विश्व को केन्द्र मानकर आत्मप्रतिष्ठा की चेष्टा करता है और स्त्री आत्मा को केंद्र मानकर विश्व प्रतिष्ठा करती है। इसी से समाज रचना और परिपालन से वही प्रमुख है।

---

१ अपराजिता आचार्य चतुरसेन पृ ६४।

'फिर भी वह पुरुष पर आश्रित है।

'यह कृत्रिम है। वास्तव में नारी केन्द्रमुखी शक्ति है और पुरुष केन्द्र विमुखी। नारी संसर्ग से ही पुरुष सभ्य बनता है। नारी से ही धर्म संस्था टिकी है। एक अग्नि है दूसरा घृत। अग्नि में घृत की आहुति पड़ते ही से यज्ञ सम्पन्न होता है। स्त्री पुरुष का जब संयोग होता है तब उसे यज्ञ धर्म कहते हैं सच्चे यज्ञ का यही स्वरूप है।

'परन्तु सृष्टि कर्ता पुरुष है।

'पुरुष मन की सृष्टि करता है नारी देह की सृष्टि करती है। पुरुष जीवात्मा को जगा सकता है पर उसके आकार की रचना नारी ही करती है।

'पुरुष हिरण्य गर्भ है।

'नारी विराट प्रकृति है।

'पुरुष स्वर्ग है।

'नारी पृथ्वी

'पुरुष ताप शक्ति का रूप है।

'नारी यज्ञ शक्ति है।

'संक्षेप में समाज के दो समान रूप हैं एक नर दूसरा नारी। दोनों एक वस्तु के दो रूप हैं। दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण वस्तु बनती है।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य चतुरसेन जी ने पुरुष और नारी के सम्बंधों प्रकृतियों तथा भावों का सूक्ष्म और सत्य विवेचन किया है।

नारी का कर्तव्य एवं कार्यक्षेत्र

नारी के कर्तव्य एवं उसके कार्यक्षेत्र पर भी आचार्य चतुरसेन जी ने कई स्थानों पर विचार किया है। वे नारी जागरण के पक्षपाती थे नारी समानता के समर्थक थे किन्तु उसकी स्वछन्दता के वे कभी समर्थक न हो सके। अपनी कहानी 'गुलछांगुलीय' में उन्होंने दो भिन्न विचारों की युवतियों का चित्रण करके अपनी इसी विचारधारा की पुष्टि की है। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित नारी को उन्होंने क्षीण कलेवरा स्रोतस्विनी की और भारतीय नारी को पुष्पिता पुष्पकरणी की उपमा दी है। उनका कथन है पाश्चात्य नारी निरन्तर प्रवाहित कलकरत अग्रसर होती हुई है तो भारतीय नारी अपने घर के आंगन में बंध और पुष्पिता है। आचार्य चतुरसेन जी ने परिवार के लिए भारतीय नारी को ही सार्थक माना है। उनका कथन है 'भारतीय नारी परतन्त्र नहीं स्वतंत्र

---

१ मरल बदल आचार्य चतुरसेन पृ ८१ से ८३ तक।

है। उसको किसी ने बाँधकर नहीं रखा है, वह तो स्वयं ही स्वेच्छा से कर्म बंधन मे बंध गई है। परंतु उसका यह बन्धन साधारण नहीं है। उसमे संसार की प्रलयकारिणी शक्ति को अपने साथ बाँध रखा है। दूसरे शब्दों में नारी धामगृह का दीप है जो स्वयं जलकर स्निग्ध प्रकाश प्रदान करता है। उसका प्रधान कार्य है आनन्द दान करना। यदि नारी संगीत और कविता की भाँति अपना अस्तित्व सम्पूर्ण सौंदर्यमय बना डाले तो उसके जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो गया। 'वास्तव में नारी मानव समाज की मर्मस्पर्शी है।'[1] इसी कारण नारी के कार्यक्षेत्र को उन्होंने कभी भी संकुचित नहीं माना। उनका कथन है 'मनुष्य प्रतिदिन कर्म चक्र से कितनी धूल गर्द उड़ाते हैं कितनी मलिनता बखेरते हैं, उसे तो कार्य कुशल हाथों से नारी ही प्रतिक्षण साफ करती है। फिर उसका कार्यक्षेत्र संकीर्ण कैसे हुआ। मानव संसार की सारी ही व्याधियाँ भूख-प्यास क्लान्ति और रोग-शोक ये सभी तो उसी के कार्य क्षेत्र में उत्पात मचाते हैं, जिनका शमन धैर्यमयी लोकवत्सला नारी ही तो प्रतिदिन करती है।

इस प्रकार आचार्य चतुरसेन जी ने नारी के कार्यक्षेत्र को व्यापक तो बतलाया है, किन्तु उनका विश्वास था कि यह प्रिय लगने वाले सिद्धांत बन्धन मुक्त आधुनिकाओं को मोहने में सर्वथा असमर्थ रहेंगे कारण आज की स्त्रियों में से मातृत्व और विवाह दायित्व की भावना नष्ट हो रही है। और पुरुषों के प्रति घृणा के भाव उनमें उत्पन्न होते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप समाज में यौन अनाचार और नैतिक अराजकता व्याप्त होती जा रही है। जो समाज के लिए एक भयानक अभिशाप है। इसके लिए आचार्य चतुरसेन जी पूँजीवादी समाज को ही उत्तरदायी ठहराते हैं। इसीलिए उन्होंने भारतीय स्त्रियों के लिए एक तीसरा मार्ग भी खोज निकाला है। उनका यह तीसरा मार्ग है सर्वोदय का। उनका कथन है 'समाज की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करके एक ऐसा सुगुम्फ़ित उत्पादन प्रणाली का संघटन किया जाय जिसका लक्ष्य सर्वोदय हो। उसमें पुरुषों के साथ स्त्रियों का भी सामाजिक उत्पादन में महत्वपूर्ण भाग हो। वैवाहिक और पारिवारिक जीवन के दायित्व को सम्भालने के लिए स्त्रियों को वेतन अवकाश यथेष्ट मिले। और मातृत्व का सुचारु रूप से सम्पादन करने के लिए सब सम्भव सुविधाएँ उन्हें निःशुल्क प्राप्त हों। ऐसी अवस्था में नारी पुरुष की सही अर्थों में जीवन संगिनी बन सकती है। उसे मातृत्व का दायित्व लेने में उत्साह

१ मेरी प्रिय कहानियाँ पुनर्मुद्रित पृ २९८ ९९।

होगा और वह विकृत आधुनिका भी न बन पाएगी।[१] इतना ही नहीं वे साम्यवादी ढंग से नहीं सर्वोदय की प्रणाली से 'सम्पूर्ण गृह कार्य को भी एक सार्वजनिक उद्योग में परिणत कर देना चाहते हैं। जिससे स्त्रियाँ गृहकार्य की तुच्छता एवं रसता तथा श्रमभार से ऊब न उठें। और विवाह बंधन और मातृत्व उन पर तनिक भी बोझिल न होने पाए।[२] इस परिस्थिति में नारी निश्चित रूप से मुक्त भाव से आत्म विकास प्राप्त कर सकती है।

नारी स्वतन्त्रता एवं समानाधिकार

जहाँ तक नारी स्वतन्त्रता एवं समानाधिकार का प्रश्न है आचार्य चतुरसेन जी एक सीमा तक इसके पक्ष में थे। उनका कथन था 'वास्तव में नारी की प्रतिद्वन्द्विता पुरुषों से राजनीतिक नहीं है। वह तो केवल ठोस आर्थिक समानाधिकार चाहती है। आदिमकाल की नारी सामाजिक उत्पादन में खुलकर भाग ले सकती थी। आज की नारी भी तभी सच्चे अर्थों में समाज की स्वतन्त्र अंग बन सकेगी जब वह, आधुनिक उत्पादन प्रणाली में अपना महत्व पूर्ण भाग प्राप्त कर सकती। तभी नारी माता पत्नी और सखी का पद सार्थक कर सकेगी।[३]

प्रेम, विवाह एवं वासना

प्रेम को आचार्य चतुरसेन जी संसार की सर्वाधिक पवित्र वस्तु मानते हैं। वे प्रेम को आत्मा का भोजन मानते हैं। उनका विचार था कि प्रेम के बिना जीवन निरर्थक है। वे प्रेम हीन जीवन को उस रात के समान मानते थे, जिनमें चाँद हो ही नहीं।[४] वे प्रेम को चेतना का सबसे कोमल उद्वेग मानते थे।[५] इसी कारण से प्रेम को वासना एवं जीवन से भी स्थायी वस्तु कहा करते थे।[६]

प्रेम की परिभाषा करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने एक स्थान पर लिखा है प्रेम क्या है—इसे बहुत कम आदमी जानते हैं। मन में आत्मा को विभोर

१ उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ ६३।
२ उदयास्त आचार्य चतुरसेन पृ ६३।
३ उदयास्त-आचार्य चतुरसेन पृ ६४।
४ उदयास्त-आचार्य चतुरसेन-पृ १११।
५ पत्थर युग के दो बुत-आचार्य चतुरसेन-पृ १०२।
६ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ८५।

कर देने वाली कुछ भावनाएँ-सी उठती हैं—वह प्रेम है। प्रेमानुभूति के कारण मनुष्य भौतिक जीवन से बहुत पृथक हो जाता है।[1] अपनी प्रेम की इस व्याख्या को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य चतुरसेन जी ने एक स्थान पर कहा है—'जिसके लिए अधिक से अधिक त्याग किया जाय उसके लिए अधिक से अधिक प्रेम करना कहा जायगा। त्याग का ही तात्विक नाम प्रेम है और प्रेम की क्रिया का नाम प्यार।[2] प्यार हृदय का मुख्य व्यापार है। परन्तु चूंकि हृदय के दो अस्तित्व हैं—एक शरीर, दूसरी आत्मा इसलिए उसके प्यार के भी दो ही रूप हैं। शरीर-प्यार तो शरीर का केंद्र चाहता ही है परन्तु आध्यात्म-प्यार आत्मा से सीधा सम्बन्ध रखता है। यह बात तो सच है कि आध्यात्म-प्रेम ही यथार्थ प्यार है। पर प्रकृति का स्वरूप ही यह है कि आध्यात्म-प्यार के लिए शरीर प्यार का अवलम्ब चाहिए ही।[3] और इसी शरीर प्यार के अवलम्बन के लिए विवाह का आश्रय लेना श्रेयस्कर समझा जाता है। प्रेम की भाँति 'विवाह भी एक आत्मिक संबंध है और शारीरिक भी। वैवाहिक जीवन की सार्थकता तभी है जब शारीरिक संबंध आत्मिक संबंध में परिणत हो जाए। स्त्री पुरुष और पति पत्नी का साहचर्य तभी पूरा हो सकता है।'[4] विवाह के बाद नर और नारी पति और पत्नी बन जाते हैं। भले ही उस समय तक दोनों में कोई भी आकर्षण उदित न हो पर वह अर्थ चेतन मस्तिष्क में उपस्थित रहता है। और ज्यों ही दोनों नर-नारी पति-पत्नी के रूप में एकत्र होते हैं यह आकर्षण उदय होता है परंतु एकांगी नहीं रहने पाता नर-नारी का सम्पर्क उसे सम्पूर्ण शारीरिक रूप देता है। पर पति पत्नी का संबंध उसे आध्यात्मिक रूप देता है। इसी से नर-नारी जब पति-पत्नी की भाँति इस प्रेमाकर्षण में आबद्ध होते हैं तब वह ऊपर से शारीरिक और आभ्यंतर से आध्यात्मिक होता है। इसी से वह समुद्र की भाँति शान्त गंगा की लहरों की भाँति पवित्र और शीतल एवं वसंत की सुषमा की भाँति प्राणोत्तेजक हो जाता है और वास्तव में जीवन का वही चरमोत्कर्ष बन जाता है। परंतु वही आकर्षण जब पति पत्नी की मर्यादा से रहित नर नारी क बीच स्थापित हो जाता है तब उसमें न संयम का बंधन होता है,

१ बगुला के पंख-आचार्य चतुरसेन-पृ १५९।
२ आत्मदाह-आचार्य चतुरसेन-पृ १०४।
३ आत्मदाह-आचार्य चतुरसेन-पृ १७९।
४ पत्थर युग के दो बुत-आचार्य चतुरसेन-पृ १०८।

न आध्यात्मिकता का पुट। वह उदग्र शारीरिक होता है और कभी-कभी वह पाशविकता की सीमा को भी लांघ जाता है।[1] इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी विवाह को अनिवार्य मानते हैं। प्रेम के नाम पर आँख मिचौनी का खतरनाक खेल खेलना वे पसंद नहीं करते।

आचार्य चतुरसेन जी प्रेम एवं विवाह में संयम को एक अनिवार्य तत्व समझते हैं। उनका विश्वास था 'जहाँ स्त्री शरीर पुरुष शरीर की वासना करते हैं जहाँ इच्छा होते ही और पाशियाँ वासना और कामना की निर्बाध पूर्ति करती हैं वहाँ प्यार की प्रतिष्ठा नहीं है जहाँ केवल वासना ही वासना है वहाँ प्यार की पीड़ा के मिठास की अनुभूति कैसे हो सकती है।[2] उनकी विचार धारा आभा के निम्न वाक्यों मे और स्पष्ट हो जाती है। यदि हम प्रेम के स्वरूप को ठीक तौर पर समझना चाहते हैं तो हमें उसमें से उन तमाम बाहरी शारीरिक आकांक्षाओं को निकाल बाहर करना चाहिए। मैं तो यह समझती हूँ कि प्रेम का आधार यदि शारीरिक वासनाएँ ही हों तो वह प्रेम संसार की सारी ही आपदाओं का मूल कारण हो सकता है। स्त्री हो चाहे पुरुष उसमें विलास-भावना एक जागती की वह उत्सुक और अशान्त अवस्था है जिसमें वह नित्य नवीनताओं को खोजता है पर तृप्त नहीं हो सकता।[3] आचार्य चतुरसेन जी वासना को विशुद्ध शारीरिक ही मानते हैं। इसीलिए उनका कथन है कि वासना की पूर्ति का भी एक मार्ग हमें चुनना है। और वह मार्ग संयम का सहयोग ही है। संयम के सहयोग से वासना सीमित और स्वस्थ रूप में रहती है।[4] उनका विश्वास था 'कि वासना और संयम का संघर्ष विवाह में ही समाप्त होता है।'[5]

केवल ऐन्द्रिय प्रेम-वासना को वे उचित नहीं समझते थे। उनका कथन था कि यह प्रेम-वासना मूढ़ विलासिता को बढ़ाती है जिससे पुरुष निकम्मा और स्त्री दुर्बल हो जाती है।[6] इसीलिए इस उन्होंने पतन का सीधा मार्ग माना है।[7] उनकी आभा रमेश से कहती है 'काव्य और साहित्य में भले ही

---

१ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ६२ ६३।
२ सोमनाथ-आचार्य चतुरसेन-पृ ४४४।
३ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ६६।
४ आभा-आचार्य चतुरसेन पृ ६६।
५ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ६६।
६ आभा-आचार्य चतुरसेन पृ ५६।
७ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ५६।

स्त्री पुरुष के इस प्रेम व्यापार को आनंद के सर्वोच्च शिखर पर बैठा दिया जाय परंतु यथार्थ में इस प्रेम को छक कर भोगा नहीं जा सकता। शीघ्र ही अजीर्ण हो जाने का भय है।[१] साथ ही यह प्रेम मनुष्य के किसी कार्य में कभी सहायता नहीं पहुँचाता विघ्न बहुत करता है। कभी-कभी तो जीवन इससे दूभर हो जाता है। बहुधा भारी बंधन देता है।[२] इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी ने प्रेम से संयम को अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है। अंत में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संयम और प्रेम दोनों मिलकर विवाह संस्था को जन्म देते हैं। वैवाहिक जीवन को अचंम बनाते हैं। विवाह की मर्यादा और प्रतिज्ञा का भंग संयम का उल्लंघन है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्रेम ने संयम का साथ छोड़ दिया और वासना का पल्ला पकड़ लिया निस्संदेह यह न समाज के लिए कल्याणकारी है न व्यक्ति के लिए।[३] वे संयम को जीवन का पथ प्रदर्शक मानते हैं।[४] उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि प्रेम का संयम से अटूट गठबंधन नहीं हुआ तो प्रेम पतन को बाधक और आनंददाता के रूप में उपस्थित करेगा।[५] इसीलिए उन्होंने माना है कि प्रेम का संयम से अटूट संबंध वैवाहिक बंधन है।[६] आचार्य चतुरसेन जी का दृढ़ विश्वास था कि 'विवाहित होने पर नर और नारी नर और नारी नहीं रहते पति और पत्नी बन जाते हैं। फिर वे एक साथ रहें या अलग अलग। वे अपने सतीत्व और पत्नीत्व को नर नारी से पृथक नहीं कर सकते।[७] इसी कारण से उन्होंने नारी का रक्षा कवच पत्नीत्व को माना है। उन्होंने आभा के मुख से कहलाया है 'पत्नीत्व सर्वत्र *नारी की रक्षा करता है। उसका नारीत्व कलुषित* होने पर भी पत्नीत्व शिशिर-ऋतु-शीत-पद्म सा बना रहता है।[८]

आचार्य चतुरसेन जी विवाह से पूर्व के प्रेम को उचित नहीं समझते। अपने उपन्यास 'नीलमणि' में विनय के मुख से स्पष्ट कहलाया 'पहले प्रेम करके

---

१ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ३६।
२, आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ३६ ३७।
३ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ४७।
४ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ४७।
५ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ३९।
६ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ ३९।
७ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ १२१।
८ आभा-आचार्य चतुरसेन-पृ १२१।

पीछे विवाह करना यह सिद्धांत सुनने में ही अच्छा है पर यह सर्वथा अव्यवहार्य है। यदि इस पर अमल किया जायगा तो जीवन की पवित्रता सतीत्व पत्नी होने की भावना सब कुछ खतरे में पड़ जायगी। पुरुष भी फिसले न बच नहीं सकता पर स्त्री की जैसी सारे संसार में सामाजिक स्थिति है, उससे स्त्री का सत्यानाश होने का इस सिद्धांत में भारी भय है।[1] इसी कारण वे यह युवक एवं युवती के स्वयं के निर्वाचन से माता पिता के वर वधू के निर्वाचन को अधिक श्रेष्ठ समझते हैं।[2] सामाजिक दृष्टि से यह अधिक पारिवारिक सुख और संगठन का आधार बन रहा है।

सफल दाम्पत्य जीवन

आचार्य चतुरसेन जी ने केवल नर नारी अथवा पति पत्नी के सम्बन्ध एवं कर्तव्य पर ही विचार नहीं किया है वरन् सफल दाम्पत्य जीवन के लिए किन किन गुणों की आवश्यकता है इस ओर भी संकेत किया है। आचार्य चतुरसेन ने वैवाहिक जीवन की बहुत कुछ सफलता पति पत्नी के सम स्वभाव पर मानी है। उनका कथन है पति पत्नी सम्बन्ध से घर का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। विवाह का मूलाधार 'हृदय' है 'घर' नहीं।

आचार्य चतुरसेन जी ने स्त्री के लिए कोमलता और पुरुष के लिए कठोरता के गुण आवश्यक माने हैं। माया अपने पति अनिल से पुरुष के लिए कुछ आवश्यक गुण बतलाते हुए कहती है 'तुममें कुछ त्रुटियां हैं जो तुममें नहीं होनी चाहिए थी। ---प्रथम तो यह कि तुममें चरित्र की कठोरता नहीं है जिसका किसी भी पुरुष में होना अत्यन्त आवश्यक है। ---मेरा मतलब यह कि तुम कमजोर प्रकृति के आदमी हो। मर्द की कठोरता के स्थान पर तुममें स्त्रियोचित कोमलता है। इसके अतिरिक्त तुम इतने आदर्शवादी हो कि यह नहीं देख सकते कि तुम उस दुनिया में रह रहे हो जहां स्वार्थसिद्धि और अपने उद्देश्यों की सिद्धि ही प्रधान है। इसी से तुम आदर्शों की पूजा करते रहते हो। और चतुर मित्रों से दुनिया की घुड़दौड़ में पिछड़ जाते हो। तुम्हारी सरल प्रकृति से वे लाभ उठाते हैं। तुम्हारी ही जिम्मेदारी पर तुम्हारे आत्म सम्मान की भावना को विखण्डित कर, तुम्हें सारहीन स्वप्नों में लीन कर वे आगे बढ़ जाते हैं। तुम दूसरों को भी अपना सा सच्चा और सरल समझते हो।--- तुममें जितनी विशेषताएं हैं उतनी भारी विशेषताएं किसी भी आदमी को

१ नीलमणि-आचार्य चतुरसेन-पृ १०८।
२ नीलमणि-आचार्य चतुरसेन-पृ १०६।

नरपुंगव बना सकती है। परन्तु तुम्हें इन्होंने असफल पुरुष बनाया है। तुम सरल हृदय और सद्भावना के व्यक्ति हो तुम त्यागी भी हो विनम्र भी हो अप्रिय बात किसी से कह नहीं सकते। इसी से तुम संकट में आसानी से फँस जाते हो (वास्तव में) पुरुषोचित कठोरता का अभाव और प्रकृति की स्वाभाविक कोमलता-बस ये दो सद्गुण ही तुम्हारे ऊपर संकट लाने वाले दोष है। पुरुष के अपने लिए ये त्रुटियां भले ही हानिकर न हों—पर पति के लिए ये त्रुटियाँ बहुधा घातक हो उठती हैं। कारण स्त्री पुरुष दोनों अपने अपने कार्य में अपूर्ण और परस्पर एक दूसरे के पूरक है। इसलिए एक दूसरे के गुण दोष का सीधा प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है, और कभी-कभी उसके परिणाम बड़े ही खतरनाक हो जाते है। पति और पत्नी दोनों ही को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि एक की पूर्ति के लिए ही दूसरे की सृष्टि हुई है। और स्त्री से पुरुष उतना ही भिन्न है जितना पृथ्वी से आकाश। स्त्रियां स्वयं कोमल प्रकृति सरल स्वभाव किन्तु उच्चाभिलाषिणी होती है। वे पुरुषों मे कोमलता बर्दाश्त नहीं कर सकती। स्त्री स्वयं कोमल और कमजोर होने के कारण पुरुष में कठोरता दृढ़ता और कभी-कभी पाशविक शक्ति की कामना करती है। पुरुष की इन्हीं विशेषताओं का स्त्री के हृदय में मान है। स्त्री पुरुष को अपने जीवन का अवलम्ब मानती है। इसलिए वह पति मे बल ही बल चाहती है—शारीरिक बल मानसिक बल और फिर चरित्र बल। किन्तु इन सबसे अधिक विचार की दृढ़ता। स्त्री मन चीवर पहने वर जवाहर और सारे संसार के वैभवों को केवल एक हृदयहीन पाशविक शक्ति पर न्यौछावर कर देती है। उसे संसार के ऐश्वर्य और आदर्शवाद के खिलौने नहीं चाहिए, उसे चाहिए पहाड़ की महत्ता और शक्ति जिसमें वह मस्तक चूमने के लिए प्राण तक दे देती है।[1] अन्त में नारी के विषय में अपनी सम्मति देती हुई आभा कहती है 'नारी तो नर के मन में प्यार और मद भर देती है। वह जिसे प्यार करती है उसमें अपनी रक्षा करने और उसे अपना बनाए रखने की क्षमता और शक्ति चाहती है। पुरुषों के दयाभाव और सद्व्यवहार की उसके मन में रत्ती भर भी कीमत नहीं उसे मिले पुरुष चाहिए, पर्वत के समान सुदृढ़ और अचल आंधी और तूफान की तो औकात ही क्या जिसे भूचाल भी अपने स्थान से विचलित न कर सके।[2]

---

१ आभा—आचार्य चतुरसेन पृ १२१ १९६।

२ आभा—आचार्य चतुरसेन पृ १९६।

प्रस्तुत उद्धरण कुछ लम्बा अवश्य हो गया है किन्तु इसका यहाँ प्रस्तुत करना इस कारण से आवश्यक हो गया था कि आभा के इन वाक्यों के पीछे आचार्य चतुरसेन जी के नारी विषयक सम्पूर्ण प्रमुख विचार केंद्रित हैं। आभा के उपर्युक्त कथन से सभी का सहमत होना अनिवार्य नहीं है किंतु आचार्य चतुरसेन जी के अपने यही विचार थे। इस प्रबंध के लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने उससे यही कहा था कि 'आभा के अन्तिम परिच्छेद में मैंने जो नारी विषयक अपने विचार दिये हैं उनसे भले ही कोई सहमत न हो किन्तु वे मेरे चालिस वर्ष के अनुभव के परिणाम हैं।

आध्यात्मिक विचार

आचार्य चतुरसेन के आध्यात्मिक विचार मौलिक एवं स्वतंत्र हैं। किसी मतवाद का प्रभाव न होकर उनके विचार अपने निजी अनुभव और प्रयोगों पर आधारित हैं। प्राय आध्यात्मिक विचारों के प्रसंग में लेखकों के पिटे पिटाए मत देखने को मिलते हैं। परन्तु आचार्य चतुरसेन जी के विचारों में ऐसी बात नहीं। वे स्वानुभूति स्वच्छंद और मौलिक होने के कारण बड़े ही रोचक हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे।

जीवन और जगत

आचार्य चतुरसेन जी के अनुसार हर प्रकार की कठिनाई और दुर्गमता के विरुद्ध घोर संघर्ष का नाम ही सच्चा जीवन है।[1] उन्होंने मानव जीवन को कभी भी मिथ्या नहीं माना। उन्होंने एक स्थान पर इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है 'लोग कहते हैं कि जीवन स्वप्न है। मैं कहता हूँ यदि पृथ्वी पर कुछ सत्य है तो जीवन ही है। आत्मा से मेरा परिचय नहीं। चिकित्सक होने के नाते मैंने अनगिनत प्राणियों की मृत्यु होते देखी है। देखी ही नहीं अनुभूति की है—इससे मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि मृत्यु और जन्म दोनों ही विशुद्ध दैहिक घटनाएँ हैं तथा दोनों में कोई तारतम्य नहीं है इसलिये मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जन्म भौतिक तत्वों के संयोग से जिसमें किसी विधाता या कर्ता का हाथ नहीं—होता है तथा मृत्यु भी उसी प्रकार भौतिक तत्वों के विघटन से होती है। एक मृत्यु के बाद कोई अविनश्वर तत्व आत्मा जीव या और कुछ शेष नहीं रह जाता। मृत्यु होते ही व्यक्ति का अस्तित्व कतई खत्म हो जाता है। इसलिए जीवन का मूल्य बहुत है इसकी यत्न से रक्षा

१ मधुशाला के पंख आचार्य चतुरसेन पृ १२४।

करना अधिक-से-अधिक इसे सुखी और सम्पन्न बनाना मनुष्य का सर्वोपरि बुद्धिमत्ता पूर्ण कर्तव्य है।[1]

पाप और पुण्य

आचार्य चतुरसेन जी के विचार से 'दुनिया में यदि कहीं पाप है तो वह मनुष्य के मस्तिष्क में है। जिस दिन संसार से मनुष्य का मस्तिष्क नष्ट कर दिया जाएगा पाप नष्ट हो जायगा। वास्तव में मनुष्य के मस्तिष्क में ज्ञान है इसी से पाप भी वहीं है। ज्ञान और पाप का साथ है।[2] इसी कारण से आचार्य चतुरसेन जी पाप की भावना को आध्यात्मिक नहीं सामाजिक मानते थे। उनका विश्वास था कि पाप अपराध है तो पुण्य कर्तव्य। पाप की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है 'पाप वह है जिसमें सामाजिक मर्यादा और अनुशासन नहीं है।[3]

पाप-पुण्य की समस्या पर आचार्य चतुरसेन जी ने अपने 'मोती' नामक उपन्यास में काफी विस्तार से विचार किया है। मोती अपने मित्रों के एक प्रश्न करने पर अपराध और पाप का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहता है।

अपराध कानून की दृष्टि से न करने योग्य कार्य है जिन्हें मनुष्यों ने अपनी सुविधा और व्यवस्था के लिए बना लिया है और आवश्यकतानुसार बनाते-बदलते रहते हैं।

'और पाप'।

'पाप तो वे दुष्कर्म हैं जिनकी सजा आपका कल्पित परमेश्वर देता है, वह भी सम्भवतः उस जन्म में या जन्मांतरों में।

'और आप पुण्य को क्या कह कर पुकारते हैं।

'आप जिन्हें लगभग पुण्य कहते हैं मैं उन्हें कर्तव्य कहता हूँ। और उनका कोई अच्छा-बुरा फल मनुष्य को नहीं भोगना पड़ता जैसा कि आपका झूठा ख्याल है।'[4]

आचार्य चतुरसेन जी भी मोती की भाँति पुण्य और कर्तव्य को एक ही वस्तु मानते थे। वे पाप और पुण्य को शुद्ध सामाजिक भावना मानते थे आध्यात्मिक नहीं।

---

१ आचार्य चतुरसेन त्रैमासिक निबन्ध २०१२ प्रथम अंक।
२ जीवन के दस भेद आचार्य चतुरसेन पृष्ठ २६।
३ जीवन के दस भेद आचार्य चतुरसेन पृ २६।
४ मोती आचार्य चतुरसेन पृ २७-२९।

ईश्वर

आचार्य चतुरसेन जी अनात्मवादी हो गए थे। प्रारम्भ में ईश्वर के प्रति उनकी आस्था अवश्य थी किन्तु ज्यों-ज्यों वे ईश्वर के नाम पर व्याप्त मायाचार को देखते गए, उनकी आस्था टूटती गई। अन्त में तो उन्होंने 'ईश्वर' का चित्र पैसे के नाम से सम्बोधित करना आरम्भ कर दिया था।[1] उनके बाल सखा डा० पृथ्वीसिंह का कथन है' कई मित्रों का खयाल है कि वह ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे मगर मेरा अनुभव इसके विपरीत है। वह ईश्वर की खुशामद करने में विश्वास नहीं रखते थे मगर एक न्यायकारी सर्वव्यापक परमेश्वर में उनका विश्वास था और अंत समय तक था।[2] सम्भव है डा० साहब के कथनानुसार आचार्य चतुरसेन जी अन्त समय तक ईश्वर में विश्वास करते रहे हों किन्तु मुझसे उनकी जो ईश्वर विषयक वार्ता हुई थी उसमें उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को एकदम अस्वीकार कर दिया था। हाँ उन्होंने यह अवश्य कहा था कि 'कांकरोली के पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री ब्रजभूषणलाल जी महाराज के समग्र सान्निध्य के प्रभाव से मेरी अन्तरात्मा में कभी-कभी आस्तिक भाव की ऐसी बरसाती धारा बहती रही है कि वह सब तर्कों और विवेचनाओं को बहा ले जाती है। 'सोमनाथ' की रचना इसी वेगवती धारा के प्रवाह का परिणाम है। 'सोमनाथ' में आचार्य चतुरसेन जी कुछ समय के लिए ईश्वरवाद की ओर आकर्षित होते अवश्य दीख पड़ते हैं किन्तु शीघ्र ही उनका यह ईश्वरवाद मानवतावाद की ओर उन्मुख हो गया है।[3] गंग सर्वज्ञ के मुख से जैसे वह स्वयं बोल रहे हों 'देव तो भावना के देव हैं। साधारण पत्थर में जब कोटि-कोटि जन श्रद्धा भक्ति और चैतन्य सत्ता आरोपित करते हैं तो वह जाग्रत देव बनता है। वह एकदेव कोटि-कोटि जनों की जीवनी सत्ता का केंद्र है। कोटि-कोटि जनों की शक्ति का पुंज है। कोटि-कोटि जनों की समष्टि है। इसी से कोटि-कोटि जन उसमें रक्षित हैं। परंतु देव को जाग्रत करने के लिए उसमें प्राण प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। वह कोरे मंत्रों द्वारा नहीं यथार्थ में। यदि देव के प्रति सब जन अपनी सत्ता सामर्थ्य और शक्ति समर्पित करें, तो सत्ता शक्ति और सामर्थ्य का वह संगठित रूप देव का विराट

---

१ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृ० ४५।

२ साप्ताहिक हिन्दुस्तान ६ मार्च १९६० मेरे पुराने मित्र डा० पृथ्वीसिंह पृ० १३।

३ सोमनाथ आचार्य चतुरसेन पृ० १९-३१।

पुरुष के रूप में उदय करता है । ... 'वास्तव में भक्त की सामर्थ्य का समष्टि-रूप ही देव की सामर्थ्य है ।[१] अन्त में मानवतावाद की ओर इंगित करते हुए उनका कथन है 'मनुष्य का जो व्यक्ति रूप है वह तो बिखरा हुआ है उसमें सामर्थ्य एक कण है । अब जब मनुष्य का समाज एकीभूत होकर अपनी सामर्थ्य को संगठित कर लेता है, और वह उसका उपयोग स्वार्थ में नहीं प्रत्युत कर्तव्य पालन में लगाता है तो वह सामर्थ्य समष्टि मनुष्य की सामर्थ्य होने पर भी देवता की सामर्थ्य हो जाती है ।[२] इससे स्पष्ट है कि मानव मात्र के संगठन के लिए उन्होंने ईश्वर की कल्पना को महत्वपूर्ण बतलाया है ।

वास्तव में वे मानव-पूजा को ही ईश्वर की सच्ची पूजा मानते थे । इसीलिये वे 'विश्व के मनुष्यों की एक ही सर्वांगीण जाति चाहते थे ।[३] उनके उपन्यास 'अमास' में उनका ईश्वर संबंधी एवं उनका मानवतावादी दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट है । उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ एक उद्धरण दे रहे हैं ।

वैज्ञानिक की पुत्री प्रतिमा अपने पिता के विषय में तिवारी के प्रश्न करने पर कहती है 'जहाँ विज्ञान साक्षात मानव की सेवा करने को उपस्थित है वहाँ मानव सेवा क्यों करे । यह तो संसार की मूढ़ता है कि उसने मानव को ही इतना हीन बना रखा है कि वह मानव की ही सेवा करते-करते मर मिटता है । भला मानव मानव में अंतर क्या है ।

'क्यों ! अंतर तो बहुत है । कोई मूर्ख है कोई विद्वान कोई धनी है, कोई निर्धन कोई बलवान् है कोई निर्बल । फिर सब समान कैसे ?

'केवल मानव होने के नाते । प्रत्येक मानव एक ही श्रेणी का है । वह देवता के समान पूजा जाने योग्य है । मानव दुनिया की सबसे बड़ी इकाई है । उससे बड़ा विश्व में और कोई नहीं है ।'

'क्या भगवान् भी नहीं ?

'आपका यह कहना आपका दोष नहीं है । चिरकाल से मनुष्य अपनी सत्ता से बेखबर और मूढ़ रहा है और उसने अनुमान को प्रमाण करके अपने को छोटा बनाया है ।

---

१ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ ३२ ३३ ।

२ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन पृ ३३ ।

३ वैशाली की नगरवधू आचार्य चतुरसेन पृ १६३ ।

'अनुमान को प्रमाण कैसे ?

'भगवान् एक पुराना अनुमान ही है जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है।

'तो आप नास्तिक भी हैं ?

'क्या विज्ञान का विद्यार्थी नास्तिक हो सकता है ? जो एक परमाणु में निहित कोटि कोटि न्यूट्रानों के अस्तित्व को भी जानता मानता है।

'परंतु वह भगवान् को नहीं मानता ?

'कैसे मान सकता है जब कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। हजारों वर्ष तक कोटि-कोटि मानवों से अनुमान को प्रमाण माना अब वह अपने को जान गया है। वह स्वयं विज्ञान का अधिष्ठाता और ब्रह्माण्ड का स्वामी है उससे महान् कोई नहीं है।

'एक चोर, व्यभिचारी डाकू कलंकी पापी अपराधी हत्यारा भी तो मानव है वह भी क्या देवता के समान पूज्य है ?

है नहीं तो क्या ? केवल मानव होने के नाते वह पूज्य है। उसमें जो ये कलुष हैं सो उसके नहीं ऊपर से लाये हुए हैं जैसे मां अबोध बालक को जो अज्ञान के कारण मलमूत्र में लथपथ हो जाता है धो-पोंछकर स्नेह से छाती का दूध पिलाती है वैसे ही विज्ञान मानव के सब कलुष दूर करके उसे पवित्र और महान् बनाकर देवता बना सकते हैं।

'एक आदमी यदि स्वभाव से ही अपराधी प्रकृति का हो उसका सुधार कैसे हो सकता है ?

'अब तक उसके सुधार के उपाय किए किसने हैं ? न्याय के नाम पर या तो ऐसे अपराधियों को कत्ल कर डाला गया या जेल में ठूंस दिया गया। परंतु अब देर तक ऐसा न होने पावेगा। विज्ञान अपराध को रोग कहता है। और उसका कहना है कि अब अपराधियों के लिए जेल के स्थान में अस्पताल बनाये जाने चाहिये।

'आप समझती हैं संसार का प्रत्येक मनुष्य असाधारण सत्त्व बन सकता है ?

'वह तो जन्मतः ही असाधारण सत्त्व है। यह दुनिया भी सबसे बड़ी इकाई है।

इसी से आप और पापा किसी मानव से ऐसा नहीं ले सकते हैं।

'पापा न तो मानव की पूजा का व्रत लिया है। ये सब कुछ मानव हित के लिए, मानव को अमर करने के लिए करते हैं। वे मानव से सेवा ले ही कैसे सकते हैं ?'[1]

१ खग्रास आचार्य चतुरसेन पृ २८६ २८८ ।

अन्त में आचार्य चतुरसेन जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ईश्वर एक कल्पना है बहुत पुरानी केवल श्रद्धा पर आधारित। कोरा अनुमान। मनुष्य की बुद्धि जीवन का रहस्य नहीं सुलझा सकती। हम अपने जन्म से पहले नहीं जा सकते। मृत्यु के आगे भी हम कुछ नहीं देख सकते। हम इतना ही ठीक-ठीक जानते हैं कि हमारा मनुष्य समाज है। जिसमें असंख्य नर नारी बालक वृद्ध भरे हैं। वे सब सुखी रहें सम्पन्न रहें। हमारे देवता वे लोग हैं जिन्होंने मनुष्यों को सुखी करने समृद्ध करने में अपना सब खपा दिया है। जिन्होंने जंगल काटे पृथ्वी को खोदा बोया। नागरिकता का विकास किया। ईश्वर के लोभ में पड़कर भटकने से हमें कोई लाभ नहीं। प्रकृति की सीमा को लांघ नहीं सकते। हमें अपने सभी कर्तव्य यहीं मनुष्यों के बीच पालन करने हैं। हमें प्रेम करना सीखना चाहिए। इससे हम साहसी और सुखी होंगे। यदि हम अपने हृदय में भलाई और मस्तिष्क में सचाई भरलें तो हम सारी मानव संतति को सुख शान्ति और समृद्धि की ओर ले जा सकते हैं। जो दुनिया का सबसे बड़ा पुण्य कर्म है।[1]

स्पष्ट है आचार्य चतुरसेन जी ईश्वर पूजा के स्थान पर मानव पूजा को अधिक महत्व देते हैं।

धर्म

आचार्य चतुरसेन जी की कभी भी परम्परागत धर्म पर आस्था नहीं टिक सकी। वे धर्म के कर्मकाण्डों आडम्बरों पर कभी भी विश्वास न कर सके। उनका विश्वास था कि इस धर्म ने हजारों वर्ष से मनुष्य जाति को नाकों चने चबवाए हैं। करोड़ों नर-नाहरों का गर्म रक्त इसने पिया है, हजारों कुल बालाओं को इसने जिन्दा भस्म किया है असंख्य पुरुषों का इसने जिन्दा मुर्दा बना दिया है।[2] वास्तव में उनके विचार से धर्म दुनियां का सबसे बड़ा झूठ है। वह कोरे मिथ्यावाद पर आधारित है। जादू टोना दैवी-शक्तियां मंत्र-तंत्र चमत्कार, स्वप्न भविष्यवाणियाँ और प्रकृति से परे की शक्तियों पर विश्वास धर्म का स्थूल और सूक्ष्म रूप है। धर्म का यह मायाजाल महज अंध विश्वास पर खड़ा किया गया है, उसकी दीवारें अंधी श्रद्धा से बनी हैं। उसकी छत है ही नहीं। यह 'धर्म' महान झूठ है और दुनियां के मनुष्यों को गुमराह करके उन्हें दुख दर्द

---

१ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह, आचार्य चतुरसेन पृ ५९ ६०।

२ धर्म के नाम पर आचार्य चतुरसेन पृ ५।

पहुंचाना उसका पेशा है। संघर्ष घृणा और खून खराबी इसकी नीति है।[1] ऐसे धर्म पर मग्न आचार्य चतुरसेन जी कैसे विश्वास कर सकते थे। वास्तव में इस कर्मकांडी धर्म के पाखंडों एवं आडम्बरों ने ही उन्हें अनीश्वरवादी बना दिया था। इस 'धर्म को उन्होंने 'धोबी का कुत्ता माना था।[2] इस धर्म के पाखंडों एवं षड्यंत्रों की बखिया उधेड़ने के लिए ही उन्होंने अपनी युवावस्था में अपनी 'धर्म के नाम पर' पुस्तक जलते हुए शब्दों में लिखी थी। उन्होंने धर्म के आडम्बरों को कभी भी ईश्वरेच्छा अथवा कर्मफल मानकर सहन नहीं किया। उनका भी लेनिन की भांति विश्वास था वर्तमान पूंजीवादी देशों म धर्म की भित्ति प्रमुख रूप से सामाजिक है। वर्तमान धर्म की जड़ें श्रमिक जनता के ऊपर सामाजिक अत्याचार में पूंजीवादी अंधशक्तियों के सामने उनकी खुली हुई बेकसी म जिनकी वजह से हर दिन हर घड़ी साधारण मजदूरी पेशा लोगों को युद्ध अथवा भूडोल जैसी विशेष घटनाओं से कई हजार गुना भयंकर कष्ट और पीड़ा होती है, गड़ी हुई हैं। डर ने देवता को जन्म दिया। पूंजीवादी अंधी शक्तियों का डर ही अंधी इसलिये कि उनकी करनी जनता पहले से ही नहीं देख सकती एक ऐसी शक्ति का जो कि जिंदगी में हर कदम पर मजदूरों और छोटे मोटे व्यापारियों को उस 'आकस्मिक' 'अप्रत्याशित' 'अलक्षित' बरबादी और नाश से डराया करती है जिसके फलस्वरूप भिखमंगी दरिद्रता वेश्यागामिता और भुखमरी का प्रकोप है।

आचार्य चतुरसेन जी ने स्वयं भी इस धर्म को समाज के लिए अत्यन्त भयंकर माना है। अपने साहित्य में उन्होंने कितने ही स्थानों पर इस धर्म का खंडन किया है। 'सोमनाथ' में उन्होंने देव स्वामी अथवा फतह मुहम्मद के मुख से कहला ही दिया है धर्म प्यारी चौला वह धर्म जिसने तुम जैसी कुसुम कोमल अमल धवल रमणी रत्न को वैधव्य के दुर्भाग्य से बांध रखा है, और मेरे उत्तप्त हृदय को प्यारों से वंचित किया है"" ""अब उस धर्म की तुम कभी तक दुहाई देती हो।[3]

देव स्वामी और चौला खवास एवं कृष्ण स्वामी के चरित्रों को सामने रखकर उन्होंने इन धार्मिक ढकोसलों पर ही गहरी चोट की है। उनकी दृष्टि में धर्म का कोई रूप नहीं है। वास्तव में वे 'धर्म को तो केवल एक परिस्थिति'

---

१ सोना और खून आचार्य चतुरसेन, प्रथम भाग उत्तरार्द्ध पृ ११६, साथ ही देखिये धर्मशास्त्र, आचार्य चतुरसेन पृ १०० से १०२ तक।

२ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह पृ

३ सोमनाथ, आचार्य चतुरसेन, पृ २४१।

मात्र ही मानते हैं।[1] उनके विचार से 'धर्म' वह कार्य है, जिसके करने से लोकहित हो और किसी भी प्राणी को कष्ट न हो।[2] अन्त में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं 'जिससे सार्वजनिक लाभ हो वही धर्म है जिससे मनुष्य के प्रति मनुष्य उत्तरदायी हो वही धर्म है। प्राणी मात्र के लिए कर्तव्य का ज्ञान ही धर्म है। धर्म वही है जिसके द्वारा मनुष्य अधिक से अधिक लोकोपकार कर सके। धर्म वह है जिससे हृदय और मस्तिष्क का पूरा विकास हो। दया धर्म है, प्रेम धर्म है सहनशीलता धर्म है। उदारता धर्म है, सहायता धर्म है, उत्साह धर्म है, त्याग धर्म है। मैं चाहता हूँ कि आज भारत के सभी नर नारी इसी नवीन धर्म को हृदयंगम करें, जिससे उनकी सिमायी गुलामी दूर हो उनके हृदय और मस्तिष्क कमल की भाँति खिल जायें। धर्म वह है जो स्वाधीनता प्रकाश और जीवन दे। धर्म वह है, जो जातियों को सगठित करे प्राणियों को निर्भय करे, जीवन को सुखी करे। धर्म जीवन की आवश्यकता की वस्तु है।[3] वर्तमान समाज और उसकी आवश्यकता का अध्ययन करके ही वास्तविक धर्म के स्वरूप का निर्माण हो सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य चतुरसेन जी का धर्म मानवता का धर्म है, जो मुख्यतः प्रेम पर आधारित है किन्तु यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि प्रायः बहुत समय तक चलने वाले सभी धर्म इसी प्रकार मानवतावादी भावना को लेकर चलते हैं। परन्तु उसके अनुयायी आगे चलकर उसमें अंधविश्वास और आडम्बर आदि समाविष्ट कर देते हैं। सच्चे मानवता-वादी धर्म का विकास केवल कथनों से नहीं हो सकता। वरन् उसके लिए विभिन्न धर्मों के तत्वों एवं इतिहासों का मन्थन करके यह समझना होगा कि प्रेम दया उदारता उपकार, सहनशीलता आदि क्या है। क्योंकि कठिनाई तब उपस्थित होती है जब जीवन में व्यक्ति उनका व्यवहार करने लगता है। इन सब गुणों के प्रारंभ में मनुष्य सच्चा रह सके यह कठिन बात है। धर्म धर्म उनका पालन सिखाने के लिए होने लगता है और यहीं हमें एक सर्वान्तर्यामी शक्ति पर विश्वास करना होता है। जो कि प्रत्येक व्यक्ति की सच्चाई देख सके। अतएव आचार्य चतुरसेन जी का यह मानवता धर्म सर्वव्यापी ईश्वर की आस्था के बिना अपूर्ण और अधूरा ही रहेगा।

---

१ जीवन के दस भेद आचार्य चतुरसेन पृ ८२

२ आत्मदाह, आचार्य चतुरसेन पृ ११६ ११७

३ मौत के पंजे में जिन्दगी की कराह आचार्य चतुरसेन पृ ४४

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ (हिंदी)

१ आचार्य चतुरसेन जी की वे समस्त प्राप्त रचनायें, जिनका कि परिचय अध्याय २ में दिया जा चुका है।

२ अमिता—यशपाल

३ आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज उपाध्याय

४ आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

५ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

६ उपन्यास कला—श्री विनोद शंकर व्यास

७ उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा—डा० शशिभूषण सिंहल

८ उपन्यास सिद्धांत—श्री श्याम जोशी

९ उखड़े हुए लोग—राजेंद्र यादव

१० ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार—डा० गोपीनाथ तिवारी

११ ऐतिहासिक उपन्यासकार वर्मा जी—डा० शशिभूषण सिंहल

१२ औरंगजेब नामा—अनुवादक राय मुंशी देवी प्रसाद जी

१३ कहानी का रचना विधान—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

१४ कचनार—डा० वृन्दावन लाल वर्मा

१५ कंकाल—श्री जयशंकर प्रसाद

१६ काव्य शास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र

१७ काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय

१८ काले फूलों का पौधा—डा० लक्ष्मीनारायण लाल

१९ गर्जन—भगवतशरण उपाध्याय

२० गोरा—रवीन्द्र नाथ ठाकुर

२१ घर बाहर—रवीन्द्र नाथ ठाकुर

२२ चित्रलेखा—भगवती चरण वर्मा

२३ जय सोमनाथ—श्री के० एम० मुंशी अनुवादक 'कमलेश'
२४ झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—डा० वृन्दावन लाल वर्मा
२५ तुलसी ग्रन्थावली—तीसरा खंड सम्पादक पं० रामचंद्र शुक्ल
२६ तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त
२७ तुलसी दर्शन—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र
२८ दिव्या—यशपाल
२९ नया साहित्य नये प्रश्न—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
३० नया साहित्य—एक दृष्टि—श्री प्रकाश चंद्र गुप्त
३१ नदी के द्वीप—अज्ञेय
३२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
३३ प्रेत और छाया—इलाचंद्र जोशी
३४ प्रेमचन्द—एक अध्ययन—डा० राजेश्वर गुरु
३५. प्रेमचन्द की कहानियों का विश्लेषण—पन्नालाल दुबे
३६ भगवान परशुराम—श्री के० एम० मुंशी
३७ भारतवर्ष का इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद
३८ भारत का मुगल इतिहास—कृपालसिंह नारंग
३९. भारत में अंग्रेजी राज्य—पं० सुन्दरलाल तीसरी जिल्द
४० भुवन विक्रम—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
४१ महाराज छत्रसाल बुंदेला—डा० भगवानदास गुप्त
४२ मेघनाद वध—माइकेल मधुसूदन दत्त अनुवादक 'मधुप'
४३ मैं इनसे मिला—डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश
४४ मुर्दों का टीला—डा० रांगेय राघव
४५ मृगनयनी—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
४६ रामचरितमानस—तुलसीदास
४७ बाणभट्ट की आत्मकथा—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४८ वोल्गा से गंगा—राहुल
४९. वैदिक साहित्य और संस्कृति—डा० बलदेव उपाध्याय
५० विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र
५१ विराटा की पद्मिनी—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
५२ सवेरा—भगवतशरण उपाध्याय
५३ समीक्षा के सिद्धान्त—डा० सत्येन्द्र
५४ संघर्ष—भगवत शरण उपाध्याय

२३ जय सोमनाथ—श्री के० एम० मुंशी अनुवादक 'कमलेश'
२४ झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—डा० वृन्दावन लाल वर्मा
२५ तुलसी ग्रन्थावली—तीसरा खंड सम्पादक पं० रामचंद्र शुक्ल
२६ तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त
२७ तुलसी दर्शन—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र
२८ दिव्या—यशपाल
२९ नया साहित्य नये प्रश्न—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
३० नया साहित्य-एक दृष्टि—श्री प्रकाश चंद्र गुप्त
३१ नदी के द्वीप—अज्ञेय
३२ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
३३ प्रेत और छाया—इलाचंद्र जोशी
३४ प्रेमचन्द—एक अध्ययन—डा० राजेश्वर गुरु
३५ प्रेमचन्द की कहानियों का विश्लेषण—मन्नूलाल दुबे
३६ भगवान परशुराम—श्री के० एम० मुंशी
३७ भारतवर्ष का इतिहास—डा० ईश्वरीप्रसाद
३८ भारत का मुगल इतिहास—कृपालसिंह नारंग
३९ भारत में अँग्रेजी राज्य—पं० सुन्दरलाल तीसरी जिल्द
४० भुवन विक्रम—डा०वृन्दावनलाल वर्मा
४१ महाराज छत्रसाल बुंदेला—डा० भगवानदास गुप्त
४२ मेघनाद वध—माइकेल मधुसूदन दत्त अनुवादक 'मधुप'
४३ मैं इनसे मिला—डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश
४४ मुर्दों का टीला—डा० रांगेय राघव
४५ मृगनयनी—डा वृन्दावनलाल वर्मा
४६ रामचरितमानस—तुलसीदास
४७ बाणभट्ट की आत्मकथा—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४८ वोल्गा से गंगा—राहुल
४९ वैदिक साहित्य और संस्कृति—डा० बलदेव उपाध्याय
५० विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र
५१ विराटा की पद्मिनी—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
५२ सबेरा—भगवतशरण उपाध्याय
५३ समीक्षा के सिद्धान्त—डा० सत्येन्द्र
४ संघर्ष—भगवत शरण उपाध्याय

संस्कृति के चार अध्याय—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'
५६ साहित्य का साथी—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
५७ साहित्यालोचन—डा० श्यामसुन्दर दास
५८ साहित्य-परिचय—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
५९. साकेत एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र
६० साकेत—मैथिली शरण गुप्त
६१ सिद्धांत और अध्ययन—बाबू गुलाबराय
६२ शिक्षा मनोविज्ञान की रूप रेखा—विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी
६३ शेखर एक जीवन—अज्ञेय
६४ हिंदी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव
६५. हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
६६ हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास—पं० रामबहोरी शुक्ल एवं डा० भगीरथ मिश्र
६७ हिंदी कहानियों की शिल्प विधि का विकास—डा० लक्ष्मीनारायण लाल
६८ हिंदी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास—डा० प्रतापनारायण टंडन
६९ हिंदी साहित्य द्वितीय खंड—डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं ब्रजेश्वर वर्मा
७० हिंदी काव्य में प्रकृति चित्रण—डा किरण कुमारी गुप्ता
७१ हिंदी का सामयिक साहित्य—पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
७२ हिंदी की कहानियाँ—सम्पादक डा० श्रीकृष्णलाल
७३ हिंदू सभ्यता—डा० राधाकुमुद मुकर्जी अनुवादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
७४ हिंदी उपन्यासों में यथार्थवाद—डा० त्रिभुवनसिंह

सहायक (पत्र-पत्रिकायें)

१ आजकल मासिक दिल्ली
२ आलोचना त्रैमासिक दिल्ली
३/ चांद मासिक 'मारवाड़ी अंक' एवं 'फांसी अंक'
४, चतुरसेन त्रैमासिक दिल्ली
५. बुद्धिप्रकाश गुजराती सितम्बर १९१५
६ धर्मयुग साप्ताहिक बम्बई
७ साहित्य संदेश मासिक

८ सुप्रभात मासिक कलकत्ता
९ साप्ताहिक हिन्दुस्तान दिल्ली
१० संजीवन मासिक दिल्ली
११ समालोचना मासिक आगरा
१२ सारथी

सहायक ग्रन्थ (संस्कृत)

अध्यात्म रामायण
वाल्मीकि रामायण
तैत्तिरीय उपनिषद्

सहायक ग्रन्थ (अँग्रेजी)

दि स्टडी आफ लिट्रेचर
डिक्शनरी आफ पाली प्रोपर नेम्स
मेरी माया अँग्रेजी अनुवाद
एज्यूकेशनल साइकालोजी रास
ए हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिट्रेचर एमिली लिगे एण्ड लुई कैजामियां
टाक्स आन राइटिंग आफ इंगलिश सिरीज २ आर्लबिट्स
ऐन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इंडिया पार्ट II आर० सी० मजूमदार एवं एच० सी० रायच दी मुगल एम्पायर इन इंडिया पार्ट II
ऐस्पेक्ट्स आफ दि नावेल ई० एम० फोरेस्टर
ऐस्पेक्ट्स आफ दि नावेल ई० एम० फारेस्टर
यूसेज आफ हिस्ट्री
रीसेन्ट पोलीटिकल थॉट पी० डब्लू कुकर
कार्ल मार्क्स सेलेक्टेड वर्क्स वोल्यूम १
दि डेवलपमेन्ट आफ इंग्लिश नावेल
